आधुनिक हिन्दी-काव्य मे विरह-भावना

आधुनिक हिन्दी-काव्य में विरह-भावना

दिल्ली विश्वविद्यालय द्वारा पी-एच० डी०
की उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध

लेखिका
डा० मधुरमालती सिंह
इन्द्रप्रस्थ कालेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

भूमिका
आचार्य विनयमोहन शर्मा

१९६३
आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली-६

ADHUNIK HINDI KAVYA MEN VIRHA BHAWNA

by

Dr Madhur Malti Singh

Rs. 15 00

प्रकाशक
रामलाल पुरी, संचालक
आत्माराम एण्ड संस
कश्मीरी गेट, दिल्ली ६

शाखाएं
हौज खास, नई दिल्ली
माई हीरां गेट, जालन्धर
चौड़ा रास्ता, जयपुर
बेगमपुल रोड, मेरठ
विश्वविद्यालय क्षेत्र, चण्डीगढ़
[illegible]

मूल्य पन्द्रह रुपए
प्रथम संस्करण १९६३

भूमिका

विरह भावना की व्याप्ति अपरिमित है, साहित्य शास्त्र उसे अपनी परिधि मे नहीं बांध सका है, मानव जीवन की अनत दशाएँ व्याख्यायित हैं, इसम सन्देह नहीं, पर वह इतना जटिल है—उसकी मानसिक तह परम्पराएं इतनी गुम्फित हैं कि उन सबका ज्ञान मानसशास्त्रियों को अद्यापि नहीं हो पाया।

दृश्य जगत म घटित होने वाला वर्तमान जीवन के विरह का तो मानव अनुभव करता ही है पर रहस्यमय अज्ञात गत जीवन के विरह की गुप्त अनुभूति भी कभी-कभी मन के किसी पर्दे को स्पन्दित करने लगती है और वह उदास हो उठता है। शाकुन्तल मे कालिदास न इस प्रकार की विरहानुभूति की ओर निम्न श्लोक म इंगित किया है—

'रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान
पर्युत्सुको भवति यत्सुखितोऽपि जन्तु
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोध पूर्व
भावस्थिराणि जननान्तर सौहृदानि।'

मनुष्य सब प्रकार से सुखी होकर भी क्यों सहसा खिन्न हो उठता है ? किस जन्म के सस्कार उसके अचेतन मन को विपण्ण बना देते हैं ? कवि कुलगुरु का यह अनुभव ठीक ही प्रतीत होता है कि वर्तमान जीवन म घटित होने वाली कोई घटना हमारे पूर्व जन्म के अनुभूत सस्कार को निश्चय जगा देती है।

श्रीमती मधुरमालतीजी ने अपने प्रस्तुत प्रबन्ध म विरह के प्रत्येक प्रकार का शास्त्रीय विवेचन किया है। मम्मट न अभिलाष, ईर्ष्या, विरह प्रवास तथा शाप हेतुक विप्रलम्भ का विवेचन किया है। पर तु विश्वनाथ न पूर्वानुराग, मान, प्रवास और करुण नामक भेद ही स्वीकार किए हैं।

प्रबन्ध का विषय यद्यपि आधुनिक हिन्दी काव्य मे विरह भावना है तो भी लेखिका ने वैदिक सस्कृत, लौकिक सस्कृत पाली, प्राकृत, अपभ्रंश और प्राचीन हिन्दी साहित्य का भी मनोयोग पूर्ण मथन कर उसम उच्छ्वसित विरह भावना की विभिन्न दशाओं पर प्रकाश डाला है। और इस प्रकार विषय का शृंखलाबद्ध इतिहास ही प्रस्तुत कर दिया है। यह प्रबन्ध की एक विशेषता कही जा सकती है।

विरह की अवस्थिति शृंगार रस के अन्तर्गत मानी गई है, जो प्राय नायक-

नायिका के शारीरिक वियोग का परिणाम होती है। परन्तु विरह की एक दशा और भी है जिसे भक्तों और सन्तों ने अनुभव किया है। वह अशरीरी है और आत्मा से सम्बद्ध है। उनका विश्वास है कि 'आत्मा अपने अंशी से विछुड़कर 'शरीर' में बँध जाने के कारण व्याकुल होती रहती है और उससे पुनः मिलने के लिए आतुर बनी रहती है। इस आस्था जन्य अनुभूति में भी लौकिक विरह की प्रत्यक्ष दशा अभिव्यक्त होती है। कवि रवीन्द्र की धारणा रही है कि उनके अन्तर् में कोई विरहिणी नारी है जो अहर्निश अश्रु मोचन करती रहती है।

आत्मा का विरह शरीर के माध्यम से ही अनुभूत होता है और जब हम सृष्टि के कण कण में अंशी (परमात्म शक्ति) का ही विलास देखते हैं तब विरह का सशरीर और अशरीर नामक भेद कहाँ रह जाता है? स्थूल और सूक्ष्म तत्त्व वस्तुतः दो हैं भी नहीं। विज्ञान भी इनके भेद की दीवार को ढहाता दिखाई देता है। जयदेव के राधा माधव के विरहोत्पीडन की मधुर परिणति भले ही शरीर मिलन में हुई हो पर भक्तों को उसमें अंश और अंशी का ही एकात्म भाव दृष्टिगोचर हुआ है। इसी को शृंगार का उदात्तीकरण कहा जा सकता है। स्वयं कवि जयदेव कहते हैं—

> यदि हरिस्मरणे सरसं मनो यदि विलासकलासु कुतूहलम्
> मधुर कोमल कान्त पदावलीं शृणु तदा जयदेव सरस्वतीम्।
> (यदि हरि चिंतन रस आतुर मन, यदि रति भाव हुलासे।
> तो मधु कोमल कान्त पदावलि सुनो, स्वर्ग सुख भास।)

कवि के शब्दों में उनका गीत गोविन्द लौकिक और अलौकिक दोनों प्रकार के रति भाव को जागृत कर सकता है। भाव विशेष का उद्रेक तो प्राण और मन का खेल है। यद्यपि लौकिक जगत में विरह दुःख रूप है पर साहित्य में उसकी अनुभूति सुखमय ही होती है क्योंकि भावक का उसमें व्यक्तिगत लगाव नहीं रहता। यह नहीं कि वह करुण उत्पीड़ित नहीं होता, करुण काव्य का पाठ कर उसकी आँखें नहीं भीगतीं। वह उत्पीडित होता है रोता भी होता है। पर उसका पर्यवसान सुख में ही होता है। यहाँ अरस्तू का विरेचन सिद्धान्त हमारी सहायता करता है। हमारे जीवन का वास्तविक दुःख साहित्य में वर्णित दुःख से उद्बुद्ध हो आँखों के मार्ग से निःसृत हो जाता है। परिणामतः हम सुख अनुभव करने लगते हैं। भारतीय आचार्य धनञ्जय और विश्वनाथ ने भी उचित ही दुःख को सुख रूप माना है।

विदुषी लेखिका ने शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से रस विवेचन करने के उपरान्त हिन्दी के पूर्ववर्ती साहित्यों में अभिव्यक्त विरह भावना का सिंहावलोकन कर आधुनिक हिन्दी कविता की कृतियों से उन मार्मिक प्रसंगों का चयन और समीक्षण किया है जिनमें विरह का उन्मेष है। हरिश्चन्द्र से लेकर धर्मवीर भारती के काव्य में विरह का मानवीय रूप ही अधिक प्रकट हुआ है। छायावादी काव्य में यद्यपि कहीं-कहीं 'रहस्य' का संकेतात्मक मर्मबिन्दु मिलती है पर मूलतः उसमें भी स्थूल का स्थूल के प्रति राग ही

रंजित हुआ है, जो लेखिका को भी मान्य है। प्रबन्ध की भाषा और प्रतिपादन शैली क्रमशः विषय के अनुरूप कोमल, ललित और तर्क सम्मत है। इसके प्रकाशन से निश्चय ही हिन्दी के शोध और समीक्षा साहित्य की श्रीवृद्धि हुई है। विप्रलम्भ शृंगार पर प्रथम बार ऐतिहासिक और वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। अतः लेखिका धन्यवादार्ह है।

कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय —विनयमोहन शर्मा

प्राक्कथन

साहित्य सृजन के प्रारम्भिक युग से स्त्री पुरुष के प्रेम के साथ गुँथे हुए मानव जीवन की विविध स्थितियों का अंकन और निरूपण कवियों का विषय रहा है। प्रेम के वर्णन में भी संयोग की अपेक्षा उसके अभाव की वेदना अर्थात् विरहानुभूति के वर्णन में ही उनका मन अधिक रमा है। इसका कारण यह है कि एक तो संघर्षमय मानव जीवन में मिलन की अपेक्षा वियोग का अवसर अधिक है दूसरे वियोग से उद्भूत विरह भावना मानव हृदय के कोमलतम अंग को स्पर्श करके उसके व्यक्तित्व को अधिक सजल और संवेदनशील बनाती है।

आदि काल से लेकर आज तक के काव्य में विरह भावना की अभिव्यक्ति प्रचुर रूप से होती रही है। विरह के मर्म की [illegible]रूपिणी परिस्थितियों ने काव्य रसिक के हृदय को समय समय पर उद्वेलित मथित करके उसे मानव वेदना के अपेक्षाकृत अधिक सन्निकट ला बैठाया है। किन्तु फिर भी उसके सम्बन्ध में वैज्ञानिक अध्ययन का अभाव सा रहा है। कोई ऐसा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है जिसमें इस भावना का तारतम्यपूर्ण विवेचन शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक पद्धतियों पर किया गया हो। विविध कवियों की स्फुट आलोचनाओं और शोधप्रबन्धों के अंशों के रूप में यद्यपि वह उपलब्ध होता है किन्तु उनमें तथ्य निरूपण पर लेखकों की दृष्टि अधिक केन्द्रित दिखाई पड़ती है तत्त्व निरूपण पर नहीं।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक पद्धति पर विरह भावना के स्वरूप का ज्ञान तथा पुरातन साहित्य की पृष्ठभूमि में आधुनिक काव्य की विरह भावना के अध्ययन का प्रयत्न किया गया है। विरही जीवन की विविध मन स्थितियों के शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक अध्ययन के साथ विरह भावना के प्रकार से विभिन्न कवियों की [illegible] अंकन का प्रयत्न भी किया गया है।

प्रस्तुत प्रबन्ध दो भागों के छ अध्यायों में विभक्त है। प्रथम खण्ड में, प्रबन्ध के विषय का शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक निरूपण तथा पृष्ठभूमि के रूप में आलोच्यकाल से पूर्व की विरह भावना का संक्षिप्त अध्ययन क्रमशः प्रथम और द्वितीय अध्याय में किया गया है। द्वितीय खण्ड के चार अध्यायों में आलोच्य काल की विरह भावना का अध्ययन किया है।

भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक होने वाले विभिन्न संस्कृत-काव्य

शास्त्रियों के शृंगाररस सम्बन्धी लक्षणों का अध्ययन और विवेचन प्रथम अध्याय के अन्तर्गत है। इसमें शृंगाररस के विभिन्न और दाम्पत्य रूपों की विवेचना तथा दाम्पत्य-शृंगार का शास्त्रीय अध्ययन है। 'दाम्पत्य शृंगार' के दो रूपों, सम्भोग और विप्रलम्भ के अध्ययन और विवेचन के उपरान्त विप्रलम्भ शृंगार और उसके विभिन्न भेदों से सम्बद्ध शास्त्रीय लक्षणों की विस्तृत व्याख्या करके उनमें विरह भावना की अवस्थिति का दिग्दर्शन इस अध्याय में किया गया है। इसके पश्चात् विप्रलम्भ की विभिन्न काम दशाओं का शास्त्रीय और मनोवैज्ञानिक अध्ययन है तथा आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से विरह भावना की अवस्थिति की खोज का प्रयत्न की है।

द्वितीय अध्याय में वैदिक, पौराणिक, बौद्ध, संस्कृत प्राकृत और अपभ्रंश काव्यों की विरह भावना का संक्षिप्त अध्ययन, विप्रलम्भ के विभिन्न भेदों के अनुसार किया गया है। हिन्दी के प्रारम्भिक काव्य से लेकर रीतिकाल के काव्य तक की विरह भावना का संक्षिप्त अध्ययन और विवेचन भी इसके अन्तर्गत है।

भारतेन्दु काल का विरह-काव्य किन्हीं अर्थों में भी आधुनिकता से प्रभावित न था। रीतिकालीन विरह-काव्य का अवशेष रूप यह काव्य आधुनिक काव्य की प्रवृत्तियों में किसी के अन्तर्गत भी न आ सकता था। अतः उसका विवेचन पृथक् रूप से द्वितीय खण्ड के प्रथम अध्याय में किया गया है।

२०वीं शताब्दी के आगमन के साथ पाश्चात्य विचारों और संस्कृति के सम्पर्क से भारतीयों में संस्कृति के पुनर्जागरण का युग प्रारम्भ हुआ। जहाँ इस काल में एक ओर राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में अनेक आन्दोलन हुए, वहाँ दूसरी ओर साहित्यिक क्षेत्र में भारतीय संस्कृति के पुनर्जागरण के हेतु अनेक ऐतिहासिक-सांस्कृतिक प्रबन्ध-काव्य लिखे गए जिनकी परम्परा द्विवेदी-युग से प्रारम्भ होकर अब तक चली आ रही है। मुख्य सांस्कृतिक प्रबन्ध काव्यों में अभिव्यक्त विरह भावना का अध्ययन विवेचन द्वितीय खण्ड के द्वितीय अध्याय में है।

जहाँ एक ओर सांस्कृतिक प्रबन्ध काव्यों में समष्टिगत स्तर पर विरहाभिव्यक्ति सम्भव थी, वहाँ दूसरी ओर वैयक्तिक स्तर पर स्व की मुक्त दु:खानुभूति और उसकी अभिव्यक्ति का अवकाश इस शताब्दी के प्रारम्भ में न था। अन्तः प्रवृत्तियों के अन्तर्मुखी होने के कारण छायावादी काव्य का उदय हुआ। छायावादी काव्य के प्रमुख प्रतिनिधि कवियों की विरह भावना का विवेचन तीसरे अध्याय के अन्तर्गत किया गया है।

सन् १९३५ ई० के आसपास छायावादी काव्य के विरुद्ध प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई। छायावाद-परवर्ती काव्य चिन्तन और शैली के दृष्टिकोण से अनेक वादों में विभाजित है किन्तु वैयक्तिक विरहानुभूति के स्तर पर कोई वर्गगत अथवा वादगत तात्त्विक अन्तर इस काव्य में उपलब्ध नहीं है। अतः रंगीन छायावाद, प्रगतिवाद और प्रयोगवाद के अन्तर्गत इस काव्य का विभाजन न करके उनके मुख्य प्रतिनिधि कवियों के काव्य में प्राप्त समस्त विरहानुभूति का विवेचन, छायावाद-परवर्ती हिन्दी-काव्य में विरह भावना के

नाम से चतुर्थ अध्याय में कर दिया गया है।

विरह भावना की भावलहरी में डूबकर यदि कुछ उज्ज्वल बहुमूल्य मुक्ताएँ लेखिका को प्राप्त हो सकी हैं तो उनका सम्पूर्ण श्रेय श्रीमती सावित्री सिन्हा और श्रद्धेय महामहिम नगेन्द्रजी को है। श्रीमती सिन्हा, जिनके स्नेहसिक्त वात्सल्यपूर्ण अंचल की छाया में मैंने अबोध बालक की भाँति ही क, ख, ग, घ से प्रारम्भ करके काव्यरसाम्बुधि में अवगाहन करना सीखा और श्रद्धेय नगेन्द्रजी, जिनकी कृपा और नीरक्षीर विवेचन की सहज क्षमता का अमूल्य परामर्श मुझे समय-समय पर मिलता रहा। अन्य गुरुजनों के प्रति भी मैं हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने समय-समय पर मुझे सहायता देने की कृपा की है।

—मधुरमालती सिंह

विषय-सूची

प्रथम खण्ड—सिद्धान्त-निरूपण और पृष्ठभूमि

द्वितीय खण्ड—विषय विवेचन

उदय (टोनी)

को

जिसके मधुर शैशव के प्रति इस प्रबन्ध का अक्षर-अक्षर कृतज्ञ है। जो माँ के श्रम सीकरों को अपने छोटे छोटे हाथों से सहलाकर दुलरा देता था, जिसको गोद में उठाकर वह अपना सम्पूर्ण अस्तित्व को भूल हुए विह्वल विस्मृत-सी हो उठती थी

प्रथम खण्ड

सिद्धान्त-निरूपण और पृष्ठभूमि

प्रथम अध्याय

विरह-भावना : शास्त्रीय विवेचन

'राग' और 'द्वेष' की दो मूल विरोधी वृत्तियों में प्राणीमात्र का जीवन स्पन्दन-युक्त है। इनमें भी 'राग' ही विशेष महत्त्वपूर्ण है क्योंकि यही जीवन और उसके आकर्षणों के प्रति आसक्ति का मूल कारण है। 'राग' से प्रेरणा प्राप्त करके प्राणीमात्र और विशेषत मानव कर्म में प्रवृत्त होते हैं। इसी से इसको जीवन की मूल प्रवृत्ति कहा गया है। सृष्टि का सृजन-स्रोत भी 'राग' है। इससे प्रेरित होकर विरोधी लिंग — नर और मादा, स्त्री और पुरुष परस्पर आकर्षण का अनुभव करते हुए मन और शरीर के एकत्व की अनुभूति करते हैं, प्रजनन की ओर प्रवृत्त होकर वे भावी प्रजा की जीवन शृंखला को जीवित रखते हैं। स्त्री और पुरुष के परस्पर उन्मुखी भाव में, किसी अवरोध के कारण जब एक पक्ष दूसरे पक्ष की अभाव पीड़ा का अनुभव करता हुआ उसकी प्राप्ति और प्राप्ति के सुख के लिए विकल हो उठता है तब उसकी वेदना को विरह भावना के नाम से अभिहित किया जाता है।

शास्त्रीय दृष्टि से विरह भावना का सम्बन्ध शृंगार रस से है। अत विरह भावना की काव्य शास्त्रीय स्थिति से परिचित होने के लिए शृंगार रस के लक्षणों और उसके विभिन्न भेदों-उपभेदों का विस्तृत विवेचन अनिवार्य है।

शृंगार रस

नाट्यशास्त्र के अध्याय ६ की ४६वीं कारिका में शृंगार रस का लक्षण भरत ने इस प्रकार किया है—"रति स्थायी भाव से उत्पन्न शृंगार रस उज्ज्वल वेष संयुक्त है। लोक में जो कुछ पवित्र एवं दर्शनीय है, वह शृंगार ही है। जिस प्रकार लोक में परम्परा और रीति के अनुसार व्यक्तियों का नामकरण किया जाता है उसी प्रकार नाटक में मनोविकारों और भाववृत्तियों का भी होना है। शृंगार रस उज्ज्वल वेष और वातावरण से सम्वर्धित होने के कारण वैसा कहा जाता है। स्त्री और पुरुष इसके हेतु हैं और यह यौवन समृद्धि से सम्वर्धित है।

इसके दो अनुष्ठान हैं—सम्भोग और विप्रलम्भ। यह अनुकूल वातावरण में प्रिय व्यक्तियों के संसर्ग से उपस्थित होता है। प्रियजनों के साथ उपवन आदि में दर्शन स्पर्श श्रवण और क्रीड़ा आदि से इसकी उद्दीप्ति होती है। रंगमंच पर इन मदुल कटाक्षों और

परिणाम के साथ उपस्थित करना चाहिए। इसमें उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा—ये चार संचारी नहीं होते। विप्रलम्भ में निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चिन्ता, उत्सुकता, निद्रा, सुप्ति, स्वप्न, विबोध (स्वप्न से जाग जाना), व्याधि, उन्माद, जड़ता (मूर्छा), मरण आदि अवस्थाएँ आती हैं।

इसके आगे इन्होंने विप्रलम्भ और करुण रस के अंतर को स्पष्ट किया है। करुण रस में शाप के कारण इष्ट जन, वैभव आदि के नाश से वियोग का जो दुःख उत्पन्न होता है उसमें आशा नहीं रहती, निरपेक्ष भाव होता है। किन्तु वियोगजन्य दुःख में प्रेमी को मिलने की आशा बनी रहती है। अतः विप्रलम्भ करुण रस से भिन्न है, वह सापेक्ष है।[1]

भरत के शृंगार रस सम्बन्धी लक्षण की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है—

स्थायी भाव—(हृदय में वासना रूप से स्थित भाव) रति।

आलम्बन विभाव—(जिनके सहारे भाव प्रकट होता है) यौवन समृद्ध स्त्री पुरुष (स्त्रीपुरुषहेतुक उत्तम युवति प्रकृति) अर्थात नायक नायिका।

उद्दीपन विभाव—भाव को रस कोटि तक पहुँचाने में सहायक, उसको उद्दीप्त करनेवाले गुण—ऋतु, उपवन और प्रियजन का श्रवण, दर्शन आदि हैं अर्थात शृंगार रस के उद्दीपन विभाव प्रकृति भी हो सकते हैं और मानव भी।

अनुभाव—(भाव के अनन्तर) भ्रूविक्षेप, कटाक्ष आदि जो नायक नायिका में परस्पर दर्शन स्पर्श आदि से मधुर अभिनय के द्वारा रंगमंच पर प्रकट होते हैं। यह अनुभाव कहलाते हैं।

संचारी भाव—(भाव के रस कोटि तक पहुँचने की अवधि में समय समय पर उठने

गिरने वाले अनेक भाव, जो स्थायी भाव को पुष्ट बनाकर रस कोटि तक पहुँचाते हैं)।

शृंगार रस का स्थायी भाव रति कहा गया है। नाट्यशास्त्र के 'सामान्याभिनय' नामक अध्याय में शृंगार रस के विभिन्न प्रकारों का उल्लेख करते हुए भरत ने काम शृंगार की व्याख्या की है और उसका ही स्थायी भाव रति बताया है—' स्त्री और पुरुष के संयोग से उत्पन्न होने वाले काम को काम अथवा काम शृंगार कहा जाता है। यह स्त्री-पुरुष के संयोग में रति या सयोग उत्पन्न कराता है।'[1]

दाम्पत्य भाव में होने वाले इस शृंगार के अतिरिक्त भरत ने शृंगार के एक और व्यापक रूप की ओर भी संकेत किया है जिसमें उन्होंने जीवन के चारों पुरुषार्थों की पूर्ति का समन्वित होना कहा है—' पृथक पृथक कर्मों के योग से विधिपूर्वक किया गया शृंगार धर्म अर्थ और काम के कारण तीन प्रकार का है। जब धर्म में प्रार्थित मात्र हित (Longed for object) साधना द्वारा प्राप्त हो जाता है तो वह धर्म शृंगार है, जो नियम तप आदि से पूर्ण है।

जब अर्थ की (बहुधा) इच्छा से शृंगार होता है तो उसे अर्थ शृंगार कहते हैं।

स्त्री संयोग जन्य विषय में अभिरति को काम शृंगार कहते हैं। वह केवल कल्पना में भी हो सकती है। कन्या को आकृष्ट करना अथवा प्राप्त करना अथवा स्त्री-पुरुषों का शृंगार या एकान्त मिलन अथवा आवेग काम शृंगार कहलाता है।'[2]

यह स्पष्ट है कि यहाँ भरत ने शृंगार को बहुत व्यापक अर्थ में लिया है। शृंगार का स्थायी भाव 'रति' कहा जाता है। शास्त्रों में 'रति' की व्याख्या इस प्रकार है—'रति मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम्' अर्थात् मनोनुकूल वस्तु में सुख प्राप्ति का ज्ञान ही रति है। यह मनोनुकूल वस्तु जीवन के किसी भी क्षेत्र की हो सकती है वह जीवन के चारों पुरुषार्थों में से किसी से भी सम्बन्धित हो सकती है। धर्म अर्थ और काम के अतिरिक्त मोक्ष प्राप्ति की इच्छा भी शृंगार का ही एक रूप है। वहाँ मोक्ष मनोनुकूल वस्तु है और

१ स्त्री पुंसयोस्तु संयोग यः स तु काम इति स्मृतः ॥६६॥
य स्त्रीपुंससंयोगो रति संभोग कारक।
स शृंगार इति ज्ञेय उपचार कृतः शुभ ॥६८॥
भरत—नाट्यशास्त्र सामान्याभिनय अध्याय २२।

२ त्रिविधश्चात्र विधिवत् पृथक् पृथक् कार्ययोग विहितात्।
त्रिविधस्तु शृंगारो ज्ञेयो धर्मार्थकामकृत ॥७२॥
यत्र तु धर्मप्रार्थितमात्महित भवति साधित बहुधा।
प्राप्तिनियमतपोयुक्त ज्ञेयोऽसौ धर्म शृंगार ॥७३॥
अर्थस्येच्छायोगात् बहुधा चैव काम शृंगार।
स्त्रीसंप्रयोगविषयेष्वथा प्रकाश्यते हि रति ॥७४॥
कन्याविलोभनकृत प्राप्त स्त्री पुंसयोस्तु रत्न वा।
निभृत सावेग वा कामार्थात् कामशृंगार ॥७५॥
भरत—नाट्यशास्त्र अध्याय २२।

उसकी प्राप्ति के प्रति रति विद्यमान रहती है। इसीलिए भरत ने कहा भी है—"धर्म कामार्थाभ्यासश्च सोऽभिप्रायश्च च। (नाट्यशास्त्र सामान्याभिनय, अध्याय २२ कारिका ९१)।

इस व्यापक अर्थ में शृंगार को आत्मतुष्टि का पर्याय समझना चाहिए।

शृंगार का मूल तत्त्व काम है, रति को कामदेव की पत्नी कहा गया है। काम और रति के संयोग से ही शृंगार उत्पन्न होता है। भरत ने कहा है कि प्रायः सभी भावों की उत्पत्ति काम से होती है— प्रायेण सर्वभावानां कामान्निष्पत्तिरिष्यते। इस रूप में काम स्वयं आनन्द ही है। उसमें ही विभिन्न भाव अस्तित्व में आते हैं।

काम के इस व्यापक अर्थ का उल्लेख हमें अन्य प्राचीन ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है। महाभारत के अनुसार पुरुष काममय ही है।[1] मनु कहते हैं— इस संसार में कहीं भी अकामता नहीं है। व्यक्ति जो कुछ करता है वह काम की ही चेष्टा होती है। कोई भी क्रिया कभी भी अकाम नहीं देखी जाती।[2] लिंगपुराण के अनुसार जो आनन्द अमृत और नित्य है उसको परब्रह्म कहते हैं और परमात्मा भी कहते हैं। उसी के विकार को काम कहते हैं।[3] अर्थात् ब्रह्म का विकार अथवा जगत् काम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जगत् के समस्त कार्य व्यापार प्राणी की जीवनेच्छा पर ही अवलम्बित हैं। आधुनिक समय में प्रसाद ने इस भाव को अपने कवित्वमय शब्दों में व्यक्त किया है

मैं काम रहा सहचर उनका
उनके विनोद का साधन था
हँसता था और हँसाता था
उनका मैं कृतिमय जीवन था।[4]

कृतिमय जीवन अर्थात् समस्त कार्यों की प्रेरणा।

तथा—

जो आकर्षण बन हँसती थी

अव्यक्त प्रकृति उन्मीलन के
अंतर में उमगी चाह रही।"[1]

'रति जीवन का वह पण है वह अव्यक्त प्रकृति (पुरुष) को नामरूपात्मक जगत के रूप में प्रकट करती है। जो भी कुछ काम हम संसार में करते हैं, वह किसी विशेष इच्छा की पूर्ति के लिए। अतः रति सर्वत्र ही व्याप्त है।

महाभारत में काम की मुमुक्षु पर विजय प्राप्ति की योग्यता में बड़ा सुन्दर श्लोक कहा गया है। काम मुमुक्षु पर अपनी विजय घोषित करता हुआ कहता है—

"जो मोक्ष इच्छुक पण्डित मोक्ष प्राप्ति में ध्यान लगाकर मुझको नष्ट करने का प्रयत्न करते हैं, उनमें भी मैं मोक्ष रति के रूप में स्थित रहकर नृत्य करता हूँ और हँसता हूँ। अथवा मोक्षकामी उस व्यक्ति को मैं नचाता हूँ और उसका उपहास कराता हूँ।"[2]

कामसूत्र के मंगल श्लोक में भी काम को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष, सब प्रकार का बताया गया है—"धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन सभी प्रकार के कामों को मैं नमस्कार करता हूँ।'[3]

भगवद्गीता में भी धर्म अर्थ आदि कामों की ओर संकेत है—'जिनका भजन करते हुए धर्म, अर्थ और कामों की इच्छा करने वाले लोग अभीष्ट गति को प्राप्त करते हैं।'[4]

गोस्वामी तुलसीदास ने भी कहा है—

'काम कुसुमधनु सायक लीन्ह, सकल भुवन अपने बस कीन्ह।
मोह न अन्ध कीन्ह केहि केही, को जग काम नचाव न जेही॥'[5]

अर्थात् इच्छा व्यक्ति को मनमाना नाच नचाती है। विश्व पूर्ण रूप से काम के वश में है। संसार का कोई भी कार्य-व्यापार काम की स्थिति के बिना सम्भव नहीं है।

शृंगार का इस व्यापक अर्थ में व्याख्या महाराज भोज की शृंगार विषयक विवेचना में अपने पूर्ण प्रकर्ष को पहुँच गई थी। महाराज भोज के अनुसार—'यह भाव के आत्म स्थित गुण विशेष को शृंगार कहते हैं। उसका ही आत्मशक्ति की रसनीयता के कारण रसत्व है। अर्थात् आत्मा का यह भाव ही रसत्व को प्राप्त होता है। इसके कारण रसिक

---

१ कामायनी, काम सर्ग, पृष्ठ संख्या ७२।

२ यो मां प्रयतते हन्तुं मोक्षमास्थाय पण्डितः
तस्य मोक्षरतिस्थस्य नृत्यामि च हसामि च।
—महाभारत, अश्वमेध पर्व, अध्याय १३।

३ नमो धर्माय कामाय तत्कामाभ्यो नमो नमः।
त्रिवर्ग मोक्ष कामश्च॥
—कामसूत्र का मंगल श्लोक, कामसूत्र।

४ ये धर्मार्थविमुक्तिकामा भजन्त इष्टां गतिमाप्नुवन्ति।
—भगवद्गीता

५ रामचरितमानस, बालकाण्ड, दोहा २५६, चौपाई १ (गीता प्रेस, गोरखपुर आठवाँ संस्करण)।

[illegible] का प्रयोग होता है।[१]

इस प्रकार भोज के अनुसार शृंगार अहंकार का पर्याय है। अहंकार मानवीय आत्मा में वह अहं रूप में स्थित वह गुण विशेष है जिसके कारण अनेक प्रकार के भावों का उदय मानव हृदय में होता है अर्थात् रत्यादि भावों की उत्पत्ति मानवीय आत्मा में स्थित इस अहंकार के कारण होती है। यह अहंकार और क्या है? भोज के अनुसार यह आत्मा का अभिमान मात्र है। यही रस है जिसमें आत्मा को चरम आनन्द की उपलब्धि होती है। यह आत्मा का अपने प्रति प्रेम है। इसे आत्मासक्ति अथवा आत्मकाम भी कह सकते हैं।

अपने प्रति प्रेम के कारण ही आत्मा अपने अहं की सन्तुष्टि के लिए अनेक भावों में विचरण करती है। बाह्य जगत के सम्पर्क में आने से हृदय में अनेक भावों का उदय होता है और इन भावों का आनन्द आत्मा अपनी अहं की शक्ति के द्वारा लूटती है, इसी कारण ही उस समय अनुभव भी सुखमय प्रतीत होने लगते हैं। दुःखमय अनुभवों का सुखमय रूप में प्रकट होना इस बात को और भी स्पष्ट कर देता है कि रस आत्मा में ही रहता है वस्तु अथवा अनुभव में नहीं।

मानव आत्मा में इस भाव की स्थिति व्यक्ति की आत्मिक, मानसिक और चारित्रिक उन्नति का द्योतक होता है। यही कारण है कि प्रत्येक व्यक्ति रसिक अथवा सहृदय नहीं होता। जिस व्यक्ति में संस्कारों के कारण अहं की चेतना जागृत रहता है, रस का अनुभव उसी व्यक्ति को होता है। समस्त भावों का यह अहंकार रस अपनी परिधि में ले लेता है क्योंकि भावोत्पत्ति के पूर्व भी आत्मा में यह एक अहं की चेतना रहती है और समस्त भावों के पूर्ण प्रशम की स्थिति में भी वही एक आत्मस्था चेतना अवशिष्ट रह जाती है।

भोज का शृंगार स्त्री और पुरुष के संयोग से उत्पन्न होने वाला दाम्पत्य शृंगार ही नहीं है। यह आत्मा के अन्तरतम में [illegible] बाह्य जगत के संसार से उत्पन्न हुए सभी प्रकार के भाव प्रसंगों का प्रतिनिधित्व करता है। यह मानवोचित पूर्णता के शृंग पर मानव को पहुँचाता है जहाँ परम आनन्द की स्थिति आ जाती है। इसी से उसको शृंगार कहते हैं। [illegible] जीवन में शृंगार। इस रत्यादि स्थायी भावों से उत्पन्न होने वाले अनेक रस इसके अंग हैं और यह उनका अंगी है।

भोजराज ने लिखा है— [illegible] अपनी आत्मा ही सब प्राणियों का सबसे अधिक

होते है।"[1]

यह अहंकार तत्त्व शृंगार इसलिए ही नहीं कहलाता कि यह प्राणी को पूर्णता के शृंग पर पहुँचा देता है बल्कि इसलिए भी इसको शृंगार कहते हैं, क्योंकि यह ही अन्तिम गति है, जो प्राणी के अपने प्रति प्रेम के कारण अन्य विषयों के प्रति भी उसके राग का कारण बनती है। यह आत्मयोनि अर्थात् काम का स्वयं जीवन ही है। काम से हमारा यहाँ तात्पर्य स्त्री पुरुष के परस्पर आकर्षण से उत्पन्न होने वाला काम नहीं है। वरन् जैसा कि हमने पहले स्पष्ट किया है, काम स्वयं जीवनेच्छा है जिसके द्वारा प्राणी का प्रत्येक कार्य जीवन की स्फूर्ति पाता है तथा जीवन के विभिन्न अनुभवों में अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों के कारण अनेक रसों का अनुभव करता है।

शृंगार आदि रस

शृंगार रस को इस व्यापक रूप में समझ लेने के पश्चात् हम निश्चयात्मक रूप से आचार्यों के उस विचार को पूर्णतः स्पष्ट समझ पाते हैं कि शृंगार ही प्रथम रस है। रस उत्पत्ति के विषय में अग्निपुराण में लिखा है—

"अक्षर, अज सनातन विभु या सहज आनन्द कभी कभी प्रकट हो जाता है, यह अभिव्यक्ति चैतन्य चमत्कार और रसमयी होती है। उसके आदि विकार को अहंकार कहते हैं। उसके अहं भाव से अभिमान का प्रादुर्भाव हुआ जो भुवन में व्याप्त है। अहं भाव सकलित अभिमान से रति की उत्पत्ति हुई इसी रति से शृंगार का जन्म हुआ।"[2]

आत्मा के अहंकार तत्त्व से अहं भाव और अभिमान की उत्पत्ति तथा इन दोनों के सकलित होने से राग तत्त्व की उत्पत्ति होने के भाव की पुष्टि हम पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों की राग तत्त्व सम्बन्धी खोजों से भी मिल जाती है। फ्रायड के मतानुसार आत्मा का अहं तत्त्व दो रूपों में प्रकट होता है। अहं तत्त्व से हमारा अभिप्राय absolute love या

१ सर्वासामपि भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः
इतरेऽपत्यवित्ताद्यास्तद्वल्लभतयैव हि।

—भागवत।

२ अक्षरं ब्रह्म परमं सनातनमजं विभुम्,
आनन्दः सहजस्तस्य व्यज्यते स कदाचन
व्यक्तिः सा तस्य चैतन्य चमत्कार रसाह्वया
आद्यस्तस्य विकारो यः सोऽहंकार इति स्मृतः,
ततोऽभिमानस्तत्रेदं समाप्तं भुवनत्रयम्,
अभिमानाद्रतिः सा च परिपोषमुपेयुषी,
रागाद्भवति शृंगारो रौद्रस्तैक्ष्ण्यात् प्रजायते,
वीरोऽवष्टम्भजः संकोचभूर्बीभत्स इष्यते,
शृंगाराज्जायते हासो रौद्रात्तु करुणो रसः
वीराच्चाद्भुतनिष्पत्तिः स्याद्बीभत्साद्भयानकः।

फ्रायडियन भाषा के libido का है। यह libido दो रूपों में विभाजित होता है—(१) Subject libido अथवा Ego libido अथवा Interned libido (२) Object libido। Subject libido अथवा Interned libido में आत्मा का प्रेम अपने तक ही सीमित रहता है यही हमारे रागात्मिका का अहं भाव है। अपने प्रति इस अहं भाव के कारण आत्मा जब अपनी तुष्टि के लिए बाह्य जगत की ओर उन्मुख होकर उसके विषयों से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करती है तो मनोवैज्ञानिक उसे Object libido कहते हैं और रागात्मिका अभिमान। Interned libido और Object libido अथवा अहं भाव और अभिमान के सम्मिलित होने से राग तत्त्व या Love उत्पन्न होता है। अर्थात राग में दो बातें वर्तमान रहती हैं—(१) आत्मा का अपने ही प्रति प्रेम जहाँ स्वार्थ ही प्रधान रहता है अहंभाव (२) अभिमान जब यह अपने स्वार्थ की संतुष्टि के लिए उस स्वकीयार्थ तक विस्तार कर लेता है। कामेच्छा अथवा शृंगार के लिए अहं भाव और अभिमान दोनों ही तत्त्वों का विद्यमान रहना अनिवार्य है।

इस रति में तीक्ष्णता उत्पन्न होने से रौद्र की, गर्व में वीर की, संकोच से वीभत्स की सृष्टि हुई। फिर शृंगार से हास्य, रौद्र से करुण, वीर से अद्भुत और वीभत्स से भयानक का आविर्भाव हुआ।

रति की परिभाषा शास्त्रों में पहले इस प्रकार होती थी— रतिर्मनोनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम् अर्थात मनोनुकूल वस्तु में स्वयं प्राप्ति का भाव ही रति है। इस सुख प्राप्ति में बाधा उपस्थित होने पर जब यह भाव उस बाधा को दूर करने के लिए उत्तेजित होता है तो रौद्र रस की उत्पत्ति होती है। यदि बाधा प्रबल है तो मन कभी-कभी उससे दूर जाने का प्रयत्न करता है। उसके संकोच से वीभत्स की और यदि बाधा पर प्रयत्न विजयी हो जाता है अथवा रौद्र की सहायता से विजयी होने का प्रयत्न करता है तो वीर रस की उत्पत्ति होती है। बाद को इन चार रसों— शृंगार, वीर, रौद्र और वीभत्स से ही हास्य, अद्भुत, करुण और भयानक रसों का क्रमशः आविर्भाव हुआ।

भारतीय शास्त्रों में काम की व्यापकता का अनेक स्थानों पर उल्लेख है। अथर्ववेद में लिखा है— *काम तू सबसे प्रथम उत्पन्न होकर देव, पितर और मर्त्य सबको प्राप्त हुआ। कोई भी तुझसे बड़ा न था। तू विश्व में व्यापक व महान् है। मैं तुझे नमस्कार करता हूँ।

शृंगार को इस व्यापक अर्थ में ग्रहण करके आज के मानव के कृतिमय जीवन' काम का अस्तित्व बहुत स्पष्ट कर दिया। मानव आत्मा में स्थित यह अहंकार अथवा

---

* [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

—अथर्व[illegible]

शृगार रस किन किन स्थितियों म मनुष्य को क्रियाशील बनाता है, इस विषय का विवेचन भी भोज ने किया है। पूर्वोक्त आचार्यों के समान भोज भी जीवन के चार पुरुषार्थों के अनुकूल चार प्रकार के शृगारों का अस्तित्व बताते हैं—धर्मेच्छा, अर्थेच्छा, कामेच्छा और मोक्षेच्छा। स्त्री-पुरुष की परस्पर रमणेच्छा म उत्पन्न शृगार को भोज काम शृगार कहते हैं—' विभाव अनुभाव व्यभिचारी के संयोग से रति स्थायी भाव प्रकर्ष को प्राप्त होकर काम शृगार के नाम को प्राप्त होता है।'[1]

भोज के परवर्ती आचार्यों म शारदातनय ने ही शृगार को उसके व्यापक अर्थ म ग्रहण किया। भावप्रकाश के द्वितीय अधिकार मे शृगार की व्याख्या करते हुए शारदातनय कहते हैं—"बाह्यार्थ अवलम्बन वाला मन रजोगुण निष्ठ होकर जब साहकार होता है तो उसके विकार को शृगार कहते हैं।"[2]

इस परिभाषा का विश्लेषण इस प्रकार हो सकता है—अहकार मन म आवश्यक रूप मे स्थित रहता है, मन के अह का दूसरा गुण यह है कि वह बाह्य ससार म अवलम्बन खोजता है। इस अवलम्बन की खोज म जब वह रजोगुण मे सनिविष्ट होता है अर्थात् भाव, विभाव और व्यभिचारी भाव म समन्वित होता है तो उसके उस विकार को शृगार कहा जाता है।

शारदातनय की परिभाषा म भोज का ही आधार है उसम कोई मौलिकता नही है। यह उसके विश्लेषण मे स्पष्ट ही है। शारदातनय ने इतना और स्पष्ट उल्लेख कर दिया है कि मन बाह्यार्थ अवलम्बन वाला है, अर्थात मन अपने अह की सतुष्टि बाह्य ससार म ढूढा करता है।

शारदातनय के पश्चात् शृगार की इस अर्थ म कोई उल्लेखनीय व्याख्या नहीं हुई। यद्यपि अह की सतुष्टि ही शृगार का पर्याय है यह गौण रूप म सभी आचार्यों ने स्वीकार कर लिया। शृगार को रसराज बनाया गया, उसके अतर्गत और रसो का समाहित होना भी कहा गया किंतु शृगार को उसके काम शृगार (दाम्पत्य) अर्थ म ही ग्रहण किया गया और उसकी ही विशद विवेचनाएँ हमारे यहाँ के सस्कृत काव्यशास्त्रियो ने प्रस्तुत की।

शृगार रस (दाम्पत्य अर्थ में)

शृगार के जिस दाम्पत्य अर्थ की भरत ने व्याख्या की थी, वही उनके परवर्ती

---

१ विभावानुभाव व्यभिचारि सयोगात् (वि) प्रकर्षमापद्यमान प्रधान
(मा) वो रतिनाम कामशृगाराख्या लभते।

—शृगारप्रकाश, पृ० १३३, प्रति ४, अध्याय ३२।

२ बाह्यार्थालम्बनवतो मनसो रजसि स्थितात्।
साहकारविकारो य स शृगार उदाहृत ॥

—भाव प्रकाश, पृष्ठ ४७, पक्ति १३ १४
गायकवाड ओरियण्टल सीरीज, द्वितीयो अधिकार।

[illegible] आचार्यों का भी मान्य था। 'स्त्री और पुरुष के संयोग से उत्पन्न होने वाले काम को [illegible] शृंगार कहा जाता है। यह स्त्री पुरुष के संयोग में रति का संयोग [illegible] जाता है।'[1]

अर्थात् स्त्री और पुरुष का परस्पर [illegible] भाव रति है। वही प्रणय का प्राप्त [illegible] में अभिव्यक्त होता है।

रति की परिभाषा [illegible] ने इस प्रकार की है— 'मनोनुकूल वस्तु में सुख [illegible] होती है।' अतः [illegible] में स्त्री और पुरुष एक-दूसरे को अनुकूल समझकर जब परस्पर सुख प्राप्त करने की आशा में प्रयत्नशील होते हैं तो उनके इस भाव को रति कहा जाता है।

भरत के बाद संस्कृत [illegible] में सबसे प्रथम नाम भामह का है। भामह मूलतः अलंकारवादी हैं। उन्होंने रस का विवेचन नहीं किया केवल रसवदलंकार को माना है और रसवदलंकार की व्याख्या करते हुए ही उन्होंने शृंगार रस केवल इस नाम का उल्लेख किया है— जहाँ शृंगारादि रस स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ते हैं, वहाँ रसवद् अलंकार होता है।[2]

विभिन्न रसों के [illegible] का विवेचन भामह ने नहीं किया।

इस अलंकार का विवेचन करते हुए भामह ने उसके उदाहरण में विदुर के कृष्ण के प्रति [illegible] कहा है— 'हे गोविन्द! मेरे यहाँ आकर आज मैं जो प्रीति हुई है, वह समय [illegible] पर आकर पुनः [illegible] पर फिर आ वैसी ही होगी।'[3]

भामह के पश्चात् दण्डिन ने अपने काव्यादर्श में विदुर की कृष्ण के प्रति इसी उक्ति [illegible] जागृत होने पर उत्पन्न का रूपमयुक्त उक्ति का उल्लेख किया है और उसको रसवत् माना है। उसका विवेचन उन्होंने इस प्रकार किया है— [illegible] प्रीति [illegible] रति रूप [illegible] के योग से जब शृंगारता को प्राप्त होती है तो उसे रसवत् अलंकार कहते हैं।[4]

---

१ [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
२ [illegible]
—[illegible] संस्कृत साहित्य, अलंकार विभाग।
३ [illegible]
[illegible]
—[illegible] अलंकार विभाग।
४ [illegible]
[illegible] ॥३–४॥
—[illegible], गवर्नमेंट ओरिएण्टल सीरीज।

भामह ने प्रेय का लक्षण इस प्रकार दिया था—'एक वाक्य में सौजन्य से अधिक आत्मीयता हो तो उसका प्रेय कहा जाएगा।' अर्थात माधुर्य सौजन्य से अधिक आत्मीयता प्रेय का लक्षण है।

दण्डिन ने कहा कि यद्यपि प्रेय शृंगार के बहुत समीप पड़ता है, किन्तु फिर भी शृंगार प्रेय में भिन्न है, क्योंकि जहाँ प्रेय का स्थायी भाव प्रीति है, वहां शृंगार का स्थायी भाव रति है।

प्रीति और रति के अन्तर को दण्डिन ने स्पष्ट नहीं किया, केवल उदाहरण द्वारा यह बता दिया कि प्रीति में आत्मीयता किसी भी प्रिय व्यक्ति के प्रति हो सकती है और रति में वह आत्मीयता अपनी पत्नी के प्रति होगी।

प्रीति और रति के इस अन्तर को बहुत बाद में शारदातनय ने स्पष्ट किया। उन्होंने कहा कि 'प्रीति प्रियात्मिका होती है और रति इच्छात्मिका।'[1] अर्थात प्रीति का प्राण प्रिय है और रति का प्राण इच्छा। एक में प्रियहित कामना ही प्रधान रहती है और दूसरे में इच्छा (वासना) भी सम्मिलित रहती है।

शारदातनय के प्रीति और रति सम्बन्धी विवेचन की पुष्टि, दण्डी के उदाहरणों से हो जाती है। विदुर के कृष्ण के प्रति भाव में किसी प्रकार की कामना नहीं है, किन्तु उदयन के वासवदत्ता के प्रति भाव में कामना विद्यमान है। कहने का तात्पर्य यह है कि रति स्त्री पुरुष की परस्पर आत्मीयता में ही केवल मिल सकती है और उसमें वासना मूल रूप से स्थित रहती है। स्त्री और पुरुष की परस्पर रति भावना से शृंगार का जन्म होता है।

'उद्भट' ने शृंगार विषयक कोई विवेचन नहीं किया केवल रसवद अलंकार की परिभाषा करते हुए शृंगार रस नाम का उल्लेखमात्र किया है।

भरत के परवर्ती इन अलंकारवादी आचार्यों में रुद्रट ही सबसे पहले आचार्य हैं जिन्होंने शृंगार रस का विशद् विवेचन अपने ग्रंथ में किया। 'काव्यालंकार' के १२वें अध्याय में वह कहते हैं कि आचार्यों ने मधुरादि को उनकी रसनीयता के कारण रस कहा है—

रसनाद्रसत्वमेषां मधुरादीनामिवोक्तमाचार्यैः ॥४॥

—काव्यालंकार

शृंगार का लक्षण देते हुए रुद्रट कहते हैं—'पुरुष और नारी के रति सम्बन्धी रति व्यवहार को शृंगार कहते हैं। वह दो प्रकार का होता है संभोग और विप्रलम्भ।'[2]

---

१ प्रीति प्रियात्मा प्रायेण रतिरिच्छात्मिकैव हि।

—भावप्रकाश पृष्ठ ३४, द्वितीय अधिकार १७वीं पंक्ति, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज।

२ व्यवहार पुंनार्योरन्योन्यं रक्तयो रतिप्रकृति।
शृंगार स द्वेधा संभोगो विप्रलम्भश्च ॥५॥

—काव्यालंकार रुद्रट, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, १२वां अध्याय।
सम्पादक—पं० दुर्गाप्रसाद और वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री

कारिका में आए हुए 'रसत्व' शब्द को दो रूपों में लिया जा सकता है—एक तो साधारण शाब्दिक अर्थ में दूसरा लाक्षणिक अर्थ में रति सम्बन्धी व्यवहार अर्थात् 'यौन तृप्ति' का द्योतक है। और तब इस परिभाषा का यह अर्थ हो जाता है कि स्त्री और पुरुष के पारस्परिक सम्पर्क से 'यौन तृप्ति' को जो स्वाद प्राप्त होता है वह शृंगार कहलाती है। यौन तृप्ति पति-पत्नी सम्बन्ध में ही होती है अतः इसी सम्बन्ध में शृंगार रस होता है।

ध्वनिकार आनन्दवर्धनाचार्य ने भी शृंगार का कोई अलग विवेचन नहीं किया। केवल द्वितीय [illegible] की १०वीं कारिका में इतना कहा है कि—'विप्रलम्भ शृंगार और करुण रस में माधुर्य अतिशययुक्त होता है क्योंकि उसमें मन अधिक आर्द्रता को प्राप्त होता है।'[1]

आनन्दवर्धनाचार्य के बाद शृंगार विषयक विवेचन-कर्ता आचार्यों में महाराज भोज का नाम अत्यन्त उल्लेखनीय है। भोज ने जहाँ एक ओर शृंगार की परिभाषा को अत्यन्त विस्तृत कर दिया, आत्मा के अहंकार गुण विशेष को शृंगार बतलाया वहाँ दूसरी ओर दाम्पत्य पक्ष में पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा दिए गए दाम्पत्य शृंगार के लक्षण में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया।

भी अपने आकर्षण की तन्मयता में उसके मन की रति (मनोनुकूल वस्तु में सुख प्राप्ति की इच्छा) शृंगार रस का स्थायी भाव बन सकती है, क्योंकि रति 'अहेतु पक्षपात' है और 'यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया'। अत शृंगार में जिस एकांगी भाव को भोज के पूर्ववर्ती आचार्य अनुचित मानकर 'रसाभास' के अन्तर्गत लेते उसको भी भोज ने रति का मूल तत्त्व मान लिया।

भोज से पहले अभिनव गुप्त ने भी 'अभिनव भारती' में रति के मूल में स्नेहभाव की ही अवस्थिति मानी थी।

अत भोज ने 'रतिमुभय प्रायनानुरूप' का खण्डन किया और स्पष्ट शब्दों में कहा कि 'यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया'। अर्थात 'रति अपनी पुष्टि दोनों पक्षों के द्वारा चाहती है' इसके स्थान पर 'दूसरे पक्ष के द्वारा रति का प्रतिदान आवश्यक नहीं है, क्योंकि एक बार हृदय में रति भाव उत्पन्न हो जाने पर उसका प्रतिकार असम्भव है, इस मत की पुष्टि की। यदि रति की पुष्टि में आकर्षण उभयपक्षीय है तो आ बाई जाया नहीं है किन्तु यदि वह एकपक्षीय ही है तब भी वह उभयपक्षीय आकर्षण से किसी भाँति निम्नतर नहीं है। बल्कि यदि वह एक व्यक्ति में ही रहकर पुष्ट होती है तब तो उसकी उत्कटता और भी अधिक प्रशंसनीय है। ऐसी दशा में वह 'रस' न होकर 'रसाभास' कैसे हो सकती है? भोज के अनुसार एकांगी भाव का प्रेम भी 'रसाभास' नहीं है।

भोज ने शृंगार विषयक विवेचन में उपर्युक्त भाव को सिद्धान्त रूप से स्वीकार करके संसार के समस्त शृंगार साहित्य को बहुत बड़ा योगदान दिया है अन्यथा फारस के अमर प्रेमी फरहाद का प्रेमभाव सहृदयों की दृष्टि में शृंगार रस आभास मात्र रह जाता। पद्मावती में अनुरक्त रत्नसेन की दूसरी रानी नागमती के विरह की तड़पन केवल विप्रलम्भास हो जाती, क्योंकि अपनी ओर से उदासीन पति से नागमती को अपने प्रेम का कोई भी प्रतिदान प्राप्त नहीं था।

शृंगार के सूक्ष्म पक्ष प्रेम की निस्वार्थता की ओर भी सम्भवत भोज ने ही सर्वप्रथम ध्यान दिया और रति की व्याख्या करते हुए उन्होंने उसे अहेतु पक्षपात बताया।

किन्तु भोज का मत बहुत दिन तक प्रतिष्ठित न रह सका। संस्कृत काव्य शास्त्रियों ने अपने वस्तुपरक दृष्टिकोण के कारण उस ओर ध्यान देना आवश्यक ही न समझा और काव्यशास्त्र के मान्य ग्रन्थ काव्य प्रकाश में पुन पूर्व परिपाटी का अनुसरण किया गया। मम्मट ने 'काव्य प्रकाश' में कहा था कि अनौचित्य में रसाभास मानना चाहिए। [1]

'रतिदेवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जित भावना विषया तु व्यक्ता शृंगार।'

काव्यप्रकाश के रसाभास प्रकरण के ऊपर टीका करने वाला कहता —"अनौचित्य सहृदय के व्यवहार से जानना चाहिए जहाँ वे अनौचित्य का अनुभव करें (वहीं रसाभास

१ मम्मट ने काव्यप्रकाश के चतुर्थ उल्लास में रसाभास की परिभाषा करते हुए कहा था—
तदाभासा अनौचित्य प्रवर्तिता। —वही

। शृगार म बहुविषयत्व उपनायकादि गतत्व, नायक-नायिका अन्यतरमात्रविषयत्व[1]
[illegible] म प्रम का स्थिति) गुरुजनगतत्व तिर्यगादिगतत्व के द्वारा अनौचित्य नाना प्रकार
है। जैसे कि यहा भी है कि उपनायक म मुनि गुरु पत्नी म बहुनायक विषय म और
[illegible] निष्ठ रति म तथा तिर्यगादिविषय म रति का होना आभास कहलाता है।

वाग्भट म अनौचित्य मत के आभास का ही प्रयोजक है—'अनौचित्यमात्रमेवा
[illegible] मनसा भासता प्रयोजकम्। नियक आदि म अनौचित्य का आभास होने पर रस
है। [2]

काव्यप्रकाश म शृगार का लक्षण केवल यही समझा गया है कि "रति स्थायी
[illegible] म स्वरूप रस शृगार है। इसका लक्षण देने की आवश्यकता नहीं समझी गई।

मम्मट के बाद हेमचन्द्र ने भी शृगार रस की कोई मौलिक परिभाषा नहीं दी।
[illegible] की परिभाषा हेमचन्द्र अपने काव्यानुशासन म इस प्रकार करते हैं—"रति स्थायी
[illegible] और स्त्री पुरुष-माल्यादि विभावों से युक्त तथा जुगुप्सा आलस्य और उग्रता को
[illegible] अन्य व्यभिचारी भावों से समृद्ध रस शृगार रस कहलाता है। इसके दो भेद हैं—
सम्भोग और विप्रलम्भ।[3]

वाग्भट्ट प्रथम और वाग्भट्ट द्वितीय ने भी क्रमश अपने वाग्भट्टालकार और
काव्यानुशासन म मम्मट और हेमचन्द्र का अनुकरण ही किया है।

भोज के बाद शृगार रस उसके भेद प्रभेदों का विस्तृत विवेचना करने वाले
[illegible] आचार्य शारदातनय हैं।

शृगार रस की परिभाषा करते हुए शारदातनय कहते हैं—"रस के आलम्बन
[illegible] के जो साधारण गुण [illegible] के सब गुण की इच्छा से युक्त हैं (साधारण गुण म
[illegible] की इच्छा भी रहती है) गुण के साधन को भोग कहते है। यही भोग शृगार विशेष
[illegible] जाता है। भोग उपभोग और सम्भोग शब्द पर्यायवाचक है। सम्भोग म सर्वत्र प्राणियों

[illegible] विषयत्वादिरूप सामाजिकमतेयम्। सद्युक्त उद्योत [illegible]
[illegible] यथानुचित [illegible]। तच्च शृगार बहुविषयत्वेन उपनाय
[illegible] विषयत्वेन गुरुजन [illegible] निर्यगादिगत वादि च नानेव।
[illegible] बहुनायकविषया रती तथा अनुभयनिष्ठायाम्।
[illegible]

की मानसी रति होती है, परन्तु प्रेमी युवक-युवतियों में ही यह मुख्य रूप में वर्तमान रहता है।"

'सराग स्त्री-पुरुषों की परस्पर अनुभूति ही रति है जो परस्पर स्वमवद्य और सुख संवेदात्मिका है। सम्पन्न ऐश्वर्ययुक्त अशेष गुण तथा नवयौवन श्लाघ्य प्रकृति और श्रेष्ठ रूप संयुक्त स्त्री पुरुष की परस्पर विभाविका स्पृहा नाम की चित्तवृत्ति रति कहलाती है।[2]

'युवक और युवती की उभयपक्षीय इच्छा से युक्त, परस्पर आनन्द प्रदायक और एकान्त में सुखद इच्छा को रति कहते हैं।'

"प्रमादि भाव शृंगार के आलम्बन रूप में (आधार रूप में) स्थित रहते हैं।"[3]

"परस्पर आश्रय धारा (विशेष आश्रय) निरूढ भाव बन्धन को प्रेम कहते हैं।'[4]

'बुद्धिमान लोग भाव बन्धन की व्यक्तियों के उस तत्त्व को कहते हैं, जो 'इदम् तत' इस प्रकार का हो और जो प्रयत्न न हो अयान एकनिष्ठ हो।[5]

---

१ रमालम्बन भावानामुक्ता आधारता गुणा।
सुखेष्वप्ने सर्वेऽपि अंगम्यनुपमायनम्॥
मौन में रूप अप्रविश्य भाव गायते।
भोगोपभोगसम्भोगरूपा पयायवाचका॥
सम्भोगे चापि सर्वत्र जन्तूनां मानसा रति।
वर्तते मुख्यया वृत्या शृंगारेव सरागयो॥

—भावप्रकाश, शारदातनय पृष्ठ ७७ चतुर्थ अधिकार। गायकवाड़ ओरियण्टल मारीज

२ परस्परस्वसंवेद्य सुखसंवेदनात्मिका।
याऽनुभूतिर्मिथ सैव रतिरुक्ता सरागयो॥
सम्पन्नैश्वर्ययुक्तयोरशेषगुणयुक्तयो।
नवयौवनयो श्लाघ्यप्रकृत्यो श्रेष्ठरूपयो॥
नारीपुरुषयोरन्योन्या परस्परविभाविका।
स्पृहाख्या चित्तवृत्ता रतिरित्यभिधीयते॥
रतिरिच्छा भवेद्यूनोरुभयात्मिका।
यूनो परस्पराह्लादरहस्यविश्रम्भ का रता॥

—वही, ७७

३ तस्येम तदधिष्ठान रतियन्तो परस्परम्।

—वही, ७८

४ परस्पराश्रयघन निरूढ भाव बन्धनम्।
यत्कारयनोऽपि स्तप्रेमेति निगद्यते॥

—वही, ७८

५ इदं तदिति सकल्पो यत्रैव स्तापनुष्यते।
तद्भावबन्धनमिति कथयन्ति मनीषिण॥

—वही ७६

शारदातनय द्वारा दी गई इन विभिन्न परिभाषाओं को इस प्रकार समझा जा सकता है—

रूपेय-गुण-सम्पन्न, यौवन-समृद्ध, सराग स्त्री-पुरुषों की सुखसंवेदनात्मक इच्छा को रति कहते हैं। यह स्वसंवेद्य होता है अर्थात नायक अथवा नायिका इसका अपने हृदय में अनुभव करते हैं। प्रेम भाव इसके मूल में स्थित है। प्रेम वह भाव-बन्धन है जो किसी विशेष व्यक्ति पर केन्द्रित होकर केवल उसी में सुख की आशा करता है।

शारदातनय की शृंगार सम्बन्धी विभिन्न परिभाषाओं के द्वारा उपर्युक्त निष्कर्ष पर पहुँचने के पश्चात् हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि शृंगार के सम्बन्ध में भोज की भाँति शारदातनय का दृष्टिकोण भी बहुत परिष्कृत और सुसंस्कृत था। स्त्री पुरुषों का परस्पर आकर्षण केवल यौन-सुख की प्राप्ति तथा सर्जन की प्रेरणा के लिए ही नहीं है अपितु उसमें प्रेम की एकनिष्ठता का होना भी अनिवार्य है। रति की 'सुख संवेदनात्मक इच्छा' के साथ एकनिष्ठता होने के कारण प्रीति अर्थात प्रियहित पर भाव केन्द्रित होने का भाव भी उसमें विद्यमान रहता है। इसी एकनिष्ठता के कारण प्रेमी अपने प्रियपात्र के लिए त्याग उत्सर्ग करता है अनेक बाधाएं सहन कर भी अपने शृंगार भाव का आलम्बन उसी में केन्द्रित रखता है अन्य कहीं और नहीं जाता।

अन्त में रति की प्रणय प्राप्ति का विवेचन करते हुए शारदातनय कहते हैं—शृंगार में स्त्री पुरुषों की परस्पर भाव की इच्छा ही रति है। यह प्रेम से अंकुरित होती है 'मान से पल्लवित होती है प्रणय में कलियाँ आती हैं स्नेह से कुसुमित होती है, राग से फलवती होती है और अनुराग में इसका उपभोग किया जाता है।'[1]

प्रेम की परिभाषा देते हुए शारदातनय ने प्रेम को भाव बन्धन बताया, यह भाव बन्धन भी एकनिष्ठ था किन्तु उसके साथ ही उन्होंने प्रेम का एक और गुण कहा—'यद्येकनाशे नाशि' अर्थात् यह एक पक्ष के नष्ट होने पर नष्ट हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह कि प्रेम उभयपक्षीय होता है। शारदातनय एक ओर प्रेम का आवश्यक रूप से उभय पक्षीय मानते हैं और दूसरी ओर उसका एकनिष्ठ होना भी अनिवार्य रूप से मानते हैं। यह शंका की जा सकती है। यदि प्रेम एकनिष्ठ है तो अपर पक्ष में प्रेम का क्षय होने पर भी वह जीवित रहेगा। यद्यपि मनोविज्ञान यह मानता है कि प्रेम में दूसरे पक्ष से यदि उचित प्रतिदान नहीं मिलता तो प्रेमी अपने प्रेम की अभिव्यक्ति का पात्र कोई दूसरा व्यक्ति ढूँढ लेता है जो उसके प्रति प्रेम की अनुभूति प्रकट करे और इस प्रकार वह पुनः तुल्यानुराग स्थापित कर लेता है। किन्तु साथ ही मनोविज्ञान यह भी मानता है कि प्रेम की प्रगाढ़ तीव्रता में प्रेमी

1 [illegible] मनसि।
[illegible] पुनः॥
[illegible] भवेत्।
[illegible] अनुरागेण [illegible]॥

—भावप्रकाश शारदातनय, पृ० ७८।

प्रेमपात्र में सब गुणों का आरोप कर लेता है वह उसी मूर्ति से प्रेम करने लगता है जो उसने समस्त गुणों से समन्वित अपने हृदय में स्थापित की है। उस दशा में प्रेमपात्र द्वारा प्रतिदान मिलना न मिलना उसके लिए एक समान हो जाता है। अपने हृदय में प्रतिष्ठित प्रेमपात्र के लिए वह कभी यह भाव ही नहीं रख सकता कि वह इसे धोखा दे सकता है। इस स्थिति में प्रेमी का प्रेम दूसरे व्यक्ति के स्थूल व्यक्तित्व से न रहकर अपनी कल्पना से समन्वित उसके सूक्ष्म अस्तित्व में हो जाता है। अतः एक पक्ष में प्रेम के क्षय होने पर उसका नष्ट होना आवश्यक नहीं रहता और वह भाव का 'अस्तु पक्षपात' हो जाता है। प्रेम की चरमावस्था इसी दशा में मानी गई है।

जयदेव ने चन्द्रालोक में शृंगार रस का लक्षण उसके भाव, विभाव, अनुभाव और संचारी भाव सबके सहित दिया है—"शृंगार रस का स्थायी भाव रति है, पति-पत्नी विभाव, आलस्य, ईर्ष्या और जुगुप्सा से शेष उग्रतादि सभी संचारी भाव हैं, कटाक्षादि अनुभाव हैं। यह दो प्रकार का है—संभोग और विप्रलम्भ।[1]

जयदेव के उपरान्त एकावलीकार विद्याधर का नाम आता है। विद्याधर की शृंगार सम्बन्धी परिभाषा में कोई मौलिकता नहीं है—'स्त्री-पुरुष माल्यादि विभावों और स्तम्भ स्वेद आदि अनुभावों से युक्त तथा जुगुप्सा, आलस्य, उग्रतादि व्यभिचारियों को छोड़कर अन्य व्यभिचारियों से समृद्ध, रति स्थायी भाव ही शृंगार कहलाता है। इसके दो भेद हैं सम्भोग और विप्रलम्भ।[2]

विद्याधर का योग उनके शृंगार विषयक रसाभास सम्बन्धी विवेचन में है। मम्मट के टीकाकार विषणादि में रसाभास न होकर रस होने का संकेत मात्र करते हैं। विद्याधर ने मम्मट के टीकाकारों के इस मत की पुष्टि तर्क से कर दी है। उन्होंने यहाँ कि—"जहाँ स्थायीभाव एक-दूसरे के अनुकूल बनकर करता हुआ प्रवर्तित होता है वहीं रस होता है। और जहाँ एक ओर अनुराग होता है वहाँ स्थायीभाव अनुचित रूप में प्रवृत्त होने के कारण रस न होकर रसाभास ही होता है।'

"दूसरे लोग पशु पक्षियों में रसाभास बतलाते हैं। यह बात कसौटी पर ठीक नहीं उतरती क्योंकि उनमें भी भावादि की सम्भावना है। विभावादि ज्ञान से शून्य पशु पक्षी

---

1. रत्याख्यस्थायिभावात्मा कान्तमुख्यादिविभावित।
आलस्यैर्ष्याजुगुप्साभ्यो विना सञ्चारिभिर्युतः ॥४॥
अनुभावैः कटाक्षाद्यैस्स्यान्नैव ...
सम्भोगो विप्रलम्भश्च शृंगारो द्विविधो मतः ॥५॥

—चन्द्रालोक, जयदेव, मयूख ६
मुद्रक—ज्योतिश्चन्द्राम हरिनाम गुप्ता

2. स्त्रीपुंसमाल्यादिविभावा स्तम्भस्वेदाद्यनुभावा जुगुप्सालस्यौग्र्यवर्ज्य व्यभिचारिका रतिः सम्भोगविप्रलम्भात्मा शृंगारः।

—एकावली, तृतीय उन्मेष, पृष्ठ ६८

रस के पात्र होने के योग्य नहीं है—यह विचार भी ठीक नहीं है क्योंकि कुछ मनुष्यों में भी उस प्रकार के रस विषय का आभास मात्र मिलता है। वास्तव में विभावादि की उत्पत्ति ही रस के प्रति प्रयोजक है विभावादि का ज्ञान नहीं इसलिए पशु-पक्षियों में भी रस ही होता है।[1]

यद्यपि इस बात का खण्डन शिंगभूपाल ने किया। उन्होंने कहा कि 'हाथी का हथिनी के प्रति विभावत्व नहीं होता कारणत्व होता है। अतः वह रसाभास है।'

शिंगभूपाल विभावत्व और कारणत्व में क्या अन्तर करते हैं यह बात उन्होंने स्पष्ट नहीं की। वस्तुतः विभावत्व और कारणत्व में कोई मौलिक अन्तर नहीं है, दोनों अवस्थाओं में ही आलम्बन के उपस्थित होने पर आश्रय के हृदय में शृंगार भाव का उदय होता है चाहे वह मनुष्य हो अथवा पशु पक्षी।

शिंगभूपाल ने पशु-पक्षी में रसाभास होने का एक कारण और भी दिया है। वह कहते हैं कि— यद्यपि क्या विभाव का ज्ञान वास्तव में औचित्य विवेक है, उससे शून्य पक्षियों को विभावना प्राप्त नहीं होता। विवेक रहित जन्तु मत्स्य आदि में रस का आभास ही प्राप्त होता है।[2]

हृदय की रागात्मिक वृत्ति शृंगार भाव की तीव्रता में अपनी अभिव्यक्ति के लिए सहृदय मनुष्यों में भी समाज की सब बाधाएँ उपस्थित होने पर भी देश और काल का औचित्य अनौचित्य नहीं देखती यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है। इसलिए क्योंकि पक्षियों को इस बात का औचित्य विवेक नहीं होता अतः वह प्रेम शृंगाराभास है, यह बात तर्क की कसौटी पर खरी नहीं उतरती। यहाँ मनुष्य को उसके उचित अनुचित ज्ञान की बात का भी ध्यान नहीं है। सहृदय पशु-पक्षियों के शृंगार-वर्णन में उतना ही रस लेता है जितना कि सहृदय मनुष्यों के शृंगार-वर्णन में। काव्य में वह पशु-पक्षी का शृंगार-वर्णन पढ़ रहा है इस भाव के प्रति जो थोड़ी-सी सजगता उसके हृदय में अनौचित्य का आभास देती है वह अनौचित्य का आभास मात्र ही है अनौचित्य नहीं। शृंगार में यह अनौचित्य मात्र के आभास का प्रयोजक है। अनौचित्यमात्रमेवाभीप्सितं [illegible] प्रयोजक। निर्वेद आदि में अनौचित्य का आभास होने पर रस ही है।

विरह आदि का शृंगार भी रस ही है रसाभास नहीं। इस विषय को 'राज

---

१ यत्र पशुपक्ष्यादि [illegible] प्रकाश्यते तत्र रस। यत्र पुनरेकतरानुरागत्वात् स्थायिनोऽनौ[illegible] रसाभास एव। [illegible] तु रसाभास [illegible] प्रकाशते तत्र परानन्दम्। [illegible] रसास्वादैर्न [illegible] मनुष्ये[illegible] विभावादिभिरेव [illegible] रस प्रति प्रयोजको [illegible] रस।

—[illegible] विद्याधर [illegible], पृष्ठ २०६ [illegible]

२ [illegible] विभावना [illegible] वि[illegible] [illegible]।

कुमुदमणि ने अपने तर्क में और भी स्पष्ट कर दिया है। विद्याधर के तर्क को पूर्ण रूप से स्वीकार करते हुए राजकुमुदमणि कहते हैं कि काव्यप्रकाश में दिया गया शाकुन्तलम् का वह श्लोक 'ग्रीवाभंगमभिरामम ' आदि भयानक रस का बहुत सुन्दर उदाहरण है। यदि एक रस पशु-पक्षी में हो सकता है तो दूसरा क्यों नहीं हो सकता। इस तर्क का कोई उत्तर सिंगभूपाल के पास नहीं है सिवाय इसके कि वह यह कहदे कि भाई हम तो शृंगार रस की बात कर रहे हैं, भयानक की नहीं।

अतः सिंगभूपाल ने यद्यपि प्राचीन परिपाटी की मान्यता, (तिर्यकादि में शृंगाराभास होता है शृंगार नहीं) को सुरक्षित रखने के लिए काफी प्रयत्न किया, किन्तु यह स्पष्ट ही है कि उनका प्रयत्न सफल नहीं हो सका और हम मम्मट और विद्याधर के मत का स्वीकार करते हुए पशु-पक्षियों में शृंगार रस मानने को ही बाध्य होते हैं।

इतने विवेचन के उपरान्त साहित्यशास्त्र के प्रसिद्ध एवं बृहद् ग्रन्थ 'साहित्य दर्पण' की शृंगार रस सम्बन्धी परिभाषा की ओर दृष्टिपात करना भी अनिवार्य है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ शृंगार के लक्षणों को बताते हुए कहते हैं—"काम के उद्भेद, अंकुरित होने को शृंगार कहते हैं। उसकी उत्पत्ति का कारण है यौवनारम्भ। अधिकांश उत्तम प्रकृति से युक्त रस, शृंगार कहलाता है। परस्त्री और अनुराग शून्य वेश्या को छोड़कर अन्य नायिकाएँ तथा दक्षिणादि नायक इसके आलम्बन विभाव माने जाते हैं। चन्द्रमा, चन्दन, भ्रमर आदि इसके उद्दीपन विभाव होते हैं, अनुरागपूर्ण भ्रुकुटि भंग और कटाक्ष आदि इसके अनुभाव होते हैं, उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्सा को छोड़कर अन्य निर्वेदादि इसके संचारी भाव हैं। इसका स्थायी भाव रति है और वर्ण श्याम है तथा विष्णु इसके देवता हैं।"[1]

विप्रलम्भ और सम्भोग इसके दो भेद हैं—"विप्रलम्भोऽथ सम्भोग इत्येष द्विविधो मतः।

रसमंजरीकार कन्हैयालाल पोद्दार के अनुसार शृंगार एक यौगिक शब्द है,

---

१ लक्षण
शृंगं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः।
उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृंगार इष्यते ॥ १८३ ॥
आलम्बन विभाव
परोढां वर्जयित्वा तु वेश्यां चाननुरागिणीम्।
आलम्बनं नायिकाः स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायकाः ॥ १८४ ॥
उद्दीपन विभाव
चन्द्रचन्दनरोलम्बरुताद्युद्दीपनं मतम्।
भ्रूविक्षेपकटाक्षादिरनुभावः प्रकीर्तितः ॥ १८५ ॥
त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्यजुगुप्साव्यभिचारिणः।
स्थायिभावो रतिः श्यामवर्णोऽयं विष्णुदैवतः ॥ १८६ ॥
—साहित्य दर्पण, तृतीय परिच्छेद

शृंग + आर। उनका कहना है आर ऋ धातु से बना है जिसका अर्थ है गमन। यहाँ गमन का अर्थ है प्राप्ति। अतः शृंग + आर इस यौगिक शब्द का अर्थ है काम की प्राप्ति।

काम का उद्गम अधिकतर उद्दाम-यौवनप्राप्ति पर होता है। पशुओं में यौवन का आगमन उनके शृंगों अथवा सींगों के निकलने में ध्वनित होता है। अतः शृंग का दूसरा अर्थ काम हो गया और काम की प्राप्ति को शृंगार कहा गया।

यह उत्तम प्रकृति से युक्त है। भरत ने भी इसको 'उज्ज्वल वेषात्मक' कहा है। संसार में जो कुछ उज्ज्वल पावन और मेध्य है वह सब शृंगार रस से सम्बद्ध है। अतः यह हृदय को प्रिय लगने वाला अत्यन्त मधुर भाव है। सानुराग स्त्री पुरुषों में काम की प्राप्ति होने पर यह अत्यन्त उत्कर्ष को प्राप्त होता है। इसका स्थायी भाव रति है। रति की परिभाषा पण्डितराज इस प्रकार करते हैं

'मनोनुकूल वस्तु में मन के उन्मुख भाव का नाम ही रति है अथवा मनोनुकूल वस्तु में सुख प्राप्ति का नाम ही रति है।'[१]

अनुराग शून्य कन्या और परस्त्री को छोड़कर अन्य अनेक स्त्रियाँ नायिकाएँ हो सकती हैं। पण्डितराज ने अननुरागिणी कन्या के प्रेम में अनवनिष्ठता होने के कारण उसे शृंगार की उपयुक्त नायिका नहीं माना सम्भवतः अननुरागिणी कन्या के सम्बन्ध में अनुराग का प्रश्न ही नहीं आता। अतः वह शृंगार रस की नायिका नहीं हो सकती। किन्तु कतिपय परस्त्री के प्रेम में समाज का अनौचित्य मानकर उसको भी शृंगार रस की नायिका होने के योग्य नहीं मानते। किन्तु परवर्ती शृंगार साहित्य में विद्यापति और सूर के काव्य में परस्त्री को नायिका बनाकर शृंगार के सम्बन्ध में अनेक उक्तियाँ कही गई हैं उस काव्य में वह मूल प्रकृति रही। पण्डितराज की परिभाषा के अनुसार वह अनौचित्य के कारण शृंगार रस का उत्कर्ष नहीं करता, किन्तु उस काव्य की चर्वणा का यह प्रत्यक्ष अनुभव है कि वे भी शृंगार रस का उत्कर्ष करने में सफल होती हैं। इसका कारण स्पष्ट है जिसकी ओर कि पण्डितराज ने सम्भवतः ध्यान नहीं दिया वह यह है कि परस्त्री जब नायिका बनती है तब उसका नायक के प्रति अनुराग उतना ही उत्कट होता है जितना स्वकीया का होता सम्भवतः उससे भी अधिक होता है। ऐसी दशा में समाज की बाधा शृंगार रस में बाधक न होकर उसके उत्कर्ष में और सहायक होता है क्योंकि उन बाधाओं पर विजय प्राप्त करके ही नायिका का नायक के साथ शृंगार परिपोषित होता है।

रूप में परस्त्री भी शृंगार रस की नायिका बन जाती है। यदि उनके भाव को रस शास्त्री केवल भावना मात्र ही मानते हैं तो भी हम कहना पड़ेगा कि उनकी वह भावना उस विशिष्ट अवस्था में स्वकीया की शृंगार भावना में किसी भांति हीनतर नहीं है।

साहित्य दर्पण में दिए गए अनुभाव संचारी आदि लगभग वही हैं जो उनके पूर्ववर्ती आचार्य गिना गए थे, सम्भवतः वे स्वतन्त्र और विशद विवेचन की अपेक्षा नहीं रखते। अतः साहित्य दर्पण को यहां छोड़कर हम संस्कृत काव्यशास्त्रियों के अन्तिम आचार्य 'पण्डितराज जगन्नाथ' के शृंगार रस सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करने का प्रयत्न करेंगे।

रसगंगाधर में जगन्नाथ रति का लक्षण इस प्रकार देते हैं—

'स्त्री-पुरुष की एक-दूसरे के विषय में प्रेम नामक जो चित्तवृत्ति होती है, उसे रति स्थायी भाव कहते हैं।

'वही प्रेम यदि गुरु देवता अथवा पुत्रादि के विषय में हो तो उसे व्यभिचारी भाव कहेंगे।'

'शृंगार रस के आलम्बन विभाव स्त्री-पुरुष, चांदनी, वसन्त ऋतु, अनेक प्रकार के बाग-बगीचे, सुखप्रद पवन और एकान्त स्थानादि उद्दीपन विभाव, प्रेमपात्र का मुख दर्शन, उसके गुणों का श्रवण कीर्तन आदि एवं (कम्प रोमांच) आदि सात्विक भाव अनुभाव और स्मरण, चिन्ता आदि व्यभिचारी भाव होते हैं।'[1]

जगन्नाथ के उपर्युक्त शृंगार के लक्षण में पूर्वोक्त आचार्यों की बात ही उलट-पलट कर कही गई है केवल सात्विक भावों को भी लक्षण में ले लिया गया है। लक्षण में सात्विक भावों का समावेश कर लेना लक्षण को पूर्णता प्रदान करना है यही पण्डितराज का शृंगार सम्बन्धी विवेचन में बड़ा योगदान है।

शृंगार से मिलते-जुलते अन्य रस

शृंगार की व्यापक अर्थ में व्याख्या करते समय हमने देखा था कि रति मनोनुकूल

---

१ रति लक्षणम्—

स्त्रीपुंसयोरन्योन्यालम्बनः प्रेमाख्यश्चित्तवृत्तिविशेषो रतिः स्थायिभावः ॥
गुरुदेवतापुत्राद्यालम्बनस्तु व्यभिचारी ।

—रसगंगाधर नागेश भट्ट की टीका सहित, पृष्ठ ३१-३२, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
तत्र शृंगारस्य मिथः आलम्बनं । चन्द्रिका वसन्तविविधोपवनपवनरहः स्थानादय उद्दीपनविभावाः ।
तदनुभावलोकनं तद्गुणश्रवणकीर्तनादयोऽन्ये सात्विकभावाश्चानुभावाः । स्मृतिचिन्तादयो व्यभिचारिणः ।

—वही, पृष्ठ ३३

वस्तु में उन्मुख भाव का बोधक है। उस अर्थ में वह संसार के प्रति प्रवृत्ति में प्रत्येक प्रकार के राग का प्रतिनिधित्व करती है। अतः दाम्पत्य प्रेम के अतिरिक्त अन्य प्रकार के राग माता-पिता का पुत्र-पुत्री के प्रति, पुत्र-पुत्री का अथवा छोटों का गुरुजनों के प्रति, मित्र का मित्र के प्रति आदि सब उसकी परिधि के अंतर्गत आ जाते हैं। किन्तु रति का अर्थ परवर्ती काव्यशास्त्र में दाम्पत्य अर्थ में ही रूढ़िबद्ध हुआ, उसके अतिरिक्त अन्य अर्थों के लिए अन्य रसों की उद्भावना की आवश्यकता हुई।

दण्डिन ने राग अथवा प्रेम को दो श्रेणियों में विभाजित किया—प्रीति और रति। उनके उदाहरणों से ज्ञात होता है कि उनकी 'प्रीति' शृंगारेतर (दाम्पत्य अर्थ में) अन्य प्रकार का राग है और 'रति' मिथुन भाव से युक्त है। 'प्रीति' में कृष्ण के प्रति विदुर की भक्ति का उदाहरण है और 'रति' में उदयन की वासवदत्ता से पुनर्मिलन पर कही गई उक्ति। परन्तु फिर भी दण्डिन उन दोनों का मूल भाव एक ही मानते हैं और प्रीति के प्रकर्ष में रति की स्थिति बतलाते हैं—

"प्राक् प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः शृंगारतां गता।"

अर्थात् जो पहले प्रीति दिखाई गई थी वही रति प्रकर्ष को प्राप्त होकर शृंगार हो जाती है। उनके अनुसार उन्मुख भाव ही मूल तत्त्व है। वह छोटों का बड़ों के प्रति भी हो सकता है और पति-पत्नी का भी। पति-पत्नी भाव में भाव की अधिक एकाग्रता होने से वही प्रीति रति हो जाती है। किन्तु बाद में इस दृष्टिकोण का विरोध किया गया। रति को केवल दाम्पत्य अर्थ में ग्रहण करने के कारण छोटों का बड़ों के प्रति राग भक्ति कहलाया। दाम्पत्य भाव से किसी पूज्य व्यक्ति की उपासना करने को मधुर भाव की भक्ति कहा गया।

बड़ों के छोटों के प्रति उन्मुखी भाव को भी शृंगार के अंतर्गत रखने में आपत्ति उठाई गई और इसको वत्सल प्रवृत्ति कहकर शृंगार से पृथक् वात्सल्य रस मान लिया गया। वात्सल्य का स्थायी भाव स्नेह माना गया है। मुनीन्द्र कहते हैं— स्फुट चमत्कार के कारण वत्सल को भी रस मानते हैं। इसका स्थायी भाव वत्सलता स्नेह है और पुत्रादि आलम्बन है।[1]

रुद्रट ने मित्रता अथवा सौहार्द का स्थायीभाव भी स्नेह कहा है और उसका [illegible] है 'स्नेह प्रकृति प्रेयान्'। [illegible] चित्त के आर्द्र होने को स्नेह का [illegible]। 'आर्द्रान्तःकरणतया स्नेहो भवति सर्वत्र।'[2] वात्सल्य, सौहार्द आदि रसों का स्थायी भाव स्नेह हुआ।

अभिनव भारती में अभिनवगुप्त ने परस्पर मित्रता, भाई-भाई के प्रेम आदि

---

१ स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सलतास्नेहः पुत्राद्यालम्बनं मतम्॥
—[illegible] में [illegible] द्वारा उद्धृत [illegible] टिप्पणी, पृष्ठ १०८

२ [illegible], पृष्ठ ११[illegible]

का पृथक रस मानने की प्रवृत्ति का विरोध किया है। अभिनव गुप्त कहते है—"यह कहना अनुपयुक्त है कि स्नेह भी कोई रस है जिसका स्थायी भाव (आवश्यक गुण के अर्थ में) आर्द्रता है। स्नेह तो सम्पर्क जनी वस्तु है उसका पर्यवसान रति, उत्साह, भय, आदि में होता है। बालक का माता पिता आदि में जो स्नेह होता है, उसकी विश्रान्ति भय में होती है (स्नेह भय की छायामात्र है) युवक युवती के मित्रजन स्नेह की विश्रान्ति रति में होती है। लक्ष्मण आदि का भाई के प्रति स्नेह, कर्त्तव्य में उत्साह व्यक्त करता है। इसी प्रकार वृद्धों का पुत्रादि छोटों के प्रति भी समझना चाहिए।[१]

इस तर्क से अभिनवगुप्त प्रेयस का स्थायी भाव मानकर चलने वाले सौहार्द, वात्सल्य, राजा प्रजा के प्रेम, भक्ति आदि रसों के अस्तित्व का खण्डन करते हैं।

यह एक मनोवैज्ञानिक सत्य है कि बालक बाह्य संसार के आघात से भय से माता पिता को संरक्षक रूप में मानकर उनकी ओर उन्मुख होता है। भय यहाँ रति को जन्म देता है। माता पिता का कर्त्तव्य में उत्साह उन्हें बालक की ओर उन्मुख करता है और वहाँ वीर में रति का जन्म होता है। राम लक्ष्मण आदि तथा राजा प्रजा, जनता नेता आदि के मध्य में भी कर्त्तव्य का उत्साह ही प्रमुख रहता है और उसी से वहाँ राग का जन्म होता है जो शृंगार के विस्तृत अर्थ की परिधि के अन्तर्गत समाहित है।

शृंगार रस के भेद

ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत में एक रस में अन्य रसों की व्युत्पत्ति की विवेचना करते हुए आनन्दवर्धन कहते हैं कि प्रधानभूत शृंगार रस के प्रारम्भ में दो भेद होते है। सम्भोग (शृंगार) और विप्रलम्भ (शृंगार) उनमें भी सम्भोग के परस्पर प्रेम, दर्शन (दर्शन सम्भाषणादि का भी उपलक्षण है) सुरत (और उद्यान) विहारादि भेद हैं। (इसी प्रकार) विप्रलम्भ के भी अभिलाष, ईर्ष्या, विरह प्रवास और विप्रलम्भ आदि (शापादि निर्मित्तक वियोगादि भेद) हैं। उनमें से प्रत्येक (भेद) के विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के (भेद से) भेद है। और उन (विभावादि) का भी देश, काल, आश्रय, अवस्था (आदि से) भेद है। इस प्रकार स्वगत भेदों के कारण उस एक (शृंगार) का परिमाण करना (ही) असम्भव है फिर उनके अंगों के भेदाभेद कल्पना की तो बात ही क्या है। वे अंगों (अलंकारादि) के प्रभेद प्रत्येक अंगी (रसादि) के प्रभेदों के साथ सम्बन्ध कल्पना करने पर अनन्त हो जाते है।[२]

---

१ आर्द्रतास्थायिक स्नेहो रस इति त्वसत्। स्नेहो ह्यभिषङ्ग। स च रत्युत्साहादावेव पर्यवस्यति। तथा हि—बालस्य मातापित्रोः स्नेहो भये विश्रान्तः, यूनो मित्रजने रतौ, लक्ष्मणादे भ्रातरि धर्मवीर एव। एवं वृद्धस्य पुत्रादावपि द्रष्टव्यम्।

—नम्बर ऑफ रसाज, (अभिनव भारती से उद्धृत) पृष्ठ १११

२ 'हिन्दी ध्वन्यालोक' (ध्वन्यालोक का हिन्दी व्याख्या) द्वितीय उद्योत, १२वी कारिका की वृत्ति, पृष्ठ १४१

इस प्रकार हम देखते हैं कि [illegible] रस शृंगार के अनेक भेद प्रभेद हो सकते हैं, किन्तु मुख्य रूप से उसके दो भेद ही माने जाते हैं सम्भोग और विप्रलम्भ।

शृंगार रस के दो भेद संयोग और विप्रलम्भ

भरत के पश्चात सबसे प्रमुख आचार्य रुद्रट हैं जिन्होंने शृंगार नामक रस का, सम्भोग और विप्रलम्भ दो विभागों में वर्गीकरण किया। उनके परवर्ती प्राय सभी आचार्यों ने शृंगार का सम्भोग और विप्रलम्भ दो विभागों में ही विभाजन किया। रुद्रट ने सम्भोग और विप्रलम्भ दोनों की विवेचना करते हुए कहा—

संयुक्त पुरुष और नारी के रति व्यवहार को सम्भोग और वियुक्त पुरुष और नारी के रति व्यवहार को विप्रलम्भ कहते हैं। ये दोनों फिर प्रच्छन्न और प्रकाश के नाम से दो प्रकार के हैं।[1]

प्रच्छन्न और प्रकाश से क्या तात्पर्य है? यह रुद्रट ने स्पष्ट नहीं किया, सम्भवत [illegible] के आधार पर निर्धारित हों किन्तु उपर्युक्त परिभाषा से यह स्पष्ट हो गया कि सम्भोग शृंगार वहाँ माना जायगा जहाँ नायक नायिका एक दूसरे के सान्निध्य में रति का अनुभव कर रहे हों और विप्रलम्भ शृंगार वहाँ होगा जहाँ वे एक-दूसरे से वियुक्त हों, बिछुड़े हुए हों।

सम्भोग शृंगार

सम्भोग शृंगार की अलग परिभाषा करते हुए रुद्रट कहते हैं—

सम्भोग शृंगार वहाँ माना गया है जहाँ नायक नायिका पूर्ण रूप से प्रसन्न तुल्यमन हों और [illegible] में रत हों। (अर्थात मिथुन भाव को सम्भोग शृंगार कहा गया)।[2]

[illegible] सम्भोग शृंगार रस के दो भेद बताते हुए सम्भोग शृंगार के विषय में कहते हैं—

'शृंगार रस के दो भेद हैं—१ सम्भोग २ विप्रलम्भ। उनमें से पहला परस्पर

---

१ [illegible] ।
[illegible] ॥६॥

—काव्यालंकार, रुद्रट, अध्याय १२

२ [illegible] ।
[illegible] ॥१॥

—काव्यालंकार, रुद्रट, अध्याय १२

अवलोकन, आलिंगन, अधरपान आदि अनेक भेदों में युक्त होकर अपरिछेद्य और एक ही है।[1]

शारदातनय ने सम्भोग की परिभाषा इस प्रकार की है—"स्त्री और पुरुष का कामोपचार युक्त ही सम्भोग है।[2]

"सम्भोग में सर्वत्र प्राणियों की मानसी रति होती है परन्तु प्रेमी युवक और युवतियों में ही यह मुख्य रूप में वर्तमान रहता है।[3]

जो काम सम्भोग के नाम से प्रसिद्ध है, उसके चार भेद किए जाते हैं—१ मित, २ संकर, ३ सम्पन्न और ४ समृद्धिमान।

(१) मित—"परस्पर उपचार करते हुए युवक और युवती जब भय आदि के द्वारा मित भोग में लिप्त होते हैं तो यह मित सम्भोग कहलाता है।[4]

(२) संकर—"कोप के अनन्तर प्रसन्न हो जाने पर भी पूर्वकृत दोष की स्मृति जब आनन्द को संकीर्ण कर देती है तो वह सम्भोग संकर कहलाता है।'[5]

(३) सम्पन्न—"बिछुड़े हुए प्रेमी जब (पुनः) सम्पन्न-काम होकर भोग में प्रवृत्त होते हैं तो वह सम्पन्न भोग कहलाता है।[6]

(४) समृद्धिमान—'मृत जीवित व्यक्ति जब जीवन में हर्षादि से उल्लसित होकर अतिशय दीप्त शृंगार में प्रवृत्त होते हैं तो वह सम्भोग समृद्धिमान है।[7]

---

१ [illegible] शृंगारस्य द्वौ भेदौ सम्भोगो विप्रलम्भश्च। तत्राद्य परस्परावलोकनालिंगनाधरपान परिचुम्बनाद्यनन्तभेदत्वादपरिच्छेद्य एक एव गण्यते।

—काव्यप्रकाश, मम्मट, झलकीकर भाष्य चतुर्थ उल्लास

२ कामोपचार सम्भोग स्त्रीपुंसयो सुखम्।

—भावप्रकाश, शारदातनय, चतुर्थ अधिकार, पृष्ठ ७७

३—सम्भोगे चापि सर्वत्र जन्तूनां मानसी रति।
वर्तते मुख्यता तस्या यूनोरेव परागयो ॥

—वही, पृष्ठ ७७

काम स एव सम्भोग स चतुर्धा विभज्यते।

—वही पृष्ठ ८७,

४ परस्परस्योपचारैर्यूनोर्यत साध्वसादिभि।
मितं प्रयुज्यते भोगे प्रथम स मितो भवेत् ॥

५ प्रसादेऽपि व्यलीकादि स्मृते कोपानुवर्तनात्।
संकीर्यते य सम्भोगस्तमाहु सकर बुधा ॥

६ सम्पन्नकामैराचाणे प्रोषितैरुप भुज्यते।
सम्पन्नमेव यत्तस्मात्सम्पन्न इति कथ्यते ॥

७ प्रत्युज्जीवनपर्यादे प्रवृद्धो मृतनायको।
दीपनातिशयैर्ज्ञेय सम्भोग स्यात्समृद्धिमान ॥

—वही, पृष्ठ ८७

आधुनिक साहित्य में प्रासंगिक संरचना के कारण मृत जीवित के वर्णन का प्रश्न ही नहीं उठता। अतः औपचारिक रूप में मरण तुल्य निराश वियोग की अवधि समाप्त होने पर जो उपलब्ध सम्भोग है वही समृद्धिमान सम्भोग कहलाएगा।

इसका विश्लेषण करते हुए शारदातनय ने इन चार प्रकार के सम्भोगों का लक्षण और भी स्पष्ट किया है—

यह सम्भोग चार प्रकार का है क्योंकि भजि धातु का अर्थ—पाना, कौटिल्य, अन्य करना तथा अनुभूति चार प्रकार के अर्थों में होता है।[1]

प्रथम सम्भोग नवानुराग के कारण हृदय में अभीष्ट उपचार के द्वारा उत्पन्न होता है। (जब नवयुवक और नवयुवती प्रथम बार परस्पर मिलते हैं)।[2]

मानात्मक सम्भोग कभी-कभी कौटिल्य को नहीं छोड़ता।[3]

प्रवासजन्य सम्भोग प्रवास के अनन्तर हृदय में मधुर सम्भोग उत्पन्न कराता है।[4]

अनुभूति इस सम्भोग करुण के अनन्तर उत्पन्न होता है।

यह सम्भोग मिलन, सङ्कर, सम्पन्न और समृद्धिमान इन चार नामों से वर्णित किया गया है।[5]

शारदातनय का सम्भोग सम्बन्धी यह वर्गीकरण काव्य शास्त्र के लिए बिलकुल नई चीज है। इसका कोई आधार न हो यह बात भी नहीं है। सम्भोग का मनोविकार पर आधारित यह वर्गीकरण शारदातनय के विषय पर स्वतन्त्र चिन्तन का पूर्ण द्योतन करता है।

शारदातनय के अनुसार कामोपचार युक्त सम्भोग में भी विभिन्न परिस्थितियों में रस और मात्रा भाव का अन्तर हो जाता है। नवानुराग वाले स्त्री-पुरुषों में जो प्रथम सम्भोग होता है उसमें भय भी कुछ मात्रा में मिला रहता है। इस भय से शारदातनय का क्या तात्पर्य था यह उन्होंने स्पष्ट नहीं किया। किन्तु भय का तात्पर्य स्पष्ट ही है भय

---

1. [illegible] ।
[illegible] ॥
—भावप्रकाश पृष्ठ ९६, गायकवाड़ ओरिएण्टल सीरीज
2. [illegible] । —वही पृष्ठ ९३८
3. [illegible] —वही पृष्ठ ९३८
4. [illegible] —वही, पृष्ठ ९३
5. [illegible] ।—वही, पृष्ठ ९३८
6. [illegible] ।
[illegible] ।
—वही, पृष्ठ ९३८

समाज का भी हो सकता है और रति विषयक उपचार में अनुभवहीनता होने के कारण से भी होता है। भय के कारण उनका वह सम्भोग पूर्ण निर्बाध नहीं हो सकता। पाल्य सम्भोग का दूसरा नाम ही शारदातनय मित-सम्भोग कहते हैं। इस मित अथवा पाल्य सम्भोग में रति को प्रोत्साहन देने में, किसी कारण से नवानुराग टूट न जाए इसका भी भय रहता है।

सम्भोग का दूसरा विभेद सकर-सम्भोग है। यह 'मान' के अनन्तर होता है, मान के रोष की कुटिलता नायक अथवा नायिका को कभी-कभी दूसरे पक्ष द्वारा मनुहार करने से मान जाने पर भी नहीं छोड़ती। मान के अनन्तर होने वाले इस सम्भोग में रोष और प्रेम दोनों का भाव विद्यमान रहता है। रोष अथवा मान की कुटिलता तथा प्रेम के अद्भुत सम्मिश्रण की अवस्था में सकर सम्भोग होता है।

तीसरे प्रकार का सम्भोग 'सम्पन्न' है। प्रवास में दोनों प्रेमी प्रेम का व्यय न होने से सम्पन्न-काम होते हैं, विरह की अवधि का अन्त होने पर मिलन की वेला में अभ्यवहार के भाव (पूर्ण रूप से सुख भोग की इच्छा) को लेकर सम्पन्न-काम में संलग्न होते हैं। सम्पन्न सम्भोग में उनका परस्पर उन्मुखी भाव प्रगाढ़ और निर्बाध होता है।

शारदातनय द्वारा दिया गया सम्भोग का चौथा प्रभेद समृद्धिमान है। यह करुण विप्रलम्भ के अनन्तर होता है। मृत अथवा मृतप्राय व्यक्ति के पुनर्जीवित होने पर मिलन का आनन्द पूर्ण समृद्धि से युक्त होता है। अतः उस दशा में मिलनेवाले प्रेमियों के सम्भोग की तुलना और किसी दशा से नहीं की जा सकती, वह अपने भाव की तीव्रता में अनुपम ही है।

इस प्रकार शारदातनय का सम्भोग शृंगार सम्बन्धी विश्लेषण काफी प्रौढ़ कहा जा सकता है।

शारदातनय के पश्चात् संस्कृत काव्य शास्त्र के मान्य ग्रन्थ साहित्यदर्पण की सम्भोग-सम्बन्धी व्याख्या को देख लेना भी अत्यन्त आवश्यक है। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कहते हैं—

"एक दूसरे प्रेम में पगे नायक-नायिका जहाँ परस्पर दर्शन, स्पर्शन आदि करते हैं वह सम्भोग शृंगार कहलाता है। चुम्बन आलिंगन आदि इसके अनन्त भेदों की गिनती नहीं हो सकती। अतः इसका सम्भोग शृंगार नामक एक ही भेद है।"[1]

परिभाषा में कोई विशेष नवीनता नहीं है, रूढ़िबद्ध विवेचन ही यहाँ हुआ है।

संस्कृत काव्यशास्त्र के अन्तिम मान्य ग्रन्थ रसगंगाधर की सम्भोग सम्बन्धी

---

१ दर्शनस्पर्शनादीनि निषेवेते विलासिनौ।
यत्रानुरक्तावन्योन्यं सम्भोगोऽयमुदाहृतः ॥ २१० ॥
संख्यातुमशक्यतया चुम्बनपरिरम्भणादिबहुभेदात्।
अयमेक एव धीरैः कथितः सम्भोगशृङ्गारः ॥ २११ ॥

—साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, तृतीय परिच्छेद

व्यापक हो भी यहीं उद्धृत करना अनुपयुक्त न होगा। सम्भोग के विषय में पण्डितराज जगन्नाथ का कहना है कि—

यदि स्त्री-पुरुष में संयोग के समय प्रेम हो तो संयोग शृंगार कहलाता है। परन्तु संयोग का अर्थ स्त्री पुरुष का एक स्थान पर रहना नहीं है क्योंकि एक शय्या पर स्थित रहते हुए दम्पति में यदि ईर्ष्या आदि विद्यमान हो तो विप्रलम्भ रस का वर्णन किया जाता है। इसी तरह वियोग का अर्थ भी अलग रहना नहीं है क्योंकि यह दोष वहाँ पर भी उपस्थित रहता है। अतः यह मानना चाहिए कि संयोग और वियोग, यह दोनों एक प्रकार की चित्तवृत्तियाँ हैं और वह है— मिला हुआ हूँ और 'बिछुड़ा हुआ हूँ' यह ज्ञान।[1]

पण्डितराज जगन्नाथ ने यह स्पष्ट कर दिया है कि शारीरिक मिलन को मिलन मानना भूल है। शारीरिक मिलन के साथ भाव का पूर्ण सामंजस्य ही सम्भोग का उत्कृष्ट रूप में उपस्थित करता है।

पण्डितराज के इस विचार की प्रतिध्वनि हमें मानव हृदय के भावों के मान्य ज्ञाता और विश्लेषण कर्ता भक्त कवि के इस विचार में भी मिलती है—'जिनका मन परस्पर मिला है उनका वियोग भी संयोग ही है ऐसा समझना चाहिए और जो एक साथ रहकर भी मन में अन्तर रखते हैं उनका संगम भी वियोग से विशेष दुखदायी है।'[2]

विप्रलम्भ शृंगार

नाट्यशास्त्र के छठे अध्याय में विप्रलम्भ का लक्षण देते हुए भरत कहते हैं—निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, श्रम, चिन्ता, उत्सुकता, निद्रा, सुप्ति, स्वप्न, विबोध, व्याधि, उन्माद, अपस्मार, जड़ता, मरण आदि अनुभावों से युक्त विप्रलम्भ होता है।[3]

'अब यदि यह प्रश्न हो कि शृंगार रस जिसका मूल भाव रति है वह करुण की अवस्थाओं से युक्त कैसे होता है?' तो इसका उत्तर यह है कि शृंगार सम्भोग और

---

1 [illegible] विप्रलम्भश्च। [illegible] विप्रलम्भ [illegible] अन्यथा [illegible] [illegible] ईर्ष्यादिसद्भावे [illegible] विप्रलम्भ [illegible] [illegible] [illegible] विप्रलम्भ [illegible] [illegible]।

—रसगंगाधर, पण्डितराज जगन्नाथ पृष्ठ ३४
[illegible] निर्णयसागर प्रेस बम्बई (सं० १९१६)

2 [illegible] ।
[illegible] ॥

—शृंगार शतक भर्तृहरि श्लोक ६

3 [illegible] निर्वेदग्लानिशंकासूयाश्रमचिन्तौत्सुक्यनिद्रासुप्तस्वप्नविबोधव्याध्युन्मादापस्मारजाड्य [illegible] ।

विप्रलम्भ दो नामो से अभिहित है। वणिक शास्त्र म इसकी दस अवस्थाएँ कही गई है।[1]

इसके उपरान्त ही करुण रस और विप्रलम्भ के अन्तर को स्पष्ट करते हुए भरत कहते हैं कि 'शाप के कारण अथवा इष्ट जन से वियोग, विभव के नाश, मृत्यु अथवा बन्धन के कारण करुण रस होता है। इसमे निरपेक्ष भाव प्रधान होता है अर्थात करुण म पूर्ण नैराश्य की अवस्था रहती है किन्तु विप्रलम्भ सापेक्ष होता है अर्थात अभिलाषा विप्रलम्भ म निरन्तर बनी रहती है। अत करुण और विप्रलम्भ दोनो म अन्तर है और यही कारण है कि शृगार समस्त भावो म संयुक्त है।[2]

भरत के उपरिलिखित विवेचन से विप्रलम्भ के सम्बन्ध म इतना स्पष्ट हो जाता है कि विप्रलम्भ, शृगार म, प्रियजन के वियोग से उत्पन्न होता है। निर्वेद ग्लानि, शका आदि अनुभावो के द्वारा इसका रगभूमि पर उपस्थित किया जाता है। विप्रलम्भ की निराशा म आशा बराबर बनी रहती है, पर भर को भी वियोगी म वह पृथक नहीं होती और इसीलिए विप्रलम्भ और करुण दोनो रस (बहुत कुछ एक-दूसरे से साम्य रखते हुए भी) एक-दूसरे से भिन्न हैं।

भरत के पश्चात विप्रलम्भ का विवेचन सर्वप्रथम रुद्रट ने किया है। विप्रलम्भ शृगार के लक्षण देते हुए रुद्रट ने कहा है कि—'वियुक्त पुरुष और नारी के रति व्यवहार को विप्रलम्भ शृगार कहते हैं।[3]

इस परिभाषा की व्याख्या दूसरे शब्दो म इस प्रकार की जा सकती है—पुरुष और नारी का परस्पर रति व्यवहार अर्थात प्रेमसूचक उन्मुख भाव जब उनके एक-दूसरे से पृथक रहने पर भी स्थित रहता है तो उसे विप्रलम्भ शृगार कहते हैं।

भोज ने अपने सरस्वतीकण्ठाभरण म विप्रलम्भ रस का लक्षण इस किया है—'रति नामक भाव जब प्रकर्ष को प्राप्त होकर भी अपने अभीष्ट तक नहीं पहुँचता तब विप्रलम्भ शृगार होता है।[4]

१ अत्राह—यदय रतिप्रभव शृगार कथमस्य करुणाश्रयिणो भावा भवन्ति? अत्रोच्यत—पूर्वमेवाभिहित सम्भोगविप्रलम्भकृत शृगार इति। वैशिकशास्त्रकारैश्च दशावस्थोऽभिहित।

२ करुणस्तु शापक्लेशविनिपतितेष्टजनविभवनाशवधबन्धसमुत्थो निरपेक्ष भाव। औत्सुक्यचिन्तासमुत्थ सापेक्षभावो विप्रलम्भकृत। एवमन्य करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भ इति। एवमेष सर्वभावसंयुक्त शृगारो भवति।

—नाट्यशास्त्र, भरत, षष्ठाध्याय पृष्ठ ७८ काशी संस्कृत सीरीज

३ व्यवहार पुनार्योरन्योन्य रक्तयो रतिप्रकृति।
शृगार स द्वेधा सभोगो विप्रलम्भश्च ॥५॥
सभोग सगतयोर्वियुक्तयोर्यश्च विप्रलम्भोऽसौ।
॥६॥

—काव्यालकार, रुद्रट अध्याय १२

४ भावो यदा रतिनाम प्रकर्षमधिगच्छति।
नाधिगच्छति चाभीष्ट विप्रलम्भस्तदोच्यते ॥४५॥

—सरस्वतीकण्ठाभरण, भोज, पचम परिच्छेद, काव्यमाला सीरीज

भोज की विप्रलम्भ विषयक परिभाषा उनके पूर्ववर्ती आचार्यों की परिभाषा से अधिक थोड़ी और स्पष्ट है। भरत और रुद्रट दोनों ने पुरुष और नारी का वियोग (पृथक् रहना) विप्रलम्भ के लिए आवश्यक माना है। उस दशा में विप्रलम्भ के एक भेद 'मान विप्रलम्भ' की स्थिति विप्रलम्भ के अन्तर्गत किस प्रकार सम्भव है यह बात स्पष्ट नहीं होती। 'मान' के अतिरिक्त स्त्री-पुरुष दोनों के समीप रहते हुए कई अन्य कारणों से विप्रलम्भ की स्थिति सम्भव है यह बात आधुनिक समय में 'साकेत सन्त' के रचयिता ने हमारे समक्ष उपस्थित की है। भरत के नन्दीग्राम में निवास के अवसर पर माण्डवी की विरह-दशा को अभिव्यक्त करता हुआ कवि कहता है—

'था सघन अंगों के सम्मुख
पर कोकिल ही पिक का स्वर था।
अहह ! माण्डवी को तो प्राप्त
था भरत भी वर्जित-नर था ॥'[1]

भरत की उपस्थिति में यह वियोग की पीड़ा किस कारण थी, इसका उत्तर भोज देते हैं। उनके अनुसार रति नाम का भाव जब प्रकर्ष को प्राप्त होकर भी अपने अभीष्ट को नहीं पहुँचता वहाँ विप्रलम्भ शृंगार होता है।

अभीष्ट का अर्थ अभीष्ट व्यक्ति ही नहीं है अपितु अभीष्ट भाव भी है। कहने का तात्पर्य यह है कि रति नाम का भाव (भावानुभाव और संचारी से संयुक्त) पूर्ण प्रकर्ष को प्राप्त करके भी जब अपनी संतुष्टि (अभीष्ट की प्राप्ति) प्राप्त करने में असमर्थ रहता है वहाँ विप्रलम्भ शृंगार होता है।

'साकेत सन्त' में माण्डवी की पीड़ा का कारण इससे समझ में आ जाता है। यद्यपि भरत भी माण्डवी की भाँति ही उस पर अनुरक्त थे किन्तु नन्दीग्राम में निवास करने के समय से राम के वनवास गमन ने उन्हें समस्त सांसारिक सुखों के प्रति उदासीन बना दिया था। ऐसी स्थिति में माण्डवी के भावों की अभिव्यक्ति का मार्ग अनायास ही कुण्ठित हो गया था। केवल भरत की उदासीनता के कारण ही माण्डवी का प्रेम प्रकर्ष को प्राप्त होने पर भी अभीष्ट को प्राप्त नहीं कर रहा था। अतः हम देखते हैं कि अभीष्ट व्यक्ति नहीं अभीष्ट संतुष्टि है। अभीष्ट व्यक्ति के समीप होते हुए भी जब रति भाव की संतुष्टि में बाधा उपस्थित होती है तब भी विप्रलम्भ शृंगार ही होता है। अभीष्ट व्यक्ति के अनुपस्थित होने पर तो स्वाभाविक रूप से विप्रलम्भ होता ही है क्योंकि वहाँ संतुष्टि का प्रश्न ही नहीं उठता।

मान विप्रलम्भ की दशा भी इससे कुछ भिन्न रही है। नायक नायिका दोनों के समीप रहने पर भी और उन दोनों के एक-दूसरे के प्रति पूर्ण प्रेम भाव रखने पर भी ईर्ष्या आदि के कारण जब उनमें से एक पक्ष उदासीन हो जाता है तब अभीष्ट की प्राप्ति

---

१ साकेत सन्त, [illegible], पृ० १११, प्रथम संस्करण चतुर्दश सर्ग

मार्ग में अवरोध उत्पन्न हो जाता है और मान दशा में विप्रलम्भ की अवस्थिति मानी जाती है।

शृंगारप्रकाश के २४वें अध्याय में निरुक्ति के अनुसार विप्रलम्भ की व्याख्या करते हुए भोज ने कहा है कि विप्रलम्भ शब्द लभ धातु में वि और प्र उपसर्ग जोड़ देने से बना है। लभ् धातु का अर्थ है प्राप्ति, प्र का अर्थ प्रकर्ष और वि का अर्थ है वंचना। जहां प्राप्ति की इच्छा का प्रकर्ष होने पर भी वंचना होती है अर्थात् अप्राप्ति होती है, वहीं विप्रलम्भ होता है।

शृंगार रस में अभीष्ट की अप्राप्ति जहां होती है, वहाँ विप्रलम्भ शृंगार होता है।

काव्यप्रकाशकार मम्मट ने विप्रलम्भ की कोई परिभाषा नहीं दी, केवल उसके विभिन्न प्रकारों के नाम और उनके उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

मम्मट के बाद हेमचन्द्र ने भी अपने 'काव्यानुशासन' में विप्रलम्भ शृंगार की कोई विवेचना नहीं की है। केवल इतना कहा है कि—'जहाँ शंका आदि संचारी भाव हों, संतापादि अनुभाव हों वहाँ विप्रलम्भ शृंगार होता है। यह तीन प्रकार का कहा गया है—अभिलाष, मान, प्रवास।'[1]

परिभाषा बहुत अस्पष्ट है। शंकादि संचारी भाव और संतापादि अनुभाव तो क्रमशः भयानक रस और करुण रस में भी हो सकते हैं।

वाग्भट्ट प्रथम ने भी स्त्री-पुरुष की पारस्परिक रति में युक्त और वियुक्तावस्था में ही संयोग और वियोग माना है। वाग्भट्ट कहते हैं— पति पत्नी की पारस्परिक रति वृत्ति को शृंगार कहते हैं। यह दो प्रकार की है—संयोग और वियोग जो क्रमशः उन दोनों की युक्त और वियुक्तावस्था में होती है।[2]

वाग्भट्ट की परिभाषा में भी कोई नवीनता नहीं है। भरत और रुद्रट की परिभाषा की प्रतिध्वनि ही यहाँ भी दिखाई पड़ती है।

भोज के अतिरिक्त शृंगार रस के दूसरे विशद विवेचनकर्ता शारदातनय ने विप्रलम्भ का लक्षण न करके उसके दो मुख्य प्रकारों अयोग और वियोग का लक्षण दिया है—

अयोग—'(कभी मिले नहीं हों) ऐसे अद्भुत राग वाले युवक और युवती की परस्पर विभाव आदि के द्वारा असंगति अयोग है। (विभाव आदि के रहने पर भी मिलन नहीं होता अर्थात् प्रेमादि के हृदय में रहने पर भी)।[3]

---

१ शंकादिव्यभिचारी संतापाद्यनुभावोऽभिलाषमानप्रवासरूपो विप्रलम्भः ॥३०॥
—काव्यानुशासन, हेमचन्द्र, द्वितीय वृत्ति, निर्णयसागर प्रेस

२ दम्पत्योर्मिथो रत्या वृत्तिः शृंगार उच्यते।
संयोगो विप्रलम्भश्चेत्येष तु द्विविधो मतः।
तो तयोर्भवतो वाच्यौ बुधैर्युक्तवियुक्तयोः ॥५॥
—वाग्भट्टालंकार वाग्भट्ट, खेमराज श्रीकृष्णदास, वेंकटेश्वर प्रेस

३ परस्परं विभावाद्यैर् नोद्भूत रागयो।
असंगतिरयोगोऽस्मिन्दशावस्था द्वयोरपि॥
—भावप्रकाश शारदातनय पृष्ठ ८५

वियोग—'सम्भोग मग्न युवती और युवक के विप्रकर्ष (दूरीकरण) को वियोग कहते हैं।'[1]

अयोग और वियोग में सामान्य विभावादि लक्षण के अनुरूप ही होते हैं फिर भी रति स्थायी भाव की अनुवृत्ति होने से यह शृंगार के ही भेद हैं।[2]

अयोग और वियोग की परिभाषाओं से स्पष्ट ही है कि ये क्रमशः मिलन से पूर्व और मिलन के बाद के विप्रलम्भ रूप हैं।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ की विप्रलम्भ सम्बन्धी परिभाषा भी भोज की परिभाषा से पूर्ण साम्य रखती है। विश्वनाथ के अनुसार— अनुराग के अत्यन्त उत्कट होने पर भी जहाँ प्रिय समागम नहीं होता उसे विप्रलम्भ कहते हैं।[3]

प्रिय समागम के लिए यहाँ भी अभीष्ट शब्द का प्रयोग ही हुआ है।

रसगंगाधरकार पण्डितराज जगन्नाथ ने विप्रलम्भ के एक दूसरे मौलिक तथा सूक्ष्म पक्ष को समझा है जिसको उत्तम गम्भीर पर्यवेक्षक भी उनके पूर्ववर्ती आचार्य भोज और विश्वनाथ उसको स्पष्ट नहीं कर सके थे। भोज और विश्वनाथ दोनों इस तथ्य तक तो पहुँच गए थे कि जहाँ रति के प्रकृष्ट होने पर भी प्रिय समागम नहीं होता वहाँ विप्रलम्भ शृंगार होता है। उनके सम्मुख यह बात भी बिलकुल स्पष्ट थी कि प्रिय व्यक्ति के समीप होने पर भी प्रिय समागम कभी-कभी असम्भव हो जाता है जैसे (मान की दशा में)। किन्तु वे यह बात नहीं समझ पाये थे कि उसका कारण क्या है? इसी का उत्तर इस पण्डितराज जगन्नाथ ने देने का प्रयत्न किया है।

पण्डितराज के अनुसार— शृंगार रस दो प्रकार का है संयोग और विप्रलम्भ। यदि स्त्री-पुरुष का संयोग के समय प्रेम हो तो संयोग शृंगार कहलाता है और वियोग के समय हो तो विप्रलम्भ शृंगार। परन्तु संयोग का अर्थ स्त्री पुरुष का एक स्थान पर रहना नहीं है क्योंकि एक शय्या पर शयन करते हुए युगल में भी यदि ईर्ष्या आदि हो तो विप्रलम्भ रस का ही वर्णन किया जाता है। इसी तरह वियोग का अर्थ भी अलग रहना नहीं है क्योंकि [illegible] भी कहा जा सकता है। अतः यह मानना चाहिए कि संयोग और वियोग एक प्रकार की चित्तवृत्तियाँ हैं और वह है—मिला हुआ हूँ और बिछुड़ा

---

१ [illegible] ।
[illegible] ॥

— [illegible], पृष्ठ ८६

२ [illegible] ।
[illegible] ॥

— [illegible] पृष्ठ ८७ [illegible] आरिएण्टल [illegible]

३ यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ।

— साहित्य दर्पण, विश्वनाथ, तृतीय परिच्छेद।

हुआ हूँ यह ज्ञान।[1]

जगन्नाथ की उपर्युक्त परिभाषा की व्याख्या दूसरे शब्दों में इस प्रकार की जा सकती है—"उनकी परिभाषा के अनुसार संयोग और वियोग दोनों दशाओं में प्रेम की स्थिति अपरिमित है। संयोग और वियोग दो प्रकार की चित्तवृत्तियाँ मात्र हैं और वह है—'मिला हुआ हूँ और बिछुड़ा हुआ हूँ का ज्ञान'।

पण्डितराज संयोग और वियोग को चित्तवृत्तियाँ मात्र मानकर इस बात का उत्तर दे देते हैं कि दोनों पक्षों के परस्परानुरक्त और एक स्थान पर होने पर भी प्रिय समागम क्यों नहीं होता। वे कहते हैं कि उसका कारण है ईर्ष्या आदि के कारण 'बिछुड़ा हुआ हूँ' ऐसा ज्ञान। 'बिछुड़ा हुआ हूँ' यह ज्ञान ही प्रेमियों की उस संयुक्तावस्था में भी विप्रलम्भ शृंगार को उपस्थित करता है।

पण्डितराज उभय पक्षों के (किसी कारणवश) अलग रहने की अवस्था में और उनमें किसी प्रकार का मनमुटाव न होने के कारण 'मिला हुआ हूँ' इस ज्ञान की अवस्थिति 'संयोग शृंगार' मानते हैं। इस दशा में पूर्वानुराग, प्रवास और करुण यह तीनों प्रकार के विप्रलम्भ संयोग शृंगार के अन्तर्गत आ जाएँगे क्योंकि रति भाव की उत्कृष्टता और तन्मयता में 'मिला हुआ हूँ' यह ज्ञान तो रहेगा ही। किन्तु साथ ही यह नहीं भूल जाना चाहिए कि भाव के मिलन के साथ प्रत्यक्ष स्थूल मिलन भी भाव की पूर्णता के लिए परमावश्यक माना गया है। अतः स्थूल रूप में जब तक मिलन न होगा तब तक अभीष्ट की प्राप्ति न होने से 'बिछुड़ा हुआ हूँ' यह ज्ञान आवश्यक रूप में विद्यमान रहेगा। ऐसी स्थिति में जिस मन:स्थिति को जगन्नाथ विप्रलम्भ शृंगार में 'मिला हुआ हूँ' यह ज्ञान मानकर उसे संयोग की स्थिति मानते हुए विप्रलम्भ शृंगार का दोष बताते हैं, वह दोष नहीं रहता। क्योंकि 'बिछुड़ा हुआ हूँ' यह ज्ञान भाव के मिलन की तन्मयता के साथ अवश्य उपस्थित रहता है।

जिसको पण्डितराज दोष कहते हैं उसी को हम गुण मानकर चलेंगे। उनके इस भाव की व्याख्या हम इस प्रकार करेंगे कि विप्रलम्भ भाव की तन्मयावस्था में मिलन के, अर्थात् सम्भोग के समस्त भाव-वैभव को भी अपनी परिधि में समेट लेता है। किन्तु उस मिलन की चरम प्राप्ति में 'बिछुड़ा हुआ हूँ', यह ज्ञान जब बाधा उपस्थित करता है तो प्रेमी उस बिछोह की व्याकुलता में पुनः प्रिय को पाने के लिए विकल हो उठता है। इस तरह विप्रलम्भ में विरह की भावना अर्थात् प्रिय का अभाव-पीड़ा का जन्म होता है।

---

१ तत्र शृंगारो द्विविधः, संयोगो विप्रलम्भश्च। रते संयोगकालावच्छिन्नत्वे प्रथमः। वियोगकालावच्छिन्नत्वे द्वितीयः। संयोगश्च न दम्पत्योः सामानाधिकरण्यम्। एकतल्पशयनेऽप्यसूयादिसद्भावे विप्रलम्भस्यैव वर्णनात्। एवं वियोगोऽपि न वैयधिकरण्यम्, दोषस्योक्तत्वात्। तस्मात्संयोगवियोगाख्यावन्तःकरणवृत्तिविशेषौ। संयुक्तोवियुक्तश्चास्मीति धीः।

—रसगंगाधर, पण्डित राज जगन्नाथ, पृष्ठ संख्या ८० नागेश भट्ट की टीका सहित, प्रकाशक निर्णय सागर प्रेस, बम्बई

विरह की भावना एक ओर 'मैं बिछुड़ा हुआ हूँ' इस ज्ञान के कारण प्रेमी को उसकी कमी की याद दिलाती है और दूसरी ओर 'मैं भाव में प्रिय से मिला हुआ ही हूँ' इस चेतना के कारण उसके प्रेम को वियोग की अवस्था में और अधिक पुष्ट करती है।

इन दो विरोधी भावनाओं के अद्भुत सामंजस्य के कारण ही विप्रलम्भ में सम्भोग सुख और अनुराग को अधिक गाढ़ा करने की शक्ति आती है। भोज ने कहा भी है—

विप्रलम्भ के बिना सम्भोग पुष्टि को प्राप्त नहीं करता जैसे कषायित वस्त्र पर रंग अधिक चढ़ता है।[1]

विप्रलम्भ शृंगार में स्त्री और पुरुष की चेष्टाएँ (विरह) दुःख जन्य, तदनन्तर सम्बन्धा होती हैं।[2]

विप्रलम्भ के प्रकार

विप्रलम्भ शृंगार के अन्य प्रभेदों का कोई वर्गीकरण हम भरत के नाट्यशास्त्र में नहीं मिलता। केवल करुण विप्रलम्भ और करुण रस के अंतर को भरत ने अवश्य स्पष्ट किया है। परवर्ती अलंकारशास्त्री आचार्यों में भी इसका उल्लेख ही नहीं है। संस्कृत काव्य शास्त्रियों में विप्रलम्भ का सर्वप्रथम वर्गीकरण रुद्रट ने किया है। काव्यालंकार के १४वें अध्याय की प्रथम कारिका में रुद्रट ने विप्रलम्भ को चार प्रकार का माना है—

विप्रलम्भ नाम का शृंगार चार प्रकार का होता है—प्रथमानुराग, मान, प्रवास और करुण।[3]

रुद्रट के बाद आज तक विप्रलम्भ का वर्गीकरण इसी रूप में चला आ रहा है। कुछ और आचार्यों ने विरह विप्रलम्भ [illegible] विप्रलम्भ का एक पाँचवाँ भेद भी माना है।

१ प्रथमानुराग (पूर्वराग)

प्रथमानुराग की परिभाषा देते हुए रुद्रट कहते हैं— आलोकन मात्र आदि से ही जिनमें अधिक स्नेह उत्पन्न हो गया है ऐसे नायक-नायिकाओं की दशाओं को प्रथमा

---

१ न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो [illegible]॥
—[illegible], [illegible] परिच्छेद, [illegible] संख्या ५०, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।
२ [illegible]
[illegible]
—वही [illegible] संख्या ५३।
३ अथ विप्रलम्भनामा [illegible] चतुर्विधो [illegible]।
प्रथमानुराग-मान[illegible] [illegible]॥ १ ॥

नुराग कहते हैं।"[1]

"कठिन काम से तप्त वे दोनों हिम सलिल मृणाल और कदलीदल आदि का सेवन भी करते हैं, निन्दा भी करते और उपायों फ़क्ते भी हैं।'[2]

भोज ने प्रथमानुराग की परिभाषा इस प्रकार की है— जिनका पहले कभी मिलन न हुआ हो ऐसे युवक-युवती की अभिलाषा जब सुन्दर सकल्प का रूप धारण करती है तो उसे प्रथमानुराग या पूर्वानुराग कहते हैं।[3]

सुन्दर सकल्प का अर्थ है स्नेह भाव से एक दूसरे के विषय में सोचना विचारना आदि। अत भोज की परिभाषा को दूसरे शब्दों में ऐसे भी कहा जा सकता है कि पहले जिनका कभी सयोग नहीं हुआ है ऐसे युवक-युवती वासनायुक्त हृदय से जब परस्पर स्नेहभाव रखते हुए एक दूसरे के विषय में रमणीय भावों में परिपूर्ण होकर सोचते विचारते है, तो उनकी उस अवस्था को पूर्वानुराग या प्रथमानुराग कहा जाता है।

शृगारप्रकाश में भोज ने प्रथमानुराग का प्रतिश्रुत्यादान, (प्रतिश्रुति + आदान) श्रवणादि से ग्रहण किया गया कहा है। अर्थात गुण श्रवण आदि से पूर्वानुराग का उत्पन्न होना कहा है।

हेमचन्द्र ने पूर्वानुराग अथवा अभिलाष विप्रलम्भ को दो प्रकार का माना है— (१) दैवजन्य, (२) परवशताजन्य।[4] दैवजन्य विप्रलम्भ प्रतिनाभग आदि के कारण होता है और परवशताजन्य गुरजनों की उपस्थिति के कारण।

गुरुजनों की उपस्थिति में लज्जादि के कारण मिलन में जब बाधा होती है तब परवशताजन्य अभिलाष विप्रलम्भ होता है। इसी को कुछ लोगों ने विप्रलम्भ का पाँचवा भेद विरह विप्रलम्भ भी कहा है।

शारदातनय ने विप्रलम्भ के इस भेद (पूर्वानुराग) को पूर्वानुराग न कहकर अयोग कहा है। अयोग का विवेचन पहले 'विप्रलम्भ' की विवेचना में किया जा चुका है। शारदातनय के अनुसार "अदभुत राग वाले युवक और युवती में विभावादि के उपस्थित रहने पर भी जब मिलन नहीं होता तब अयोग विप्रलम्भ होता है। (देखिए विप्रलम्भ

---

१ आलोकनादिमानरूढ गुरुरागयोरप्राप्तौ।
नायकयोर्या चेष्टा स प्रथमोविप्रलम्भ इति॥ २॥

—काव्यालकार, रुद्रट, अध्याय १४, चौखम्बा सस्कृत सीरीज।

२ हिममनिलच द्रचन्दनमृणालकदलीदलादि तनैतो।
दुवारस्मरतापौ सेवेते निन्दत निपुन॥

—वही।

३ प्रागभगतयोर्यूनोरभिलाष प्रवतते।
सकल्पमणायोऽनुराग स प्राच्य उच्यते॥ ४७॥

—सरस्वतीकण्ठाभरण, भोज, पञ्चम परिच्छेद।

४ दैवपारवश्याभ्यामाद्यो द्वेधा॥२॥

—काव्यानुशासन, हेमचन्द्र, द्वितीय वृत्ति, निर्णय सागर

सम्बन्धी विवेचन—नाट्यानन्द)।

यों भी पूर्वानुराग और अयोग के तात्पर्य में कोई अन्तर नहीं है। भोज के अनुसार अनुराग का अर्थ वह प्रेम भाव है जो संयोग के साथ अथवा उसके पश्चात् रहता है। पर संयोग से पूर्व जो रति भाव उत्पन्न होता है वह पूर्वानुराग है। अयोग का अर्थ भी संयोग से पूर्व की अवस्था ही है।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने पूर्वानुराग का विशद विवेचन किया है। विश्वनाथ का पूर्वानुराग सम्बन्धी व्याख्या इस प्रकार है—

सौन्दर्यादि गुणों के श्रवण दर्शन से परस्पर अनुरक्त नायक नायिका की समागम से पूर्व की दशा का नाम पूर्वराग है। दूत भाट और सखी आदि के द्वारा गुणों का श्रवण होता है। दर्शन इन्द्रजाल चित्र स्वप्न में अथवा साक्षात् ही होता है।[1]

अभिलाष चिन्ता स्मृति गुणकथन, उद्वेग प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जडता और मृति (मरण) ये दस काम दशायें विप्रलम्भ में होती हैं।[2]

इच्छा का नाम अभिलाष है। प्राप्ति के उपाय आदि का नाम चिन्ता है। जड चेतन का विवेक न रहना उन्माद है चित्त के बहकने से अटपटी बातों का कहना प्रलाप है। शोक निःश्वास पाण्डुता दुर्बलता आदि व्याधि होती है। अंगों तथा मन के चेष्टा शून्य होने का नाम जडता है और मरण को मृति कहते हैं।[3]

[4] यद्यपि रस का विच्छेद होने से मरण का वर्णन नहीं किया जाता तथापि मरण तुल्य दशा का वर्णन कर देना चाहिए। यदि शीघ्र ही पुनर्जीवित हो तो मरण का भी वर्णन कर देते हैं।

---

१ [illegible] ।
[illegible] ॥१८८॥
[illegible] ।
[illegible] दर्शनम् ॥१८९॥
—साहित्यदर्पण विश्वनाथ, तृतीय परिच्छेद।

२ [illegible] ।
[illegible] ॥१९०॥
—वही।

३ [illegible] ।
[illegible] ॥१९१॥
[illegible] ।
[illegible] ॥१९२॥
—वही।

४ [illegible] ।
[illegible] ।
[illegible] ॥१९३॥
—वही।

'कुछ आचार्य इन काम दशाओं को इस प्रकार कहते हैं—सबसे पहले नयनानुराग, फिर चित्त की आसक्ति, उसके बाद संकल्प (मिलने की इच्छा) और तब निद्रानाश, उन्माद, मूर्छा और मरण। पहले स्त्री का अनुराग वर्णन करना चाहिए। अनन्तर उसके इंगित, चेष्टित आदि को देखकर पुरुष को अनुराग निबद्ध करना चाहिए। यद्यपि पुरुष का अनुराग भी पहले हो सकता है परन्तु उक्त प्रकार से वर्णन अधिक हृदयंगम होता है।[1]

"पूर्वराग तीन प्रकार का होता है—१ नीली राग, २ कुसुम्भ राग, ३ मंजिष्ठ राग। जो अधिक चमक दमक से युक्त नहीं किन्तु हृदय से कभी दूर नहीं होता, वह नीली राग है। कुसुम्भ राग वह है जो शोभित तो खूब हो परन्तु जाता रहे। मंजिष्ठा राग उसे कहते हैं जो शोभित भी हो और जाय भी नहीं।"[2]

शारदातनय ने भी भावप्रकाश में राग को नीली, कुसुम्भ और मंजिष्ठ रागों में वर्गीकरण किया है किन्तु यह पूर्वराग के भेद हैं यह बात स्पष्ट नहीं की। मंजिष्ठ राग को उन्होंने उत्तम, नीली राग को मध्यम और कुसुम्भ राग को अधम राग माना है।[3]

पण्डितराज जगन्नाथ ने पूर्व विप्रलम्भ का विशद विवेचन साहित्यदर्पणकार और अन्य आचार्य कर चुके थे। अतः उन्होंने उसके प्रभेदों के विवेचन की आवश्यकता नहीं समझी।

२ मान

रुद्रट के अनुसार 'ईर्ष्या से युक्त नायिका, नायक से, अन्य नायिका के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए दोष को लक्ष्य करके जिस विकार को प्राप्त होती है, उसे मान कहते हैं।'[4]

नायक के दोष—

---

१ नयनप्रीतिः प्रथमं चित्तासंगस्ततोऽथ संकल्पः।
निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः॥
तत्र च—
आदौ वाच्यः स्त्रिया रागः पुंसः पश्चात्तदिङ्गितैः।
आदौ पुरुषानुरागे सम्भवत्यप्येवमधिकं हृदयंगमं भवति।
—साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, तृतीय परिच्छेद।

२ नीली कुसुम्भं मंजिष्ठा पूर्वरागोऽपि च त्रिधा॥१९५॥
न चातिशोभते यन्नापैति प्रेम मनोगतम्।
तन्नीलीरागमाख्यातं यथा श्रीरामसीतयोः॥१९६॥
कुसुम्भरागं तत्प्राहुर्यदपैति च शोभते।
मंजिष्ठरागमाहुस्तद् यन्नापैत्यति शोभते॥१९७॥
—साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, तृतीय परिच्छेद।

३ (देखिए भावप्रकाश—शारदातनय, चतुर्थोऽधिकार पृष्ठ संख्या ८१ प्रकाशित ओरियन्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, १९३०।

४ मानं नायके विकारमायाति नायिका सेर्ष्या।
उद्दिश्य नायिकान्तरसम्बन्धसमुद्भवं दोषम्॥१५॥
—काव्यालंकार, रुद्रट, अध्याय १४।

'दूसरी स्त्री के प्रति गमन सबसे बड़ा और आलाप मध्यम श्रेणी का दोष है। साक्षात्कार द्वारा [illegible] है किन्तु उसका स्वयं जाकर देखने का प्रयत्न बड़ा दोष भी है और मध्यम प्रकार का भी।'[1]

नायिका इन दोषों को इन चिह्नों के द्वारा पहचानती है—

'नायक के वस्त्रों में (गन्धि आदि के कारण), अंगों पर नखक्षत आदि से, गोत्रस्खलन और सखी वचन आदि के कारण।'[2]

'यह दोष देश, काल, पात्र और प्रमादादि के अनुसार दोष क्रम से तीन प्रकार का है—असाध्य, दुस्साध्य और सुख साध्य।'[3]

संक्षेप में इसकी परिभाषा को इस प्रकार कहा जा सकता है कि नायक के अन्य नायिका के प्रति गमन करने से अथवा उससे आलाप करने से अथवा उसको केवल देखने मात्र से ही नायिका जिस विकार को प्राप्त होती है उसे मान कहते हैं। अन्य नायिका के प्रति गमन नायक का सबसे बड़ा दोष है। उससे आलाप करना मध्यम और उसको देखना छोटा दोष माना जाता है। मान देश, काल और परिस्थिति के अनुसार असाध्य दुस्साध्य और सुख-साध्य होता है अर्थात् कभी तो नायक के द्वारा मनुहार किए जाने पर नायिका मानती ही नहीं, कभी कठिनाई से मानती है और कभी उसका मनाना अत्यन्त सरल होता है।

मान की परिभाषा सरस्वतीकंठाभरण में भोज इस प्रकार करते हैं—"प्रेम की गति, सर्प के समान स्वभाव से ही कुटिल है। जब हेतु के बिना अथवा हेतुपूर्वक (कारण अथवा अकारण) (मत, ना) आदि शब्दों से निषेध किया जाता है तब मान विप्रलम्भ होता है।'[4]

शृंगारप्रकाश में भोज ने मान का बहुत सुन्दर विश्लेषण किया है। उनके अनुसार मान मा+न दो शब्दों के मेल से बना है। ये दोनों शब्द ही निषेधात्मक हैं। प्रेम की कुटिल गति इन (मा, नहीं) में भरी पड़ी है।

(यहाँ ध्यान देने की बात है कि बीजगणित के अनुसार दो निषेध एक स्वीकृति के सूचक होते हैं। मा और न दो निषेधात्मक [illegible]

कृत्रिम होता है, सच्चा नहीं। मान ऊपरी होता है, वस्तुत तो मानी पक्ष स्वयं भी प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए आतुर होता है।)

धातु निरुक्ति के अनुसार मान का अर्थ करते हुए भोज कहते हैं कि निरुक्ति म मान का अर्थ है पूजा, बोधन, मापन। (पूजा मे तो मान विप्रलम्भ मे होने वाली मनुहार आ जाती है मापन म दूसर पक्ष के प्रेम को नापने की बात), बोधन भोज के शब्दों म वह ज्ञान अथवा अभिमान है जो दुख के हेतु को भी सुख का साधन मानता है। मान म प्रेम के अस्तित्व का बोध होता है।

भोज के 'मान सम्बन्धी विश्लेषण को हम दूसरे शब्दों म ऐसे भी कह सकते हैं कि मान, विप्रलम्भ शृगार की वह अवस्था है जिसम एक पक्ष के अथवा दोनों पक्षों के मा, न आदि निषेधात्मक शब्दों के कहने से प्रेम की सन्तुष्टि म अवरोध उपस्थित होता है। इस दशा म प्रेम की गहराई की नाप की जाती है, (दूसरे पक्ष की) मनुहार की जाती है, और दुख देने वाली मान की उस अवस्था को सुख का साधन समझा जाता है।

शारदातनय ने भी 'मान की काफी सुन्दर और मनोवैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत की है। शारदातनय के शब्दों म ' मनोरथ निरोधन का मान कहते हैं। मा, न आदि शब्दों की वीप्सा से (आवृत्ति से) निरोध ही मान कहलाता है।[1]

"यह मान ईर्ष्या और प्रणय के भेद से स्त्री और पुरुषों म दो तरह का माना गया है। (नायक के) सपत्नी के दर्शन, स्पर्श और (उसके गुण) श्रवण को न सहते हुए। स्त्रियों की ईर्ष्या जब मनोरथ को रोकती है तो उसे ईर्ष्यामान कहते है।"[2]

ईर्ष्यामान तीन प्रकार का है—

१ अनुमा,

२ प्रत्यक्ष,

३ श्रवण।

गोत्रस्खलन, भोगाक और स्वप्नायित (स्वप्न म बडबडाना) से नायक के दूसरी नायिका म प्रेम का अनुमान किया जाता है। अत अनुमान के द्वारा उत्पन्न होने वाले इस मान का अनुमा ईर्ष्यामान कहते हैं। 'प्रत्यक्ष इन्द्रिय गोचर होता है और दासी, सखी आदि के मुख से सुनना ही 'श्रवण है।

---

१ स एव मान इत्युक्तो मनोरथनिरोधनम्।
मा नेति वीप्सया रोधो मान इत्यच्यते बुधै ॥
—भावप्रकाश शारदातनय, चतुर्थाधिकार, पृष्ठ ७६, गैकवाड, ओरिएण्टल सीरीज।

२ ईर्ष्याप्रणयरोधेन मान स्त्रीपुंसयोर्द्विधा।
सपत्नीदर्शनस्पर्शश्रवणासहता स्त्रिया ॥
ईर्ष्या रुणद्धि तया रोध ईर्ष्यामान उच्यते ॥
—भावप्रकाश, शारदातनय, चतुर्थाधिकार, पृष्ठ संख्या ७६।

प्रणयमान की परिभाषा शारदातनय से पहले और किसी ने स्पष्ट नहीं किया था। प्रणयमान को अहेतुक तो बताया गया था किन्तु उस अहेतुक के पीछे भी गौण रूप से क्या हेतु छिपा रहता है इसको किसी ने भी जानने का प्रयत्न नहीं किया था। शारदातनय ने प्रथम बार ही उसकी व्याख्या प्रस्तुत की है। उनके अनुसार—

मान प्रेम प्रसार तथा राग के आस्वाद से स्थापित प्रेम यदि प्रकर्ष को प्राप्त हो तो वह प्रणय (मान) कहलाता है।[1]

उनकी प्रणयमान की परिभाषा विद्वानों को कहाँ तक रुचिकर होगी, कहा नहीं जा सकता। किन्तु वह काफी मनोवैज्ञानिक और उचित प्रतीत होती है। शारदातनय की प्रणयमान सम्बन्धी परिभाषा को और स्पष्ट रूप में इस प्रकार समझा जा सकता है कि ईर्ष्यामान में ही दूसरे पक्ष द्वारा अनुनय किए जाने पर हृदय में जब मान नहीं रहता, केवल मान का अभिनय रह जाता है और उस अभिनय के द्वारा मान को स्थिर रखा जाता है, जिससे कि मनोरम अनुभूति में विनोद रहता है तो वह प्रणयमान होता है।" मानी पक्ष के मान तोड़ने पर अनुनय करने वाला पक्ष जब मान करने लगता है तब भी प्रणयमान उपस्थित होता है।

शारदातनय का कहना है कि प्रणयमान स्त्री-पुरुष दोनों में हो सकता है किन्तु ईर्ष्यामान केवल स्त्रियों में ही होता है।

प्रणयमान स्त्री-पुरुष दोनों का वर्णनीय है परन्तु ईर्ष्यामान केवल स्त्रियों का ही वर्णित किया जाता है। यदि पुरुष में ईर्ष्या उत्पन्न हो तो वैर की सम्भावना ही अधिक है।[2]

ईर्ष्यामान के विषय में शारदातनय का यह दृष्टिकोण कि वह केवल स्त्रियों में होता है पुरुष में नहीं। पुरुष में यह ईर्ष्यामान उग्र होकर वैर का रूप धारण करता हुआ भी पूर्ण मनोवैज्ञानिक है। इस भाव से ओत प्रोत पुरुष का हृदय अहं के आहत होने पर बदला लिए बिना न रहेगा। ईर्ष्या करने वाला मनुष्य न रहेगा वह या तो स्वयं मर जाएगा अथवा उसको मार डालेगा। परन्तु मन की समृद्धि भी उसके अहं को शान्त करने वाले व्यक्तित्व के मान में [illegible] सम्भव हो सकी। प्रेमपात्री नायिका से भी पुरुष मान न करके घृणा करने लगता यह एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है। संस्कृत काव्यशास्त्रियों में केवल शारदातनय ने ही सर्वप्रथम इस बात को स्वीकार किया है। उनके बाद भी इस ढंग का विश्लेषण और कहीं उपलब्ध नहीं है।

---

1. [illegible]
[illegible] ॥

2. [illegible]
[illegible] ॥
—भावप्रकाश, शारदातनय, चतुर्थाधिकार पृ० ७६।

—वही।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ मान की परिभाषा करते हुए कहते हैं—"कोप का नाम मान है, वह दो प्रकार का होता है, एक प्रणय से और दूसरा ईर्ष्या से उत्पन्न। प्रेम की उल्टी ही चाल होती है इसलिए दोनों के हृदय में भरपूर प्रेम होने पर भी बिना कारण ही एक-दूसरे पर जो कोप है वह प्रणय मान है।"[1]

'पति की अन्य स्त्री में आसक्ति देखने पर या अनुमान करने पर अथवा किसी से सुन लेने पर ईर्ष्यामान होता है। यह तीन प्रकार से हो सकता है—

१ स्वप्न में अन्य नायिका के सम्बन्ध में नायक का बड़बड़ाना।

२ नायक के सम्भोग चिह्नों का देखना।

३ नायक के मुँह से अनायास अन्य नायिका का नाम निकल जाना।'[2]

विश्वनाथ का मान सम्बन्धी उपर्युक्त विवेचन रूढ़िवादी ही है किसी मौलिक तथ्य का उद्घाटन साहित्यदर्पणकार ने नहीं किया है। साहित्यदर्पण के मान सम्बन्धी विवेचन में केवल एक बात विशेष ध्यान देने की है और वह है कि विश्वनाथ ने मान को एक विशेष अवस्था में विप्रलम्भ शृंगार न मानकर सम्भोग शृंगार का संचारी भाव ही माना है। विश्वनाथ कहते हैं—

'यदि मान अनुनय (मनुहार) के समय तक न ठहर सके तो इसे विप्रलम्भ शृंगार नहीं समझना चाहिए, किन्तु सम्भोग का संचारी नामक भाव ही जानना चाहिए।'[3]

विश्वनाथ का कहना कुछ सीमा तक ठीक है। दूसरे पक्ष द्वारा मनुहार किए जाने पर भी जब रोष के कारण मनोरथ की संतुष्टि का निरोध किया जाता है तब ही मान विप्रलम्भ होता है, क्योंकि विरह की भावना वहीं उपस्थित होती है। अभीष्ट की प्राप्ति में जहाँ वह (मान) बाधा नहीं पहुँचाता, वहाँ वह वियोग अथवा विप्रलम्भ शृंगार नहीं हो सकता। क्षणिक मान संभोग के उत्कर्ष में सहायक ही होता है अतः वह सम्भोग का संचारी भाव ही होगा। किन्तु फिर भी प्रकृष्ट प्राप्ति की अवस्था में पहुँचने से पहले उसमें वियोग का जो दुःख होता है वह 'मान' की विरह वेदना ही है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने विप्रलम्भ का विवेचन करते हुए कहा है कि एक तल्प पर शयन करते हुए दम्पत्ति के हृदय में भी जब ईर्ष्या आदि के कारण अन्तर आ जाता है, तो विप्रलम्भ शृंगार का वर्णन किया जाता है। मान विप्रलम्भ की कोई अलग परि-

१ मानः कोपः स तु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भवः ।
द्वयोः प्रणयमानः स्यात्प्रमोदे सुमहत्यपि ॥ १९८॥
प्रेम्णः कुटिलगामित्वात्कोपो यः कारणं विना ।

—साहित्य दर्पण, विश्वनाथ, तृतीय परिच्छेद।

२ पत्युरन्यप्रियासङ्गे दृष्टेऽथानुमिते श्रुते ॥१९९॥
ईर्ष्या मानो भवेत्स्त्रीणां तत्र त्वनुमितिस्त्रिधा ।
उत्स्वप्नायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनसंभवा ॥२००॥

—वही

३ अनुनयपर्यन्तासहत्वे त्वस्य न विप्रलम्भभेदता, किन्तु संभोगसञ्चार्याख्यभावत्वम् ।—वही ।

भावना उद्दीप्त नहीं की है। भर्तृहरि ने संयोग के समय होने वाले वाले इस विरह को प्रत्यन्त अग्नि कहा है—"जो एक साथ रहकर भी मन में अंतर रखते हैं उनको संगम भी वियोग से (पूर्वानुराग प्रवास आदि विप्रलम्भ के और प्रकारों से) विशेष दुख दायी है।[1]

३ प्रवास

प्रवास विप्रलम्भ शृंगार का सबसे मुख्य भेद है। प्रवास विप्रलम्भ के वर्णन में कवियों ने पृष्ठ के पृष्ठ भर डाले हैं और फिर भी कभी उनकी तृप्ति नहीं हुई है। प्रवास के वर्णन के लिए ही कवियों ने षट् ऋतुओं और बारहमासे आदि की उदभावना की है और इसी बहाने काव्य में एक वृहत साहित्य प्रकृति के विभिन्न दृश्यों के वर्णनों का और प्राकृतिक वातावरण के मानव मन पर पड़ने वाले प्रभाव का, तैयार हो गया।

पूर्वराग तो मिलन की अभिलाषा मात्र है उसमें विरह की तड़पन होती तो है किन्तु वैसी नहीं जैसी प्रवास के विरही भुक्तभोगी की होती है। एक ने सुख देखा ही नहीं केवल उसकी कल्पना मात्र की है और दूसरा उसे भोगकर उससे वंचित कर दिया गया है। मान में मिलन की सम्भावना बहुत निकट ही होती है किन्तु प्रवास में तो प्रिय का लौटना हुआ प्राप्त एक आशा सा लगता है परन्तु फिर भी कभी-कभी विरह की अवधि पूरी नहीं होती। अतः विप्रलम्भ शृंगार की यह अवस्था अत्यन्त मार्मिक है विरह की भावना का सबसे अधिक प्रस्फुटित होने का अवकाश भी इसमें ही मिलता है।

रुद्रट ने प्रवास की परिभाषा करते हुए काव्यालंकार में कहा है—'नायक विदेश जायगा, जा रहा है, चला गया, ये सब प्रवास कहलाते हैं। परन्तु विवक्षा (ऋतु के अनुसार उत्पन्न होने वाली इच्छा) के अनुसार ये तीन अभिलाषायें भी प्रवास कहलाती हैं—आएगा, आता आता है अथवा आया हुआ है।[2]

कहने का तात्पर्य यह कि नायक के विदेश जाने की सम्भावना से लेकर उसके चले जाने की अवस्था तक का तथा उसके विदेश जाने से उत्पन्न वियोग की सब आशंकाओं को प्रवास विप्रलम्भ कहा जाता है। वियोग काल में ऋतुओं के प्राकृतिक वातावरण के प्रभाव के कारण बार बार हृदय में उसके सामीप्य का जो अनुभव होता है, वह आएगा, आता है अथवा आया हुआ है ऐसा जो आभास होता है, उसे भी प्रवास विप्रलम्भ ही कहते हैं।

भोज ने सरस्वती कण्ठाभरण में प्रवास की परिभाषा इस प्रकार की है—"युवक

---

१ ९९९ [illegible] [illegible] विरह विरमयति।

—शृंगार शतक भर्तृहरि श्लोक सं० ९९।

२ [illegible] प्रवास उक्तो।
[illegible] [illegible] [illegible] ॥३॥

युवतियां के लिए अथवा प्रौढ अनुराग म (एक के) देशान्तर आदि म जाने के कारण जो चिरकाल तक व्यवधान पड जाता है, उसे प्रवास कहते हैं। [1]

भोज की परिभाषा रुद्रट की परिभाषा से अधिक सुष्ठु और स्पष्ट है। रुद्रट वस्तुत प्रवास म होने वाली विरही की मानसिक अवस्थाओं के विश्लेषण से उसका लक्षण स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं और भोज सीधे-सादे शब्दों म यह कहकर कि नायक अथवा नायिका के अन्य देश मे जाने मे अनुराग म जो बाधा उपस्थित होती है वही प्रवास विप्रलम्भ है, प्रवास के लक्षण को बिलकुल स्पष्ट कर देते हैं।

शृगारप्रकाश मे वास शब्द को उसके तीन अर्थों म ग्रहण करके प्रवास शब्द का तीन विभिन्न अर्थों म विश्लेषण किया गया है। भोज के अनुसार वास शब्द का पहला अर्थ निवास है निवास का अर्थ है रहना। प्र उपसग का अर्थ है प्रतिकूल अर्थात प्रवास का अर्थ है चले जाना। प्रवास का यही अर्थ सबसे अधिक प्रचलित है। वास का दूसरा अर्थ भोज आच्छादन (कपडा) लेते हैं। प्र उपसर्ग का अर्थ है विशेष, यहा प्रवास का अर्थ होगा, विशेष प्रकार का आच्छादन। अत भोज के अनुसार प्रवास शब्द, प्रिय व्यक्ति के चले जाने पर (नायिका द्वारा) धारण किए गए विशेष प्रकार के वस्त्रो की ओर भी सकेत करता है। प्रवास का तीसरा अर्थ एकाकी वियोगी के एकान्त नि श्वासो से है जिससे वियोगी को कष्ट होता है, इसी से उसको प्रवास कहते हैं। भोज का प्रवास शब्द का उपयुक्त विवेचन, प्रवास विप्रलम्भ सम्बन्धी व्याख्या म काफी उपयुक्त और समीचीन है।

भोज के पश्चात हेमचन्द्र ने अपने काव्यानुशासन म 'भिन्न देशत्व' को (नायक नायिका के) विभिन्न देशो म रहने को प्रवास कहा है। उन्होने प्रवास को तीन कारणो से होना कहा है "प्रिय व्यक्ति के कार्यवश, शापवश अथवा सभ्रम चले जाने से 'प्रवास' होता है।"[2] कृष्ण का कार्यवश मथुरा से द्वारिका चले जाना कार्यवश, यक्ष का कुबेर के शाप से रामगिरि पर्वत पर रहना शापवश और अचानक किसी भय के कारण के उपस्थित होने पर नायक का देशान्तर चले जाना सभ्रम प्रवास है।

शारदातनय की प्रवास सम्बन्धी परिभाषा म कोई नवीनता नहीं है। हेमचन्द्र का अनुकरण ही यहा भी हुआ है। प्रवास के सम्बन्ध म शारदातनय कहते हैं— भिन्न देशत्व को प्रवास कहते हैं। यह शाप से भी होता है बुद्धि से सोच-समझकर भी और सभ्रम भी।"[3]

---

१ देशान्तरादि भियू नोर्व्यवधान चिराय यत्।
नवेऽनुरागे प्रौढे वा प्रवास सोऽभिधीयते ॥४१॥

—सरस्वती कण्ठाभरण, भोज, पचम परिच्छेद।

२ प्रवासो भिन्नदेशत्वम्।
कार्यशापसभ्रमै प्रवास ॥ २८॥

—काव्यानुशासन, हेमचन्द्र द्वितीय अध्याय।

३ प्रवासो भिन्नदेशत्व तच्छापाद्बुद्धिपूर्वक ।
सम्भ्रमादपि तत्रैव बुद्धि पूर्वस्त्रिधा मत ॥

—भावप्रकाश, शारदातनय-चतुर्थोधिकार।

बुद्धि में शाप सम्भ्रम होने वाला प्रवास हेमचन्द्र के 'कार्यवश' से कुछ भिन्न लगता है। इस भ्रम के तात्पर्य को शारदातनय ने अवश्य स्पष्ट किया है—सहसा उत्पन्न होने वाले दैवी अथवा मानुषी विप्लव का सम्भ्रम कहते हैं।[1]

साहित्यदर्पण में प्रवास का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—'कार्यवश, शाप वश अथवा सम्भ्रम (भय) वश नायक के अन्य देश में चले जाने को प्रवास कहते हैं। उसमें नायिका के शरीर और वस्त्रों में मलिनता, सिर में एक वेणी एवं निःश्वास, उच्छ्वास, रोदन और भूमिपतन आदि का वर्णन किया जाता है। अंगों में असौष्ठव, सन्ताप, पाण्डुता और दुर्बलता, अरुचि और अधीरता आदि इसके लक्षण हैं।[2]

इस रूप में कहा जा सकता है कि प्रवास वह विप्रलम्भ शृंगार है जिसमें कार्यवश, शापवश अथवा सम्भ्रम नायक के अन्य देश में चले जाने से नायिका अत्यन्त दुखी होती है। मलिन वस्त्र धारण करके एक वेणी रखती है, नायक के वियोग में अत्यन्त अधीर रहती है, अत्यन्त दुर्बल हो जाती है, किसी वस्तु से उसे रुचि नहीं रहती और सन्ताप सहती हुई वह (कभी-कभी) मूर्च्छित हो जाती है।

४ करुण विप्रलम्भ

करुण विप्रलम्भ का सर्वप्रथम उल्लेख हमें भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में ही मिल जाता है। रस विकल्प नामक अध्याय में शृंगार रस का विवेचन करते हुए भरत ने शृंगार रस के एक अंग करुण विप्रलम्भ और करुण रस का अन्तर स्पष्ट किया है। भरत मुनि का कहना है कि यद्यपि करुण विप्रलम्भ और करुण एवं करुणरस एक ही जैसी परिस्थितियों में उत्पन्न होते हैं (अर्थात् स्वजन के नाश में) किन्तु दोनों की प्रकृति में मौलिक अन्तर है। करुण रस में पूर्ण निराशा भाव अर्थात् नैराश्य की अवस्था रहती है और करुण विप्रलम्भ में (रति स्थायी होने से) आशा का भाव रहता है अर्थात् अभिलाषा बराबर बनी रहती है।[3]

नाटयशास्त्र म कथित इस तथ्य की ओर रुद्रट न सम्भवत ध्यान नही दिया है। रुद्रट द्वारा दी गई करुण विप्रलम्भ की परिभाषा करुण रस की परिभाषा ही हो गई है। करुण विप्रलम्भ की परिभाषा रुद्रट इस प्रकार करते है—

"नायक अथवा नायिका म से किसी की मत्यु हो जाए अथवा कोई मृतकल्प हो तो उससे उत्पन्न प्रलाप को करुण कहते हैं। (नायक और नायिका म, इन दोनो अवस्थाओ म होने स) करुण विप्रलम्भ चार प्रकार है।[1]

करुण विप्रलम्भ का लक्षण सरस्वती कण्ठाभरण म देते हुए भोज कहते हैं—"प्रिय युवक के दूसरे लोक म चले जाने पर जब दीना युवती निरन्तर दुखी होती है, वहा करुण विप्रलम्भ होता है।"[2]

भोज का यह लक्षण भी करुण रस म कुछ भिन्न नहीं है। दीना युवती के निरन्तर दुखी होने का स्थायी भाव शोक ही माना जाएगा। शारदातनय न भावप्रकाश म कहा है—

'कुछ लोगो का मत है कि वियोग का एक भेद मरण है परन्तु यह ठीक नही, क्योकि मर जाने पर जो प्रलाप होता है वह शोक ही है।[3]

भरत के परवर्ती इन सभी आचार्यों की दृष्टि करुण विप्रलम्भ के विषय मे स्पष्ट नही थी। सभी करुण विप्रलम्भ को करुण रस मे मिलाकर देख रहे थे। उनके सम्मुख करुण रस और करुण विप्रलम्भ का अन्तर स्पष्ट नही था। यदि प्रिय युवक के परलोक चले जाने पर दीना युवती का निरन्तर विलाप करुण विप्रलम्भ है तो करुण रस कहा होगा? यह प्रश्न इन आचार्यों से पूछा जाता तो सम्भवत यह लोग परेशानी म पड जाते अथवा उसका उत्तर य यह देते कि पति-पत्नी सम्बन्ध म मृत्यु के बाद होने वाला शोक करुण विप्रलम्भ है और माता-पुत्र सम्बन्ध म होने वाला शोक करुण रस। किन्तु क्या उनका यह उत्तर ठीक होता? निश्चय रूप मे नहा क्योकि शोक के स्थायी भाव हो जाने पर करुण रस होगा करुण विप्रलम्भ नही। विप्रलम्भ वही होगा जहा स्थायी भाव रति विद्यमान होगा। रति प्रवृत्तिमूलक है और शोक निवृत्तमूलक।

---

१ करुण स विप्रलम्भो यत्रान्यतरो म्रियेत नायकयो।
यदि वा मृतकल्प स्यात्तत्रान्यस्तद्गत प्रलपेत् ॥३४॥
—काव्यालकार, रुद्रट, अध्याय १४, चौखम्बा सस्कृत सीरीज।

२ लोकान्तरगते यूनि वल्लभे वल्लभा यदा।
भृश दु खायते दीना करुण स तदोच्यते ॥६०॥
—सरस्वती कण्ठाभरण, पचम परिच्छेद।

३ वियोगभेदो मरणमिति कश्चिन्न तत्सतेु।
मृत लक्ष्य यतान्य प्रलपश्शोक एव स ॥
—भावप्रकाश शारदातनय, चतुर्थाधिकार, पृष्ठ ८६।
गायकवाड ओरिएण्टल सीरीज।

उन्मत्त गति से बहती हुई सरिता की आन्दोलित लहरों में उर्वशी के उत्तरीय की कल्पना करके राजा कहने लगे—

"तरंगों के रूप में भ्रूकटाक्ष करती हुई, पक्षियों के स्वर में मेखला का आभास देती हुई, उठते हुए भागों में अस्त-व्यस्त उत्तरीय धारण करके आगे बढ़ती हुई और बाधाओं से बचती हुई सरिता के रूप में मेरी उर्वशी ही है। नहीं किन्तु मुझे छोड़कर उर्वशी सागर के पास क्या जाएगी? यह अवश्य सरिता ही होगी।[1]

राजा की यह दशा उन्माद की ही है जहां जड़-चेतन का भेद उन्हें नहीं रहा है। आशा निराशा के संघर्ष में मन चकनाचूर हो रहा है। वियोग में राजा की सहानुभूति का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत हो गया, मानव से आगे मानवेतर जगत, पशु-पक्षियों तक भी वह पहुंच गया। गजपति को अपनी प्रियतमा के साथ विलास करते देखकर राजा उससे ईर्ष्या नहीं करते।

'मैं पृथ्वी के राजाओं का अधिपति हूँ तू गजपति है। मेरी प्रियतमा की भांति तुझे भी अपनी प्रियतमा प्रिय है। हम दोनों सब बातों में सदृश हैं किन्तु भाग्य न करे कि तेरा वियोग अपनी प्रियतमा से हो।'[2]

इस तरह वन प्रदेशादि से उर्वशी का पता पूछते पूछते राजा ने जब एक लता का आलिंगन किया तो वह उर्वशी के रूप में परिवर्तित हो गई और तब इनका पुनर्मिलन हुआ।

'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में दुर्वासा के शाप के कारण दुष्यन्त शकुन्तला को न पहचान सका और उसने उसे *तिरस्कृत किया*। कुलपुरोहित की सम्मति से राजा ने निश्चित किया कि प्रसव के समय तक वह पुरोहित के यहां रहेगी और यदि उसने चक्रवर्ती सम्राट के लक्षणों से युक्त पुत्र को जन्म दिया तो दुष्यन्त उसे स्वीकार कर लेगा।

रोती-पीटती शकुन्तला पुरोहित के यहां जा रही थी कि एक अदृष्ट सत्ता उसे उठाकर ले गई। राजा ने समझा विपत्ति टल गई। कुछ समय के उपरान्त मत्स्य के उदर में से अभिज्ञान अंगुलिका के मिल जाने पर राजा की सम्पूर्ण स्मृतियाँ सजीव हो उठीं। यहाँ से दुष्यन्त का विरह करुण विप्रलम्भ है। राजा के मन में यह सान्त्वना रहती है कि शकुन्तला को उठाकर ले जाने वाली सत्ता सम्भवतः मेनका हो, परन्तु फिर भी विरह की अवधि अनन्त है और मिलन की आशा एक दुराशा मात्र।

---

१ तरंगभ्रूभङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरशना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम्।
यथाविद्धं याति स्खलितमभिसंधाय बहुशो
नदीभावेनेयं ध्रुवमसहना सा परिणता॥
अथवा परमार्थसरिदवेपा। न खलु शशा पुरूरव समपहाय समुद्राभिसारिणी भविष्यति।

—विक्रमोर्वशीय चतुर्थोऽङ्क, श्लोक २८

२ वही, श्लोक २५

देव-दानव-युद्ध के प्रसंग में मरीचि ऋषि के आश्रम में इनका पुनर्मिलन होता है। करुण विरह के इस प्रसंग में कालिदास ने दुष्यन्त द्वारा शकुन्तला के चित्र लेखन आदि की विधि का वर्णन किया है।

करुण विप्रलम्भ के सम्बन्ध में संस्कृत कवियों का सबसे प्रिय विषय सीता निर्वासन की कथा रही है। सीता निर्वासन में परिस्थिति लगभग 'शाकुन्तलम्' से मिलती जुलती है। 'शाकुन्तलम्' में शकुन्तला का त्याग शाप के कारण हुआ। सीता निर्वासन में, निर्वासन जनापवाद और लोकापवाद के कारण। मिलन दोनों में अनिश्चित हो गया है दुष्यन्त भी यह पूर्णतः नहीं जानता कि शकुन्तला जीवित है और राम भी नहीं, किन्तु शकुन्तला और सीता दोनों पति के लिए व्याकुल हैं व मिलन की आशा नहीं छोड़ सकीं इतना यह निश्चित है। दुष्यन्त और राम भी प्रिय मिलन की आशा निराशा के संघर्ष में मग्न से थे।

सीता निर्वासन की कथा में मर्मस्पर्शिता के दो प्रमुख काव्य ग्रन्थ दिङ्नाग की 'कुन्दमाला' और भवभूति के 'उत्तररामचरित' हैं। रघुवंश में भी थोड़ा-सा वर्णन इस प्रसंग का उपलब्ध है। कालिदास के राम और सीता दोनों ही अत्यन्त संयत हैं। कर्त्तव्य मार्ग में कालिदास के नायक नायिकाओं की व्यथा कभी बाधक न बन सकी। अत्यन्त धीर ने राम ने सीता को निर्वासित कर दिया किन्तु उसका यह तात्पर्य नहीं कि परिस्थिति के आघात से वह आहत नहीं हुए थे। मर्म का घाव केवल एक स्थान पर प्रकट होता है। निर्जन वन में सीता को एकाकिनी छोड़कर लक्ष्मण जब लौटकर उनका सन्देश राम को देते हैं तो—

लक्ष्मण से सीता का सन्देश सुनकर राम चुपचाप वैसे ही आँसू गिराने लगे जैसे पौष मास में चन्द्रमा तुषार बिन्दु बरसाता है। लोक निन्दा के भय से राम ने सीता को घर से निर्वासित किया था हृदय से नहीं।[1]

कालिदास के राम का यह मौन अश्रु किसी भी सहृदय के हृदय को आन्दोलित करने को पर्याप्त है। व्यथा की मौन-सहनशीलता की मुखरता पहुँच ही कहाँ सकती है?

सीता के निर्वासन की मार्मिक व्यथा ही भवभूति के 'उत्तररामचरित' का विषय बना है। सीता को निर्वासित किए कुछ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। शम्बूक वध के प्रसंग में राम जनस्थान में आते हैं। यहाँ भवभूति राम और सीता को एक स्थान पर एक साथ उपस्थित करते हैं। भगवती भागीरथी के वरदान से सीता अदृश्य हैं। जनस्थान के चिर परिचित वातावरण में राम की पूर्वस्मृतियाँ सजीव हो उठती हैं—

इन परिचित वन की पक्षियों और मृगों को देखकर जिनका मंदाकिनी निर्मल जल, दर्भांकुर तृण और हरित तृणों से स्वयं अपने हाथों से लालन करती थीं आज मेरे

[1] बभूव रामः सहसा सबाष्पस्तुषारवर्षीव सहस्यचन्द्रः।
कौलीनभीतेन गृहान्निरस्ता न तेन वैदेहसुता मनस्तः॥

—रघुवंश, चतुर्दश सर्ग, छन्द ८४

य की व्यथा का उद्दाम प्रवाह प्रवाहित हो उठा है जो पत्थरों को वेधने में भी समर्थ है।[1]

राम की व्यथा का और भी वर्णन के लिए जनस्थान की वनदेवी वासन्ती ने उपालम्भ दिया—

"तुम मेरी जीवन हो, मेरा द्वितीय हृदय तुम हो, मेरे नेत्रों के लिए चन्द्र की ज्योत्स्ना व देह के लिए अमृत हो।"

इन मधुर वचनों से उस भोली भाली को बहकाकर ... अच्छा और कहने से क्या (अर्थात् तुमने उसके प्रति ऐसा दुर्व्यवहार किया है।)[2]

वासन्ती की कटुता राम के प्रति बढ़ती ही गई

"ओ नृशंस! यश तुम्हें बहुत प्रिय है किन्तु इससे अधिक अयश क्या होगा? क्या तुमने कभी यह सोचा कि निर्जन वन में एकाकी सीता का क्या हाल हुआ होगा?"[3]

हताश, निराश राम के पास इसका उत्तर ही क्या था किन्तु अभिन्न मित्र वासन्ती के मुख से हृदय की आशंका व्यक्त न होती, यह असम्भव था। राम ने लज्जित सा होकर उत्तर दिया

"सखी इसमें सोचने का अवकाश ही कहाँ है! चन्द्रकिरणों से निर्मित उसका मृदुल शरीर अवश्य ही हिंस्र पशुओं का ग्रास बना होगा और वह एक वर्षीय मृग शावक की भाँति भयभीत नेत्रों से विस्मित सी देखती ही रह गई होगी।"[4]

---

१ करकमलवितीर्णैरम्बुनीवारशष्पै
स्तरुशकुनिकुरङ्गान् मैथिली यानपुष्यत्
भवति मम विकारस्तेषु दृष्टेषु कोऽपि
द्रव इव हृदयस्य प्रस्तरोद्भेदयोग्य ॥
—उत्तररामचरित, तृतीय अंक, श्लोक २५

२ त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे।
इत्यादिभि प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
तामेव—शान्तमथवा किमिहोत्तरेण ॥ —वही, तृतीय अंक, श्लोक २६

३ अयि कठोर यश किल ते प्रियं
किमयशो ननु घोरमत परम्।
किमभवद्विपिने हरिणीदृशः
कथय नाथ कथं बत मन्यसे ॥ —वही, तृतीय अंक, श्लोक २७

४ सखि किमत्र मन्तव्यम्॥
त्रस्तैकहायनकुरङ्गविलोलदृष्टे—
स्तस्या परिस्फुरितगर्भभरालसायाः।
ज्योत्स्नामयीव मृदुबालमृणालकल्पा
क्रव्याद्भिरङ्गलतिका नियतं विलुप्ता ॥ —वही, तृतीय अंक, श्लोक २८

राम की आशंका से सीता व्यथित हो उठी। एकबारगी ही वह चीत्कार कर उठी— प्राय मैं जीवित हूँ। किन्तु उनके वचन और दर्शन दोनों ही राम के लिए दुर्लभ थे, राम का नाम कहना गया वह मूर्छित हो गए सीता से न रहा गया, उन्होंने स्पर्श से उन्हें चेतना प्रदान की, किन्तु व्यक्त सीता स्वयं का पति के सम्मुख व्यक्त करे यह उनके लिए वर्जित था। राम इस स्पर्शानुभव को अपना उन्माद समझने रहे। उनका दृढ़ विश्वास था कि सीता इस लोक में नहीं है। इसीलिए राम का विलाप प्रिय के अनिष्ट में उत्पन्न शोक था, अनन्त करुणरस का परिचायक है।

निर्वासन के शाप के कारण राम सीता के लिए यद्यपि अलभ्य थे, किन्तु अपनी और प्रिय सीता की उपस्थिति में मिलन की आशा उनके मन में न रही होगी यह असम्भव है। निर्वासन राजा का कर्तव्य विधि की विडम्बना अथवा दैवी प्रकोप ही था जिसके कारण मिलन की अवधि अनिश्चित हो गई थी। सीता के लिए मिलन की आशा बिलकुल लुप्त हो गई होगी यह हम नहीं मानते। अतः सीता के पक्ष में यहाँ भी करुण विप्रलम्भ ही माना जाएगा। राम के दर्शनमात्र से सीता का पत्नीत्व और मातृत्व अनायास ही जाग उठा था। तमसा से उन्होंने कहा था

'भगवती तमसा ! पुत्रों के स्मरण और उनके पिता की यहाँ उपस्थिति से अनायास मुझे ऐसा जान पड़ता है कि मैं भी संसारिणी हूँ।'[1]

अश्वमेध के प्रसंग में राम वाल्मीकि के आश्रम में जाते हैं और गुरुजनों, कुलदेवी भागीरथी अरुन्धती और वाल्मीकि के कहने से सीता को स्वीकार करते हैं। किन्तु यह मिलन राम के लिए आकस्मिक हो था क्षणमात्र पहले तक राम की कल्पना में सीता के जीवित होने की सम्भावना भी न थी।

'कुन्दमाला' का प्रारम्भ सीता के निर्वासन से होता है। दिङ्नाग की सीता अत्यन्त बुद्धिमती है। हिंस्र पशुओं से युक्त उस निर्जन प्रदेश में लक्ष्मण जब राम का संदेश उन्हें सुनाते हैं

'लोकापवाद के भय से मैंने तुम्हारा त्याग किया है भावदोष से नहीं (प्रेम की कमी के कारण नहीं) तो सीता का सारा क्षोभ दूर हो जाता है। वह लक्ष्मण से कहती भी है— इस सन्देश से राम ने मेरा सारा कष्ट दूर कर दिया है।'[2]

---

१ [illegible] उत्पमिदपत्य [illegible] न पितुर्यो [illegible] [illegible] इह मनुष्या। —उत्तररामचरित, तृतीय अंक

२ [illegible]
[illegible] ॥ ७॥
[illegible]
[illegible] ॥१०॥
[illegible] मयि [illegible] ।
—कुन्दमाला प्रथम अंक, सम्पादक जयचन्द और रामसन।

/ ई /

सीता की संयत गम्भीर व्यथा इन शब्दों में व्यक्त होती है—

"मेरी ओर से राम से कह देना कि उस तपोवनवासिनी ने यह प्रार्थना की है—मैं सब दोषों से पूर्ण हूँ, तब भी अतीत के परिचय से, वह बेचारी अनाथ है अथवा केवल यह कि सीता है (उसका अस्तित्व भी जीवन में है) मुझे याद कर लेना।"[1]

अश्वमेध यज्ञ के प्रसंग में राम 'दण्डकारण्य' जाते हैं, पूर्वस्मृतियाँ जाग उठती हैं। लक्ष्मण से वह कहते हैं—'यही वह स्थान है जहाँ सीता के सुकुमार किसलय-सदृश कर को पकड़े हुए हम घूमते थे, अत्यंत सुखद स्मृतियाँ ही हमारे वार्तालाप का विषय थीं। सीता के चरण-पीडन से तट की रेत आर्द्र हो जाती थी।'[2]

सरोवर के तटवर्ती प्रदेश में सीता भी वहीं पास ही उपस्थित थी किन्तु वाल्मीकि के वरदान से अदृश्य थीं। अनेक वर्षों के उपरान्त राम के पुनर्दर्शन से सीता के हृदय की भावबहुलता इन शब्दों में प्रकट हुई है—

"प्रिय का दर्शन मन में प्रसन्नता भर रहा है, इन्होंने मुझे निर्वासित किया है अतः क्रोध है, कृशगात हो गए हैं इसका दुःख है। विरह के कठिन नियमों का पालन कर रहे हैं इसलिए मन में गर्व है, चिर परिचित हैं इससे अनुराग जाग रहा है। पति हैं अतः आदर भाव है। लव-कुश के पिता को देखकर आज ऐसा लगता है कि मैं भी गृहिणी हूँ। इन्होंने मुझे दोषी ठहराया है इस कारण मैं लज्जा से मरी जा रही हूँ।"[3]

राम को विलाप करते देखकर सीता स्वयं को रोक नहीं पा रही किन्तु क्या करे स्वयं उनके शब्दों में—

"चक्रवाकी की भाँति रात्रि के आगमन से प्रिय के पास रहने पर भी मैं दूर हूँ।"[4]
निर्वास उस प्रणयमानिनी के जीवन का अभिशाप बन गया था।

---

१ एकं वि मम वअणादो विण्णविदव्वो—सा तपोवणवासिणी सव्वहा सामदोसअणिहिदस्स अणलिअ विण्णवेदि जइ अहं णिग्गुणा चिरपरिचिदत्तिवा, अणाहेत्ति वा सादत्ति वा सुमरणमेत्तएण अणुग्गहिदव्वा।—इति।

—कुन्दमाला, प्रथम अंक

२ किसलय सुकुमारं पाणिमालम्ब्य देव्या
विविधरतिसखीभिः सङ्कथाभिर्दिनान्तं
चरण गमन वेगाम् अरस्य स्मरामि
सकलपयसि तटिन्याः सैकते चङ्क्रमस्य॥ —कुन्दमाला, वही, तृतीय अंक, श्लोक १२

३ अहो णिग्गोत्ति परितोसो, णिरण्णवामोत्ति मण्णु, परिरवामोत्ति ट वेओ, णिरणुक्कोसात्ति अहिमाणो, चिरपरिचिदोत्ति अणुराओ, दमणीओत्ति उक्कण्ठा, सामित्ति बहुमाणो, कुसलवाणं तादोत्ति कुडुम्बिणी संभावो, अवराह पविसिदत्ति लज्जा। ण जाणामि अअउत्तदंसणेण कादिम अवत्थं अणुभवामित्ति।

—वही, तृतीय अंक

४ दिअसावसाणा विणिवारिदपिअसमाअमा विअ चक्कवाइ इन्दो एव्व पवासं वसामित्ति।

इस ही एक और अवसर पर राम को मूर्च्छित होते देख वह अपने को न रोक सकी और अपने आंचल से वायु करने लगी। सीता के अदृश्य होने पर भी राम उनके आंचल का खण्ड लेते हैं, सरोवर जल में उनकी प्रतिच्छाया देखकर मिलन की आशा भी बंधने लगती है, यहीं से 'कुन्दमाला' में राम के पक्ष में भी करुण विप्रलम्भ का प्रारम्भ हो जाता है। 'कुन्दमाला' मुख्यतः प्रणयमान में परिपुष्ट करुण विप्रलम्भ ही है। लोकापवाद रूपी पाप की शुद्धि होने पर उसी जन्म में राम-सीता का मिलन होता है।

'प्रवास' नामक प्रथा यद्यपि कवि ने किया है किन्तु उसका अर्थ वहां निर्वास है प्रवास विप्रलम्भ नहीं क्योंकि अतीत के वनवास को भी उन्होंने 'वनप्रवास' ही कहा है।

विरह के इन चार विभागों के अतिरिक्त एक पांचवां विभेद एकपक्षीय प्रेम की स्थिति में दृष्टिगोचर होता है। इस स्थिति में प्रेमी अपने को यह धोखा देने का प्रयत्न करता है कि जब वह प्रिय से प्रेम करता है तो फिर प्रतिदान न मिलने पर भी उसे दुःख ही क्या है—

'उसका सौन्दर्य अब तक मेरी आंखों में है, स्पर्श मेरे शरीर में, शब्द मेरे कानों में, हृदय हृदय पर स्थित है फिर भाग्य ने मुझसे छीना ही क्या है?'"[1]

कल्पना का यही आदर्श 'हृदय हृदय पर स्थित है' एकपक्षीय प्रेम का मूल आधार है किन्तु यथार्थ की वास्तविकता और उस वास्तविकता में 'अभाव' का अस्तित्व विरही को कचोटता रहता है। कल्पना यथार्थ पर आवरण भले ही डाले रहे, उसे मिटा नहीं सकती। तभी तो यह अपने को सान्त्वना देने की, झूठा भुलावा देने की बात है— भाग्य ने मुझसे छीना ही क्या है?

अपभ्रंश काव्य में विरह भावना

संस्कृत प्राकृत के पश्चात् अपभ्रंश का बहुत साहित्य सम्पूर्ण उत्तर भारत में बिखरा हुआ मिलता है। अपभ्रंश को विद्वान हिन्दी का पूर्व रूप मानते हैं। उसमें अनेक प्रबन्ध और स्फुट काव्य ग्रन्थ उपलब्ध हैं। अधिकांश ग्रन्थों की रूपरेखा और लक्ष्य धार्मिक होने पर भी उनमें अनायास जीवन के विविध चित्रों का समावेश हो गया है। फलतः शृंगार और उसके अन्तर्गत विरह की भी अनेक स्थितियां आई हैं। यहाँ अपभ्रंश काव्य के कुछ ग्रन्थों में विप्रलम्भ की कुछ स्थितियों का अध्ययन करने का प्रयत्न किया गया है। विप्रलम्भ के विविध अंगों के अनुसार उस काव्य का संक्षिप्त अध्ययन करना ही यहां मन्तव्य है।

---

[1] [illegible]

[illegible]

—कर्पूरमंजरी, द्वितीय जवनिका छंद ३२, काव्यमाला संस्करण।

वराग

दिव्यदृष्टि धाहिल नामक कवि का लिखा हुआ पउमसिरि-चरित काव्यग्रन्थ धर्म के आवरण में सुन्दर प्रेमकाव्य है। इसमें कवि ने पद्मश्री के दो जीवनों की कथा कही है।

अपने पहले जन्म में पद्मश्री वसन्तपुर के नागरिक धनसेन नामक एक धनिक वैश्य की पुत्री धनश्री थी। वह भाइयों के पास रहती थी और तीव्र-व्रतादि किया करती थी। अपने अनावश्यक हस्तक्षेप से भाई भाभियों के बीच में भेदभाव उत्पन्न कर देती थी। पूर्वजन्म की धनश्री ही दूसरे जन्म में हस्तिनापुर के राजा इभ्यपतिनन्द की पुत्री पद्मश्री हुई और उसके पूर्वजन्म का भाई धनदत्त अयोध्या के राजा अशोकदत्त का पुत्र समुद्रदत्त।

एक दिन वसन्त ऋतु में अपूर्वश्री नामक उद्यान में इन दोनों का मिलन हुआ और दोनों एक-दूसरे के प्रेम में आबद्ध हो गए। यहाँ कवि ने पद्मश्री के पूर्वानुराग और हृदय की विह्वलता का सुन्दर वर्णन किया है। पूर्वानुराग में प्रकृति का रूप उद्दीपन है। वर्णन में कोई विशेषता नहीं, कोयल का कूकना और भँवरों का गूँजना आदि रूढ़िगत उपमान ही हैं।

पुष्पदन्त ने णायकुमार-चरिउ नामक धार्मिक खण्डकाव्य में चित्रदर्शन से प्रेमोत्पत्ति का निर्देश किया है।

सुदंसण चरिउ (सुदर्शन चरित) में पूर्वराग के अन्तर्गत काम के प्रति उपालम्भ का वर्णन मिलता है। सुदर्शन की भावी पत्नी मनोरमा काम को उपालम्भ देती है

"ओ दुष्ट काम! रुद्र ने तुम्हारी देह जला दी थी तो उसका प्रतिशोध महिला पर (अबला पर) क्या लेते हो, उस पर क्या क्रोध करते हो? मूर्ख! तुमने पाँचों बाण तो मुझ पर छोड़ दिए अन्य स्त्रियों को किससे बिद्ध करोगे।"[1]

मान विप्रलम्भ

एक मानिनी नायिका की दशा तथा पति द्वारा उसकी मनुहार का वर्णन पुष्पदन्त ने बड़ी सफलता से किया है—

'वधू नीचा मुख किए बैठी थी तो पति ने कहा कि तुम्हारा मुख मलिन क्यों है? जैसे बादल में एक बिजली ही शोभा पाती है वन के पक्षियों में एक कोकिला शोभित होती है उसी प्रकार मेरी शोभा तुमसे है। तुम्हारे ताप से मेरा प्रेम और भी घना होता है। पति के इस प्रकार मनुहार करने पर वह विद्युत् के वेग जैसे श्वास लेने लगी। चञ्चल नेत्रों से हरिणी को भी तिरस्कृत करने वाली वह नायिका पति को आकर्षित

---

१ पुणु पुणु सा पभणइ नमिय ताव,
रे रे मयरद्धय खल सहाव।
रुद्देण आसि तव दड्ढ देहु, भण महिलहिं उप्परि कोण कोहु।
पचवि महु लाइवि हियए बाण अण्णाए क्य हणि हसि न्याण।
—अपभ्रंश साहित्य, डा० हरिवंश कोछड़, १९५२, पृष्ठ १५३

करने लगी।"[1]

णायकुमार चरिउ से ईर्ष्या भाव का उदाहरण लिया जा सकता है। कनकपुर का राजा जयंधर अपनी बड़ी रानी विशालनेत्रा और छोटी रानी पृथ्वीदेवी के साथ जब क्रीडोद्यान में जाता है तब छोटी रानी अपनी सपत्नी के वैभव से आश्चर्य चकित हो जाती है और अपनी सखी से कहती है — हे सखी! जिन नयनों ने दुर्जनों को प्राप्त सुखों और निज सज्जनों पर पतित दुखों को निहारा, वे प्रिय नेत्र फूट क्यों न गए। ईर्ष्या से पृथ्वीदेवी महल में न जाकर भगवान जिन के मन्दिर में जाती है।

प्रेम में अहंभाव उत्पन्न हो जाने पर मान से मिलते जुलते 'अमर्ष भाव' की व्यंजना धाहिल के पउमसिरि चरिउ (पद्मश्री चरित्र) में मिलती है। इस प्रसंग में धनश्री की बड़ी भाभी यशोमती का विरह वर्णन है—

यशोमती प्रिय के निष्ठुर वचनों में वनाग्नि से दग्ध वनलता के समान हो गई। अत्यन्त गुरु दुःख के भार से वह ऐसी शिथिल हो गई मानो किसी ने सिर पर मुग्दर से प्रहार किया हो। वीर पुरुष द्वारा रणक्षेत्र में भगाये गए कायर के समान उसका सौभाग्य सूर्य लुप्त हो गया। नदी का वेग जैसे तटवर्ती पलाश के वृक्ष को उन्मूलित कर देता है वैसे ही (प्रिय के कठोर वचनों से) उसका सुरताभिलाष उन्मूलित हो गई। नवयौवन के कामाग्नि प्रसार के सदृश सताप उसके हृदय में प्रसूत हो गया। रोती हुई यशोमती के उज्ज्वल आँसू मानो नहीं आँसू हो थे। सिंह की दृष्टि में पड़ी व्याकुल हरिणी सी संतप्त यशोमती दीर्घ निःश्वास लेने लगी।[2]

---

[1] हद्दगामुह बहु बाहिभ्भंतिया। पर दुह तुहु मतिनानतियो।
घन मोह पक्क विन्नुनइ। बनमाह पक्क कोडइ।
[illegible] माही ने पक्क जुह [illegible] ।
तव बन्ने रायधिनाऊ। आयउ तह रम्य प्रेम थनउ।
करिय म नायउ रमणु बहा। ताहि रत मडि कोइकर रेवमा॥
तन नहन पुगत निर्झिन हरिना। रतिरता मन्नवना नहणा॥
—(रा [illegible] काव्यधारा राहुल सांकृत्यायन कुपिता नायिका)
आदि पुराण, पृष्ठ ५६२

[2] अमरइ तिय वर्णिउ [illegible]
किन्नाइन बहु सव निह नइणु।
[illegible] नम्य नवइ भरणु
[illegible] नाय नावइ नाम्मयणु।
[illegible] मज्जक बज तन
पइन रमण [illegible] नह नम।
[illegible] इह बह [illegible]

कवि के इस विरह वर्णन में अतिरंजना नहीं है, हृदय की विक्षुब्धता ही है। नदी के वेग से पलाश के उन्मूलित हो जाने के सदृश पति के कठोर वचनों से सुरताभिलाष (भौतिक और आत्मिक अस्तित्वों के मिलन) के नष्ट होने की उपमा कवि की अत्यन्त मौलिक उद्भावना है। यशोमती की शारीरिक अवस्था के चित्रण में भी स्थूलता नहीं है, उसकी मानसिक स्थिति की अधिक मार्मिक व्यंजना करने की क्षमता ही है।

'आरक्तनयन, हास्यरहित निस्तेज मुख और विलुप्त कान्ति वाली यशोमती की रात्रि निःश्वास छोड़ते और करुण क्रन्दन करते हुए जैसे तैसे व्यतीत हुई। आभरण रहित यशोमती उस कुन्दशाखा के समान दिखाई देती थी जिस पर से सब पुष्प बीन लिए गए हों।'[2]

प्रवास विप्रलम्भ

प्रवास विप्रलम्भ का एक उदाहरण अशोक वाटिका में स्थित विरह विधुरा सीता के विरह-वर्णन में स्वयंभू की रामायण में प्राप्त है—

"राम के वियोग में दुःखी, आँखों से अश्रु बहाती हुई, मुक्त केश और कृशगात सीता के मुख का चुम्बन करते हुए भ्रमर, पुष्पों का तिरस्कार कर रहे थे। वह ताड़न करके उन्हें हटाती नहीं थी।"[3]

हनुमान ने सीता को इसी ध्यानावस्थित मुद्रा में देखा और निश्चित किया कि 'जो पमिउ राहवचन्दण सो घत्तिउ अंगुत्थलउ' अर्थात् राघवचन्द्र ने जो मुद्रिका भेजी है उसे मैं अब (स्वयं को छिपाकर) फेंक दूँगा। राम की मुद्रिका को पाकर सीता की जो दशा हुई वह भी अत्यन्त हृदय स्पर्शी है

रोवन्तिए निवन्धिह उज्जनाइ
अनुवइ नाइ मोत्ताहलाइं।
नव कुन्द हरिथि जिह छिह्न सोह
बरिय न सुयइ नामाम दाह॥ १/१३॥
—अपभ्रंश साहित्य, डा० हरिवंश कोछड़, पृष्ठ १७६

२ आरत्त नयण विच्छाय वयण
उम्मुक्क हास पम्हट्ठ साम।
दरमलिय कंति, कलुण रुयंति
उविग्ग दाण, नि स नयन खाम।
आहरण विवज्जिय किमय हार,
उच्चिणिय कुसुम न कुन्द साह॥ —वही म० पु० १/१४, पृष्ठ ७४ ७६

३ राम विओएँ दुम्मणिया, अंसु जलोल्लिय लोयणिया
मोक्कल केस कवोलु भुआ, छिद्द विमट्टन जणय सुआ
जाणइ नयण कमलु अवहणिउ, भुह ण देंति पुप्फुय पतिउ।
—हिन्दी काव्यधारा, राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ ६२

'सविगट्ट सीया एवि विह । वियसिय सरिया होइ जिह ॥
ण मह लद्धण मसि जोण्हा इव । तित्ति विरहिय गिम्ह तण्हा इव ॥'[१]

अर्थात् 'सीता की स्थिति एक विकसित सरिता के सदृश हो गई। वह मणलाछन-शांति ज्योत्स्ना के सदृश और तृप्ति के लिए व्याकुल ग्रीष्म ऋतु की तृष्णा की भांति हो गई।' विकसित सरिता कहकर सीता के हृदय में न समा सकने वाले भावावेश, मृगलाछन शांति ज्योत्स्ना कहकर उनके हृदय की अपूर्व शान्ति की व्यंजना कवि ने की है। यह शान्ति और हर्ष प्रिय का स्मृति चिह्न पाने से उद्भूत हुआ था। ग्रीष्म-तृष्णा में विरह की व्याकुल प्यास की समर्थ व्यंजना है।

पुष्पदंत के विरह वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक हैं मस्तिष्क को चमत्कृत करने वाली ऊहा उनमें नहीं है। एक वियोगिनी का चित्र पुष्पदंत इस प्रकार खींचते हैं

'वियोगिनी को मलयानिल प्रलयानल के समान, भूषण सर्प के बन्धन के समान थे। स्नान पान स्नान में सुरुचि अच्छा न लगता था और वसन तो व्यसन ही थे। चन्दन विरह की अग्नि के लिए इंधन के समान था।'[२]

महापुरिस गुणालंकार में भी मिलन के समय की अनुकूल वस्तुएं कैसे विरह में प्रतिकूल लगने लगती हैं इसका सुन्दर दिग्दर्शन है। राम की विरह दशा के विषय में कवि कहता है—

'सीता के वियोग में राम को जल विष के समान और चन्दन अग्नि के समान दिखाई देता है।'[३]

मानव भावनाओं और जीवन की परिस्थितियों के साथ प्रकृति के जीवन के साम्य और रूप परिवर्तन को भी कवि ने देखा है। सीताहरण के प्रसंग में पुष्पदन्त कहते हैं—

'माता राम और लक्ष्मण के आनन्द के अस्त होने के सदृश ही सूर्य भी अस्त हो गया। नभश्री अपने पति दिनकर के विलीन होने पर विधवा हो गई। उसी का वलयखंड बाल चन्द्र के रूप में और टूटे हुए हार के मोती तारों के रूप में बिखर गए।'[४]

एक स्थान पर संध्या वर्णन में पुष्पदन्त कहते हैं—

१ हि० काव्यधारा, पृष्ठ २६८
२ [illegible]
[illegible]
[illegible] विरह [illegible]
[illegible] ॥
—अपभ्रंश साहित्य डा० हरिवंश कोछड़, [illegible]
३ म० पु० [illegible], पृष्ठ ५
४ [illegible]

"सन्ध्या के आगमन पर रात्रि में कमल मुकुलित हो जाते हैं, साथ साथ विरहिणी का मुख भी कुम्हला जाता है। दिनकर (प्रभातकाल में) भुवन का अपनी ताम्र किरणों से पूर्ण करके जैसे चक्रवाकुल और पंकजों को जीवन देता है वैसे ही विरही-जन को भी।"[1]

अनेक कार्यों में व्यस्त रहने के कारण विरही का दिन तो सरलता से व्यतीत हो जाता है, रात्रि नहीं बीत पाती, यही इसका तात्पर्य है।

पउमसिरि चरिउ में समुद्रदत्त और पद्मश्री के वियोग वर्णन 'प्रवास' के अन्तर्गत मिलते हैं। इन दोनों को जब अनेक वर्ष एक साथ रहते बीत गए थे तो 'वराहदत्त' नामक लेखवाहक ने समुद्रदत्त की माता की व्याकुलता की सूचना उसको दी और वह साकेत जाने को तयार हुआ। यही प्रवास की योजना है।

पथिक द्वारा संदेश कहलवाने की प्रथा भारतीय काव्य परम्परा में बहुत पुरानी है। संस्कृत के स्फुट पदों में पथिक से संदेश कहती हुई अनेक विरहिणियों की उक्तियाँ मिलती हैं। इसी पद्धति पर अब्दुल रहमान ने 'संदेशरासक' लिखा है।

'संदेशरासक' के प्रारम्भ में कवि एक प्रोषितपतिका नायिका का चित्र खींचता है—

"भरे हुए वक्षस्थल और तनु कटि प्रदेश से समृद्ध विजयनगर की एक श्रेष्ठ युवती नमित नेत्रों से अनवरत अश्रु बहाती हुई मानस में प्रिय का दर्शन कर रही थी। विरह की अग्नि से शरीर श्यामल हो गया था—जैसे चन्द्रमा को राहु ने ग्रस लिया हो। दुख से परितप्त होकर वह निश्वास ले रही थी, अंग तड़प रहे थे।'

तभी उसने एक पथिक को देखा और उसके हाथ प्रिय के पास संदेश भेजने को उत्कण्ठित हो उठी। अव्यवस्थित मानसिक दशा के कारण उसके समीप पहुँचने की जितनी जल्दी करती थी उतनी ही देर लगती जाती थी। पथिक के पास शीघ्र पहुँचने की चेष्टा में कृशांगी की मेखला गिर गई उसे उठाया तो हार टूट गया, टूटे हुए हार के मोती चुनने लगी तो पायल से उलझकर गिर पड़ी। पथिक संदेश के बिना ही न चला जाए इस आशंका से फिर भी चलने का साहस किया। भावावेश से कंचुकी फट गई, कमलकरों से अपने अधनग्न वक्षस्थल को ढकती हुई-सी भी वह संदेश कहने के मोह को न त्याग सकी। करुणार्द्र नेत्रों और आँसुओं से गदगद कण्ठ से पुकार उठी—पथिक ठहरो, तनिक मेरी बात भी सुनते जाओ।

उस नैसर्गिक सौंदर्य की प्रतिमा की यह दशा देखकर पथिक ठिठक गया।

---

१ जिहि रयणिहि कमलाइँ मउलियाइँ
तिह विरहिणि वयणाइँ मउलियाइ
तो उक्कउन्तर पक्खह तव किरण पूरिय भुवणोयरु
विरहियह मरु थारो वर्णहँ नाविउ देंतु समुग्गउ दिवायरु।

—हिन्दी काव्यधारा, राहुल साङ्कृत्यायन, पृष्ठ १८२

विरहिणी ने पथिक से पूछा— तुम कहाँ के रहने वाले हो और कहा जा रहे हो।' उस जब अपना गन्तव्य स्तम्भतीर्थ बताया तो यह दीर्घ नि श्वास लेकर अँगुलियाँ चटका लगी, ऋभा म पड कर के वृक्ष की तरह कापने लगी, मुहम एक शब्द भी न निकला, ध या बांध टूट गया और फूट फूटकर रोने लगी। [1] उच्छ्वास, वेपथु और अश्रु मे युक्त उद्वेग दशा का यह चित्रण अत्यन्त मार्मिक है।

पथिक द्वारा धारज बधाय जाने पर उसने प्रिय के प्रति यह सन्देश कहा— 'तुम्हारे विरह म मरे प्राण इसलिए क्षीण नहा हो जाते क्योकि हे नाथ! वे तुम मिलन की आशा म जीवित हैं।

काम क प्रहार मेरे शरीर का ही क्षत विक्षत कर सके है हृदय को नहा, क्योंकि हृदय म तुम स्थित हा।' [2]

विरह से सघष करने की शक्ति मुझ म अब नही रही इसीसे रोती हू। पर यदि ना जाए तो गोपी ता कवल रो ही सकती है गोपाल ही उन्ह वापस ला सकता है (सा ध्वनि प्रतीत क गुण तुम्हारे बिना मुझे प्राप्त नहा हो सकते) सन्देश बहुत लम्बा है वह नहा जा सकता। उस प्रिय से कवल इतना कह दना कि हाथ का कगन अब दोना हाथ म एक साथ पहना जा सकता है और छोटी अगुली की मुद्रिका हाथ म आ जाती है।' [3]

---

1 [illegible] कवि [illegible],
[illegible]
[illegible] दाहर
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ।
—सन्देश रासक द्वितीय प्रक्रम पद, २४, २५, सिंघी जैन ग्रन्थ मा

2 [illegible] ।
[illegible] ॥ —वही द्वितीय प्रक्रम पद ७२

3 [illegible] निरक्खिय ।
[illegible] ॥ —वही, द्वितीय प्रक्रम, पद ७८

4 [illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] न आइ।
[illegible] ॥ —वही, पद ७९, ८०, ८१

विरह के विषय म अब्दुल रहमान ने दो एक स्थानो पर बहुत सुदर उक्तियाँ कही हैं—

"विरहाग्नि का जन्म अवश्य ही वडवाग्नि स हुआ होगा, जितना इसे अश्रुओ स सीचा जाता है उतनी ही यह धधकती है। विरह निश्वास झेलती हुई विरहिणी अवश्य समाप्त हो जाती यदि आसू न होत।"[1]

'तुम्हारे विदेश गमन स मुझे लाभ ही हुआ, सम्भवत अमरत्व का वरदान प्राप्त हो गया, क्योकि विरह का एक दिवस एक वष के सदृश बीतता है।"[2]

पथिक न विरहिणी से पूछा कि कब स वह एसे विरह म तडप रही है। उच्छवास लेकर उसन उत्तर दिया, "जब स वह निर्मोही मुझे छोडकर चला गया है।'

इसके पश्चात वह छ ऋतुओ के सौदय, उनके हास विलास तथा अपने ऊपर पडते हुए उनके प्रभावो का वणन करती है। ग्रीष्म म प्रारम्भ होकर यह ऋतु वणन क्रम से वर्षा, शरद, हमन्त, शिशिर म होता हुआ वसन्त म समाप्त होता है। शरद का वणन करते हुए वह कहती है—

"सौभाग्यवती स्त्रिया क्रीडा करती है और मेरी रात्रि उद्विग्नता म ही व्यतीत होती है। घर घर म गीत गाए जा रहे हैं, समस्त कष्ट भाग्य ने मेरे बाटे म ही दे दिया है।[3]

'हे पथिक! क्या उस देश म रात्रि का निमल ज्योत्स्ना का विकास नहा होता? क्या अरविन्द के पुष्पो का मवन करते हुए हस कलरव नही करते? क्या प्राकृत (नर्सगिक) काव्य का स्रोत (किसी भावुक हृदय स) फूट नहा पडता?, क्या कोकिल पचम स्वर मे राग नही अलापती? प्रिय नीरस है जो शरद के इस मोहक वातावरण म घर का स्मरण

---

१ पा य पिय वग्वानलहु विरहग्गिहि उप्पत्ति।
जं सित्तउ थोरंसुयहि, तलइ पलित्ता झत्ति॥
मोसि न्नन विवडन सास दाउम्हणहि पमय न्दा।
निवडंत बाहभर लोयणाइ धूमन्ण सिच्चंति॥
—स देश रासक, द्वितीय प्रक्रम, पद ८६ ९०

२ पत्तु विरहग्गि पवासि तुअ
पाइउ अग्गिमिहि जाइ पियइ भणु।
चिरू जाव तउ लद्धु वरू
हुअउ सवच्छरतुल्लउ इक्कु दिणु॥ —वही पद ११४

३ दम किवि कलि करहि सपुन्निय,
अइ पुणु रयणि गमिय उा वनिय।
अच्छइ घर घरि गाउ रुन्नउ
मणु इकट्ठु कट्ठु मह दिनउ॥ —वही, ततीय प्रक्रम, पद १ ०

नहीं करता, यह मैंने समझ लिया है।[1]

सुखी संसार ऋतुओं के सौन्दर्य की छाया में जब प्रसन्नतापूर्वक अपनी जीवनचर्या में व्यस्त रहता है तब विरही अतृप्ति के अनुशासन में एकाकी घुट घुटकर रह जाता है, उसके करुण उच्छ्वासों को इतने बड़े विश्व में सुनने वाला कोई नहीं होता यही इस षट्ऋतु वर्णन का सार है। प्रकृति का रूप उद्दीपन ही है।

अब्दुर्रहमान ने अपनी इस विरहिणी को और अधिक रोने का अवसर नहीं दिया। पथिक के जाने के पश्चात् जब नायिका ने दक्षिण की ओर मुँह फेरा तो सम्मुख ही प्रिय को आते हुए देखा।

सन्देश के लिए शुक को दूत रूप में भेजने की पद्धति का उल्लेख 'वसातय पवन' के वर्णन में पुष्पदंत ने किया है—

जहाँ पके धान के कणों को शुक खाते हैं और कृपक कन्याओं के लिए दूतत्व का काम करते हैं।

जहिं पिक्क कलम कणिसइ चरंति सुय दूयत्तणु हलिणिहु करंति।[2]

अपभ्रंश के मुक्तकों में भी प्रवास विप्रलम्भ का चित्रण मिलता है। एक प्रोषित पतिका नायिका की उक्ति है—

'प्रिय ने प्रवास में जाते हुए जितने दिन बताए थे, उन्हें गिनते गिनते नख से मेरी अँगुलियाँ जीर्ण हो गई।'[3]

एक प्रवासी नायक मेघ को सम्बोधित करके कहता है—

यदि मेरी प्रियतमा स्नेही होगी तो मेरे वियोग में अब तक मर गई होगी। यदि जीवित है तो अवश्य ही निस्नेह है। हे मेघ दोनों प्रकार से वह सुन्दरी मैंने खो दी। अब तुम्हारे गरजने से क्या?

---

[1] [illegible]
[illegible] । [illegible]
[illegible]
[illegible] ।
[illegible]
[illegible] ।
[illegible]
[illegible] ॥
—सन्देश रासक तृतीय प्रक्रम, पद १८३

[2] अपभ्रंश साहित्य डा० हरिवंश कोछड़

[3] [illegible]
[illegible] ॥

[4] [illegible] —अपभ्रंश साहित्य, डा० हरिवंश कोछड़
[illegible] ॥ —वही

एक वियोगिनी की यह अभिलाषा कितनी प्राणवान है—

'प्रिय यदि मिल जाएँ ना मैं अपूर्व कौतुक करूँ, जस पानी मिट्टी के कटोरे में समा जाता है, मैं भी सर्वांग रूप से उसमें वैसे ही समा जाऊँ।'[1]

करुण विप्रलम्भ

करुण विप्रलम्भ के उदाहरण के रूप में स्वयंभू रामायण का मन्दोदरी विलाप लिया जा सकता है। पति के शव के सम्मुख विलाप करती हुई मन्दोदरी अपने अतीत के सुखों का स्मरण करती है—

बार बार गान का आलाप करता हुआ करुण क्रन्दन मन्दोदरी करने लगी। नन्दन वन का मनोहर वातावरण तथा पारिजात तरु के पुष्प मुझे याद आते हैं। तुम्हारा मेरे शरीर के अंग में डूब जाना (नाभि के सौन्दर्य और स्तन मर्दन आदि में) तथा बार-बार आलिंगन करना मुझे याद आ रहा है।[2]

यह ठीक है कि पति के अभाव में उसके साथ व्यतीत हुई प्रणय क्रीडाओं का भी अभाव हो जाएगा किन्तु शोक का प्रचण्ड सागर जब उमड़ रहा हो, पति का शव सम्मुख पड़ा हो तब तो प्रणय की ये अनुभूतियाँ अचेतन के गहनतम गह्वर में पड़ जानी चाहिए। उस समय उन बातों को याद करके रोना हास्यास्पद-सा लगने लगता है। प्रेम की गम्भीरता के अभाव का परिचायक होकर वह कामुकता की ध्वनि ही अधिक देता है।

कुछ आगे चलकर मन्दोदरी की विरह वेदना अवश्य ही मार्मिक हो गई है।

'बार बार रोती हुई मन्दोदरी कहती है, हे भट्टारक उठो! कब तक सोते रहोगे? यदि सोना ही है तब भी पृथ्वी पर इस प्रकार सोना तुम्हें शोभा नहीं देता।'[3]

इस क्षण ऐसा लगने लगता है जैसे मन्दोदरी भूल गई कि उसके पति की मृत्यु हो गई है। लंका का अतुलनीय वैभव का त्याग करके प्रेम मानो उस असह्य हो उठा।

'तिसट्ठि महापुरिस गुणलंकार' में रावण की मृत्यु के अवसर पर मन्दोदरी के विलाप में करुण रस है करुण विप्रलम्भ नहीं—

हे दशानन! तुम्हारे बिना यदि जीवन है तो उसमें दुख ही दुख है। हा!

---

१ जइ नवइ पाव सु पिउ अंकिया कुडइ करीसु
पाणिउ नवइ सर्वांग जिव सव्वाअ पइसीसु॥

—अपभ्रंश साहित्य, डा० हरिवंश कोछड़

२ पुणु वि पुणु वि गयणगण मायरि। करुणाकंदु करइ मंदोयरि
णंदण वणे दिट्ठलि मणोहरि। सुमरमि पारियाय-तरु मंजरि
वुट्टण णाहिहे थण परिवट्टणु। सुमरमि लीला पकय ताडणु॥

—हिन्दी काव्यधारा, राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ १११

३ पुणु वि पुणु वि मंदोयरि जंपइ। उट्ठ भडारा किंतिउ सुप्पइ।
जइ वि णिरारिउ णिद्दएँ सुत्तउ। तो वि ण सोहहि महियले सुत्तउ॥

—वही पृष्ठ १११

नहा करता यह मैंने समझ लिया है।'[1]

सुखी संसार ऋतुओं के सौन्दर्य की छाया में जब प्रसन्नतापूर्वक अपनी जीवनचर्या में व्यस्त रहता है, तब विरही अतृप्ति के अनुशासन में एकाकी घुट घुटकर रह जाता है उसके करुण उच्छ्वासों को इतने बड़े विश्व में सुनने वाला कोई नहीं होता यही इस षटऋतु वर्णन का सार है। प्रकृति का रूप उद्दीपन ही है।

अब्दुलरहमान ने अपनी इस विरहिणी को और अधिक रोने का अवसर नहीं दिया। पथिक के जाने के पश्चात जब नायिका ने दक्षिण की ओर मुँह फेरा तो सम्मुख ही प्रिय को आते हुए देखा।

सन्देश के लिए शुक को दूत रूप में भेजने की पद्धति का उल्लेख 'वर्षा ऋतु के वर्णन में पुष्पदंत ने किया है—

जहाँ पके धान के कणों को शुक खाते हैं और कृषक कन्याओं के लिए दूतत्व का काम करते हैं।

जहिं पिक्क कलम कणिसइ चरंति सुय दूयत्तणु हलिणिहं करंति।[2]

अपभ्रंश के मुक्तकों में भी प्रवास विप्रलम्भ का चित्रण मिलता है। एक प्रोषित पतिका नायिका की उक्ति है—

प्रिय ने प्रवासार्थ जाते हुए जितने दिन बताए थे, उन्हें गिनते गिनते नख से मेरी अँगुलियाँ जीर्ण हो गई।[3]

एक प्रवासी नायक मेघ को सम्बोधित करके कहता है—

यदि मेरी प्रियतमा स्नेही होगी तो मेरे वियोग में अब तक मर गई होगी। यदि जीवित है तो अवश्य ही निस्नेह है। हे मेघ, दोनों प्रकार से वह सुंदरी मैंने खो दी। अब तुम्हारे गरजने में क्या?[4]

---

1 किं तहिं देसि णहु फुरइ जुण्ह णिसि णिम्मलचन्दह
अह कलरउ न कुणंति हंस फलसेवि रविन्दह।
अह पायउ णहु पढइ कोइ सुललिय पुण राइण
अह पंचउ णहु कुणइ कोइ कावालिय भाइण।
महमहइ अहव पच्चूसि णहु
ओससिउ घणु कुसुमभरु।
अह मुणउ पहिय। अणरसिउ पिउ
सरइ समइ जु न सरइ घरु॥

—संदेश रासक, तृतीय प्रक्रम, पद १८३

2 अपभ्रंश साहित्य डा० हरिवंश कोछड़

3 जे महु दिण्णा दिअहडा दइएँ पवसन्तेण
ताण गणन्तिए अंगुलिउ जज्जरिआउ नहेण॥

—अपभ्रंश साहित्य, डा० हरिवंश कोछड़

4 जइ ससणेही तो मुइअ अह जीवइ निन्नेह
बिहिं वि पयारेंहिं गइअ धण किं गज्जहि खल मेह॥ —वही

एक वियोगिनी की यह अभिलाषा कितनी प्राणवान है—

"प्रिय यदि मिल जाएँ तो मैं अपूर्व कौतुक करूँ, जैसे पानी मिट्टी के कटोरे में समा जाता है, मैं भी सर्वांग रूप से उसमें वैसे ही समा जाऊँ।"[1]

करुण विप्रलम्भ

करुण विप्रलम्भ के उदाहरण के रूप में स्वयंभू रामायण का मन्दोदरी विलाप लिया जा सकता है। पति के शव के सम्मुख विलाप करती हुई मन्दोदरी अपने अतीत के सुखों का स्मरण करती है

"बार बार गगन को आक्रान्त करता हुआ करुण क्रन्दन मन्दोदरी करने लगी। नन्दन वन का मनोहर वातावरण तथा पारिजात तरु के पुष्प मुझे याद आते हैं। तुम्हारा मेरे शरीर के भाग में डूब जाना (नाभि के सौन्दर्य और स्तन मर्दन आदि में) तथा बार-बार आलिंगन करना मुझे याद आ रहा है।"[2]

यह ठीक है कि पति के अभाव में उसके साथ व्यतीत हुई प्रणय क्रीडाओं का भी अभाव हो जाएगा किन्तु शोक का प्रचण्ड सागर जब उमड़ रहा हो, पति का शव सम्मुख पड़ा हो तब तो प्रणय की ये अनुभूतियाँ अचेतन के गहनतम गह्वर में पड़ जानी चाहिए। उस समय उन बातों को याद करके रोना हास्यास्पद सा लगने लगता है। प्रेम की गम्भीरता के अभाव का परिचायक होकर वह कामुकता की ध्वनि ही अधिक देता है।

कुछ आगे चलकर मन्दोदरी की विरह वेदना अवश्य ही मार्मिक हो गई है।

'बार बार रोती हुई मन्दोदरी कहती है, हे भट्टारक उठो! कब तक सोते रहोगे? यदि सोना ही है तब भी पृथ्वी पर इस प्रकार सोना तुम्हें शोभा नहीं देता।'"[3]

इस क्षण ऐसा लगने लगता है जैसे मन्दोदरी भूल गई कि उसके पति की मृत्यु हो गई है। लंकेश का अतुलनीय वैभव का त्याग करके ऐसे सोना उसे असह्य हो उठा।

'तिसट्ठिमहापुरिस गुणालंकारु' में रावण की मृत्यु के अवसर पर मन्दोदरी के विलाप में करुण रस है करुण विप्रलम्भ नहीं—

हे दशानन! तुम्हारे बिना यदि जीवन है तो उसमें दुख ही दुख है। हा!

---

१ जइ कइइ पावासु पिउ अकिया कुड्ड करीसु
पाणिउ नवइ सरावि जिवँ सव्वंगे पइसीसु ॥
—अपभ्रंश साहित्य, डा० हरिवंश कोछड़

२ पुणु वि पुणु वि गयणग्गु णिअंतरि। कलुणाक्कंदु करन्ति मंदोयरि
णन्दणवणे दिज्जन्ति मणोहरि। सुमरमि पारियाय तरु मंजरि
कुडंग णाहिहे थण परिमदृणु। सुमरमि लीला पंकय ताड़णु ॥
—हिन्दी काव्यधारा, राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ १११

३ पुणु वि पुणु वि मंदोयरि जंपइ। उट्ठि भडारा किं चिरु सुप्पइ।
जइ वि णिरारिउ णिद्दए भुत्तउ। तो किण सोहहि महियले सुत्तउ ॥
—वही पृष्ठ १११

प्रियतम ! कहते हुए अन्त पर में वह अपनी छाती पीटने लगी।'[१]

करकण्ड चरिउ में मुनि कनकामर ने संयोग और वियोग दोनों के सुन्दर चित्र खींचे हैं। नायक की अपेक्षा नायिका के पक्ष में लिखे गए वियोग वर्णन अधिक मार्मिक हैं। कनकामर के वियोग वर्णनों में शरीर के ताप को सूचित करने वाली ऊहा का प्रयोग नहीं है कवि ने अनुभावों के प्रयोग से हृदय को छूने का प्रयत्न किया है जिसमें पाठक की संवेदना ही जगती है।

विद्याधरी द्वारा करकण्ड के समुद्र में ले जाए जाने पर रतिवेगा के विलाप का वर्णन है—

'जब प्रसन्नमुख नरसिंह (करकण्ड) जल में निलुप्त हो गया तो वह रोने लगी। श्रेष्ठ भामिनी रतिवेगा दुखी हो गई। सारा अंग कांपने लगा, चित्त अव्यवस्थित हो गया और वह मूर्छित हो गई।'[२]

विरह की मरण दशा का वर्णन भी कवि ने बड़ी चतुराई से कर दिया है—

'मैं बेचारी नारी अब जीवन कैसे बिताऊं। तुमसे बिछुड़ जाने पर जीवित रहूँ अथवा मरूं।'[३]

रतिवेगा की आभ्यान्तर स्थिति का बाह्य जगत पर कैसा प्रभाव पड़ता है, इसका निदर्शन कवि ने कराया है—

'समुद्रजल विक्षुब्ध हो उठा नौकाएं परस्पर टकराने लगीं। हा ! हा ! का करुण शब्द गूंजने लगा। उसके शोक से मनुष्य व्याकुल हो गए।'[४]

मदनावली के विलुप्त हो जाने पर करकण्ड के विलाप का वर्णन है। वह व्याकुल होकर कभी भाग्य को कोसता है कभी पशुओं से उसके विषय में पूछता है। इस वर्णन में

---

१ पइ विणु जणि दमयन्ति जि अं त पन्थयर मुद्ध सहिन्तइ।
हा पियतम ! भणन्तु सोया उरु मदइ णिरु वमेसि अणवरु॥

—अपभ्रंश साहित्य डा० हरिवंश कोछड़,
म० पु० १२/१३ पुष्पदन्त, पृष्ठ ८४

२ जा णरसेहरणु वियसिय आणणु जलि पडिउ
ता भमरहिं रोवंइ पमरिय सोवंइ अइउरिउ॥
रइवेय गुणालिणा गुण वणि वामिणि विमणमणा।
संजाय कंपिरा [अ]ति अणविरय मुच्छगया॥

—अपभ्रंश साहित्य डा० हरिवंश कोछड़ पृ० १६५

३ हउं णारि वराइय भावइ आइय को मरउ।
पइं रहिउ य जुवइं जीविंतिं मरइ कि मरउ॥ —(७, १३, ९, १८) करकण्ड चरिउ

४ हल्लोहलिं हुयउ मयरहरू अणुवयरि जाणइ भेजवाह।
हा हा रउ उट्ठिउ करुणसरु तहो सोएं णरवर भयवसहि॥

—वही (७, १०, ६, १०) करकण्ड चरिउ

कोई विशेपता नही है।

'पउमसिरी चरिउ' म समुद्रदत्त जब अपनी पत्नी पद्मश्री को लौटा लाने के लिए हस्तिनापुर जा रहा था तब केलिप्रिय नामक पिशाच न उन दोना के बीच मन मुटाव उत्पन्न कर दिया। समुद्रदत्त को सन्देह हो गया कि उसकी पत्नी किसी अन्य पुरुष से प्रेम करती है। समुद्रदत्त न पद्मश्री की अवहलना कर दी। पद्मश्री न पति के सम्मुख करुण क्रन्दन किया, अनुनय विनय की किन्तु उसन एक न सुनी और उद्विग्न मन से साकेत को लौट गया।

अपन नगर को लौटत समय कोशलपुरी म न द नामक वणिक की पुत्री कान्तिमती स विवाह किया। यह उसके पहले जन्म की स्त्री यशोमती थी।

पद्मश्री न विरक्त होकर तपश्चया का आश्रय लिया और अन्त म मोक्ष को प्राप्त किया।

पद्मश्री के विरह की अवधि के अनन्त तथा मिलन के लगभग असम्भव होने स करुण विरह का अवकाश यहा उपस्थित होता है। कवि के धार्मिक उद्देश्य के कारण उसका पूर्ण प्रस्फुटन नही हो सका प्रत्युत पयवसान विरक्ति म हुआ है।

समुद्रदत्त द्वारा परित्यक्त पद्मश्री की विरह वेदना अत्यन्त मार्मिक है—

'उस बाला की दशा दुखिनी हरिणी के समान हो गई। (प्रभात होने पर) जसे आकाश म चन्द्र और नक्षत्रो की कान्ति विलुप्त हो जाती है वसे ही (वियोग के कारण) पद्मश्री निस्तेज हो गई। प्रभात काल म चक्रवाक के बढते हुए आनन्द के समान उसका शोक बढने लगा, कुमुद के समान उसकी आखें मकुचित हो गई और सूर्योदय के साथ सन्ताप का उदय हुआ। बाला के दुर्भाग्य के सदृश प्रकाश महीतल पर स्थित हो गया। समुद्रदत्त के समान हृष भी पद्मश्री को परित्यक्त करके चला गया"[१]

परपीडन (Sadism)

भारतीय काव्य-शास्त्र क अनुसार दिय गए विरह के इन चार रूपो के अतिरिक्त मनोविश्लेपण शास्त्र की दृष्टि स विरह भावना का अध्ययन करते समय 'परपीडन' नाम

१ अच्छेइ बाल निह वु न हरिणी, नइ कलुणइ भत्ति विणाइ रयणि।
पउमसिरि सरीरह जेम्व कति, नक्खत निवह नद्दयलि गलति
"न्पिय मु" व नासइ तमोहु, वुक्कुऊ रउ पसरइ नासमोहु।
गमणो वि चदु विच्छाउ जाउ, सय व्वि व वियसइ चक्कवाउ
नयण न्न कुमयद सकुयनि आमा दाहउ न्सिउ होति
उग्गमइ वरूण सनाउ नाइ रवि कुद्धि जेम्व निमि रायउ नाइ।
घत्ता—
हरिसो इव निग्गउ कुमरु, मइसट्ठ पट्ठियउ।
दोहग्गु जेम्व वर बालहि उयलि महीयलि सठियउ।
—अपभ्रंश साहित्य, डा० हरिवश कोछड, (३, १८ = पउमसिरि चरिउ) पृष्ठ १८२ १८३

की वृत्ति का विश्लेषण हमने किया था। परपीड़न में प्रेमी का अहं आहत होने पर, प्रेम पात्र को कष्ट पहुँचाकर स्वयं की तुष्टि करता है।

'सुदंसण चरिउ' में वाडीवाहन राजा की रानी अभया ऋषभदास श्रेष्ठी के पुत्र सुदर्शन से प्रेम का प्रतिदान न पाकर निराश हो, नाखूनों से अपने शरीर को बकोटकर चिल्लाने लगती है, जिससे राजा अथवा उसके कर्मचारी सुदर्शन को पकड़ लें। यदि मानवेन्द्र (किन्नर) आकर सुदर्शन की रक्षा न करता तो वह अवश्य ही त्रसित किया जाता। अभया का चिल्लाना परपीड़न की वृत्ति का अन्यतम रूप है।

रहस्यवादी विरह भावना

बौद्धधर्मावलम्बी साधकों की रचनाओं में प्रतीकात्मक आलम्बनों के प्रति विरह का निर्देश मिलता है। शबरपा का एक पद है—

'ऊँचे पर्वत पर शबरी बालिका रहती है। उसके अंग मोरपंख से शोभित हैं, गले में गुंजा की माला है। शबर उसे पाने के लिए पागल है। वही तुम्हारी गृहिणी सहज सुन्दरी है।'[1]

यहाँ मेरुदण्ड, पर्वत माना गया है। इसके सर्वोच्च शिखर पर महामुद्रा या मूल शक्ति नैरात्मा का वासस्थान है।

यही विरह भावना आगे चलकर हिंदी में कबीर आदि संतों के दार्शनिक रहस्यवाद के रूप में विकसित हुई।

अपभ्रंश का विरहकाव्य और प्रकृति

अपभ्रंश के कवि ने प्रकृति में विरह के अनेक सुन्दर चित्रों को देखा है। वहाँ वह मानव के लिए केवल जड़ पृष्ठाधार मात्र अथवा उद्दीपन न रहकर चेतना से निविष्ट प्राणी सी-सी आभासित लगती है। इस रूप में अपभ्रंश काव्य की विरह सम्बन्धी कुछ उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी हैं।

एक स्थान पर सन्ध्या-वर्णन में दिव्य-दृष्टि धाहिल प्रकृति का आलम्बन रूप लेकर विरह भावना का सुन्दर दिग्दर्शन कराते हैं—

'सन्ध्या के समय कमल बन्द होने लगे हैं, उनमें से भ्रमर निकल निकलकर उड़ रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है जैसे (सूर्य के वियोग में) कमलिनी काजलयुक्त अश्रुओं से रो

---

[1] ऊँचा ऊँचा पावत तहँ बसइ सबरी बाला।
मोरंगि पच्छ परहिण सबरी गिवत गुंजरी माला।
उमत सबरो पागल सबरो मा कर गुली गुहाडा तोहौरि।
सुन्दरी॥
—अपभ्रंश साहित्य, पृ० २८१-२८२

रही हो।"[1]

पद्मश्री के विषय म कवि कहता है—

"पद्मश्री ऐसे दीर्घ नि श्वास छोड रही थी, जसे ग्रीष्मकाल म घन जल से सिक्त पवत।"[2]

उच्छ्वासो की उष्णता और उनके बाष्प-गदगद होने की समथ व्यजना इस उपमा म है।

राहुल ने पद्मश्री के उच्छवासो की तुलना पावतीय पृथ्वी स की थी। स्वयभू इसम ठीक विपरीत पृथ्वी के उच्छवासो की तुलना इसी भाव के अन्तगत करते हैं—

कयइ माहव मासहो मेइणि।
पिय विरहेण व मूसई कामिणी।[3]

अर्थात् वहा माधव मास (वसत ऋतु) म पृथ्वी की सुगध ऐसी लगती थी मानो विरहिणी नि श्वास ल रही हो।

किन्तु प्रकृति का यह आलम्बन रूप अपभ्रश म अत्यन्त विरल है। अधिकाशत अपभ्रश के कवि न प्रकृति का उद्दीपन रूप लिया है। अलग अलग ऋतु, मास, मौसम विरही के लिए अपना-अपना महत्त्व लाते हैं। साधारण जीवन म व्यस्त व्यक्ति की अपेक्षा विरही प्रकृति क अधिक समीप आ जाता है। इसके अतिरिक्त भी प्रकृति और उसम होन वाले परिवतनो का प्रभाव मनःस्थिति के अनुसार मानव हृदय पर पडता ही है। प्रकृति का हास विलास यौवन उन्माद विरही की वेदना को तीव्रतम बनाता रहता ह क्योकि मन की अभिलाषा जब अनुकूल वातावरण म उद्दीप्त होकर तृप्त होना चाहती है तभी विरह का व्यवधान तृप्ति के माग को कुण्ठित कर देता है। ऋतु वणन, बारहमासा आदि इसके अन्तगत ही है। इस विषय म सब प्रथम अपभ्रश प्रेमकाव्य के कवि बब्बर' की कविता के कुछ अशो का यहा देखन का प्रयत्न है।

बब्बर न षट ऋतुओ को उद्दीपन रूप म रखकर विरही की पीडा का सुदर चित्रण किया है। ग्रीष्म ऋतु एक विरहिणी के मन म अभिलाष जगाती है—

दिशाओ म (लू) चल रही है, मैं अकेली हूँ मेरा हृदय काप रहा है। घर म प्रिय नहा है। हे पथिक। सुनो, मन म कुछ इच्छा हो रही है।

पावस के मनोहर वातावरण म प्रिय घर नही आया। विरहिणी उसे पत्थर हृदय बताकर उलाहना देती है—

१ कमलिणि कमलु निरु महुयरहि अमुएहि रूएण मन जलेहि।
—अपभ्रश साहित्य डा० हरिवश कोछड, पृ० १८२ १८३

२ दीउन्ह मुयइ नीसास कव घण भलिल सित्तु गिरि गिम्ह नेम।
—वही (२, २४, ६६, पृ० १८२ १८३, पउमसिरि चरिउ)

३ हिन्दी काव्यधारा, राहुल साकृत्यायन

४ िमइ चलइ हिअअ दुलइ, हम इकलि वहू।
घर णहि पिअ सुणहि पहिअ। मन इछइ कहू॥ —वही

"आकाश में मेघ भटक रहे हैं, जल बरस रहा है, मनोहारी शीतल वायु बह रही है, कनक-कान्ति विद्युत नृत्य कर रही है, निंब फूल रहा है, परन्तु प्रिय का हृदय पत्थर का बना है। वह प्रिय पास नहीं आता।"[1]

वसंत में प्रकृति का सौंदर्यमय रूप विरहिणी को विवश बना रहा है—

"किंशुक फूल रहा है, चन्द्र की ज्योत्स्ना विकसित है। आम्र मंजरी से परिपूर्ण हैं, दक्षिण की शीतल वायु बह रही है, विरहिणी का हृदय काँप रहा है। केतकी का पराग सब दिशाओं में फैला हुआ है, सम्पूर्ण वातावरण पीत राग से पूर्ण है। हे सखि! ऐसी वसंत ऋतु में प्रिय पास नहीं है क्या करूँ।"[2]

जिनपद्म सूरि ने विरहिणी के मन पर पावस के प्रभाव को इन सरल शब्दों में व्यक्त किया है—

> झर झर झर झर झर भव ए बीजुलिय झबकइ।
> थरहर थरहर थरहर ए विरहिणी मणु कंपइ॥[3]

"पावस में बिजली की तड़पन के साथ विरहिणी का मन भी एकदम काँप उठता है।"

मानिनी के मान को बादलों का रव और मोरों का शोर खंडित कर देता है। वह जो प्रिय से रूठी रही और जिसने सोचा था कि अब प्रिय के सम्मुख कभी प्रस्तुत नहीं होगी, उसे पावस के मधुर वातावरण ने जल्द हरा दिया। हृदय की कोमल शृंगार भावनाएँ किसी गम्भीरतम गह्वर से उद्भूत हो उसे एकदम अस्थिर बना गयीं जैसे चोर पकड़ा गया हो।

"मेघ के गर्जन से मोर नाचते हैं, बस—बस मानिनी अस्थिर हो जाती है, ऐसा प्रतीत होता है मानो चोर पकड़ा गया हो।"[4]

बारहमासा

प्राचीन काल से ही ऋतु के विरह पर भाव तथा ऋतु परिवर्तन का निरूपण काव्य में स्थान-स्थान पर होता रहा है। अपभ्रंश में ऋतु ही नहीं मास-मास के बदलते हुए

---

१ [illegible] निम्मल पवणु मणहरणु
[illegible] विज्जु [illegible] णावा।
[illegible] विरहिणी [illegible] आवइ॥
—हिन्दी काव्य धारा, राहुल सांकृत्यायन, पृष्ठ ३१८

२ [illegible] मंजरि [illegible]।
[illegible] विरहिणी [illegible]॥
[illegible] पास।
[illegible] पास॥ —वही पृष्ठ ३२४

३ वही पृष्ठ ४२२

४ [illegible] निसि [illegible] मोर।
[illegible] मानिनि [illegible] चोर॥ —वही, पृष्ठ ४२२

परिवतन को भी देखा गया। विनयचन्द्र सूरि की नेमिनाथ चतुष्पदिका' म बारहमासे का प्रथम उल्लख मिलता ह। हिन्दी म अपभ्रश की इस काव्य पद्धति का खूब प्रचलन हुआ, अनेक बारहमासे लिखे गए।

'अश्विन माम म नेमिनाथ के विना राजलदेवी आमू ढालती रही। शीतल चन्द्रमा, चन्दन व हिम सब उसके लिए जलन लगे। प्रिय क बिना सब विपरीत हो गया।"[1]

पूस के महीने म वह प्रिय म प्राथना करती है—

"पूस के महीन म ह प्रिय! अब अपना रोष छोड दो मुझे अपन पद नखो के समीप स्थान दो। कष्टपूण यह ठडी रात्रि अब बिताए नही बीतती।"[2]

"फागुन के महीन म पतभड होती है तो ऐसा लगता है जस राजल के दुख म तरु रो रह हो।"[3] यहाँ प्रकृति कवल उद्दीपन ही नही है सुख दुख की सहचरी भी है।

जेठ का सूय भी जस विरह की अग्नि म ही तप्त हो रहा था और नदिया घन क वियोग से सूख रही थी।"[4]

सखि राजल म कहती है— 'अरी मुग्धा! तू नमि नमि करती है यौवन बीत रहा है क्या यह तुझे ज्ञात नही है। सम्पूण ससार पुरुष रत्नो म परिपूण ह किसी अन्य भर्तार का वरण क्या नही कर लती ?"[5]

विवश राजल प्रेम के मम स अनभिज्ञ सखी की मूखता पर सूखी हँसी हँसती हुई सी कहती है, 'ह सखि! तू गँवार है, मरा भतार नमिकुमार ही ह, अन्य कोई पुरुष नही हो सकता। क्या कोई गधे पर चढ़कर फिर गज पर सवार होता है।

अपभ्रश विरह काव्य में प्रकृति का अन्य रूप

उद्दीपन रूप क अतिरिक्त प्रकृति का अन्य रूपो म भी दखा गया। प्राकृतिक उपकरणो का प्रस्तुत म रखकर अन्योक्ति द्वारा मानव स्वभाव की व्यजना कराई गई। हमचन्द्र सूरि कहते हैं— 'उस दिशा की ओर दखकर ह भ्रमर न रो। वह मालती अब

---

१ आसाभास– अस पवा– रानन मिलइ– विग नमिना–
दहइ चद चन्दण हिम सोउ, पिय बिणु सयलु भउ विवरीउ ॥८॥
—अपभ्रश मार्ग ४, डा० हरिवश कोछड

२ पमि राम सवि छोडवि ना–। रा न राति भर मयणह पाह
पन्ह साउ नवि रयणि विहाइ। लन्यि दिन माह दुग्ग समाइ ॥१७॥ —वही

३ फागुन वागुणि पन्न पडन्ति, राजल दुक्ख कि तरु रोयन्ति ॥२॥ —वही

४ जिट्ठ विरह जिमि तापइ सूरू, दूण वियोग सुसय नइ पूरू ॥३२॥ —वही

५ नमि नमि तु करती मुद्धि। जुव्वणु जा– ण जाणि सम–
पुरिस रयण भरियउ ससारू। परण अनरउ कुइ भत्तारू ॥१८॥ —वही

६ भोला तउ सखी गमारि। वार अइत नमि कुमार।
अन्न पुरिस कुइ अपुण न्नइ। गद्दवरू लइ कु रासभि चन्इ ॥१९॥ —वही

दूसरे देश में है जिनके वियोग में तू मर रहा है।[1]

यहाँ अन्योक्ति द्वारा कवि विश्वासघात से पीड़ित किसी विरही प्रेमी को आश्वासन देने का प्रयत्न कर रहा है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि अपभ्रंश में विरह के वे रूप जो परवर्ती काल में हिंदी में बहुलता से मिलते हैं प्रथम बार प्राप्त होते हैं। 'बारहमासा' इसका उदाहरण है। यह काव्य जहाँ एक ओर प्राचीन परम्परा को सुरक्षित रखता है वहाँ दूसरी ओर नवीन के लिए मार्ग निर्माण भी कर रहा है। इस रूप में इसका अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है।

प्रारम्भिक हिंदी काव्य में विरह भावना

शृंगार और विरह भाव हिंदी-काव्य के प्रारम्भ से ही काव्य का मुख्य अंग रहे हैं। मध्यदेशीय हिंदी के रासक काव्यों में तथा ११वीं, १२वीं, १३वीं और १४वीं शताब्दी में प्रबन्ध रासो काव्यों में विरह के अनेक सुंदर प्रसंग उपलब्ध हैं। प्रस्तुत अध्याय में इस युग के कुछ प्रमुख काव्यग्रन्थों की विरह भावना का अध्ययन करने का प्रयत्न किया गया है। ये काव्य ग्रन्थ हैं—नरपति नाल्ह का बीसलदेव रासो, चंद का पृथ्वीराज रासो और अज्ञातनामा कवि का ढोला मारूरा दूहा। 'वेलिक्रिसन रुक्मिणी री' पृथ्वीराज राठौड़ यद्यपि परवर्ती ग्रन्थ है किन्तु वस्तुतः कुछ उसी परम्परा का होने के कारण उनके साथ रखा गया है। विद्यापति की पदावली कालक्रम से इस युग की कृति है अतः उसका विवेचन इसी के अन्तर्गत है। यहाँ भी विप्रलम्भ के विविध भेद ही विवेचन का आधार है।

पूर्वराग

पूर्वराग चित्र दर्शन स्वप्न दर्शन अथवा गुण श्रवण से उत्पन्न होता है। उषा अनिरुद्ध और नल दमयन्ती के प्रेम का उदभव और विकास इसी प्रकार हुआ था। ढोला मारूणी का प्रेम भी इसी कोटि का था। कवि यद्यपि इन दोनों को नाममात्र के लिए बचपन में ही विवाह-सूत्र में बाँध देता है किन्तु उनका यह संस्कार नहीं के बराबर है क्योंकि उनकी स्मृति दोनों प्रेमियों में से किसी को नहीं रहती।

> डेढ़ वरसरी मारुवी त्रिहुँ वरसारउ कंत।
> बालपणइ परण्याँ पछइ, अन्तर पड़यउ अनंत॥[2]

उस समय मारूणी डेढ़ वर्ष की थी और उसका पति तीन वर्ष का। बालपन में

---

[1] भमर म रुणि झुणि रण्णडइ सा दिसि जोइ म रोइ।
सा मालइ देसंतरिअ, जसु तुहुँ मरहि विओइ॥
—अपभ्रंश साहित्य डा० हरिवंश कोछड़, पृ० २६६

[2] ढोला मारूरा दूहा, नागरी प्रचारिणी सभा, दोहा ११

ही विवाह होने के कारण दोना म भारी अन्तर पड गया।

वस्तुत मारुणी का प्रेम उसकी युवावस्था क प्रथम स्वप्न दर्शन द्वारा उषा के प्रम की तरह ही अकुरित होता है।

इसइ आरखइ मारूवी, सूती सज विछाइ।
साल्हकुँवर सुपनइ मिल्यउ, जागि निमासउ खाइ॥[1]

इस पूवराग' को रति-कामना वह सकते हैं पूण अनुराग नही। यह यौवन की उषा म प्रथम अभिलाषा ही है—सालकुँवर सुपन मिल्यो जागि निमासी खाइ। वियाग का दुख उसके लिए अनात वदना है इस वेदना के प्रथम परिचय म मारुणी स्त्री-सुलभ लज्जा, शील और मयादा से ही काम लेती है। न तो वह मूछित होती न उसका विलापन करती—

ग्रीवा का हाथो पर रखकर चिंतित मुद्रा म मारुणी चातक की भाति प्रिय की प्रतीक्षा करती है। (*प्रिय मिलन की) आशा से लुब्ध मारुणी विरह की थाह खोजती* है, दिन गिनती है। विरह क माग म अनेक बाधाएँ हैं किन्तु यह बचारी उनको नहा जानती।

उक्कबी सिर हथ्यडा, चाहती रस लुब्ध।
ऊँची चढि चात गि जिउ मागि निहालइ मुग्ध॥
थाह निहालइ, दिन गिणइ, मारू आसालुब्ध।
परदेस घाघल घण, बिखउ न जाणइ मुग्ध॥[2]

'थाह निहालइ' म प्रतीक्षा जन्य धय्य, 'आसा लुब्ध' म आशा, 'विखउ न जाणइ मुग्ध' म अकस्मात् अनुभूत इस प्रथम वियोग वदना से अपरिचय की ध्वनि है।

सखियाँ विरह का हाल सुनकर जब उसे बताती है कि स्वप्न म आया हुआ व्यक्ति उसका पति साल्ह कुमार है तो मर्यादा का बाध टूट जाता है। मारुणी के हृदय म काम-ज्वाला धधक उठती है। 'सखा वयण सुदरी सुण्या, उठी मदन की झाल।' उसकी दशा का वणन करते हुए कवि कहता है—

बाबहियउ आसाढ जिम विरहिणि करइ विलाप॥[3]
आसाढ के पपीहे की तरह विरहिणी विलाप करती है
जब ही वरसइ घण घणउ तब ही कहई प्रियाव॥[4]
जब जब मेघ बरसता है तब-तब वह प्रिय का बुलाती है।

फिर कहती है कि बादल क उमडन के साथ ढोला भी मेरे हृदय म उमड आया। ये बादल तो अपनी ऋतु म ही बरसत हैं किन्तु मेरे नत्र तो नित्यप्रति ही वर्षा करते

---

१ ढोला मारूरा दूहा नागरी प्रचारिणी सभा, दोहा १४
२ वही, दोहा १६ १७
३ वही दोहा २६
४ वही, दोहा २६

रहत हैं

> ऊनमि आई वद्दली, ढालउ आयउ चित्त ।
> यो वरसइ रितु आपणी नइण हमारे नित्त ॥[1]

शारीरिक मिलन की अभिलाषा का स्पष्ट वणन भी हम यहाँ मिलता है

> वीजलियाँ चहलावहलि आभय आभय कोडि ।
> कद रे मिलउगी सज्जणा कस कचुकी छोडि ॥[2]

बादल-बादल की कोर पर बिजलिया की चहल-पहल हो रही है । अपनी कचुकी के बन्धन तोडकर मैं की कब प्रिय म मिलूगी ।

कहावत है— घायल की गति घायल जाणे विरहिणी मारूणी कुररी पक्षी की विरह व्यथा म पीडित हा जाती है

> कुरभडिया कलिअल कियउ सुणी उ पखइ वाइ ।
> ज्याँरी जाडी वीछडी, त्या निसि नीद न आइ ॥[3]

'कुररी पक्षिया के करुण रव और पख फडफडाने की ध्वनि मैंने सुनी, सत्य है जिसकी जोडी बिछड गई उसको रात्रि म नींद नहा आती ।'

प्रिय के मिलन के माग म बहुत म पवन व घने जगला का ध्यान करके मारूणी विकल हा उठती है । विधाता म प्राथना करती है—'दइ विधाता पखडी', हे विधाता मुझे पख दे जिसम माग की कठिनाइयाँ पारकर मैं प्रिय से मिल सकू । किन्तु भाग्य की बलवत्ता दखकर कहती है कि पख होन स क्या ? चकवी के भी तो पख है परन्तु रात होन पर वह प्रिय स तब भी नही मिल सकती ।

> पखडिया ई किउ नही दव आयइ ज्याह ।
> चकवी कइ हइ पखडी, रयणि ण मलउ त्याह ॥[4]

और तब—

> जब साऊ नव जागवइ जब जागू तब जाइ ।
> मारू ढालइ मभरइ दुणि परि रयण विहाइ ॥[5]

स्वप्न म आया हुआ प्रिय जब प्रत्यक्ष-सा होने लगता है तो नीद खुल जाती है । प्रिय मिलन नहा हो पाता ।

मारूणी की व्यथा म चिन्तित होकर पिता जब गाडिया को ढोला के पास भेजते है तो मारूणी सदा कहती है—

---

१ ढोला मारू रा दूहा, नागरी प्रचारिणी सभा, दोहा ४१
२ वही दोहा ४६
३ वही दोहा ५८

अकथ कहाणी प्रेम की किणसूँ कही न जाइ।
गूगा का सुपना भया, सुमर-सुमर पिछताइ॥[1]

'प्रम की कहानी अकथनीय है वह किसी स कही नही जाती। गूग के सपन की भाति हो गई है जिस याद करके पछताता है।" अपनी अकथनीयता म यह कहानी अत्यन्त मार्मिक है किन्तु न कह सकन के कारणा म जब अतिशयोक्ति आन लगती है तो वह बीभत्स हा जाती है।

सदगा मति मोकलउ, प्रीतम तूँ आवेस।
आँगलडी ही गलि गया नयण न वाचण देस॥[2]

प्रिय उत्तर म सदश न भेजना स्वय आ जाना (मैं सदेशा भजन म असमथ हूँ) अँगुलिया गल गइ हैं। आँखा से (कठिनाई म लिखा) सदेशा पढा नही जाता।

ढाडी मारूणी की दशा का जा वणन ढोला म करत हैं वह अत्यन्त मार्मिक है। मिलन की क्षीण आशा की ममथ व्यजना इन शब्दो म हुइ है—

आसालुधी हु न मुइय सज्जन जजालेइ।
मारू सेवइ हथ्यडा भीणे अगारेइ॥[3]

'प्रियतम के स्वप्न स प्रेरित मिलन की आशा से लुब्ध हुई मारूणी मरी नही। वह एसे जी रही है जसे कोई अपना हाथ बुझे अगारा से सक रहा हो।'

इस सन्दश को सुनकर ढोला के हृदय का प्रेम भी जाग जाता है, साचने लगता है कि जस मन चारो दिशाओं म निरकुश घूमता है यदि हाथ भी वसे ही फल सकत तो प्रिया को आलिंगन पाश म बाध लेता

जिउँ मन पसरइ चिहुँ दिसइ,
जिम जउ कर पसरति।
दूरि थका ही सज्जणा, कठा ग्रह करन्ति॥[4]

'ढाला मारूरा दूहा' म लाक भावना मुखरित है। इसम विरहानुभूति की सीधी मार्मिक अभिव्यजना ही अधिक है, ऊहा बहुत कम स्थाना पर है। ढोला मारूरा का प्रेम 'पूवराग' है सामन्ती युग की मर्यादा की रक्षा के लिए, कवि न इन्ह अबोध अवस्था म विवाह-सस्कार म बाधा है।

पथ्वीराज रासो म शशिव्रता विवाह के प्रसग म 'पूवराग' क लिए रूप गुण को विस्तार दने के पश्चात् कवि अपना ध्यान शशिव्रता और पथ्वीराज के प्रथम मिलन के

---

१ ढोला मारूर दूहा, नागरी प्रचारिणी सभा, दोहा १२६
२ वही, दोहा १४४
३ वही, दोहा २०६
४ वही दोहा २१४

रहत हैं

ऊनमि आइ बद्दली, ढालउ आयउ चित्त।
यो बरसद रित् आपणी, नइण हमारे नित्त ॥[1]

शारीरिक मिलन की अभिलाषा का स्पष्ट वर्णन भी हम यहाँ मिलता है

बाजुनियाँ चहलावहलि आभय आमय कोडि।
कब र मिलउगी सज्जणा कस कचुकी छोडि ॥[2]

बादल-बादल की कोर पर बिजलिया की चहल-पहल हो रही है। अपनी कचुकी मे बन्धन तोडकर मैं ओ कब प्रिय स मिलूगी।

कहावत है— घायल की गति घायल जाण विरहिणी मारुणी' कुररी पक्षी की विरह व्यथा स पीडित हो जाता है

कुभडियाँ कलिमल कियउ, सुणी उ परइ वाइ।
ज्यांकी जोडी बाढडी, त्यां निसि नीद न आइ ॥[3]

कुररी पक्षिया क करुण रव और पख फडफडाने की ध्वनि मैंने सुनी, सत्य है जिसकी जोडा बिछुड गई उसको रात्रि म नीद नहा आती।"

प्रिय स मिलन क माग म बहुत स पवत व घने जगलो का ध्यान करके मारुणी विचलित हो उठती है। विधाता स प्राथना करती है— दइ विधाता पखडी', हे विधाता, मुझ पख द दो जिससे माग की कठिनाइयाँ पारकर मैं प्रिय स मिल सकूँ। किन्तु भाग्य की बलवत्ता देखकर कहती है कि पख होन स क्या ? चकवी के भी तो पख हैं परन्तु रात होन पर वह प्रिय तक भी नहा मिल सकती।

पखन्यिा इ मिउ नहा दव आवडू ज्याह।
चकवी कइ हुद पखडी रयणि ण मलउ त्याह ॥[4]

और तब—

जब सोऊँ तब जागवइ, जब जागूँ तब जाइ।
माझ ओलइ सभरइ दणि परि रयण विहाइ ॥[5]

स्वप्न म आया हुआ प्रिय जब प्रत्यक्ष सा होन लगता है तो नींद खुल जाती है। प्रिय मिलन नहा हो पाता।

मारुणी की व्यथा स पीडित होकर पिता जब ढाडिया को ढोला के पास भेजत हैं तो मारुणी सदेश कहती है—

---

१ ना नरवर्मा कृत नागरी प्रचारणी सभा, दोहा ४१
२ वही दोहा ४६
३ वही दोहा ५८
४ वही, दोहा ७०
५ वही दोहा ७५

अकथ कहाणी प्रेम की किणनूं कही न जाइ।
गूगा का सुपना भया सुमर-सुमर पिछ्नाइ ॥[१]

'प्रेम की कहानी अकथनीय है वह किसी से कही नहीं जाती। गूंगे के सपने की भाँति हो गई है जिसे याद करके पछताता है। अपनी अकथनीयता में यह कहानी अत्यन्त मार्मिक है किन्तु न कह सकने के कारणों में जब अतिशयोक्ति आने लगती है तो वह बीभत्स हो जाती है।

सदेशा मति मोकलउ, प्रीतम तूं आवेस।
आंगलडी ही गलि गया नयण न वाचण देस ॥[२]

प्रिय उत्तर में सन्देश न भेजना स्वयं आ जाना (मैं सदेश भेजने में असमर्थ हूँ) अंगुलियाँ गल गई हैं। आँखों से (कठिनाई से लिखा) सदेशा पढ़ा नहीं जाता।

ढोला मारूणी की दशा का जो वर्णन ढोला में करते हैं वह अत्यन्त मार्मिक है। मिलन की क्षीण आशा की समर्थ व्यंजना इन शब्दों में हुई है—

आसालुध्धी हु न मुइय सज्जन जजालेइ।
मारू सकइ हथ्थडा बीणे अंगारेइ ॥[३]

प्रियतम के स्वप्न से प्रेरित मिलन की आशा से लुब्ध हुई मारूणी मरी नहीं। वह ऐसे जी रही है जैसे कोई अपना हाथ बुझे अंगारों से सेंक रहा हो।

इस सन्देश को सुनकर ढोला के हृदय का प्रेम भी जाग जाता है सोचने लगता है कि जैसे मन चारों दिशाओं में निरकुंश घूमता है यदि हाथ भी वैसे ही फैल सकते तो प्रिया को आलिंगन पाश में बाँध लेता

जिउँ मन पसरइ चिहुँ दिसइ,
जिम जउ कर पसरंति।
दूरि थकां ही सज्जणा, कंठा ग्रह करन्ति ॥[४]

'ढोला मारूरा दूहा' में लोक भावना मुखरित है। उसमें विरहानुभूति की सीधी मार्मिक अभिव्यंजना ही अधिक है, ऊहा बहुत कम स्थानों पर है। ढोला मारू का प्रेम 'पूर्वराग' है सामन्ती युग की मर्यादा की रक्षा के लिए, कवि ने इन्हें अबोध अवस्था में विवाह-संस्कार में बाँधा है।

पृथ्वीराज रासो में शशिव्रता विवाह के प्रसंग में पूर्वराग के लिए रूप गुण का विस्तार देने के पश्चात कवि अपना ध्यान शशिव्रता और पृथ्वीराज के प्रथम मिलन के

---

१ ढोला मारू रा दूहा, नागरी प्रचारिणी सभा, दोहा १८९
२ वही, दोहा १४४
३ वही, दोहा २०६
४ वही, दोहा २१४

प्रसंग पर केन्द्रित करता है। पृथ्वीराज जिनका वर्णन शशिव्रता इतने दिनों से सुन रही थी उन्हीं को आज साक्षात् देखकर वह रोमांची उल्लास से परिपूर्ण हो गई। इस स्वप्निल सी बात पर उसे एकाएक विश्वास नहीं हुआ।

नैन श्रवन कटाच्छ सुरंग बिराजहीं,
कछु पुच्छन को जाहिं न पुच्छन लाजहीं।
मन मानि मैं बात जु चितवन मा कहै।
साम कियौ पथिराज अदब करि न लहै ॥८६॥[1]

प्राय: शोभ-नेत्रों के लिए कवि काननचारी-नयन मृग की उपमा करते हैं किन्तु कान तक खिंचे नेत्रों को देखकर उनके परस्पर वार्तालाप की कल्पना चन्द की ही सूझ है। विशेषता केवल नयन और श्रवण की बातचीत की ही नहीं प्रत्युत कछु पुच्छन को जाहिं न पुच्छन लाजहीं की भी है।

पद्मावती विवाह-प्रसंग में सुग्गे के द्वारा पृथ्वीराज का रूप गुण वर्णन सुनकर पद्मावती का लुब्ध होना और पृथ्वीराज के पास सन्देश भेजना वर्णित है। उसके आने पर आगतपतिका नायिका पद्मावती के उल्लास के वर्णन में भाव परिवर्तन का निदर्शन कवि ने सफलता से किया है।

तन चिकट चीर उतार्यौ उतार।
मज्जन मयंक नव सत सिंगार॥
भूषन मगाय नषसिष अनूप।
सजि सेन मनों मनमथ्य भूप॥[2]

विद्यापति के प्रेम-वर्णन अत्यन्त सजीव हैं। प्रेम तत्त्व की तह तक पहुँचकर उसके वास्तविक रूप के निदर्शन का प्रयत्न विद्यापति ने किया है। नायक नायिका के प्रथम सन्निपात में एक नई पिपासा एवं मधुर पीड़ा का जन्म होता है

सजनी अपरूप पेखल न मन
मेघ माल सय तड़ित लता जनि।
हिरदय सेल दई गेल ॥[3]

मेघमाला में बिजली के अचानक उदय होने की भाँति ये भी प्रेमी को चकाचौंध करती है। प्रेम की प्राथमिक अनुभूति की तुलना तड़ित लता से करने में प्रेमी का तड़पन का बोध होता है।

---

१ संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, शशिव्रता विवाह प्रसंग, पृष्ठ ६५
सम्पादक हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा नामवरसिंह

२ पदमावती समय पृष्ठ १०, सम्पादक हरिहरनाथ टण्डन

३ विद्यापति की पदावली पद ३८ (२) सम्पादक, रामवृक्ष बेनीपुरी

पूर्वराग' में प्रिय-दर्शन की लालसा, इस तरह एक मालिनी नायिका को कचोटती है

अवनत आनन कए हम रहलिहुँ
वारल लोचन चोर।
पिया मुख रुचि पिबए धाओल
जनिसे चाद चकोर॥
ततहुँ सय हठ हठि मो आनल
धएल चरनन राखि।
मधुप मातल उडए न पारए
तइअओ पसारए पाखि॥[1]

"मुख नीचा किए मैं अपने इन चार नेत्रों को रोकती रही किन्तु ये प्रिय के रूप सुधा के पान के लिए ऐसे दौड़े जैसे चकोर चाद की ओर दौडता है। हठपूर्वक मैंने अपने चरणों की ओर इन्हें केन्द्रित किया किन्तु मधुपान में मतवाला मधुप चाहे उड न सके पख तो पसारता ही है। रूप दर्शन की प्रबल इच्छा, लज्जा के अकुश से विवश हो रही है, उसी की सुन्दर व्यजना यहा पख पसारने में है।

विद्यापति की दृष्टि में प्रेम एक चिर-तृष्णा है जिसकी तृप्ति आयु पर्यन्त नहीं है।

सखि कि पूछसि अनुभव माय।
से हो पिरीत अनुराग बखानिए
तिल तिल नूतन होय।
जनम अवधि हम रूप निहारल
नयन न तिरपित भेल॥[2]

कुल-मर्यादा, यश अपयश का ध्यान प्रेमी को नहीं होता—

कुल गुन गौरव सति जस अपजस
तन करि न मानए राधे।
मन मथि मदन महोदधि उछलल
बूडल कुल मरजाद॥

वेलि क्रिसन रुक्मिणी री राठौडराज प्रिथीराज री कही में व्याकरण, पुराण, स्मृति और वेद वेदागों को रुक्मिणी ने पढा, उनमें भगवान की अपार महिमा को जाना और वह उनसे प्रेम करने लगी। भगवान के गुणों का परिशीलन करके, श्रेष्ठ वर की प्राप्ति की जो इच्छा जगी उससे रुक्मिणी महादेव व पार्वती का

---

१ विद्यापति की पदावली, पद ३८, रामवृक्ष बेनीपुरी
२ वही, पद २२८

पूजन करने को तत्पर हुई—

व्याकरण पुराण स्मृति सास्त्रविधि
वेद च्यारि खट अग विचार।
जाणि चतुर दस चौसठि जाणी
ग्रनत ग्रनत तसु मति अधिकार॥
सांभलि ग्रनुराग थयो मनि स्यामा
वर प्रापति वछनि वर।
हरि गुण भणि ऊपनी जिका हर
हर सिणि वन्दे सजरि हर॥[1]

रुक्मिणी का प्रेम कृष्ण के गुण-श्रवण से उत्पन्न पूर्वराग है।

माता पिता रुक्मिणी का विवाह कृष्ण से करना चाहते थे किन्तु भाई रुक्म ने शिशुपाल के साथ विवाह निश्चित कर दिया। समस्त वैभव और ऐश्वर्य से शिशुपाल रुक्मिणी को ब्याहने आया। अन्य स्त्रियाँ पद्मिनी के समान प्रसन्न थीं किन्तु रुक्मिणी उदास थी कुमुदनी के समान।

पदमिणि ग्रानि फून परि पदमिणी।
रुकमणी कमोदणी रूप॥[2]

जाता के भरोसे में वह पत्रिका लिख रही थी। उस सुतनु का शरीर महल में था किन्तु मन कृष्ण से मिल गया था। अश्रुमिश्रित कज्जल की स्याही व नख की लेखनी बनाकर उसने कृष्ण को पत्र लिखा

जाती मगी चलि चलि पन्थी जाव
नुवणि नन भुमन तसु मिलित
लिखि नख काजल नख लखणि
मसि काजल आंसू मिलित॥

पत्र में लिखा कि विवाह का बना में अब केवल तीन दिन बाकी हैं, इस षड्यन्त्र के विषय में क्या कहूँ? अम्बिका के मन्दिर में मैं पूजा के बहाने आऊँगी। अशरण को शरण देने वाले कृष्ण तुम्हारी मैं शरण हूँ।

त्रिति दाह नगन कना ग्राण ते
पणु भिणु वहिज आ पात।
पूजा मिसि आविसी पुरसोतम
अम्बिकालय नयर ग्रारात॥[3]

---

1 'वेलि क्रिसन रुकमणी री', पृ० ७०-७१, ठाकुर रामसिंह और प० सूर्यकरण पारीक द्वारा सम्पादित
2 वही, पद ४२
3 वही पद ६६

रुक्मिणी ने यह पत्र एक ब्राह्मण को दिया। द्वारिका म ब्राह्मण के हाथ सदेश पाकर कृष्ण कुन्दनपुर जान को तत्पर हुए। उधर रुक्मिणी सोच रही थी

'भगवान अवश्य रह गए, इतनी दर तो पहल उन्हान कभी नही की थी।' वह चिन्तातुर हो उठी तभी एक छीक हुई—

रहिया हरि महि जाणियो रुपमणि
कीध न हुवडी ढील कई॥
चिन्तातुर चित इम चितवन्ती
थई छीक तिम धीर पई॥[1]

छीक स कुछ धय बँधा। सामन ब्राह्मण को आता दखकर—

चलपन थियौ दुज देखे चित
सक न रहति न पूछि सकति।
आ आव जिमि जिमि आसन्नो
तिम तिम मुख धारण तकन्ति॥

सदेशा सुनन को तत्पर नायिका के 'वपथु' और 'स्तम्भ' अनुभावा का सुदर वणन कवि न इन शब्दा म किया है—वह पीपल के पत्ते की भाति कापती थी और जस-जसे ब्राह्मण निकट आता था, वह अधीरता से प्रतीक्षा कर रही थी। प्रेम के प्रतिदान की अनिश्चितता और उत्कठा के कारण उत्पन्न 'स्तम्भ' का मनोवज्ञानिक दिग्दशन किया गया है।

ब्राह्मण से यह सदेश सुनन पर कि 'किसन पधारया लोक कहति' रुक्मिणी पावती के मदिर म गई। कृष्ण वहाँ से उनका अपहरण करके द्वारिका ल गए।

रुक्म के मनिका म कृष्ण के युद्ध के पश्चात् कवि ने कृष्ण रुक्मिणी के आमोद प्रमोद का वणन किया है।

'रुक्मिणी री वेल' राजस्थान के रासा ग्रथा की पद्धति का ही विरह-काव्य है। किन्तु रुक्मिणी का प्रेम शुद्ध लौकिक नही है प्रिय म प्रेम क स्थान पर पूज्य बुद्धि ही अधिक दिखाई पडती है। क्योकि कवि स्पष्ट कहता है कि चौदह विद्याओ और चौंसठ कलाओ म उसने कृष्ण का अधिकार पाया था

जाणि चतुरदस चौंसठ जाणी।
अनन्त अनन्त तसु मधि अधिकारा॥

और तब सदेश कहा था

सरण तुझ असरण सरण।[3]

भगवान की महिमा जानकर भक्त इष्ट के प्रति प्रयत्नशील होता ही है।

---

१ विद्यापति की पदावली, पद ७० ठाकुर रामसिंह और प० सूयकरण पारीक द्वारा सम्पादित
२ वही, पद ७१
३ रुक्मिणी री वेल, पद ५८

मान विप्रलम्भ

मान दो प्रकार का कहा गया है ईर्ष्यामान और प्रणयमान। विद्यापति में दोनों प्रकार के मान वर्णन मिलते हैं। ईर्ष्यामान में नायिका नायक के शरीर पर अन्य नायिका द्वारा किए प्रणय चिह्न से अथवा नायक की किसी अन्य चेष्टा से उसके अन्य के प्रति अनुराग का अनुमान करती है। विद्यापति की राधा कहती है

कुकुम लागल नखखत गोइ।
अधरक काजर अपलहु धोइ॥२॥
नइया न छपत कपट बुधि सारि।
नोचन अरुन बरत अन चारि॥४॥[1]

प्रणय के आधिक्य में भी कभी कभी मान का अस्तित्व कहा जाता है

गेला माधव रतनहि मन्दिर
निरमल नयनक मूल।
रस रंग नाम्न दर उपजल
कोइ चचन तुअ रस॥२॥[2]

मान का एक आवश्यक अंग मनुहार है। विद्यापति कहते हैं

नागर अथवन भर धरि नागरि।
हसि मिलना कर राधा॥४॥[3]

इस मान का कारण राधा की समझ में नहीं आता

गइ मगि अनुनय मान।
कारन निछयो बुझए न पाइए॥४॥

राधा के ये शब्द उनके भोलेपन के परिचायक हैं।

बीसलदेव रासो की राजमती बारह बरस तक प्रिय के लिए तड़पती रही थी। प्रिय के आगमन की दशा में राजमती की उत्कण्ठा और हर्ष विह्वलता का वर्णन इन शब्दों में हुआ है

धारा रणी अन हायडउ लगाई।
जाणिक बाछरू है मल्हा गाई॥
नयन तं आंसू भरिया।
वउ कर अटरयां माभरया राव॥[4]

जैसे गाय बछड़े को हृदय से लगाती है वैसे बालम को हृदय से लगाती हुई राजमती

---

१ 'विद्यापति' ... पद २३८
२ वही पद १५४
३ ... वही पद १५५
४ ... पद ८०, ...

आँखों में अश्रु ढालती है और कहती है
"सांभ्या नरेश मुझसे कब भेंट करेंगे।'

शृंगार के प्रति उसकी उदासीनता का एकदम लोप हो गया। गाय के उछड़े का हृदय लगाने से वत्सा को अत्यन्त प्रेम से हृदय लगाने की उपमा बड़ी सगवत है।

मिलन की वेला उपस्थित होने पर यह विह्वलता ही 'मान' बन गई। मनुहार की आकांक्षा में ही प्रेमी रूठता है। प्रणयमान का चित्र कवि ऐसे उपस्थित करता है

रूठी गोरी अल्यग न लेहि।
पल्यग बइसइ नवि पान नु लेहि॥
ऊभी दइ छइ ओलभा।
भरि लागइ अरि माड पूछइ वाह॥
कत भरोसा काईं करो?
बारा वरस कीम रहज्या नाह?[1]

रूठी हुई गोरी आलिंगन नहीं लेती। पलंग पर बैठी है किन्तु पान नहीं लेती। मुख मोड़कर उपालम्भ देती हुई कहती है

हे प्रिय तुम्हारा क्या भरोसा? तुम पर विश्वास कैसे करूँ? बारह बरस तक स्वामी (मेरे बिना) कैसे रहे?

प्रवास

हिन्दी के प्रारम्भिक ग्रन्थों बीसलदेव रासो, पृथ्वीराज रासो, ढोला मारूरा दूहा आदि में प्रवास के सुन्दर चित्र मिलते हैं। संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने प्रवास को शाप हेतुक और कार्यहेतुक बताया है, हिन्दी के इन ग्रन्थों में प्राप्त चित्रों के आधार पर यदि हम उसका एक और विभेद प्रणयहेतुक कर दें तो अनुचित न होगा। यहाँ नायक या तो किसी अन्य नायिका के प्रणय का अभिलाषी होकर नायिका को छोड़ जाता है अथवा प्रणयिनी के किसी व्यंग्य से आहत होकर उसकी पूर्ति के लिए निकल पड़ता है।

ढोला मारूरा दूहा में ढोला मारूणी से मिलने की इच्छा जब मालवणी के सम्मुख प्रकट करता है तो वह विकल हो उठती है। अनेक प्रकार से वह ढोला को रोकने का प्रयत्न करती है ऋतुओं के उद्दीपन प्रभाव को बताकर, ऊँट को अपनी ओर मिलाकर, किन्तु अन्त में असफल हो जाती है। जब ढोला विदेश जाने को प्रस्तुत हो ही जाता है तो दुखी होकर कहती है—'ओ प्राण तू बड़ा निलज्ज है, तुझसे निकला भी नहीं जाता। प्रियतम के बिछुड़ते समय तू नहीं निकला मुझे लजाने के लिए रह गया।'

हइ रे जीव निलज्ज तू, निकस्यू जात न तोहि,
प्रिय विछुड़त निकस्यउ नहीं रह्यउ लजावण मोहि॥[2]

---

१ बीसलदेव रासो, तृतीय सर्ग पद ८४, सम्पादक सत्यजीवन वर्मा
२ ढोला मारूरा दूहा, दोहा ३७३

मालवणी का प्रेम पति-परायणा स्वकीया का प्रेम है जो सीता की अनुसूइया के उपदेशानुसार पति के मूर्ख, बधिर और अन्य स्त्री में अनुरक्त होने पर भी कम नहीं हो सकता। जो सोना मालवणी के सन्देश ले जाने वाले सुग्गे से अत्यन्त तिरस्कार भाव से कहती है

मूडा, मगण अ परिसा म्हाकउ कहियउ करेज,
नव मण चन्दण मण अगर मालवणी दाग ज ॥[1]

'हे सुए तू गणवान पक्षी है हमारा एक कहना करना—नौ मन चदन और एक मन अगर लेकर मालवणी का दाह कम कर देना।

उसी ढोलाकुमार के लिए मालवणी विधाता से, विनती करती है—"हे विधाता मुझे चातक पक्षी क्यों नहीं बनाया। मैं मार्ग में प्रिय ढोलाकुमार के ऊपर छाया करती रहती।

पांखनि काइ न सिरजिया भवर लागि रहत।
मारू चलता मारूह प्रिय ऊपर छाह करत ॥[2]

मालवणी की निराशा और उसके जीवन की निस्सारता की उपमा खाली सुराही से देकर मारूरा दूहा के निर्माता ने उसकी व्यथा को अमर बना दिया है

आसि निराशा जलनस प्रिय करि ढलरियाह।
मतवाला री जाम ज्यउ पिव नह पलहरियाह ॥[3]

'हे प्रियतम! तुमने छककर मुझे त्याग दिया। मतवाले की सुराही की तरह पीकर तुमने मुझे खाली किया अब आ जाओ।

वीरसिंहदेव रासो में नायक नरेश वामनदेव की उपेक्षा भाव और उनकी पत्नी रामरानी की विरह-वेदना वर्णित है। वामनदेव अपने राज्य और बाहुबल पर बड़ा गर्व था।

फिर उसने न परिपूरित राजा न राजमाता न रहा
मगर न राजा रा मा भरतार

गर्व न वाना रा मालवगा राव
ना उगाना धाना और सुजान ॥
[illegible] उ [illegible] जा [illegible] अगा
मान म्यारद तं मान जु मानि ॥[4]

---

[1] [illegible]
[2] [illegible]
[3] [illegible]
[4] [illegible]

तब—

घणक गाल वस्यो मन माहि।
चित चमक्यिउ बीसलराय।
हूँ बीसद्धया ते बेदिठा।
म्हा तु वरस बारह की लाव॥[1]

"स्त्री का बोल मन में चुभ गया, बीसलराय चौंक सा गया। मैं अब तक भूला था, अच्छा हुआ तुमने जगा दिया। अब बारह वरस के प्रवास के लिए जाऊँगा।" राजमती को पता न था कि प्रिय इतनी जल्दी रूठ जाएँगे उस बेचारी ने क्षमा याचना भी की

हूँ गराबी धणी ! माकियउ रोस।
पाव की पाणही सूँ कियउ रास॥[2]

'मैं नीच हूँ गरीब हू, हे स्वामी ! अपने क्रोध को त्यागो। कोई पाँव के जूते पर क्रोध करता है।'

तब राजा ने कहा

जीभ न जीभ वियागना।
दव का दाझा कुपली मल्हो।
जीभ का दाधा न पागुरई॥[3]

"अब बात बनाने से बात नहीं बन सकती। अग्नि का जला हुआ वृक्ष कोंपलें फेंक सकता है किन्तु वचन का जला हुआ आदमी नहीं पनपता।

राजा ने जाने की मन में ठान ली। सखियों ने राजमती को बुरा भला कहा

निगुणी गुण होई ता प्रीय क्यू जाई?[4]

निगुणी में गुण होता तो प्रिय क्यों जाता?"

बेचारी राजमती कठिनाई में पड़ गई। सब उसे ही बुरा कह रहे थे। उसने बहुत चाहा कि राजा अपने जाने का विचार स्थगित कर दे। मुहूर्त निकालने वाले पण्डित से प्रार्थना की, "तुम्हें हाथ की मुंदरी दूंगी, मुहूर्त के दिन एक मास देर से निकाल देना।"

मास एक बीलवावज्यो
दूजइ फरस प्रीय समझाई।
देइस हाथ कउ मुदडउ,
सोवन सिंगी नइ कपिला गाइ॥[5]

पण्डित ने प्रयत्न करके भी देख लिया किन्तु वह असफल रहा। बीसलदेव विदेश

---

१ बीसल देव रासो, द्वितीय सर्ग, पद ५
२ वही, पद ६
३ वही, पद १८
४ वही, पद १६
५ वही, पद २५

जाने लगा। और:

चालइ उनिमाणा, धन जाण न देहि।
कै माहि मारि, कइ साथि तु लेहि॥
अचन गहत धन रहा।
पर इतनी जोवन पूर।
सूनी सेज वीदेस पीउ॥[1]

विरह जाते हुए (प्रिय को) वह उन्हें जाने न देती थी। या तो मुझे मार दो या साथ ले चलो। वह अचानक ही पकड़नी रह गई पूर्ण यौवन में एकाकी। प्रिय के विदेश में जाने से सेज सूनी हो जाएगी। आओ ने वीसलदेव को समझाया परन्तु उसकी भी जब जाने पर न सुनी तो राजमती उदास हो गई। सम्भवतः चलते समय अपशकुन हो जाए तो राजा न जाए इस विचार से अपशकुन के परिचायक पशु पक्षियों से भी उसने विनती की कि प्रिय के सम्मुख जाते समय आ जाना। उसकी विवशता तब बहुत ही करुण-सी प्रतीत होती है जब वह महल पर रहने वाले नाग से विनती करती है कि विदेश में जाते हुए प्रिय को यदि रोक लोगे तो सोने की कटोरी में दूध पिलाऊँगी।

उनिमणउ धरि राखज्यो।
तुम्हा को प्रीय पाछो वाहुडइ।
सोवन कचोला नाहि पाइस्यु दूध॥[2]

किन्तु फिर भी राजमती वीसलदेव को रोक न सकी। उसके प्रति अगाध प्रेम रखकर भी वीसलदेव उसके आग्रह को न सुन सका। जब वह पति का आँचल पकड़कर खड़ी थी तब राजा वीसलदेव ने प्रेम प्रकट कर उसका आलिंगन भी किया। जब राजमती ने यह कहा कि तुम्हारे बिना घर उजाड़ सुनसान हो जाएगा तो उसने उसे मनाते हुए कहा—गोरी उठो शृंगार करो तुम्हारे लिए बहुत सी कंचुकी और हार लाऊँगा।

आँचला गहता उदमाडी छइ प्राण।
हमा घर वाइ नरे भाजिय वाण॥
ना धन रावइ पोतनू।
गिरत्य स्यो ! तइ न गमी मान॥
पर सुनो घर आवज्यो।
मो विण माहवद होइ परिरान॥[3]

उठो उठो गोरी करि सिंगार।
नागणउ रांचउ नवसर हार॥

---

[1] [illegible] [illegible], [illegible] [illegible], सम्पादक [illegible], नागरी प्रचारिणी सभा
[2] [illegible]
[3] [illegible]

पहिर नु चाली नवरंगी।
बावन चन्दन अंग सहुमाई॥
चित फारया मन उचटया।
रूठी गोरी रहइ मलिलाई॥[1]

राजमती विलम्ब उठी। बीसलदेव चला गया। पति के जाने के बाद राजमती का महल सूना हो गया। उस सूने मन्दिर मे वह चिल्लाकर रोती है मोर की-सी वेदना अपने स्वर मे भर कर

प्रीय बोलाव धन रोवती जाई।
सूनउ मंदिर मलहइ छ धाह॥
मा घन कुरलइ मोर ज्यु॥[2]

उसका रात दिन चिन्ता करने मे बीतता है

दिउसनइ रात मौ चिंताता जाई।

वह अपने हृदय की भर्त्सना करती है—तू पत्थर का बना है या लोहे का जो प्रिय के बिछुड़ने पर भी निर्दयी नही फटता, यद्यपि जर्जरित हो गया है।

फटि रे हिया ! नीवालूवा।
पाथरी घडीयो के नीघट लोह॥
भरयभलीया फूटइ नही।
सगुणा प्रीतम तणो बिछोह॥[3]

हे विधाता तूने मुझे वनखंड की काली कोयल क्यो नही बनाया, किसी चम्पा की डाली अथवा अंगूर की शाखा पर अपने जोडे के साथ बैठती—

सूरह न सिरजी धीणु गाई।
वन-खंड काली कोईली।
बइसती अंब कइ चंप की डालि।
बइसती दाख बीजोरडी।
इणि दुख झूरइ अबला बालि॥[4]

वियोग मे अतीत की स्मृति कभी स्वप्न बनकर साकार हो जाती थी किन्तु उस स्वप्न के मिलन मे भी विदेश जाने का यथार्थ बाधा बन जाता—

आज सखी सपनंतर दीठ।
राग चूरे राजा पल्यगे बईठ।

---

१ बीसलदेव रासो, द्वितीय सर्ग, पद ६४, सम्पादक सत्यजीवन वर्मा, नागरी प्रचारिणी सभा
२ वही, तृतीय सर्ग, पद १
३ वही, ३
४ वही, पद ४

ईसा हो झभारो मइ भयीयो।
जो हूँ सोहिणइँ जाणती साँच॥
हृठि कर जातो राखती।
जब जागु जीव पडि गया दाह॥[1]

'हे सखी! आज राजा का सपन में देखा था। राग (प्रेम) में चूर राजा पलंग पर बैठे थे। इसी बीच मैं (अतीत की वास्तविकता की धुंधली स्मृति से) मैं दुखी हुई। जो स्वप्न में भी मैं सचमुच जानती कि राजा चले जाएँगे तो उन्हें हठपूर्वक रोक लेती किन्तु जब (पखराकर) जागी तो राजा के अभाव में फिर पीडित हो गई।"

विरह में राजमती मत्त-सी हो गई। वह चन्द्रमुखी मतवाली सी राजा के आँगन में घूमती रहती आँखें लाल रहतीं और भौंह भूले हुए भ्रमर सी भ्रमित, शरीर इतना कृश हो गया था कि मांस के अभाव में अंगुलियाँ मूंगफली सी दिखाई पड़ती थीं।

ससी-वदनी जीतयो मात मयद।
आपडिया रतनालियाँ॥
भौहरा जाण भमर भमाय।
मगफली सी आँगुली॥[1]

न उन्हें भूख लगती थी न प्यास और विरही को नींद तो आती ही कहाँ है। राजमती की यह दशा उद्वेग है। शरीर की कृशता व्याधि की सूचक है।

भूख नहीं त्रीम ऊंघली।
उणो घटा नाद बहा थी हाई ?[2]

अगहन में दिन छोटे होते हैं (रातें बड़ी) सन्देश के अभाव में चिन्तित राजमती की पीड़ा और बढ़ गई

मागण घर दिन छोटा हाइ।
सखी सदेशा मोकलउ काइ॥
सन्देसाहि बनज पड्या॥[3]

'अगहन में दिन छोटे होने लगे। सखी कोई सन्देशा ले आवो। सन्देशा में भी कोई बाधा पड़ी है अर्थात् बाधा पड़ी है कि (सन्देशा नहीं आया)।

पूस के महीने में जाड़े के आगमन के साथ वियोगिनी राजमती का हृदय भी शीत से जड़ीभूत हो गया

दसो सखी हिव लागे छइ पाम।
धन मरती मति लावउ हो दोम॥
दुग नाली पजर हुई।

---

१ बीसलदेव रासो नन्दकुमार, पृ० ४ छन्द ६ सत्यनारायण त्रि० नागरी प्रचारिणी सभा
२ वही, पृ० ७
३ वही पृ० ८
४ वही, पृ० ६

अपनी स्थिति की व्यजना स्वय अपने शब्दो म इस प्रकार करती है

कवियक झूपडा होई मसाण।[1]

कवि की कल्पना-सा सुन्दर महल श्मशान-सा हो गया है।

'माह' मे समस्त सृष्टि अत्यन्त शीत से काप रही है किन्तु मदार के वन के समान विरहिणो का हृदय भी जल रहा है

माह माम पड्यो अतिसार।
जल थल महीयल सुह्र कीया छार॥
आक दयता वन दह्यो।
चालो माहि थी दाधउ छइ गात॥[2]

विरहिणी को लगता है जैसे फाल्गुण की वायु ससार को जला रही है

सखी वाव फल्कती जाइ ससार।[3]

चैत्र मे सबको होली के वातावरण म रगा देख राजमती विकल हो उठती है। सब ओर सुखी वातावरण स घिरे रहने पर व्यक्ति के लिए अपने सुख का अभाव और तीव्र हो जाता है

चैत्र मासा चतुरगी नारि।
प्रीय विणु जीवू कवण अधार ?[4]

वसाख मे अनाज पक गया, पानी सीला-सा हो गया, पान भी पकने लग, किन्तु राजा पराए द्वार पर घोडे की लगाम थाम घूम रह है।

फिर जेठ आया, बिना जलाए ही दावाग्नि जलन लगी। धरती पर पर नहा रखा जाता

धरती पाई न दणउ जाई
अनवलई दव परजलई॥[5]

इस तरह दस वष बीत गए। ग्यारहवें वष राजमती ने सखी से कहा

आगुली गीणता दिन गया।
काग उडावता दूपइ छइ बाह॥[6]

"विरह की अवधि के दिन अँगुली से गिनत गिनते व्यतीत हो गए। काग उडाते-उडाते बाँह दुख गई।"

---

१ वीसलदव रासो तृतीय सग, पद १०, सम्पादक—मत्यज वन वमा नागरी प्रचारिणी सभा
२ वही, पद ११
३ वही पद १३
४ वही, पद १३
५ वही, पद १६
६ वही, पद २३

तब पंडित के द्वारा राजमती ने राजा के पास संदेश भेजा।

पंडित ने रानी की विरह-दशा का जो वर्णन राजा से किया है, वह भी अत्यन्त मार्मिक है

> कूलह की वडा मीयल जजीर।
> जोवन राखो चोर ज्यू ॥[1]

कुल मर्यादा की बड़ी तथा शील अर्थात लज्जा की उसने जंजीर बनाई है। इसी से उसने यौवन के चोर को पकड़ रखा है।

इस तरह राजमती का विरह काफी मार्मिक है। विरह में व्यतीत हुए बारहमासा में नायिका की विरहिणी ने प्रकृति को काफी निकट से देखा है। उद्दीपन रूढ़िगत नहीं है स्थान स्थान पर उनमें नवीनता मिलती है—अनाज पक गया, पानी सीला-सा हो गया पान भी पक गए।

पृथ्वीराज रासो में प्रवास विरह के दो मुख्य स्थल हैं। एक तो पृथ्वीराज की कन्नौज यात्रा के समय उनकी प्रवत्स्यत्पतिका रानियों के द्वारा उनको रोकने के प्रयत्न स्वरूप ६१वें समय में दूसरा संयोगिता विवाह के उपरान्त पृथ्वीराज के गोरी से मोर्चा लेने जाने के समय ६६वें समय में।

पहले में कन्नौज जाने के लिए प्रस्तुत राजा इच्छनी के महल में सम्मति लेने के लिए जाते हैं। वह ऋतु वर्णन करके उनसे रुकने के लिए प्रार्थना करती है। उस समय वसन्त ऋतु है

> मवरि अंब फुल्लिअ कदंब रयनीय दिध दीस
> भवर भाव भुल्लेत भ्रमंत मकरंद्व सीस।
> वहत वात उज्जलति अति विरह अगनि किय
> कुहु कुहुंत कल कंठ पत्र राषस रति अग्गिय।
> पय लग्गि प्रानपति वीनवौं, नाह नेह मुझ चित धरहु
> दिन दिन अवद्धि जुब्बन घटय कंत बसन्त न गम करहु ॥[2]

इच्छनी की प्रार्थना सुनकर पृथ्वीराज रुक जाते हैं और दूसरी रानी की आज्ञा लेने के लिए अगली ऋतु में उसके महल में जाते हैं। वह भी ऋतु का वर्णन करके उन्हें जाने से रोक लेती है। इसी तरह ग्रीष्म वर्षा, शरद हेमंत, शिशिर सब ऋतुएँ एक एक रानी के महल में निकल जाती हैं।

इन ऋतु वर्णनों में हम ऋतुओं की विशेषता के साथ यह उल्लेख बराबर मिलता है कि प्रिय से संयुक्त सुखी क्या है और विरही दुखी क्या। शिशिर वर्णन में रानी कहती

---

१ बीसलदेव रासो तृतीय सर्ग, पद ५२
२ पृथ्वीराज रासो, पृष्ठ ५६८, सम्पादक कविराव मोहनसिंह

आगम फाग अवत, कत सुनि मित्त सनेही।
सीत अत तप तुच्छ, होइ आनन्द मन ग्रेही॥
नर नारी दिन रन, नन मदमाते डल्न।
सकुच न हिय छिन एक, वचन मनमाने बुल्ल॥
सुनी कत सुभ चित करि रयनि गवन किम कीज्जिय।
कहि नारि पिय विन कामिनी, रिति ससिहर जिज्जय॥[1]

पथ्वीराज की प्रयक रानी रति के लिए आह्वान करती है। राजा अपना जाना त कर देते हैं।

प्रवास विप्रलम्भ का दूसरा अवसर सयागिता के विवाह के पश्चात है। महाराज ीराज आक्रमणकारी गोरी से मोचा लेने जा रहे हैं सयोगिता के जीवन का यह म मिलन और प्रथम वियोग है। इस स्थल पर कवि न सयागिता की दिशा का वडा मक चित्र खीचा है

नप पयान पोमिनि परपि, घटि साहस घटि एक।
सुकय केलि पियूष पिय, जतन करहि सपि केक॥
जतन करहि सखि केक लय करि जय-जय जपहि।
दन कप्ट कर मिडि, यरकि थरहर जिय कपहि॥
इह प्रयान नप करत, परी सजागि धरा धपि।
सपी करत सब जतन, चलत पयान तहाँ नप॥९७॥[2]

राजा जा रहे हैं, यह जानकर उस पद्मिनि (सयोगिता) का साहस एक घडी म : गया। सखियो के उपचार का कोई प्रभाव न पडता था, आह शब्द के साथ मुह से र जय बोलती थी, कष्ट से दात बन्द हो गए। शरीर थराता और हृदय धडकता था। ति के प्रयाण करते ही सयागिता भूमि पर गिर पडी। व्याधि, उन्माद, जडता वपथु र मूच्छा अनुभावो तथा सचारियो का वणन वहा सयागिता का विरह दशा की सुन्दर जना कर रहा है।

जब पथ्वीराज के प्रयाण का द्योतक घडियाल बजा, तब—

दुतिया चन्द पुनिम जिमै, वर वियोग वढि बाल॥[3]

द्वितीया का चन्द्रमा वढकर जसे पूर्णिमा के रूप मे परिणत हो जाता है, वस ही योगिता का वियोग वढा। नयन अन्ध से हो गए और वह मूच्छित हाकर भूमि पर गिर डी

---

[1] पृथ्वीराज रासो, पृष्ठ ५८६, सम्पादक कवराव मोहनसिंह
[2] सक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, पृष्ठ १३६, सम्पादक हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा नामवरसिंह
[3] वही, १४७

दपत नन सुज्झ न दिसि, परिय भूमि मयार।
सजोगी जोगिनि भई जब वज्जिग घरियार ॥[1]

सजोगिनी का अनायास जोगिनी बन जाना अत्यन्त सुन्दर प्रयोग है, वह संयोगिता की मानसिक दशा का मर्मस्पर्शी द्योतन करता है। नवविवाहिता संयोगिता जो कुछ क्षण पूर्व हास विलास में निमग्न थी अचानक ही पति के प्रयाण से जोगिनी सी हो गई। गौरा ने मार्ग रोका कोई साधारण कार्य न था।

संयोगिता की विरह दशा की अन्य अनेक भावपूर्ण व्यंजनाएँ चन्द ने की हैं

उस बाला का वियोग ऐसा बढ़ा जैसे द्वितीया का चन्द्रमा पूर्णिमा का बन जाता है यौवन वृद्धावस्था की ओर बढ़ने लगता है। जिस दिन चन्द पर (प्रिय समागम का अनुभव करने के पश्चात्) कुलकामिनी की लज्जा बढ़ने लगती है। रावत की सेना के चलने के साथ बाला का वियोग बढ़ने लगा जैसे कर्क राशि में क्रमशः रात्रि बढ़ती है और मकर राशि में दिन।

बढ़ि वियोग बहु बाल चन्द बिय पूरन मान।
बढ़ि वियोग बहु बाल बढ्ढ जोवन सनमान॥
बढ़ि वियोग बहु बाल दीन पावस रिति बढ्ढ।
बढ़ि वियोग बहु बाल लज्जि कुल वधु दिन चढ्ढ॥
बढ्ढ वियोग बालनि विरति उत रावत सेना चढ़िय।
करकराशि निसा मकराशि दिन बाल वियोगत मन बढ़िय॥[2]

पृथ्वीराज के प्रस्थान के पश्चात् वियोगिनी संयोगिता की दशा विचित्र हो जाती है। संयोगिता विरह से तपती है

वही रति पावस, वही मघवान धनुष
वही चपल चमकन्त, वही बगपत्त निरप्प
वही घन घनघोर वही पप्पीह मोर सुर।

किन्तु

संजोगि पयपात कत बिन, मुहि न कछू लागत रलिय॥[3]

यद्यपि वही पावस की रातें हैं वही इन्द्रधनुष है। वही चपला चमकती है वही बगुलों की पंक्ति है वही घटा घनघोर है और वही मोर का स्वर, किन्तु प्रियतम के बिना मुझे कुछ अच्छा नहीं लगता।

सामान्य विरह की तुलना में अतीत के सुखों का स्मरण वेदना को अधिक मर्मस्पर्शी बना रहा है। गजनी के कारागार में पड़े हुए अंधे राजा पृथ्वीराज का पश्चात्ताप भी अत्यन्त करुण है

१ संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो पृष्ठ ११७ सम्पादक हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा नामवरसिंह
२ पृथ्वीराज रासो [illegible] पृष्ठ १६१ छन्द ६४४, सम्पादक विपिन बिहारी त्रिवेदी
३ [illegible]

नही सूर सामन्त परिवार दस,
नही गज्ज बाज भण्डार निलेस।
नही पगजा प्रान ते अति प्यारी,
नही गोप महिला, इत चित्रसारी।
नही मगनयनी घरन तलास,
नही कूक काका सवद्द उलास ॥[1]

अतीत के वैभव विलास के साथ प्राणप्रिय रानिया की स्मृति भी राजा को कचोटती है। इसको अतीत मे प्राप्त उपलब्धिया के अभाव का रुदन ही कहा जा सकता है, किसी विशिष्ट प्रिय व्यक्ति के अभाव की विरह वेदना नही। सकडा रानिया का अन्त पुर म छोडकर आन वाले सामन्ती राजा स इससे अधिक आशा भी नहा की जा सकती।

करुण विप्रलम्भ

विद्यापति की राधा के विरहको यहाँ वियोगावधि के अनन्त होने के कारण 'करुण विप्रलम्भ' के अन्तगत लिया गया है। कृष्ण मथुरा चले गए। राधा सखी से कहती है

सखि मोर पिया।
अबहु न आओल कुलिस हिया ॥२॥
नखर खोआओल दिवस लिखि लिखि।
नयन अधाउल पियापथ देखि ॥४॥[2]

सखि मेरा प्रिय वज्र-हृदय है। अवधि के दिन लिखते लिखते नाखून घिस गए, प्रिय का पथ देखते-देखत आखें पथरा गइ।

कभी स्वप्न का क्षणिक मिलन राधा की व्यथा को तीव्रतम बना जाता है

सपनहु सगम पाओल
रग बढाओल रे।
स मोरा विहि बिघटाओल
निन्दओ हराएल रे ॥६॥[3]

स्वप्न म कृष्ण स रग बढ रहा था कि विधाता ने बाधा डाल दी, नींद नष्ट हो गई।

विद्यापति की पदावली म बारहमासा रूढिगत ही है, उद्दीपन रूप है, कोई विशेष नवीनता नही है।

अन्त म विरहिणी राधा का वणन विद्यापति इस प्रकार करते है

---

१ सक्षिप्त पृथ्वीराज रासो पृष्ठ १४४ सम्पादक हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा नामवरसिंह
२ विद्यापति का पदावली, पद १६४, सम्पादक रामवृक्ष बेनीपुरी
३ वही, पद १६३

लोचन नीर तटनि निरमान।
करए कलामुखि तथिहि सनान॥२॥[1]

"आँखों के नीर की नदी का निर्माण करके राधा उसी में स्नान करती है।" विद्यापति की राधा का विरह स्वयं एक स्वतन्त्र विवेचन का विषय है। अतः उसकी मार्मिकता के विस्तार में न जाकर यहाँ केवल संकेतमात्र किया है।

भक्तिकाव्य में विरह भावना

साहित्य में युग-युग में अभिव्यक्त विरह भावना का अध्ययन विवेचन करते समय हमने देखा है कि नर-नारी के सहज सम्बन्ध में परिस्थितिवश अवरोध उत्पन्न हो जाने पर भावों का रूप लगभग वही रहता है जो प्रारम्भ में था, अर्थात् ऋग्वैदिक काल में (प्रारम्भ उसको इसलिए कहा है क्योंकि वही मानव की भावनाओं का प्रथम लिपिबद्ध प्रमाण है)। ईसा की ११वीं १२वीं शताब्दी तक भारत में परिस्थिति कुछ कुछ परिवर्तित होने लगी थी। निरन्तर होते हुए विदेशी आक्रमणों के विप्लव में भारतीय जन-जीवन का हास किनारा बच कर जीवित रह सकता था? १४वीं शताब्दी के आरम्भ तक इस परिवर्तित होती हुई परिस्थिति का रूप पर्याप्त स्पष्ट हो गया। उस कठिन काल में नर नारी का परस्पर उन्मुखी भाव न रहा होगा यह तो नहीं कहा जा सकता किन्तु यह अवश्य है कि जीवन की क्षणभंगुरता के भाव ने मानव के मानस को पूर्णतः अभिभूत कर लिया और इस निर्द्वन्द्व स्वाभाविक वृत्ति के प्रति भी विरक्ति का विष बीज उगने लगा। इस काल के प्रारम्भ के साथ नर-नारी के सहज प्रेम की अभिव्यंजना लुप्त सी होती दिखाई पड़ती है।

अपने को किसी के अस्तित्व में विलीन करने के मार्ग में जब अवरोध उत्पन्न हुआ तो भावुक का मानस विद्रोह करने लगा। वह किसी ऐसे की खोज करने को आतुर हो उठा जो पार्थिव की भाँति नश्वर न हो, जिसमें समाकर उसकी भावनाएँ शाश्वत हो जाएँ और मन में उठा वह मिल भी गया। कल्पना के सौन्दर्य में भावुक ने आदर्श प्रिय अपार्थिव के प्रति अपनी भावनाओं को अर्पित कर दिया। कुछ ने सगुण साकार की कल्पना की जो मानव की भाँति भावनाओं का आदान प्रदान करते हुए भी अनश्वर था और कुछ ने अपने प्रिय के विश्वव्यापी रूप से स्वयं को सन्तुष्ट करते हुए उसे किसी रूप में सीमित करना अनुचित समझा। किसी व्यक्तित्व में सीमित न होने पर भी निराकार के उपासकों का प्रिय अरूप न रह सका, उसका रूप बना यह और रहस्य है। मन की भावनाओं का आलम्बन चाहिए इसीलिए कबीर जैसे निर्गुणियों का प्रियतम भी भावुकों के मन में सर्वगुण सम्पन्न मानव का अतीन्द्रिय रूप धारण करने को बाध्य हुआ। भावना के और अधिक अतिरेक में वह अतीन्द्रिय भी न रह सका और कबीर पुकार उठे—

---

[1] पदावली पद २१०, सम्पादक रामवृक्ष बेनीपुरी

वे दिन कब आवहिंगे माइ
जा कारनि हम दह धरि है मिलिबो अग लगाई।[1]

इस युग के निगुण उपासकों म एक ओर कबीर और उनकी परम्परा है, दूसरी ओर जायसी प्रभृति सूफी कवियो की। सूफी साधको न लोक म प्रचलित कथानको के प्रवाह म आध्यात्मिकता का रंग भरने का प्रयत्न किया है। प्रब ध के प्रवाह म प्रेम और विरह की अनेक अभिव्यक्तिया इनके काव्य म उपलब्ध ह। अपनी सब विरहानुभूतिया को यद्यपि ये सूफी साधक आध्यात्मिक बताते हैं किन्तु कुछ इन गिने क्षणो को छोडकर उसकी आत्मा लौकिक ही प्रतीत होती है। इसी स मध्ययुग के विरह-साहित्य का इस धारा को इस काल के अ तगत रखकर भी उसका विवेचन यहा पृथक रूप से किया गया है। सूफियो के प्रतिनिधि कवि जायसी हैं अत उनके पद्मावत के विरह विवेचन के द्वारा इस परम्परा के काव्य की विरहानुभूति की प्रकृति को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

पूवराग

पद्मावत—जायसी के पद्मावत म पूवराग कई स्थानो पर मिलता है। इसका प्रथम दिग्दर्शन तब होता है जब हीरामन तोता रतनसेन से पद्मावती का रूप-गुण वर्णन करता है। रतनसेन का प्रेम स्वय जायसी के अपने शब्दो म भ्रमर का प्रेम था, उसम एकनिष्ठता का अभाव था। उसे रूप का लोभ कह सकते हैं।

हीरामन जो कँवल बखाना। सुनि राजा होइ भँवर भुलाना॥[2]
× × ×
कहु सुगध धनि कस निरमली।
भा अली सग कि अबहा कली?[3]

पद्मावती के दर्शन के बाद प्रेम की पीडा बढ गई

मसि नैना, लिखनी बरूनी, रोइ रोइ लिखा अकत्थ।
आखर दहै, न कोइ छुव, दीन्ह परेवा हत्थ॥[4]

नैनो (के अश्रु) की स्याही व पलको की लखनी बनाकर जो पत्र लिखा गया था उसम लिखा था

नैनहिं नैन जो बेधि गए, नहिं निकसे व बान।
हिए जो आखर तुम्ह लिखे, ते सुठि लीन्ह परान॥[5]

नैनो के बाण विशिष्ट रूप से चुभ गए हैं। हृदय में जो अक्षर तुमने लिखे है उन्होने मेरे प्राण ले लिए है।

---

१ कबीर ग्रथावली, श्यामसुन्दरदास
२ जायसी ग्रन्थावली, पृष्ठ ८, रामचन्द्र शुक्ल
३ वही, पृष्ठ ३९
४ वही, पृष्ठ ६६
५ वही, पृष्ठ ६७

यहां रही अतिशयोक्ति भी है

पाती लिखा सवंरि तुम्ह नाँवा । रक्त लिखे आखर भए सावाँ ॥[1]

तुम्हारा स्मरण करके जो पत्र लिखा है उसमें (हृदय के दाह के कारण) रक्त से लिखे अक्षर श्याम वर्ण के हो गए हैं।

रतनसेन का यह लोभ एकनिष्ठ प्रेम में तब ही परिणत होता है जब पद्मावती को माहत्म्य प्राप्त कर लेता है। उस एकनिष्ठता का दिग्दर्शन तब होता है जब सिंहल के रास्ते में पद्मावती के समुद्र द्वारा अपहृत होने पर लक्ष्मी उसका रूप धारण करके रतनसेन के पास आती है, और—

देखि भा कवल भवर होइ आवा । बास लीन्ह वह बास न पावा ॥

तब—

निरखत आइ लछमी दीठी । रतनसेन तब दीन्ही पीठी ॥[2]

लक्ष्मी ने कहा

हौं रानी पदमावती रतनसेन तू पीउ।

तो रतनसेन ने उत्तर दिया

का तुइ नारि बैठि अस रोई,

फूल सोइ प बास न सोई ॥[3]

रतनसेन के पद्मावती का नाम जपने पर उसमें (पद्मावती में) जो विरह की पीड़ा उत्पन्न होती है, वह भी किसी एक व्यक्ति के लिए नहीं है। वह यौवन सुलभ भावनाओं की चंचलता ही है जो उन किसी भी एक की खोज करती है जिन्हें वे अपना सब कुछ अर्पित कर दें

कह यह भौंर कवल रस लेवा

आइ परै होइ घिरिनि परेवा ॥[4]

धाय के पूछने पर वह कहती है

धरिउँ अथाह धाय। हौ जोवन उदधि गभीर।

तेहि चितवौं चारिहु दिसि जो गहि लावै तीर ॥[5]

वह रतनसेन विशेष की खोज नहीं कर रही थी। उसे किसी एक ऐसे की आवश्यकता थी जो यौवन के उदधि से उबार सके।

मान विप्रलम्भ

जायसी के पद्मावत में मान का अवकाश नहीं के बराबर ही था, क्योंकि रतनसेन

१ जायसी ग्रन्थावली पृष्ठ ६७ [illegible]
२ वही, पृष्ठ १८३
३ वही पृष्ठ १८३
४ वही पृष्ठ ७३
५ वही पृष्ठ ७८

मारहू न सकुमार नद के कुमार ताहि
आय री मनावन सयान सब तकि कै॥
हँसि हँसि सौंह करि करि पाय परि परि,
कसोराय की सो जब रहे जिय जाकि कै।
ताहीसम उठे घन घोर घोर, दामिनी सो
लागी लौटि श्यामघन उर सा लपकि कै॥[1]

प्रकृति का उद्दीपक रूप भी इस मिलन म सहायक होता है।

ईर्ष्यामान का भी अत्यन्त सुन्दर उदाहरण कृपाराम के काव्य म मिलता है—

इन्द्र धनुष सी पति अधरन की आभा।
निरखि वधूमन उपजो पूरन शोभा॥[2]

पति की अधरकान्ति की आभा इन्द्रधनुष के समान देखकर वधू के मन में क्षोभ उत्पन्न होने से यह ध्वनि निकलती है कि नायिका अन्य सभोग दुखिता है। पति के होठ अन्यनायिका के काजल तथा अन्य प्रसाधन आदि के चुम्बन के कारण अनेक वर्ण के हो गए हैं इसी से नायिका समझ लेती है कि प्रिय अन्य स्त्री का समागम होकर आया है और दुखी हो जाती है। रीतिकाल की इन उक्तियों म कहीं कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होती, सामन्ती युग की मिलन-धारा के हृदय की मार्मिक अभिव्यक्ति मिलती है, जो विद्रोह नहीं कर सकती केवल आह भर सकती है। ईर्ष्या का कारण मनोवैज्ञानिकों ने शक्ति का अभाव और विवशता का अवलम्बन माना है जहाँ आहत व्यक्ति अपने को हीन अनुभव करते हुए पीड़ा पहुंचाने वाले को दण्ड नहीं दे सकता वहीं ईर्ष्या होती है। इसी कारण ईर्ष्यामान से पीड़ित नायिका का क्रोध पति पर इतना नहीं होता जितना प्रतिपक्षी स्त्री पर होता है। पति के सम्मुख मान का अभिप्राय केवल अपने अह को प्रतिष्ठित करने के लिए होता है और जहाँ उसकी भी आशा नहीं रहती वहाँ मान की अभिव्यक्ति नहीं होती, वह केवल मन का क्षोभ बनकर रह जाता है—

निरखि वधू मन उपजो पूरन क्षोभा।[3]

एक स्थान पर प्रिय के चिरप्रवास म असन्तुष्ट होकर दिन बिताती हुई नायिका को सखि समझाती है—

आँगिन सा बाँध अन्न काहू को न मागी भूख
पानी की कहानी रानी प्यास क्या बुझाई है?

---

१ हि॰ नो॰—रति शृगार (हस्तलि॰), पृष्ठ १६
२ वही, (हस्तलि॰), पृष्ठ ६
३ वही पृष्ठ ३

ऐसे दिन ऐसे ही गँवावति गँवार कहा
चित्र देखे मित्र के मिले को सुख पाई है ॥[१]

यह रीतिकाल की विशेषता है कि कवियो ने शारीरिक पक्ष की अवहेलना नही की। वे भक्तिकाल के कवियो की भाति अपार्थिव से प्रेम नही कर रहे थे जो पानी की कहानी' मात्र से सतुष्ट हो जाते अथवा उसके अतीन्द्रिय रूप को प्रेम करते। वे इस पथ्वी के जीव थे और हाड मास स युक्त पथ्वी के जीवा से ही प्रेम भी करते थे। परम्परा युक्त राधा-कृष्ण शब्द को उन्होने अवश्य अपनाया कितु उनकी विशेषता इनके सम्मुख नायक नायिकाओ से तनिक भी अधिक नही है। इसे लोग अश्लीलता भी कह सकते हैं और यथार्थ भी किन्तु हमारी समझ म तो यह यथाथ ही है। इतना अवश्य है कि यथाथ जीवन के सम्पूण चित्र को यह कवि आत्मसात नही करत उसके एक अग मात्र को केवल लेते हैं।

एक मानिनी की अनुनय करते करते थककर सखी उसे समझाती है—

नाही अब सुख देत है केशव,
नाह सदा सुख देत रहैगो ॥[२]

मान की 'नही 'नही' का अत तो कही करना पडेगा अयथा हँसी म रोना हो जाने का भय है। कहने का तात्पय यह है कि रीतिकाल मे मान व उसकी मन स्थितियो के अनेक मनोरम चित्र मिलते हैं जिनम कृत्रिमता लेशमात्र भी नही है।

रीतिकाल के प्रवास वणनो म कोइ विशेष नवीनता नही है। प्रकृति का उद्दीपन रूप ही मिलता है। मिलन के समय की सब सुखद वस्तुएँ वियोग म दुखदाई हो जाती हैं—

आछे मनभावने जे विविध बिछावने जे,
सकल सुहावने डरावने स क गयो।।[३]

सूर की 'प्रिया विन सापिन कारो रात की अनुभूति यहा भी मिलती है—

तुम बिनु सूनी राति कारी साप ह्वै है खाति,
राति सेज देखि देखि छाती उमगति है।।[४]

कही प्रकृति भी विरही की समवेदना म कुम्हलाने लगती है। जायसी की ऊहा का प्रभाव यहाँ दृष्टिगत होता है—

प्यारी को परसि पौन गयो मानसर प जु
लागत ही और गति भई मानसर की।
जलचर जरे औ सेवार जरि छार भई
जल जरि गयो पक सूक्यो भूमि दरकी ॥[५]

१ डा० नगेन्द्र—रीतिशृगार (केशव), पष्ठ १८
२ वही, (केशव) पष्ठ १८
३ वही (गग), पष्ठ ८
४ वही, (गग), पष्ठ ८
५ वही, (गग), पृष्ठ ८

इस उहात्मक पद्धति के समक्ष रीतिकाल म ही अत्यन्त मार्मिक अभिव्यक्तिया भी मिलती हैं। ठाकुर की विरहिणी कहती है—

कवि ठाकुर कूबरी के बस ह्व
रस म बिस बावरो बो गया है।
मनमोहन को हिलिवो मिलिवो
दिन चारिक चांदनी ह्वा गयो है॥[1]

ईर्ष्या भाव नायिका की असहाय अवस्था को और भी कचोट रहा है। बहुत रोने-धोने के स्थान पर वह अपन अन्धकारमय वतमान और भविष्य का यातना सहती हुई अतीत के उज्ज्वल क्षणा की स्मति मे डूब जाती है—'दिन चारिक चादनी ह्वो गयो है।'

विरह म एक तो नाद नही आती और यदि आती है तो स्वप्न म प्रिय का दशन वेदना को तीव्रतर कर जाता है—

सापन ह्वौ फुलवाई गई,
हरि अक भरी भुज कठन मली।
हौं सकुची कोउ मुदरा दखत,
ले जिन बाँह सो बाँह पहेली॥[2]

य क्षण अभाव की पीडा को अधिक उद्दीप्त कर देते है—

ठाकुर भोर भय गये नीद के।
दखहुँ तो घर मांझ अकेली॥[3]

प्रेमी की यही आशा विरह की पीडा को सहने की शक्ति उस बराबर देता रहती है—

काह भरे मन साहस छाडत,
काह उदास है दह तज है।
वे सुख वे दुख आये चल गये,
एक सी रीति रही नहिं रहे।
ठाकुर काको भरोस कर हम,
या जग जालन भूल न एहे।
जानें सयोग म दीन्हो वियाग,
वियोग म सो का सयोग न दहै॥[4]

इस आशा की प्ररणा प्रेमी की एकनिष्ठता है जिसके विषय म ठाकुर कहत हैं—

---

१ डॉ० नगेन्द्र—रीति शृगार, (ठाकुर), पृष्ठ २०१
२ वही, पृष्ठ २००
३ वही पृष्ठ २००
४ वही पृष्ठ २००

एक ही सो चित चाहिए ओर ला
बीच दगा को पर नहि डाको।
मानिक सो मन वेचिके मोहन
फेर कहा परखाइवो ताको॥
ठाकुर काम न या सवको
अब लाखन म परखा नहै जाको।
प्रीति करे मैं लग है कहा,
करिक इन ओर निबाहिबो वाको॥[1]

प्रेम पात्र के विपरीत होन पर प्रेमी उससे प्रेम करना नहीं छोडता, यह उसका दोप नही तो किसका है?

कवि ठाकुर भूल कछु अपनो
तिहि त तुम्ह दोप न दीजतु है॥[2]

ठाकुर को सच्चे प्रेम की सफलता पर पूर्ण विश्वास है—

कवि ठाकुर या निज भेद सुनो
अल्भावत सो सुरभावत है।
परमेसुर की परतीत यही
मिल्यो चाहत ताहि मिलावत है॥[3]

निष्कर्ष रूप म कहा जा सकता है कि दरबारी वातावरण होने पर भी रीतिकाल की कविता म विरह का मार्मिक अभिव्यजना का अभाव नही है। समय के प्रोत्साहन तथा परम्परागत काव्य परम्परा के प्रभाव स अतिशयोक्ति पूर्ण कविता भी हुइ किन्तु वह उसके उज्ज्वल रूप को विस्मत नही करा सकती।

१ डा० नगेन्द्र—रीतिशृगार (ठाकुर), पृष्ठ २००
२ वही, पृष्ठ २००
३ वही, पृष्ठ २००



द्वितीय खंड

विषय-विवेचन



प्रथम अध्याय

प्रारम्भिक आधुनिक हिन्दी-काव्य मे विरह-भावना

आधुनिक युग का प्रारम्भ, युगचेतना और भारतेन्दुयुगीन कविता

ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिक युग का प्रारम्भ सन् १८५७ की क्रान्ति के साथ हुआ। १८५७ के विप्लव मे भारत की जीर्ण शीर्ण सामन्ती-व्यवस्था को गहरा धक्का पहुँचा। अंग्रेजो की प्रबल शक्ति के सम्मुख राजा, रईस, बादशाह और उमराव सब बिखर गए और देश की सामाजिक व्यवस्था का एक नये सिरे मे निर्माण होना आवश्यक हो गया। अंग्रेजो ने एक ओर जहाँ भारत को पराधीन बनाया था वहाँ दूसरी ओर (अपनी सुविधा के लिए ही सही) नवीन यातायात और व्यवसाय के साधन डाक, तारघर, रेल आदि भी दिए थे। परिवर्तित परिस्थितियो के अनुरूप देश मे एक नवीन व्यावसायिक वर्ग का जन्म हो गया जो आगे चलकर मध्यवर्ग के रूप मे विकसित हुआ। रेल, डाक, तारघर आदि के सहयोग से अंग्रेज भारत मे एकछत्र शासन स्थापित करना चाहते थे, वह उनकी स्वार्थ सिद्धि का अस्त्र था। किन्तु यही अस्त्र उनके लिए घातक सिद्ध हुआ। व्यावसायिक मध्यवर्ग मे ही देशभक्ति के बीज उगे और बढ़े जिनके विषफल के कटु आस्वाद के सम्मुख अंग्रेज अधिक दिन भारत मे न रह सके, एक शताब्दी के समाप्त होते होते उन्हे भारत छोड़कर जाना पड़ा।

यद्यपि १८५७ से पहले ही पाश्चात्य प्रभाव भारत पर पर्याप्त मात्रा मे पड़ चुका था किन्तु इस क्रान्ति के पश्चात शासन की बागडोर 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' के हाथ से निकलकर 'ब्रिटिश साम्राज्य' के हाथ मे चली गई। इससे पूर्व अंग्रेजो का ध्यान राज्य-विस्तार की ओर था अब विजित राज्यो के पुनर्गठन और शासन-व्यवस्था की ओर गया। शासन की दृष्टि से अनेक नीतिपूर्ण प्रयोग भारत मे किये जाने लगे। सन १८५७ ई० की क्रान्ति हमारे इतिहास मे महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। यद्यपि स्थूल दृष्टि से देखने से यह अनुभव होता है कि अंग्रेजो ने मुगल, मरहठो, अमीर, उमरावो को दबाकर भारत का बड़ा उपकार किया, एकछत्र शासन के शान्तिपूर्ण सुख-समृद्धिमय राज्य की स्थापना की किन्तु वास्तविकता यह नही है। भारत का शासन अंग्रेजो के लिए वरदान सिद्ध हुआ। उन्होने उसे अपने देश के धन-वैभव को बढ़ाने का साधन बना लिया। एक ओर जहा उन्होने भारत के पुराने उद्योग धन्धो को समाप्त किया वहाँ दूसरी ओर नवीन युग के

आविष्कारों, 'कलयुग' की विशेषताओं से परिचित नहीं कराया। उनका मुख्य उद्देश्य भारतीय कच्चे माल का अंग्रेजी मिलों में खपाने का था, यदि यह न होता तो नवीन मशीनों के परिचय से भारत में ही धन समृद्धि की वृद्धि हो सकती थी। भारतीय औद्योगिक पहले सामन्तों के परस्पर विग्रह से पीड़ित थे अब विदेशी वस्तुओं की बाढ़ ने उन्हें बिलकुल समाप्त कर दिया। मशीनों के बने हुए सस्ते माल के सम्मुख वे न ठहर सके, उन्होंने उद्योग धन्धे छोड़ छोड़कर खेती बाड़ी अपनाना प्रारम्भ किया किन्तु वहाँ भी बेरोजगारी का ही सामना करना पड़ा। कृषकों के पास उत्पादन के नवीन साधन न थे। ग्राम्य व्यवस्था अस्त व्यस्त हो गई। छोटी मोटी वस्तुओं के लिए भी भारत पश्चिम का मुँह ताकने लगा।

भारतेन्दु के व्यक्तित्व के प्रभाव से आधुनिक हिन्दी काव्य ओत प्रोत है अतः उसके प्रारम्भिक काल को भारतेन्दु काल कहते हैं। एक युग के अन्त और दूसरे के प्रारम्भ का कोई तिथि निर्धारित करना अत्यन्त कठिन काय है क्योंकि नवीनता के आगमन से पुरातन के अवशेष अनायास ही लुप्त नहीं हो जाते किन्तु फिर भी नवीन में कोई विशेषता रहती है जो पुरातन से उसका सम्बन्ध विच्छेद कराती हुई-सी प्रतीत होती है। यही विशेषता भारतेन्दु के साहित्याकाश में अवतरित होने के साथ दिखाई देता है। इस युग में भारतीय जीवन और साहित्य प्राचीन परम्परागत रूढ़ियों को तोड़कर नवीन विकास के मार्ग को खोजता हुआ दिखाई पड़ता है।

उस युग के प्रत्येक चिन्तक के सम्मुख यह स्पष्ट था कि अंग्रेज वाणिज्य वृत्ति से प्रेरित हैं वे भारत के धन को लूट रहे हैं। उसको भिखारी बना रहे हैं। किन्तु शताब्दियों से फैली हुई राजनीतिक अराजकता की अव्यवस्था के सम्मुख वे इतने सुव्यवस्थित राज्य का वर्णन सम्भव थे। इसी से भारतेन्दु और उनके समकालीन प्रसिद्ध कवियों में भारत की आर्थिक अवस्था के प्रति असन्तोष और क्षोभ का भाव होते हुए भी राजभक्ति बराबर मिलती है—

> अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।
> पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥
>
> —भारतेन्दु

१८५७ की क्रान्ति के विषय में भी उन्नीसवीं शताब्दी के इन प्रसिद्ध कवियों में अंग्रेजों के प्रति सद्भावना और भक्ति का भाव है।

सर्वप्रथम वाग्विलास के लेखक 'सवर' की कृति में हम इस क्रान्ति का उल्लेख मिलता है। अपने आश्रयदाता राजा हरिशंकरसिंह जी तथा गौरीशंकरसिंह जी की प्रशंसा करते हुए लेखक कहते हैं—

> गुनगन के हरिया उभे दान मान के रूप।
> परगाह अंग्रेज के मन मन सोहित रूप॥

वोनइस सें तेरा प्रगट सम्मत हो छिति कंत।
बलवा मे हाकिमन की करी सहाय अनन्त ॥[1]

तथा

सुनतहिं या विधि को समर खुसी भये अंगरेज।
पिलत सारटीफिक्ट हू दीन्ह्यो सहित मजेज ॥[2]

सुप्रसिद्ध कवि प्रतापनारायण मिश्र का मत इस सम्बन्ध में देखना अत्यन्त आवश्यक है। क्रान्तिकारियों के प्रति मिश्रजी की कोई सहानुभूति नहीं है। वह इस विषय में अंग्रेज़ों की प्रशंसा ही करते हैं—

सन सत्तावन माँहि जब कछु सेना बिगरी।
तब राजा दिशि ह्वैं रही सुदृढ ह्वै परजा सिगरी ॥
दुष्ट समुझि अपने आइन कहँ साथ न दीन्हा।
भोजन बिन विद्रोहिन कर दल निरबल कीन्हा ॥
ठौर ठौर निज घर लुटवाए अरु फुकवाए।
प्रान खोय बहु ब्रिटिश वर्ग के प्राण बचाये ॥[3]

बद्रीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' भी क्रान्तिकारी सिपाहियों को मूर्ख बताते हैं और उनके दमनकर्ता अंग्रेज़ों की दयादृष्टि की सराहना करते हैं—

देसी मूढ़ सिपाह कछुक लै कुटिल प्रजा संग।
कियो अमित उत्पात, रच्यो निज नासन को ढंग ॥
बन्यो देश में दुख बनि गई प्रजा अति कातर।
फेरयो तुम तब दया दीठ भारत के ऊपर ॥[4]

उपर्युक्त उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होने लगता है कि उस युग में साधारण भारतीय अंग्रेज़ों के साथ था, वह क्रान्तिकारियों को मूर्ख विद्रोही समझता था। इन कवियों के इन विचारों को देखकर आश्चर्य होता है। अंग्रेज़ों के प्रति प्रशंसा के क्या अर्थ थे यह समझ में नहीं आता। डा० वार्ष्णेय ने अपने प्रबन्ध 'आधुनिक हिन्दी साहित्य' में उन अज्ञात अप्रसिद्ध कवियों का भी उल्लेख किया है जिनकी समवेदना भारतीय क्रान्तिकारियों के साथ थी, जिन्होंने स्पष्ट स्वरों में अंग्रेज़ी शासकों की भर्त्सना की है। तब क्या यह प्रसिद्ध कवि भी जनजीवन के साथ होकर अंग्रेज़ी विजेताओं की भर्त्सना नहीं दे सके यह स्पष्ट नहीं होता।

रायबरेली जिले के बजरंग भट्ट ने शंकरपुर के राना बेनीमाधवसिंह की प्रशंसा करते हुए लिखा है

१, २ डा० लक्ष्मीसागरवार्ष्णेय—आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृष्ठ २८१
३ वही, पृष्ठ २८१ २८२
४ वही, पृष्ठ २८२

हिम्मत को हाकिम हजारन म देखि ग्रायो,
खेदिके हटायो अगरेज हू सकाना है।
जाको तेज तीखन तपत महिमण्डल मे,
हटिगे उलूक से न लागत ठिकाना है।
कहै बजरग बसवस अवतश भयो,
कम्पनी विलाइत सकल बिललाना है।
नेक न डेराना छीन लीन्हो तोपखाना,
वीर बाँधे वीर बाना वस राना विरम्दाना है ॥[1]

एक ग्रन्य कवि ज्वालाराय ने भी वनीमाधव बक्सींसह की प्रशसा म लिखा है—

चण्डिका के चल बस लडत हैं अकेले फौजे
ग्राया लोना घेरि गोला खूब ही बजायो है।
मारे जनरल ग्रौर कडनल को कद की हो
मारे कपतान गोरा भेट ही चलायो है ॥[2]

श्री वार्ष्णेयजी के ग्रनुसार कोटारा जिला इटावा म बुन्देला की मरदानी रानी की प्रशसा म एक गीत इस प्रकार मिलता है—

खूब लडी मरदानी ग्ररे भासी वाली रानी।
बुरजन बुरजन तोप लगाइ दइ, गोला चलाय ग्रस्मानी॥
ग्ररे भाँसी वाली रानी, खूब लडी मरदानी।
सगरे सिपाहिया को पडा, जलेबी ग्रापन खवाई गुडधानी ॥[3]

प्रसिद्ध हिन्दी कवियो के इस विषय म मौन का कारण केवल यही समझ म ग्राता है कि य कवि मध्यम व्यावसायिक वग के व्यक्ति थे। पिछली दो शताब्दियो से भारत म व्यवसाय की क्षति से य क्षुब्ध थ ग्रत १८५७ के पश्चात शान्ति के स्थापन का इन्होने ग्रभिनन्दन किया। व किसी भी ऐसी बात का समथन नही करना चाहते थे जिससे उन्हे ग्रार्थिक क्षति पहुचे। सिपाहिया के विद्रोह को वे भय की दृष्टि स देखत थ किन्तु ग्रग्रेजो के व्यापार की कूटनीति स भी वह कम भयभीत नही थ। यह जानते हुए भी कि धन खिचा जा रहा है स्पष्ट शब्दा म उस शासन का विद्रोह करने का साहस उनके पास न था।

इतना होने पर भी सामन्ती ग्रवस्था के ग्रवशेष पर खडे हुए इन व्यवसायियो म शिक्षा की नवजागृति क साथ नवीन चेतना प्रस्फुटित होती गई जो समय पाकर भारतीय स्वतन्त्रता ग्रान्दोलन क रूप म ग्रभिव्यक्त हुई।

१ डा० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय—ग्राधुनिक हिन्दी साहित्य, पृष्ठ २८३
२ वही, पृष्ठ २८५
३ वही, पृष्ठ २८६

१८५७ म जब भारतीय शासन की बागडोर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथ से निकलकर अंग्रेजी सरकार (महारानी विक्टोरिया) के हाथ म आई तो उसे सुव्यवस्थित रूप से चलाना आवश्यक हो गया। इससे पूव 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' अपने आधीन राज्यो की व्यवस्था स्थान-स्थान पर सनिक बल से किया करती थी। अब मुगल सम्राट के पतन से राज्य का विस्तार बहुत बढ़ हो गया अत विलायत से आये हुए कमचारियो से ही काम न चल सकता था। राज्य के विधान को सुचारु रूप से चलाने के लिए अंग्रेजो को अंग्रेजी पढ़े लिखे युवको की आवश्यकता पडी। १८८७ म ही कई विश्वविद्यालयो की स्थापना हुई। यह काय यद्यपि अंग्रेजी सरकार के हित के लिए किया गया था किन्तु भारतीयो को इसस बहुत लाभ हुआ। अंग्रेजी पढ़े लिखे लोगो की सख्या दिनोदिन बढने लगी। 'लाड मकाले' की दृष्टि भारतीय साहित्य के विषय म कितनी ही सकुचित क्यो न रही हो किन्तु उनकी रिपोट से अंग्रेजी भारत म शिक्षा का माध्यम बनी। इस नवीन शिक्षा को भारतीय मध्य वग न काफी अपनाया। अंग्रेजी साहित्य के प्रणयन और अध्ययन से नवयुग की जागति और विज्ञान तथा स्वतन्त्रता सम्बन्धी विचार भारत के उवर मस्तिष्क म घर करन लग।

उन्नीसवी शताब्दी तक पहुँचत पहुँचते अधिकाश भारतीयो के धम 'हिन्दू धम' का रूप अत्यन्त विकृत हो गया था राधा और कृष्ण की लीला के नाम पर मठो मदिरो में कुत्सा और व्यभिचार पोषित हो रहा था। अत हिन्दुत्व के रूप को सुरक्षित रखना आवश्यक हो गया था। सन् १८७५ म आयसमाज की स्थापना हुई जिसने धम और धार्मिक अन्धविश्वासो की छानबीन करके उनम सुधार के माग को प्रशस्त किया। अंग्रेजी पढ़े लिख युवको म श्रीयुत राममोहनराय का नाम चिर स्मरणीय रहेगा। बाल-विवाह बहिष्कार विधवा विवाह व सती प्रथा उन्मूलन से उनका नाम अविच्छिन्न रूप स सम्बद्ध है। सन १८७९ म मडम ब्लवटस्की और कनल अलकाट भारतवष म आए और थियोसोफिकल सोसाइटी की स्थापना की। इससे उन्होने एक ओर भारतीयो को पाश्चात्य-विचार-दशन से परिचित कराया दूसरी ओर भारत की प्राचीन गरिमा व गौरव को भी उचित श्रेय दिया, श्रीमती ऐनी बेसेंट न इस मत को और अधिक प्रोत्साहित किया। इन सबके फलस्वरूप भारत की प्रसुप्त आत्मा फिर से जाग उठी। विवेकानन्द जसे महान् चिन्तको का जन्म हुआ जिन्होने भारतीय दशन और अध्यात्म का नए सिर से वज्ञानिक विश्लेषण किया।

उपयुक्त परिवर्तित परिस्थितियो म युग की चेतना का कविता म मुखर होना स्वाभाविक था। राजनीतिक सामाजिक और आर्थिक कारणो के फलस्वरूप उत्पन्न हुई इन सभी समस्याओ पर विचार और चिन्तन भारतेन्दुकालीन कविता म हुआ। भारत के दुख दारिद्रय और आर्थिक अवस्था पर क्षोभ, उसकी पराधीनता पर चिन्ता, राजनीतिक और शासन सम्बन्धी सुधारो की माँग तथा आपसी सगठन के लिए भारतीयो को प्रोत्साहन आदि के भाव भारतेन्दुकालीन कविता म स्थान-स्थान पर मिलत हैं।

सामाजिक कुरीतियों के उन्मूलन का प्रचार भी इस युग के कवियों ने किया। इन कुरीतियों में मुख्य थी जातिभेद, अविद्या, स्त्रियों की शिक्षाहीनता, विवाहों के समय का अपव्यय बहु विवाह बाल-विवाह और विधवा विवाह निषेध। भारतेन्दुकालीन कवि भारत की वर्तमान दुर्दशा का ज्ञान भारतीयों को कराकर उनमें प्राचीन गौरव के भाव जगा रहे थे साथ ही मातृभाषा के प्रचार का महत्वपूर्ण कार्य भी कर रहे थे।

किन्तु जैसा कि पहले कहा जा चुका है इन कवियों ने अंग्रेजी सत्ता का स्पष्ट विरोध नहीं किया न ही विद्रोहियों के प्रति सम्वेदना के भाव प्रकट किए। इसका कारण सम्भवत अंग्रेजी सत्ता का आतंक भी रहा हो जैसा कि भारतेन्दु के इन शब्दों से स्पष्ट होता है—

कठिन सिपाही द्रोह अनल जा जलबल नासी।
जिन भय सिर न हिलाय सकत कहुँ भारत वासी॥[1]

—भारतेन्दु

भारत की दुर्दशा के प्रति ये कवि सजग थे, स्वतन्त्रता के भाव भी इनमें थे किन्तु इनकी स्वतन्त्रता का अर्थ ब्रिटिश शासन का निष्कासन नहीं था प्रत्युत अंग्रेजों के अधिकार में रहकर ही ब्रिटिश साम्राज्य के स्वतन्त्र नागरिकों के अधिकारों को प्राप्त करना था। अंग्रेजों को निकालकर १८५७ से पहले की अव्यवस्थित दशा की पुनरावृत्ति ये नहीं चाहते थे। इसीलिए अवसर उपस्थित होने पर भारतीय जनता की माँगों को सरकार के सम्मुख उपस्थित करते थे साथ ही जुबली, राजकुमार आगमन, राजकुमार जन्मोत्सव के समय प्रशस्ति-गीत लिखकर अपनी राजभक्ति प्रकट करते थे।

भारतेन्दुकालीन कवियों का युग चेतना के प्रति रुख 'मानसोपायन' के प्रारम्भ में भारतेन्दु के इस पत्र से अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है—

'अम्बुजोपम स्नेहपूजास्पद प्रिय कुमार

जब आपसे कुछ भी कहने की इच्छा करते हैं तो चित्त में कैसे विविध भाव उत्पन्न होते हैं। कभी भारतवर्ष के पुरावृत्त के प्रारम्भ काल से आज तक जो बड़े दृश्य यहाँ बीते हैं और जो महायुद्ध, महाशोभा और महादुर्दशा भारतवर्ष की हुई है, उनके चित्र नेत्र के सामने खिंच जाते हैं। कभी हिन्दुओं की दशा पर करुणा उत्पन्न होती है कभी स्नेह कहता है कि हाँ यही अवसर है खूब जी खोलकर जो कुछ हृदय में बहुत काल से भार और उद्गार सचित हैं उनको प्रकाश करो। पर साथ ही राजभक्ति और आपका प्रताप कहता है कि खबरदार हद से आगे न बढ़ना, जो कुछ विनती करना बड़ी नम्रता और प्रमाण के साथ। इधर नई रोशनी के शिक्षित युवक कहते हैं— 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो'। सुनत-सुनत जी थक गया, कोई मस्तिष्क की बात कहो। उधर प्राचीन लोग कहते हैं हमारे यहाँ तो 'सर्व्वदेवमयो नृप' लिखा है जितना बन सके इनका मान करो। कितने यहाँ के वासी इतने मूढ़ हैं कि इन बातों को अब तक जानते ही नहीं। जाने

१. डा० कृष्णदेव—साहित्य चिन्तन, पृष्ठ १२६

हाँ से, हजारों वर्ष से राजसुख से वंचित हैं। आज तक ऐसा शुभ संयोग आया ही न कि आप सा सुखद स्वामी इनके नेत्रगोचर हो। इसी से तो आपके आगमन से इन गा को क्या आनन्द हुआ है वह कौन जान सकता है। प्रिय! हम सब स्वभावसिद्ध जभक्त हैं। बेचारे छोटे पद के अंग्रेजों का हमारे चित्त की क्या खबर है ये अपनी ही न छटाक पचाने जानते हैं। अतएव दोनों प्रजा एकरस नहीं हो जाती आप दूर बस मारा चित्त देखने वाला कोई नहीं बस छुट्टी हुई। आपके आगमन के केवल स्मरण से दय गदगद और नेत्र अश्रुपूर्ण हमीं लोगों के हो जाते हैं और सहज में आप पर प्राण नौछावर करने वाले हमीं लोग हैं क्योंकि राजभक्ति भरतखंड की मिट्टी का सहज गुण पर कोई कलेजा खोलकर देखने वाला नहीं।

जिस तरह आप अनेक कौतुक देखते हैं कृपापूर्वक इस प्रजा के चित्त भी आतशी शीशे से (क्योंकि वह आपके वियोग और अपनी दुर्दशा से संतप्त हो रहा है) बनी हुई सरजीन या नीसर कीजिए और उस परिश्रम को क्षमा कीजिए जो इसके त्न में हो क्योंकि हमने तो चाहा कि थोड़ा लिखें और यह बहुत थोड़ा ही है पर आपको श्रम देने को बहुत है।

१ जनवरी, १८७७ ई०

हरिश्चन्द्र'[१]

युवराज की प्रशस्ति में भारतेन्दु गाते हैं—

बहुत दिनन की सूखी डाढ़ी, गैना भारत भूमि।
लहिहै अमृत वृष्टि सो तुव पदपंकज चूमि॥
जेहि दलमल्यौ प्रबल दल लक बहुविधि जवन नरेस।
नास्यौ धरम-करम सबहिन के मारि उजारयो देस॥[२]

—भारतेन्दु

इससे स्पष्ट ज्ञात होता है कि औरंगजेब तथा उत्तरकालीन मुगल सम्राटों के साम्राज्य में भारत की प्रजा सुखी नहीं थी अतः उसने अंग्रेजों का स्वागत किया। भारत की दुर्दशा से ये क्षुब्ध थे और इनको अंग्रेजों से बड़ी आशाएँ थीं जो अवसर आने पर यत्र तत्र प्रकट हो जाती थी।

इस प्रकार आधुनिक हिन्दी कविता के प्रारम्भिक काल में राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्थितियों के फलस्वरूप नवीन विषयों का आगमन हो रहा था। समष्टिगत स्तर पर भारत की दुर्दशा, स्त्रियों की शिक्षा, बाल विवाह, विधवा विवाह बहिष्कार आदि सामाजिक कुरीतियों पर प्रकाश डालती हुई अनेक रचनाएँ हो रही थीं और इन सबमें सुधार का आग्रह भी था। भारतेन्दु कालीन कविता भाव से अधिक विचार प्रधान है अतः समष्टिगत स्तर पर यद्यपि युगचेतना के फलस्वरूप उत्पन्न प्रभाव

---

१ ब्रजरत्नदास—भारतेन्दु ग्रंथावली, दूसरा भाग, पृष्ठ ७२१-२२
२ वही, पृष्ठ ७२३

काफी स्पष्ट था किन्तु वयक्तिक क्षेत्र में इन विचारों को जीवन की विविध परिस्थितियों के साथ कवि नहीं गूँथ सका। वयक्तिक स्तर पर रची गई कविता का रूप परम्परागत ही रहा।

शृंगार के क्षेत्र में रीतिकालीन प्राचीन परिपाटी का अनुसरण ही कवि ने किया राधा और कृष्ण की शृंगार-लीलाएँ ही काव्य का विषय बनती रहीं। भारतीय पुराण अथवा इतिहास में से कवि उन स्थलों को न चुन सका जो स्त्री-पुरुष के वयक्तिक सम्बन्ध के साथ नव युग के जागरण का भी मुखर कर सकते, जसा कि आगे चलकर द्विवेदीकाल की कविता में हुआ न ही पौराणिक चरित्रों में युगानुकूल कोई मौलिक परिवर्तन हुआ। अतः भारतेन्दु काल की शृंगार सम्बन्धी रचनाएँ अपने युग से बिलकुल असम्पृक्त पुरानी परम्परा का प्रतिध्वनिमात्र रह गई। जीर्णावशेष इस कविता में यदि कहने को कोई मौलिकता है तो कला सम्बन्धी है भाव सम्बन्धी नहीं। कला के क्षेत्र में नये छन्दों— कजली विरहा मल्हार आदि का समावेश लोकगीतों के आधार पर और रेखता तथा गज़ल का निर्माण उर्दू के प्रभाव से हुआ। भाव के क्षेत्र में प्राचीन परिपाटी का अनुसरण ही होता रहा।

आधुनिक युग में उत्तर मध्यकालीन विरह भावना का अवशेष (भारतेन्दु युग)

भारतेन्दु युग के सांस्कृतिक जागरण सम्बन्धी विवेचन से स्पष्ट है कि १८५७ के स्वतन्त्रता आन्दोलन रूपी क्रान्ति के भूचाल ने प्राचीन रूढ़ियों की नींव पर खड़ी सामन्ती इमारतों को ढा दिया था। समाज की सृष्टि का नवीन सिरे से निर्माण आवश्यक हो गया था जिसकी इमारतों को बनाने के लिए भारत की चूना मिट्टी के अतिरिक्त पश्चिम का लोहा व स्टील भी अनिवार्य हो गया था। कहने का तात्पर्य यह है कि नवीन विचार परम्परा पश्चिम के सम्पर्क में आकर स्वयं को सुदृढतम बना रही थी स्वतन्त्रता के नवीन विचार भारतीय समाज की नींवों में घर कर रहे थे, किन्तु उस भूचाल में भी यत्र तत्र जीर्ण खण्डहर बच गए थे जहाँ पुराना चूना मिट्टी सूख सड़ रहा था। वे खण्डहर जहाँ एक ओर अपनी पुरानी भव्यता और ऐश्वर्य के दिनों का स्मरण दिलाते थे वहाँ दूसरी ओर, उत्साह विहीन निर्जन में अपने अतीत के लिए रोते थे। न उनमें वह चमक थी न शान और शौकत। सामन्ती जीवन के अवशेष अत्यन्त हीन रूप में उपस्थित थे, कहीं-कहीं पुरातन वभव विलास का आभास उसमें मिल जाता था।

भारतेन्दु युग में कविता के यद्यपि विविध विषय आ रहे थे जसा कि सांस्कृतिक जागरण के विवेचन से स्पष्ट है विदेशियों के प्रति आक्रोश, अपनी दुदशा और उसके सुधार के लिए आग्रह आदि। किन्तु शृंगार उस काल में भी उन्हीं खण्डहरों सामन्ती इमारतों में पलता रहा इसीलिए नवजागरण उसको स्पर्श करके उज्ज्वल न बना सकी। भारतेन्दु शृंगारी कवि अपनी संस्कृति और इतिहास से कविता का विषय चुन सकता था, या उसके समाज और जीवन की परिवर्तित परिस्थितियों के अधिक अनुरूप बढ़ना, उसकी

वह नवीन विकास का पथ भी दिखलाने का प्रयत्न कर सकता था जैसा कि आगे चलकर द्विवेदी युग में हुआ भी। भारतेन्दु काल का शृंगारी कवि प्राचीन परम्परा से ही विषय सामग्री लेता रहा। कहीं-कहीं भक्ति साहित्य और अधिकांश रीतिसाहित्य उसकी कविता सामग्री के आधार बने। रीतिकाल में अलंकार, छंद तथा शृंगार की विविध स्थितियों के विषय में काफी कुछ लिखा जा चुका था, अब उस तरह लिखने के लिए कुछ भी अवशेष न रहा था। अतः जो कुछ लिखा गया वह परम्परा का पिष्टपेषण मात्र रह गया। कजरी बिरहा मल्हार आदि की उद्भावना अवश्य हुई कहीं-कहीं प्राचीनता के वैभव का आभास भी मिलता रहा। इस युग की शृंगारी कविता प्राचीन सामन्ती खण्डहरों में उठने वाली विलास की प्रतिध्वनि मात्र बनकर रह गई जिसमें कहीं कहीं बात स्पष्ट सी सुनाई पड़ती थी अधिकांश धुंधली थी, उलझी सी अस्पष्ट और फीकी सी।

इस सम्बन्ध में डा० वार्ष्णेय ने कहा है

"अंग्रेजी राज्य के विस्तार के साथ साथ कवियों को राजाश्रय की प्राप्ति में कमी होती जाती थी। पाश्चात्य प्रभाव और देश की दीन हीन दशा के कारण विद्वानों और सुधार समाज का ध्यान कृष्ण के केलि-कुंजों की ओर से हटकर भारत की पतितावस्था और अर्ध पेट भोजन न पाने वालों पीड़ित और दरिद्र जनता की ओर गया। तो भी रीवां अयोध्या, मुठालिया, रामपुर (जिला मथुरा), काशी हरिहरपुर आदि राजदरबारों और काशी मथुरा प्रयाग कानपुर आदि साहित्यिक केन्द्रों में शृंगार की रचना नवीन प्रभावों से बाहर रहने के कारण और कुछ साहित्यिक परम्परा के रूप में बराबर हो रही थी। कवि समाज (काशी) और रसिक समाज (कानपुर) जैसी संस्थाओं ने भी प्राचीन परम्परा बनाए रखने की चेष्टा की। स्वतन्त्र रूप से समस्या पूर्तियों के रूप में कवि अपनी रचनाएँ करते थे। हिन्दी साहित्य के इस संक्रान्ति काल में प्राचीन परम्पराओं से एकदम विमुख हो जाना आसान भी न था।"[1]

रीतिकाल में शृंगार का विशद विवेचन हो चुका था। उस समय के कवियों ने अपनी प्रौढ़ और स्तुत्य रचनाओं से साहित्य के इस अंग की सर्वांग पूर्ति कर दी थी। इसलिए इस काल के कवियों को अपनी प्रतिभा का चमत्कार दिखाने का अवसर कम रह गया था। प्राचीन साहित्य का जो कुछ प्रभाव शेष रह गया था उसी के अन्तर्गत अब के कवि उसका पिष्टपेषण करते रहे। परन्तु इस पिष्टपेषण में भी वे कोई विशेष और महत्त्वपूर्ण कला कौशल न दिखा सके।

"कुछ सुन्दर रचनाओं को छोड़कर यह साहित्य अपने प्राचीन गौरव से हीन और क्षीण रूप में हमारे सामने आता है।"[2]

भारतेन्दुकालीन शृंगारी कविता के विषय में डा० वार्ष्णेय का उपर्युक्त मन्तव्य ठीक ही है किन्तु उनकी इस बात से सहमत नहीं हुआ जा सकता कि उस संक्रान्ति-काल

१ डा० वार्ष्णेय—आधुनिक हिन्दी साहित्य, पृष्ठ २५६ ५७

२ वही, पृष्ठ २५६ ५७

में कवि का प्राचीन परम्परा से विमुख होना सरल न था। भारतेन्दु युग यद्यपि प्राचीन और नवीन के बीच की कड़ी है किन्तु फिर भी उसका झुकाव नवीन की ओर अधिक है। इसीमें वह आधुनिक युग का प्रारम्भ भी है। इस युग का शृंगारी कवि भी युग समस्याओं से कंधे से कंधा मिलाकर चल सकता था यदि वह सामन्ती व्यवस्था के अवशेष दरबारों के वातावरण से स्वयं को मुक्त कर लेता।

जो कुछ भी हो, कहने का तात्पर्य यह है कि इस युग के शृंगार और फलतः विरह भावना में पूर्व परम्परा की तुलना में कोई विशेष परिवर्तन दिखाई नहीं पड़ता। विरह भावना यद्यपि हृदय की वस्तु है अतः मूल में वह वही है जब सृष्टि के आदि पुरुष और नारी ने परस्पर आकर्षण का अनुभव किया था किन्तु फिर भी परिस्थिति प्रेरित परिवेश के अनुकूल उसका रूप बराबर बदलता रहा है। इस युग में भी बदल सकता था परन्तु ऐसा नहीं हुआ। जहां तक विरह का सम्बन्ध है भारतेन्दुकालीन कविता का नाता आधुनिक काल से अधिक रीतिकाल से है।

विरह के पूर्वराग प्रवास और मान विभेद अपने परम्परागत रूप में ही मिलते हैं। करुण विप्रलम्भ परम्परागत नहीं है किन्तु यत्र तत्र विश्वासघाती प्रिय के प्रति भी अनन्त प्रेम मँजाने के रूप में मिल जाता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से उसे एक पक्ष की उदासीनता के कारण उत्पन्न सम्बन्ध विच्छेद की स्थिति कह सकते हैं। सम्बन्ध विच्छेद में प्रेमी पक्ष प्रेम का प्रतिदान न पाने पर भी प्रिय की काल्पनिक मूर्ति हृदय में संजोए रखता है और जन्म-जन्म में प्रिय से मिलन की कामना करता है। रीतिकाल में मान का भारी वर्णन हुआ है किन्तु भारतेन्दु काल में वह अत्यन्त विरल है। अधिकांश विरह वर्णन इस युग में प्रवास के अन्तर्गत मिलते हैं जिनमें कहीं कहीं प्रोषितपतिका के अनुभावों की सुन्दर अनुभूति तथा शकुन आदि का उस पर प्रभाव अत्यन्त सुन्दरता से लक्षित है। विरह के सम्बन्ध में षटऋतु बारहमासा आदि का विशद वर्णन भी प्राप्त है, उसका विवेचन विरह के विभिन्न अंगों के अन्तर्गत न करके पृथक रूप से किया गया है।

पूर्वराग

पूर्वराग में प्रेमी का मन प्रिय के दर्शन, गुण श्रवण चित्र दर्शन आदि से उसके प्रति आसक्त हो जाता है। मिलन के पूर्व की इस स्थिति में मिलने की विकलता रहती है। प्रेमी को ऐसा प्रतीत होता है जैसे उसका अपने ऊपर वश नहीं रहा। सम्पूर्ण विश्व प्रियमय दिखाई पड़ता है नेत्र उसी को देखना चाहते हैं कान उसीका गुण श्रवण करना चाहते हैं और जिह्वा उसकी कथा कहते तृप्त नहीं होती। जब तक मिलन का कोई उपाय न हो जाए तब तक अपूर्व विवशता का अनुभव प्रेमी को होता है। इसी विवशता में प्रेमी अपने नेत्रों को बुरा भला कहता है जिनके कारण उसकी यह दशा हो गई है

मान मानि काहू की न मानत दहत उरलाज
लाज मानहुँ रसातल तल गए।

हारो हा सिखायत उठानत न क्या हूँ तोप
एस ही कछूक छलछ्न्दन छले गए ॥
द्विजदेव जा दिन त दरश दिखाय वहूँ
अतिही निकट मनमोहन चले गय ।
हाले जो हमार तो हमारी कही मानत री
बीस बिसे आली मेरे नन बदले गय ॥[1]

—द्विजदेव

"य मेरे नेत्र किसी की लज्जा नहीं मानत, इनके हृदय की लज्जा तो जमे रसातल को चली गई है। समझाते-समझाते मैं थक गई किन्तु इन्हें धैर्य नहीं होता न जाने किस प्रपंच के वश में य हो गए हैं। जिस दिन से वह प्रिय दिखाई दिया है उसके निकट ही रहते हैं। हे सखी य नेत्र अवश्य ही अब मेरे नहीं हैं यदि होते तो क्या मेरा कहना न मानते ?

हरिश्चन्द्र की नायिका प्रिय को सम्बोधित करके अपने नेत्रों की दशा का वर्णन इस प्रकार करती है

यह सग म लागिय डोलें सदा, बिन देखे न धीरज
आनती हैं।
छिनहू जो वियोग परै हरिश्चन्द तो, चाल प्रल
की मु ठानती हैं ॥
बरुनी मे थिरैं न, झपें उझपें, पल में न
समाइबो जानती हैं।
पिय प्यारे तिहारे निहारे बिना, अखियाँ
दुखिया नहीं मानती हैं ॥[2]

—हरिश्चन्द्र

दुखिया अँखियों का न मानना परम्परागत है परन्तु नेत्रों की विकलता का सूचक "बरुनी मे थिरै न, झपें, उझपें हरिश्चन्द्र की अपनी मौलिक उद्भावना है। पलकों के स्वाभाविक गति में बन्द होने खुलने को भी आँखें सहन नहीं कर सकतीं, निरन्तर एकटक प्रिय की प्रतीक्षा में खुली रहती हैं, उसकी बाट जोहा करती हैं। प्रतीक्षा करती हुई आँखों की विकलता का अत्यन्त सजीव वर्णन है।

लज्जा की बेडी प्रिय को नेत्र भर निहारने भी नहीं देती, प्रेमिका इसे तोड देना चाहती है—

---

१ द्विजदेव—हबीबुल्लाह खाँ का हजारा विरह विषय के कवित्त व सवैया ६२, पृष्ठ - २८

२ ब्रजरत्नदास बा० पं०—भारतेन्दु ग्रन्थावली (प्रेम माधुरी), पद ४३

जरौ ऐसी लाज, अब कौन काज जान आज
लखन न दीनो भरि नैन प्रान नाथ को।[1]

किन्तु रहीम तो पहले ही कह चुके हैं—

खैर खून खासी खुसी बैर प्रीति मद पान।
रहिमन दाबे न दबें जानत सकल जहान॥

लज्जा चाहे इसको कितना बचाले मन में ये अपने भाव चाहे जितने छिपाये परन्तु क्या उसे संसार की दृष्टि से बचा सकती है? मेल परी बात, राजा रंक जान लेते हैं और चवाई बातें बनाने लगते हैं

ब्रज में अब कौन कला बसिए, बिन बात ही चौगुनौ चाव करें।
अपराध बिना हरिचंद जू चवाइन घात बुराव करें॥
पौन मौं गौन करें हों लरी पर, हाय बड़ाई हियाव करें।
जो सपनेहू मिलें नन्दलाल तो सौतुस में ये चवाव करें॥[2]

—हरिश्चन्द्र

बिना अपराध के ही अपने बारे में बात बनाते देखकर मन का हियाव खुल जाता है, साहस बढ़ जाता है। विद्रोह करता हुआ मन कहता है कि जब बदनाम ही हो गए तो फिर प्रिय से मिलन का उपाय करने में हानि क्या है—

नाम धरौ मिलरो ब्रज तौ, अब कौन-सी बात को सोच रहा है।
त्यों 'हरिचन्द जू' औरहू लागन, मार्यो बुरो बुरी सोऊ सहा है॥
हौनो हुतो सुतो होय चुकौ इन बातन में अब लाभ कहा है।
लागे कलंकहू अंग लग नाहिं तौ सखि भूल हमारी महा है॥[3]

'जब कलंक लग ही गया तो प्रिय का सान्निध्य सुख भी क्यों न प्राप्त किया जाए?' परकीया के मन की यह प्रक्रिया अत्यन्त स्वाभाविक है। इसी से लोक लज्जा को तिलांजलि देकर दु साहस से वह प्रिय से मिलन का उपाय करती है। सखी हितैषी किसी का समझाना-बुझाना उसे अच्छा नहीं लगता—

मोहि औरन सो कछु काम नहीं, अब तो जो कलंक लग्यो
सो लग्यो।
रंग दूसरो और चढ़ेगा नहीं, अलि साँवरो रंग रंग्यो
सो रंग्यो॥[4]

—हरिश्चन्द्र

---

१ भारतेन्दु— भारतेन्दु ग्रन्थावली (प्रेम माधुरी), पद ६०
२ वही, पद ७०
३ वही, पद ११२
४ वही, पद ११३

सखिया भी सोचती है कि इसका तो दिमाग खराब हो ही गया है साथ हम भी क्या अपना करें, उसके पास आना जाना छोड देती है। किसी निकटतम सखी का मन नही मानता। जब वह उसे समझाती है कि ऐसे पर पुरुष के साथ निरकुश घूमने से कलक लगता है तो यह खीझ जाती है, 'तुम्ह इससे क्या हम कुछ ही करें, यदि हम कलकिनी है तो तुम हमारे पास क्या आती हो ? न आया करो कही तुम्ह भी कलक लग जाए।

हौ कुलटा हो कलकिनी हौं, हमने सब छाडि दयो सब खोलौं।
आछी रहौ अपने घर मे तुम, क्या यहा आइ करेर्जाह छोनौ॥
लागि न जाय कलक तुम्हें कहु, दूर रहौ सग लागि न डोलौ।
बावरी हो जा भई सजनी, तो हटा, हमसे मति आइक बोलौ॥[1]

—हरिश्चन्द्र

पूवराग म प्रेमी के मन म प्रेम का उद्दाम प्रवाह रहता है वह किसी प्रकार की बाधा भी सहन नही कर सकता। मा-बाप भाई बहन, सखी और सहेली सब प्रिय के सम्मुख पराये हो जाते हैं। प्रेमी हृदय की इसी मनोवृत्ति का सुन्दर दिग्दर्शन भारतेन्दु के उपयुक्त पदो मे होता है।

पूवराग की इस स्वाभाविक अनुभूति के अतिरिक्त रीतिकाल की ऊहा वाली प्रवृत्ति भी भारतेन्दु काल मे मिल जाती है। 'हफीजुल्लाह खा के हजारे' म दिया गया किसी अज्ञात नामा कवि का यह पद देखिए—

साइ मेरी बीर जोई लाव बलवीर ताहि दहौ
दाऊ बीर मेरो विरह बँटाइले।
भजन छपाकी पीर छपना छपाय पीर छपा कर छप
तौ छपाकर छपाइन॥
मदन लगोहै घाय धाय से कहौरी धाय
यरी मेरी धाय नक मोहूँ तन चाइले।
देह मेरी थरथराइ देहरी चढो न जाइ दहरी
तनक हाथ देहरी नघाइल॥[2]

यही रीतिकालीन ऊहा है। मन म सिमिटकर रह जाने वाली विरह व्यथा की अनुभूति नही है, दौडकर धाय को बुलाने का आग्रह है। चन्द्रमा मदन की अग्नि को अधिक तीव्र कर रहा है। देहरी नही लाघी जाती, कप रहा है, घबराकर पुकारती है 'अरे कोइ मुझे देहरी तो लँघवा दो। अनुप्रास और यमक के चक्कर म स्वाभाविक अनुभावो की ओर कवि ने ध्यान नही दिया है।

एक और स्थान पर एक कवि 'प्रणय मान' को अत्यन्त स्थूल अर्थ म लेता है।

---

१ प्रेम माधुरी, पद ६५

२ हफीजुल्लाह खां का हजारा—विरह सम्बन्धी कवित्त और सवैये पद ७, पृष्ठ ३०९

जरी एसी लाज, ग्राव कौन काज जान ग्राज
लखन न दीनो भरि नन प्रान नाथ को।[1]

किन्तु रहीम तो पहल ही कह चुके हैं—

खर खून खाँसी खुसी वर प्रीति मद प्रान।
रहिमन दाब न दब जानत सकल जहान॥

लज्जा चाहे इसको कितना बचाटे, मन म य ग्रपने भाव चाहे जितने छिपा परन्तु क्या उस ससार की दृष्टि स बचा सकती है? मस परी बात, राजा रक जान ल हैं ग्रौर चवाइ वातें बनान लगत है

व्रज म ग्रव कौन कला बसिए, बिन बात हीचौगुनो चाव कर।
ग्रपराध बिना हरिचन्द जु चवाइन घात बुदाव कर॥
पौन मा मौन कर ही लरी पर, हाय बडाई हियाव कर।
जा सपनहू मिल नन्दलाल ता सौतुस म य चवाव कर॥[2]

—हरिश्चद्र

बिना ग्रपराध क ही ग्रपन बारे म गात बनात दखकर मन का हियाव खुल जाता है साहस बढ़ जाता है। विद्रोह करता हुग्रा मन कहता है कि जब बदनाम ही हो गए तो फिर प्रिय स मिलन का उपाय करन म हानि क्या है—

नाम धरी सिगरो व्रज तौ, ग्रब कौन-सी बात को सोच रहा है।
त्यो हरिचन्द जू ग्रौरन लागन भाख्यो बुरो ग्ररी साऊ सहा है॥
होनी हुती सुता होय चुकी इन बातन म ग्रब लाभ कहा है।
लागै पलक ग्रब लग नहि, तो सखि भूल हमारी महा है॥[3]

"जब कलक लग ही गया तो प्रिय का सान्निध्य सुख भी क्या न प्राप्त किया जाए? परकीया क मन की यह प्रक्रिया ग्रत्यन्त स्वाभाविक है। इसी स लोक लज्जा को तिलाजलि दकर दु साहस स वह प्रिय स मिलन का उपाय करती है। सखी, हितपी किसी का समझाना-बुझाना उस ग्रच्छा नही लगता—

माहि ग्रौरन सा कछु काम नहीं ग्रब ता जो कलक लग्यो
सो लग्यो।
रग दूसरो ग्रौर चढ़ैगो नहीं ग्रलि साँवरो रग रग्यो
सो रग्यो॥[4]

—हरिश्चद्र

१ [illegible] पृ० ६०
२ [illegible]
३ [illegible]
४ [illegible]

सखियां भी सोचती हैं कि इसका तो दिमाग खराब हो ही गया है साथ हम भी क्या अपना करें, उसके पास आना जाना छोड देती हैं। किसी निकटतम सखी का मन नहीं मानता। जब वह उसे समझाती है कि ऐसे पर पुरुष के साथ निरंकुश घूमने से कलंक लगता है तो यह खीझ जाती है, तुम्हें इससे क्या हम कुछ ही करें, यदि हम कलंकिनी हैं तो तुम हमारे पास क्यों आती हो ? न आया करो कहीं तुम्हें भी कलंक लग जाए।'

हौं कुलटा हौं कलंकिनी हौं, हमने सब डाँडि दया सब खोलौ।
आछी रहो अपने घर में तुम, क्या यहां आइ करेजहिं छोलौ॥
लागि न जाय कलंक तुम्हें कहु, दूर रहौ सग लागि न डोलौ।
बावरी हौं जो भई सजनी, तो हटो, हमसे मति आदक बोलौ॥[1]

—हरिश्चन्द्र

पूर्वराग में प्रेमी के मन में प्रेम का उद्दाम प्रवाह रहता है वह किसी प्रकार की बाधा भी सहन नहीं कर सकता। मां-बाप, भाई बहन सखी और सहेली सब प्रिय के सम्मुख पराये हो जाते हैं। प्रेमी हृदय की इसी मनोवृत्ति का सुन्दर दिग्दर्शन भारतेन्दु के उपर्युक्त पदों से होता है।

पूर्वराग की इस स्वाभाविक अनुभूति के अतिरिक्त रीतिकाल की ऊहा वाली प्रवृत्ति भी भारतेन्दु काल में मिल जाती है। हफीजुल्लाह खाँ के 'हजारे' में दिया गया किसी अज्ञात नामा कवि का यह पद देखिए—

सोई मेरी बीर जोइ लाव बलवीर ताहि देहौं
दाऊ बीर मेरो विरह जैंदाइल।
अजन छपाकी पीर छपना छपाय पीर छपाकर छप
तो छपाकर छपाइल॥
मदन लगोहै धाय धाय से कहौरी धाय
मरी मरी धाय नेक मोहूँ तन चाइले।
देह मेरी थरथराइ देहरी चढो न जाइ री
तनक हाथ देहरी नघाइल॥[2]

यही रीतिकालीन ऊहा है। मन में सिमिटकर रह जाने वाली विरह व्यथा की अनुभूति नहीं है, दौडकर धाय को बुलाने का आग्रह है। चन्द्रमा मदन की अग्नि को अधिक तीव्र कर रहा है। देहरी नहीं लांघी जाती, कंप रहा है घबराकर पुकारती है अरे कोई मुझे देहरी तो लँघवा दो। अनुप्रास और यमक के चक्कर में स्वाभाविक अनुभावों की ओर कवि ने ध्यान नहीं दिया है।

एक और स्थान पर एक कवि 'प्रणय मान' को अत्यन्त स्थूल अर्थ में लेता है।

---

१ प्रेम माधुरी, पद ६५

२ हफीजुल्लाह खाँ का हजारा—विरह सम्बन्धी कवित्त और सवैये पद ७, पृष्ठ २०९

दूती नायक को एक ओर तो बताती है कि वह नायिका मकरंद में डूबने से डरती है दूसरी ओर कहती है कि वह मान कर रही है। वस्तुतः स्थिति मान की न होकर पूर्वराग की नव दशा की है—

> एक दूती तीनी पर एते पै न एते मान भई
> 　　　मनि दूजरी विरह ज्वाल जरती।
> पास घरो चन्दन सुवास हौ बढ़े ताप होती
> 　　　जो समीर तो उसास न उभरती॥
> चन्द की रेख रही आभा अवसेस सुती
> 　　　[illegible] जतन पै न रहत जतन रती।
> स्यामवती नायिका अरविन्द की कली मैं राखि
> 　　　जो न मकरन्द बीच बूढ़िबे को डरती॥[1]

तरुणी नायिका विरह ज्वाला में जलती हुई अत्यन्त [illegible] हो गई है, चन्दन का गुण न से शरीर का ताप बढ़ जाता है। समीर के स्पर्श से साँस बन्द होने लगती है। चन्द्र की क्षीण रेखा के समान वह हो गई है किन्तु फिर भी मान करती है। प्रिय के संसर्ग रूपी मकरन्द में डूबने से वह डरती है। 'यह स्थिति नायिका के मान की सूचना न देकर पुरुष के प्रति उसकी अनभिज्ञता की सूचना देती है इसी से वह नायक के निकट जाने से [illegible] है। किन्तु कामभावना जगा रही है अतः वियोग की मिलने की अभिलाषा की अग्नि में जल-जलकर वह दुबली हो गई है, उपचार अच्छा नहीं लगता।

पूर्वराग के विवेचन से स्पष्ट है कि उसका दिग्दर्शन इस युग में परम्परागत है। रति की भाव प्राहकता के अनुकूल हरिश्चन्द्र के काव्य में उसकी प्रक्रिया का स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक चित्रण हुआ है।

मान

स्त्री-पुरुष के उन्मुखी भाव में मान वह स्थिति है जब ईर्ष्या अथवा किसी और कारण से पति पत्नी अथवा प्रिय प्रियतमा के बीच में मन मुटाव हो जाता है। ये दोनों समीप रहने पर भी तथा हृदय में प्रेम का भाव होने पर भी एक-दूसरे से दूर दूर रहते हैं। प्रेम की परम्परा परिणति नहीं होती। 'ना' और 'न' के निषेधवाचक शब्दों से नायिका अथवा [illegible] [illegible] [illegible] करता है।

मान का शास्त्रानुसार [illegible] प्रकार का माना है प्रणय मान और ईर्ष्यामान।[2] [illegible] के [illegible] में अथवा उसमें त्रुटि होने से प्रणयमान होता है। मान के समय जब [illegible] करता हुआ [illegible] होकर [illegible] जाता है तब प्रणयमान की स्थिति होती है। इसमें

[1] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] विरह [illegible] पद २८, पृष्ठ २० [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] में प्रकाशित
[2] [illegible] [illegible] का विवेचन [illegible] [illegible] १८ [illegible]

मनुहार कर्ता पक्ष के रूठ जाने पर मान कर्ता पक्ष स्वयं में पछताता है कि मैंने मान क्यों किया ? इस काव्यशास्त्रियों ने प्रेम भाव की तीव्रता प्रदान करने वाला गुण बताया है।[1] इस स्थिति में मानकर्ता पक्ष में विरह-व्यथा का जन्म होता है क्योंकि प्रेम की एकात्मता के मार्ग में बाधा उपस्थित होती है।

ईर्ष्यामान तब होता है जब प्रिय के किसी अन्य व्यक्ति में अनुरक्त होने से प्रेमीपक्ष स्वयं को हीन अनुभव करता हुआ अपने प्रतिपक्षी में ईर्ष्या करता है।[2] ईर्ष्यामान का चित्रण नायिका के पक्ष में ही अधिक होता है, पुरुष ईर्ष्या की व्यथा को सहन नहीं कर सकता वह प्रतिपक्षी में बदला लेने का उपाय करता है। ईर्ष्या आहत व्यक्ति का दुर्बल विद्रोह ही है।

भारतेन्दु युग की नारी सामन्ती पुरुष के कठोर अंकुश में सहमी हुई-सी प्रतीत होती है और इसीलिए वह दुर्बल विद्रोह भी पति के सम्मुख नहीं कर सकती। हरिश्चन्द्र की नायिका में स्त्री-सुलभ ईर्ष्या और मान का पूर्ण अभाव है। वह आहत होकर, मान-हानि सहकर भी प्रिय की कृपा की आकांक्षा ही करती है। सम्भवतः यह उस युग का प्रभाव हो या जब पुरुष के विलास की कारा में बन्द नारी पराधीनता के दीन-हीन जीवन को ही अपनी निधि अपना मान अभिमान समझ बैठी थी। अपराधी पति का रोषपूर्ण तिरस्कार करने के स्थान पर वह उसके सामने घिघियाती है—

हौं तो तिहारे सुखी सो सुखी,
सुख सों जहां चाहिए रैन बिताइए।
पै बिनती इतनी हरिचन्द
न रूठि गरीब पै भौंह चढ़ाइए॥
एक सता से किया तुम सो निन
साऊँ न आव जा आप न आइय।
कंसिब सो पिय प्यारे तिहार
दिवाकर रसन हैं क्या बताइय॥[3]

अन्य स्त्री के साथ रात्रि व्यतीत करने वाले नायक को प्रातः समय अपनी प्रिया के पैर पकड़कर मनाना नहीं पड़ता, वह अब भी भौंह चढ़ा सकता है तथा वह भौंह न चढ़ाने की विनती करता है। इस प्रकार की उक्तियों को प्रेम का आहत होना कहें या पराधीनता का जीवन का अंग बन जाना ?

ईर्ष्यामान का क्षीण स्वर कहीं सुनाई भी पड़ता है तो वह भी पति के प्रति दीन विनय के अतिरिक्त कुछ नहीं है—

---

१ विरह का काव्य शास्त्रीय विवेचन प्रथम अध्याय में देखिए
२ प्रथम अध्याय में विरह का मनोवैज्ञानिक विवेचन देखिए
३ डा० नगेन्द्र—रीति शृंगार

तुम चारि याम रजनी के जागी आन साथ
हम विरहानल की ज्वालन सो जागती।
तुम परवसी जो विहार घरवसी प्यारे हम परवसी
रहैं तिनकी धौं कहा गती॥
नैनन कवा... भाल में महाउर की ओर ही।
निहारि ओर भोर लगि जागती।
... जो हमारी लागी तुम सो अनाथ लाल
निस अब आखिन की पलकें न लागती॥[1]

उस युग की नारी अपने एकनिष्ठ प्रेम के अपमानकता को ताड़ना नहीं दे सकता, यह काय की व्यस्तता में अपने हृदय के तड़पते हुए भावों को भुला देना चाहती है—

...सि सो पिय प्यारे निहारे,
...कर ...सत है क्या बताइय॥

दिन भी नहीं ... जो गृहकाय की संलग्नता में अपनी व्यथा को भूल जाऊँ, सारी रात्रि ... बिताते हुए ... निद्रारहित और भयावह-सी प्रतीत होती है।' ... यह विरह-वेदना अत्यंत मार्मिक हृदयस्पर्शी और असह्य है।

प्रणयमान के चित्र भी यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं उनका रूप परम्परागत ही है—

... दाउ सुनाई सगाम करी सजनी ... सवा... भरे।
... घूघट ओट करयो ... त्योर तनन धरे॥
... प्रान पियार की हरि हियो हरल्यो लगिब को गरे।
... मान गयो ... पिय को फिरि पाइन पानि परे॥[1]

नायिका मुग्धा है उस स्वयं ही ... करने के लिए नायक ... बुरा भला कहता है। ... अभाव ... हो जाता है—नायिका रूठकर मुँह फेर लेती है, घूँघट की ओट में नजर पड़ जाती है। किन्तु मान अधिक देर नहीं ठहरता, यह प्रिय के गले में लिपट जाती है जब उसके ... स्वभाव पर मुग्ध उसका प्रिय पाँव पकड़ लेता है। मनुहार का अवसर ही उपस्थित नहीं होता। यहाँ नायिका के हावों और अनुभावों का बड़ा सुन्दर और सजीव वर्णन है।

... और नायिका ... समय की अपनी दुष्ट बुद्धि को कोसती है कि उसके कारण प्रिय ने ... व्यथ ही ... को। अब समझ में नहीं आता कि प्रिय को कैसे मनाए—

... सिमटि ... कहि ... उठ तान
... न कहूँया ... नैन ... सो।

[1] ...
[1] ...

एकता न लागे मुकुतान के अनेक हार बकस
दराज काज रूप मा न सान सा॥
भनत कविन्द्र ऐसे नाह सों गुनाह बिन किया
मैं बिगार धार टरे कहा टोने सा।
एरी तू कुमति मोमों कलह करायो अब
सुलह कराव कौन सांवरे सलोन सा॥[1]

मनुहार करता हुआ प्रिय मनाते मनाते रूठ गया तब गर्व के कारण यह न मानी, अब मिलन के मार्ग में बाधा हो जाने से अत्यंत व्यथित हो उठी है 'सुलह कराव कौन सांवरे सलोन सा।' प्रेम के क्षेत्र में यह मान मनुहार छोटे मोटे झगड़े जीवन की एक स्वरता को भंग करते हैं, व प्रेम के भाव को तीव्रतर करते रहते हैं।

प्रवास

नायक के किसी भी कारणवश विदेश जाने को प्रवास कहते हैं। प्रवास विप्रलम्भ का ही सबसे अधिक वर्णन काव्य में हुआ है क्योंकि इसमें काल की दीर्घ अवधि होने के कारण वियोग-व्यथा की विभिन्न दशाओं का दिग्दर्शन सम्भव होता है। काव्यशास्त्रियों ने इसे 'कार्य हेतुक' और 'शाप हेतुक' कहा है। एक तीसरा भेद 'प्रणय हेतुक' भी हो सकता है जैसा रतनसेन का सिंहलद्वीप गमन था।

पति के विदेश जाने पर ही नहीं किन्तु उसका समाचार मात्र सुनने से ही नायिका के हृदय में विरह-व्यथा उत्पन्न हो जाती है। प्रिय के गमन का भावी अभाव उसको उदास कर देता है—

जा दिन ते चाह सुनी नाह के गवनवारी तबही त
सुधि खान-पान की बिसारी है।
भनत कविन्द्र व सिंगार आभरण टारे सखिन
सा बोलनि हँसनि डारी न्यारी है॥
कज्जल कलित बांक दृगन में आंस फिर परी
मनोमीननि कालिन्दी धार कारी है॥
कौन सौ भरम कह परम लजीली बाल
मौन तपसीलो खडी मौन म निहारी है॥[2]

नायिका को पहनना ओढ़ना अच्छा नहीं लगता, सखियों में हँसती-बोलती नहीं। काजल से युक्त उसके नेत्र अश्रुओं में डूबे रहते हैं। वह अपनी व्यथा को प्रकट नहीं करती,

---

१ दरियाउल्लाह खाँ का इनारा पद ८३ विरह में व व कवित्त और सवैये पृष्ठ ३२७
२ हरीउल्ला खाँ का इनारा, विशेष रस के चुहचुहात हुए कवित्त सवैयों में, पद १००, पृष्ठ २८०

मौन तपस्विनी की तरह भवन में चुपचाप उसे छिपाये रहती है।

रसा पावस में बादलों से प्रार्थना करती है कि प्रिय के जाने से पहले ही बरस जाएँ जिससे वह अपना जाना स्थगित कर दे। किन्तु जब वे नहीं बरसते, जाने की वेला उपस्थित हो जाती है तो झुँझलाकर अपनी सखी से कहती है, ये व्यर्थ ही गरजने के लिए आए हैं मेरे उपकार के लिए नहीं—

रहे घनश्याम महावारिद में दबियत धारितनु देत
सो क्या बारिद कहाय हैं?
मेरे सहाय काम एकऊ न आए हाइ
गरजन आए मेरी गरज न आए हैं।।[1]

निम्नलिखित पद किसी संस्कृत सुभाषित का अनुवाद सा प्रतीत होता है। यह भारतेन्दु की रचनाओं में मिलता है प्रवत्स्यत्पतिका[2] का प्रिय के प्रति आग्रह है—

रोकहिं जो तो अमंगल होय
औ प्रेम नसै जो कहैं प्रिय जाइय।
जो कहैं जाहु न तो प्रभुता
जो कछु न कहैं तो सनेह नसाइय।।
जो हरिचन्द कहैं तुमरे बिन जी है न,
तो यह क्यों पतिआइय।
तासों पयान समै तुमरे हम,
का कहैं आप हमैं समझाइय।।[3]

प्रवत्स्यत्पतिका की इस उक्ति में अनुभूति से अधिक वाक्चातुरी है। विदेश जाते हुए प्रिय से इस प्रकार तर्क वितर्क करना हृदयस्पर्शी नहीं लगता। रवीन्द्र कवि की नायिका की मौन व्यथा अत्यन्त मार्मिक है—

गौन सो अरम कर परम नजीली बात
मौन तपसीना खड़ी भौन में निहारी है।
—रवीन्द्र

आगतपतिका की विरह-व्यथा को हरिश्चन्द्र ने सुन्दरता से मुखर किया है—

थाकी गति अंगन की मति परि गई मंद मुख
झाँझरी सी ह्वै कै देह लागी पियरान।
बावरी सी बुद्धि भई हँसी काहू छीन लई
सुख के समाज जित तित लागे दूर जान।।

---

१ [illegible] पृष्ठ १-०
२ [illegible]
३ [illegible]

हरीचन्द रावरे विरह जग दुखमयो भयो
कछू और होनहार लागे दिसरान।
नैन कुम्हिलान लागे वैनहू अथान लागे
आओ प्राननाथ अब प्राण लागे मुरझान॥[1]

विरह के वेदना से विरही के सब सुख नष्ट हो जाते हैं। प्रिय के बिना कुछ अच्छा नहीं लगता, बुद्धि पागल-सी हो जाती है, सोचने विचारने की शक्ति क्षीण तथा देह थक-सी जाती है, मुख कुम्हलाया-सा हो जाता है और नेत्रों में भी उल्लास नहीं रहता। केवल एक आशा के सहारे विरही जीवित रहता है, वह यह कि उसका प्राणप्रिय कब आएगा? विरही को एक रट ही लगी रहती है। 'हे प्राणप्रिय कब आओगे मेरे प्राण नष्ट होने लगे हैं। इस आशा के सहारे विरही वियोग की अवधि काटता है, अपने प्राण नष्ट नहीं होने देता और हृदय में प्रेम को सजाये रखता है।

तुलसी की सीता की 'सुनहु विनय मम विटप अशोका' सत्य नाम करु हरु मम शोका' की पद्धति पर प्रकृति से अपनी सहायता के लिए याचनाके कवित्त इस युग में भी मिलते हैं—

हे अशोक शोक हरि हरि को मिलाय माहि
लोहि को शपथ करि साचो निज नाम को।
हे पलाश मान पूरि दूरि करि निज नाम
अहे पारिजात करि पूरो मम काम को॥
हे रसाल लाल को लखाय यं रसाल रूप
हे तमाल धरे हो स्वरूप तुम श्याम को।
तातें तुम्हें जानिय गुपाल मिलें दीनदयाल
काहू को बिहाल हाल दरसियत वाम को॥[2]

कृष्ण के विरह में दुखी राधा की उद्वेग, प्रलाप, शथिल्य और जड़ता की दशाओं का चित्रण चण्डीदत्त के इस पद में अत्यन्त मर्मस्पर्शी है—

विरह बिहारी के विकल बिलखात बाल
बौरी सी लगति दुख अतिशय मलान की।
चण्डीदत्त आहिक धर है पग इत उत
घूमि के गिरी है ज्यों धरी है देह आन की॥
सास न भरत पै शिथिल सी दिखाई देत
होनी न मिटाइ मिटै विधि बलवान की।
अतर लपटि कान्हि कुंजन में भेंटी
आज धूरि में धुरेटी लेटी बेटी वृषभान की॥[3]

---

१ इफाजुल्ला खां का हजारा, विरह सम्बन्धी, पद ४८, पृष्ठ ३१८
२ वही पद ५१, पृष्ठ ३१८ ३१६
३ वही, पद ३, पृष्ठ ३०८

रीतिकालीन काव्य पद्धति से प्रभावित, बारहमासा में क्वार के प्रभाव को व्यक्त करता हुआ यह पद भी बड़ा सुन्दर है। प्रकृति के विषम ज्वर से जलता हुआ विरही अपने हृदय की वेदना को छिपाने का व्यर्थ प्रयत्न करता है, देखिए—

हरिनिनी जोबन में आवति झरोखन में
हियरा में हिलकी दृगन अँसुवा रमै।
गोविन्दास कहै आन कामिनी कुरंग नैनी
दामिनी ज्यों देखि जाति दमकि दुआर में॥
जोन्ह में लहैगी दुख ऐसे क्यों सहैगी
जस सीता पार सागर के रघुवर वार में।
नन्द के कुंवर काहू कमी कही पहाँ जान
छाँड़ि वृषभान की कुँवरि कुआर में॥[1]

प्रलम्बपवनिका का उद्दीपन और अश्रु के भावों की सुन्दर व्यंजना यहाँ द्रुति की [illegible]ति में हुई है।

विरह की अवधि व्यतीत करती हुई नायिका प्रिय के आने के लिए सगुन मनाती है—

गिरि गिरि जात कांच पायन की गिवनाथ
फिरि फिरि विनायक द्वार सगुन मनावती।[2]

जब कभी अनुकूल सगुन हो जाते हैं तो विरहिणी के जीवन में उल्लास छा जाता है। विरह के सारे दुख को वह भूल जाती है, यथा न पीला हुआ मुख आनन्द की लालिमा से दमकने लगता है। सुबह काग का बोल जाना, अंगों में अनायास उमंग का होना, हर्ष प्रफुल्लताश बाजूबन्द का टूटना और सिर की साड़ी खिसकना विरहिणी के लिए प्रिय के आने आगमन की सूचना देते हैं हर्षातिरेक से वह झूम उठती है—

बोलि गया काग आज बड़े भोर आंगन में
अंगनि उमंग अनुराग सरसति है।
बाहन बहारा बड़ बाजूबन्द टूटि जात
सिर पर सारी खसकति है॥
दीवा निवरात अधिवात सुग दाहन ल्यो
आतुर अनग के उरोज फरकति है।
आनन आनन्द की सनाई आनि छाई चाहो
आज आज गाह आनि बाह फरकती है॥[3]

१ [illegible]
२ [illegible]
३ [illegible]

भारतीय पारिवारिक जीवन में पति लौटकर आने के समय पहले परिवार के लोगों से मिले बिना पत्नी से नहीं मिल सकता। विरह में पति के आने की प्रतीक्षा करती हुई नायिका यही सोचती है। समाज की परिस्थितियों का काव्य में ध्वनित होना बड़ा स्वाभाविक है—

आवगो कुंजबिहारी जब नर नारि सब मिलि मंगल गाइके।
बजगी अनन्द बधाई तब गुरु लोग सब मिलि हैं उर लाइकै॥
लोग विदा करि सामहि स्याम भुजानहि कोमल अंग लगाइके।
बहुरो कबहुं दिन ह्वै है भटू बज आयो पिया कहिहै कोउ आइके॥[1]

प्रवास में प्रिय का गुणकथन और उसे संदेश भेजने की पद्धति का चित्रण भी स्थान-स्थान पर हुआ है।

करसा कर ग्रंथि कपोलन छब भरि अंक भटू बहुरो उर लावत।
मेरे लिए हरि चम्पकली अवली गुहि हार हिय पहिरावते॥[2]

× × ×

पाती मैं कहा लौं लिखौं कहियो पथिक जाय भयो
साई कियो रहै काहू के न कहन हौं।
जानि के अधीन तजी तलफत मीन लौं न आनी उर
दया भरे कपट में एन हौं॥
सावरे मैं तरसत रावरे को गोहन को कहा कहौं
मेरे मन मोहन को मोन हौं॥
कैसो घरो धरि नैन देखे बिन चैन है न
प्यारे सुख दैन हाय लगे दुख दैन हौ॥[3]

नायिका के पक्ष में ही नहीं नायक के पक्ष में भी विरह की व्यंजना इस युग में उपलब्ध है। सावन के मादक वातावरण में प्रिया की याद हृदय को झकझोर देती है, स्मृति का भाव कवि इस तरह व्यक्त करता है—

घाघरे की घुमड उमड चारु चूनरी को पायन मलूक
मखमल वार जारे की।
भृकुटि कुटिल छूटी अलक कपोलन पै बड़ी बड़ी
आखिन मे छवि लाल डोरी की।
तीखन तरल जराउ जरवीली जार स्वेदकन
ललित बलित मुख गोर की।

---

१ दयानुल्लाह खां का इशारा, विरह सम्बन्धी पद ८६
२ वही, पद ८७
३ वही पद १२०

भूलत न आमिनी को गावन गुमान भरी
सावन म श्रीपति मचावन हिंडोरे को ॥[1]

करुण वप्रलम्भ अथवा सम्बन्ध विच्छेद

काव्य 'शास्त्रियो ने करुण विप्रलम्भ की स्थिति तब मानी है जब प्रेमी युग्म म एक पक्ष के मरणापरान्त दूसरा पक्ष उसके जन्मान्तर मे भी सशरीर उससे मिलन क अभिलाषा करता है।[2] करुण विप्रलम्भ की स्थिति तब भी काव्य म मिलती है जब इ शरीर के साथ नही कि तु ज म ज [illegible] र तक प्रिय के मरण के पश्चात प्रेमी उससे मिल की कामना करता रहता है 'रति' इसका उदाहरण है। मिलन जब इस जीवन म असम्भव गा प्रतीत हो और प्रिय के जीवित हाने न होने का पता न हो तब भी करुण विप्रलम हाता है, यदि मिलन की आशा प्रेमी म बनी रह जसे कि उत्तररामचरित की सीता औ राम तथा शाकुन्तलम् के दुष्यन्त और शकुन्तला की स्थिति है। इनक अतिरिक्त प्रिय जीवित हात हुए भी तथा उसका पता हान पर भी जब मिलन असम्भव हो जाए औ प्रेमी का मिलन की आशा जन्म जन्म म बनी रहे और वह विरह म तडपता रहे तब करुण विप्रलम्भ की स्थिति ही माननी चाहिए। इसम प्रिय यद्यपि चाहे प्रवास म हो किन्तु इस जन्म म उससे मिलन दुलभ हो जाता है। यथाथ का तिरस्कार करके प्रे फिर भी अपने मन म प्रेम को जीवित रखना चाहता है। राधा का प्रेम और विरह इ प्रकार का है।

प्रिय की उदासीनता के कारण अथवा विश्वासघात से जब सम्बन्ध विच्छेद जाता है तब प्रेमी अपने हृदय म उसकी काल्पनिक आदर्श मूर्ति सँजोय रखता है और ही प्रम करता रहता है। प्रम के क्षेत्र म दानो पक्ष चेतन होते हैं अत एक म हृदय परिव कोई अनहोनी बात नहीं है।[3] इस प्रम को एक पक्षीय प्रेम कह सकते हैं। किन्तु उ विरही की मनोस्थिति बिलकुल वही होती है जो शास्त्रीय करुण विप्रलम्भ म है। प्रि उसके लिए जीवित हुआ न हुआ बराबर है। यह करुण विप्रलम्भ शास्त्रीय करुण विप्रल स और भी अधिक करुण इसलिए है कि यहाँ प्रेम के प्रतिदान म मरण जसी बाधा होकर प्रिय की उदासीनता होती है। मरण पर प्रिय का वश नहीं, उदासीनता पर व होता है अत विरह की वेदना और भी अधिक होती है। प्रमी प्रिय का हृदय परिव चाहता है। राधा और गोपिया का विरह इसी श्रेणी का है। काव्य म विरह की मन स्थिति का बड़ा मार्मिक चित्रण मिलता है। नायिका विश्वासघात पाने पर स्वय अत्यत विवश अनुभव करती है। भुवनेश का उक्ति है—

---

१ [illegible]—[illegible], विरह वणन, पृष्ठ ६०, पद ३११
२ 'रस का शास्त्रीय विवेचन प्रथम अध्याय में देखिए।
३ देखिए, विरह का [illegible] विवेचन (प्रथम अध्याय)

तजिक कुल की कुलकानि सब तुम सों हम आनि के प्रीति करी।
भुवनेश अहो भई हो व्रज में बदनाम सोउ मन मैं न धरी॥
निवही न सोई अब तो तुम सों लगी तारिव मैं नहीं एकोघरी।
परमेश्वरई अब जानत हैं कहते न बनै हम पै जो परी॥[1]

वह अपनी व्यथा का वर्णन किसी से नहीं कर सकती। लोग हँसेंगे, बातें बनाएँगे अतः चुप बैठी रहती है—

जानत कौन है प्रेम विथा केहि सो चरचा या
वियोग की कीजिए।
को कही माने कहा समझै कोऊ क्यों विन
बात की रारहि लीजिए॥
कूर चबाइन मैं परिकै हरिचन्दजू क्यों इन
बातन छीजिए।
पूछत मौन क्यों बैठी रही सब प्यारे कहा इन्हें
उत्तर दीजिए॥[2]

'अपने मन की व्यथा को हृदय में छिपाए रहती हूँ। क्या कहूँ, कहूँगी तो लोग बातें बनाएँगे अतः चुप रहती हूँ। प्रसाद की निकल मत बाहर दुर्बल आह लगेगा तुझे हँसी का शीत' उक्ति का भाव यहाँ भी मिल जाता है।

प्रिय से मिलने की सब आशा समाप्त होने पर भी मन उसे नहीं भूलता। मृत्यु नहीं आती। समाज का निरादर झुलसाए जाता है किन्तु पापी प्राण न जाने किस आशा से शरीर का त्याग नहीं करता—

सब आस तो छूटी पिया मिलिबे की
न जाने मनोरथ कौन सजै।
हरिचन्दजु दुख अनेक सहैं पै अबै हैं
टरला कहूँ को भजै॥
अब सो निरसक ह्वै बठि रहैं सो निरादर हू
सो कछू न लजै।
नहिं जानि परै कछु या तन को केहि मोह तें
पापी न प्राण तजै॥[3]

विरही उन्मादी हो जाता है। वास्तविक स्थिति का ज्ञान उसको नहीं रहता। अभिसार के लिए नायिका अब भी सङ्केत-स्थल पर जाती है, प्रिय विलम्ब होने पर भी जब नहीं आता तो सोचती है कि राह में आते हुए कहीं काँटा चुभ गया होगा। प्रतीक्षा

१ इफ्तीजुल्लाह खाँ का इजारा, विरह सम्बन्धी कवित्त सवैये, पद ३५, पृष्ठ ३१६
२ वही, पद २१
३ वही, पद २२

करते-करते प्रातःकाल हो जाता है चिड़ियाँ चहचहाने लगती है, तब—

तकि तकि चहु ओर जकि सी रही है थकि थकि
थकि उठ छकि छल की लगन में।
हाहा बलबीर का बताय मेरी बीर एरी धाय धाय
बूझति है कुंज के मगन में॥
नन्द के किशोर चितचोर कित खड़ रहे हैं
कहूँ कुश कण्टक पगन में।
अजहूँ न आए बनमाली कित गए आली
बोली चटकाली लाली लहकि गगन में॥[1]

इस पर भी प्रिय यदि सन्देश भेज दें कि मुझे भूल जाओ अथवा ईश्वर से एक... करके देखो तो सहनशक्ति की सीमा हो जाती है। एक ओर तो 'रत्नाकर' की वि... हिन्दी गोपियों की तरह नायिका ब्रह्म से भी कृष्ण की मूर्ति मिलाने को आतुर हो जाती और यदि वह न मिले तो लौट आने को प्रस्तुत। दूसरी ओर बुद्धिवादी युग की प्रति... निधि-सी कहती है कि हे उद्धव यदि वे पृथ्वी के जीव नहीं हैं तो कुब्जा के वक्षस्थल पर हाथ रख कर सुख का अनुभव कर रहे हैं। निराशा का ईर्ष्या द्वारा दमन देती हुई सी प्रतीत होती है—

कुबिजा जग मैं कहा बाहर है नंदलाल ने जा उर हाथ धर्‌यो।
मथुरा कहा भूमि की भूमि नहीं जहँ जाय के प्यारे निवास कर्‌यो॥
हरिचन्द न काहू को दोष कछू मिलिहै सोइ भाग से जो उतर्‌यो।
सबको जहाँ भाग मिल्यो नहीं हाय वियोग हमारे ही बाँटे पर्‌यो॥[2]

गोपियों का विरह भी करुण विप्रलम्भ ही है। भारतेन्दु युग की गोपियाँ कृष्ण... के विरह में पागल हुई हुई भी उनके बहाने और उनकी कार्य-व्यस्तता को वह... परम्परागत रूप में स्वीकार नहीं कर सकतीं। कृष्ण के प्रपंच को वे जानती हैं अत... कहती हैं यदि कृष्ण हमसे मिलना चाहते तो मथुरा भूमि पर ही है आकाश में नहीं, ... मिल गए थे। सत्य यही है कि वे हमसे मिलना नहीं चाहते। गोपियों के इस वक्तव्य... को आधुनिक-युग की सजग बुद्धिवादी चेतना के फलस्वरूप उत्पन्न कहा जा सकता है।

षट् ऋतु वर्णन

भारतेन्दु काल की शृंगारिक कविता में प्रकृति का उद्दीपक रूप ही प्रसार रहा है। ऋतु का विरही के मन पर क्या प्रभाव पड़ता है, वह उसकी वेदना को उद्दीप्त किस... भाँति करती रहती है इसी का विशद वर्णन इस युग में हुआ। ऋतु के उपस्थित होने पर ही नहीं वरन् उनके आगमन की आशंका मात्र से भी विरही उद्विग्न हो जाता है।

[1] ... भारतेन्दु विरह पद १२

वसंत

वसन्त ऋतु के विषय मे भारतेंदु युग के सभी शृगारी कवियो ने कुछ न कुछ भाव व्यक्त किए हैं। वसंत ऋतुराज है, उसका प्रभाव विरही पर सबसे अधिक हो यह स्वाभाविक ही है।

एक प्रोषितपतिका नायिका की सखी समझाती है कि वसन्त के उपस्थित होने पर तो प्रिय अवश्य ही आएगे। क्या आम, कदम्ब व टसू म फूल लगेंगे। कोकिला गाएगी तब भी प्रिय का मन आर्द्र न होगा ?

फूलनदे अब टसू कदम्बन अम्बन बौरन छावन देरी ।
री मधुमत्त मधुव्रत पुंजन कुंजन शोर मचावन देरी ।।
क्या सहि है सुकुमारि किशोर अरीकल कोकिल गावन देरी ।
आवत ही बनिहै घर कंतहि बीर बसंतहि आवन देरी ।।[1]

—किशोर कवि

एक दूसरी विरहिणी वसन्त के आगमन पर पति के आने की अभिलाषा करती है—

होन लागे शोर चहुँ ओर प्रति कुंजन म त्याही पुंज पुंजन
पराग नभ छायगो ।
फूल फल साजन को आयगु विपिन माहि शीतल
सुगध मद पौन पहुँचायगो ।।
द्विजदव भूले भूले फिरत मलिंदन की सुखमा विलोकि
हिय सुखसरसायगो ।
आए हुते आग ते हरौलन के लोग इत आवत
हमार उत ऋतुपति आयगो ।।[2]

—द्विजदेव

इस अभिलाषा के साथ कही कही आशका भी होती है कि यदि वसन्त के न आने पर भी प्रिय न आए तब क्या होगा ?

भूल भूल भौर बन भावर भरेंगे चहूँ फूलि फूलि
किंशुक जके से रहि जाय हैं।
द्विजदव की सौं वह कूजनि बिसारि कूर कोकिल
कलकी ठौर-ठौर पछिताय हैं।।

---

१ पट्ऋतु हजारा—परमानन्द सुहाने द्वारा सगहीत, किशोर कवि, पृष्ठ ६, नवलकिशोर प्रेस लखनऊ में सन् १८६४ में प्रकाशित।
२ वही, द्विजदेव, पृष्ठ २१

आवत बसन्त के न एहै जो पै स्याम ताप बावरी
उपाय सो हमारेहू उपाय है।
पी है पहिले ही त हलाहल मँगाय या कलानिधि
की एको कला चलन न पाय हैं॥[1]

—द्विजदेव

बसन्त में नव मन में भूल भ्रमर वन वन में भ्रमेंगे, किंशुक फूलेगा, कोकिल का कलरव होगा तब भी यदि प्रिय न आए तो मैं क्या करूँगी? चन्द्रमा की कला मेरी व्यथा को बढ़ाने का उपाय करेगी परन्तु मेरे पास क्या अपनी रक्षा का उपाय नहीं है? वसन्त के आगमन से पहले ही मैं ज़हर खा लूँगी। प्रिय से मिलने की आशा विरही को निरन्तर जीने की प्रेरणा देती है किन्तु निराशा के क्षणों में कभी-कभी वह प्रेम को हृदय में सुरक्षित रखने हेतु जीवन का अन्त भी कर देना चाहती है, क्योंकि प्रतिदान के अभाव में उसके पास जीने की शक्ति नहीं रहती।

रघुनाथ की विरहिणी भी वसन्त को सम्मुख उपस्थित देखकर ऐसे ही सशंकित हो गई है। वसन्त में अनार, कचनार, आम, शिरीष सब फूलेंगे। हे सखी! प्रिय ने जो विरह का बिरवा लगाया था क्या वह भी प्रफुल्लित होगा? उसमें भी फल फूल लगेंगे? विरहिणी ने विरह में प्रतीक्षा के इतने क्षण व्यतीत किये हैं क्या इस तपस्या के फल की प्राप्ति उसको भी होगी? प्रिय मिलन होगा?—

फूलगे अनार कचनार सहसुत आम
फूलगे सिरिस औ पलास पूर सुलगो।
फूलगी सु पाण्डर औ मालती अमिलतास,
भमर पराग पूलि आग रूप तुलगो॥
फूलगी मनर माधवी चमली
रघुनाथ फूलगे गुलाब जिहि दग नित झूलगो।
विरह को बिरवा लगायो जौन कन्त सखि
आयत बसन्त कहो वही अब फूलगो॥[2]

—रघुनाथ

प्रकृति का मानव हृदय से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वातावरण को उल्लासमय पाकर मन भी मस्त होकर उसके साथ झूम जाना चाहता है। यदि ऐसी स्थिति में प्रिय निकट न हो तो स्वभावतः विरही को प्रकृति के सुख से ईर्ष्या होने लगती है। मलय पवन उसको असह्य प्रतीत होता है और उसके लिए मलयगिरि ने विरहियों को तड़पाने के लिए मदन गर्मी का विष वातुमण्डल में घना किया हो। कोकिला का राग उसके हृदय

[1] [illegible]
[2] [illegible]

कचाट को तीव्रतर करता रहता है—

मलयगिरि मारुत के मिसि विरहाकुलनि
दिसि दिसि व्यालन को विष बगरायोरी।
तापर किशोर तसो पचम नवलराग
कोक की कलान भोनो कोकिलन गायोरी॥
कौन मुनि मौच मान लौवे कौन मिलन को
शोच कौन स्याम देखि नेह सरसायोरी।
आमन के ग्रौर लाग अकुरन मौर लागे
भौंर लागे भ्रमन वसन्त अब आयोरी॥[1]
—किशोर कवि

विरही को वसन्त के सब सुखद उपकरण दुखी दिखाई पडते हैं। 'जामुना को लगा देखकर उसे ऐसा लगता है जैसे जामुन के वृक्ष की हरियाली को किसी ने जला दिया हो और कोयले अवशेष रह गए हो। कोयल कराहती-सी लगती है वायु विष से भरी हुई तथा पलाश वन अग्नि से दग्ध-सा प्रतीत होता है। 'नरेश' कवि की इस उक्ति में कोयल का कराहते हुए से प्रतीत होना अत्यन्त स्वाभाविक है किन्तु जामुना का कोयले जैसा लगना अतिशयोक्ति ही कही जाएगी। इस प्रकार की दूर की सूझ भारतेन्दु कालीन कवियो को रीतियुग से विरासत में प्राप्त हुई थी—

भोरिसे कौन लये वन बाग ये कौन जुआमन की हरियाई।
कोयल काहु कराहनी है वन कौने चहूँदिशि धूरि उडाई॥
कैसी नरेश बयारि बहै यह कौन धौं कौन सा माहुर नाई।
हाय न कोउ तलाश करै ये पलाशन कौन दवारि लगाई॥[2]
—नरेश

विरही को मृग वसन्त की अग्नि से तडपते-से प्रतीत होते हैं और कोयल भी अपने समान ही तप्त प्रिय को रक्षा के लिए पुकारती हुई सी लगती है—

प्यारे के वियोग आली उठी आगि वृन्दावन
जरती सदेह कुजे सुन्दरी महा महा।
बौर कचनार आँच उठती पलाशन त
कुसुम करील डीठ परति जहा जहा॥
मन्साराम तिहैं भेटि आवत समीर बौर
तजो जात तन ताती लागति तहा-तहाँ।

१ पट्ऋतु का हजारा, किशोर कवि, पृष्ठ ७
२ वही, नरेश कवि, पृष्ठ २९

भृंग अधमारे बिललात हैं भँवर कार
कोयल हू कोपल पुकारती कहाँ कहाँ ॥[1]

—मस्ताराम

कहीं-कहीं कवि वसन्त की तपन जलन का विशद वर्णन न करके जब केवल उसके आगमन पर अपनी विरहिणी की दशा को व्यक्त करता है तो अनुभूति अत्यन्त मार्मिक हो जाती है—

जानति ही न वसंत को आगम बैठहि ध्यान धरे निजु पी को।
एते में कानन ओर सों आइकै कानन में परयो बोल पिकी को ॥
हे रघुनाथ कहा कहिये कहि आयो हो आयो गरो भरि ती को।
लोचन वारिज सों अँसुवा को अथाह बह्यो परवाह नदी को ॥[2]

—रघुनाथ

वसन्त के आगमन की नायिका को सुधि नहीं थी, वह प्रिय के ध्यान में मग्न बैठी थी। इतने में ही कोयल ने कूक कर उसका ध्यान भंग कर दिया, वसन्त के आगमन की सूचना पाकर उसका गला भर आया और नदी के प्रवाह के समान अविरल अश्रु उसके नेत्रों से बहने लगे। अतिशयोक्ति से विहीन स्वाभाविक अनुभावों में विरहिणी की दशा का यह चित्रण वास्तव में विरह काव्य की निधि है। तप्त उच्छ्वास और मौन अश्रु विरहिणी की व्यथा को मुखर बना रहे हैं।

किसी विरहिणी का प्रिय वसन्त ऋतु में आने वाला था। सखियों ने उसे ढाढ़स दिया था कि जब कोयल कूकेगी तभी प्रिय से मिलन होगा तब तक धैर्य रखो। इसी आशा पर विरह के दिन व्यतीत करती हुई नायिका वसन्त के आगमन पर उद्विग्न हो जाती है—

ताहि वसंत के आवत ही मिलिहैं इतनी रहि राखी हितू ज।
सो अब बूझति हों तुम सों कछु बूझेंगे मेरे उमगन हू ज ॥
कौन ते आय नहीं रघुनाथ ये आइकै बौर के बासर पूज।
दगु मधुव्रत गुंज चहूँदिसि कामल बानि कपाल कूज ॥[3]

—रघुनाथ

विरही नायिका पर वसन्त के इस घातक प्रभाव को देखकर कवि विधाता को उलाहना देता है। संसार में यदि विधाता ने नर-नारी को उत्पन्न ही कर दिया था तो उनके बीच में परस्पर प्रेम सम्बन्ध क्यों स्थापित किया? प्रेम का सम्बन्ध भी किया था तो संयोग और वियोग का विधान क्यों बना दिया? यदि वियोग की व्यथा भी दे

१ [illegible], पृष्ठ ४६
२ वही, रघुनाथ पृष्ठ ५८
३ वही, पृष्ठ ५७

थी तो भूल कर भी कम से कम वन उपवनो मे वसंत का प्रसार तो नही करना चाहिए था।

लोक न सँवारो न बिगारो कछु लोक न सँवारि
नर नारिन सँवारतो।
कीन्ह नर नारि तो न प्रेम को प्रचार देतो
प्रेम को प्रचारो तो न मन को प्रचारतो ॥
मन को प्रचारो तो प्रचारो ना सयोग देतो
कीन्हे जो सयोग तो वियोग न बिचारता।
नन्दराम कीन्हा जो वियोग विधनातो भूलि
बौरे वन बागन बसंत न बगारतो ॥[१]

—नन्दराम कवि

वसन्त के दिन भी समाप्त होने लगते हैं तो विरही के धैर्य का बांध टूट जाता है—

बीतन लागे बसंत के बासर औधि की आस अजं अभिलाखौ।
मण्डन यं इतने सग राम पियारे की सीखन तीखजनाखौ ॥
क्षीण भई तन मोतन भतर दाह निरंतर कौन सभाखौ।
दारुण भार अगार की आगि रूई म लपेट कहा लग राखौ ॥[२]

—मण्डन कवि

'वसंत के मोहक वातावरण मे कामाग्निसे दग्ध शरीर की रक्षा कहा तक करूँ।'

वसंत ऋतु का चद्रमा मानिनी के मानरूपी दुर्ग को तोडने के लिए सुभट योद्धा बन जाता है। वसंत के समस्त उपकरण उसकी सेना के सैनिक बनकर अपने बल का प्रयोग करते हैं। तात्कालीन युद्ध की परिस्थितियो म वसंत का यह रूपक अत्यन्त सुन्दर है—

तारे जहा सुभट नगारे पिकनाद जहा
पदल चकोर कोर बाधे बदवेग की।
गुजरत भौर पुज कुजरत मोर जहाँ पौन झकझोर
घोर घमक हमेश की ॥
भनत कविन्द्र अर फौज है बसत आली मिल तव
कत सा मनोज मतायेश की।
मानावरी गढी प गुमान ढाइबे को आज चढी है
सवारिया निशाकर नरेश की ॥[३]

—कविन्द्र कवि

द्विजदेव और भारतेन्दु दोनो इस युग के सर्वश्रेष्ठ शृगारी कवि कहे जाते हैं वसंत के सम्बन्ध म दोनो की उक्तियाँ ही अनुपम हैं। वसन्त के आगमन पर द्विजदेव कल्पना

१ षट्ऋतु का हजारा, नन्दराम, पृष्ठ ३०
२ वही, मण्डन, पृष्ठ ४८
३ वही, कविन्द्र पृष्ठ ६

करते हैं कि काम-देव और रति विरहिया को सताने के लिए अपने वसन्तरूपी इन्द्रजाल का प्रसार करते हैं। इस कार्य की सफलता के लिए वे नई-नई युक्तियाँ खोजते रहते हैं—

गुंजरन लागी भौंर भौंर केलि-कुंजन में क्वैलिया के
मुख तें कुहूकन पढ़ लगी।
द्विजदेव तैसे कछु गहब गुलाब तें
चहंकि चहूँघा चटकाहट बढ़ लगी॥
नाना सरसावन मनोज निज ओज रति
विरही सतावन की बतियाँ गढ़ लगी।
नेह नागी प्रीति रीति बहुरि नई सी
नवनेह उनई सी मति मोह सी मढ़ लगी॥[1]

—द्विजदेव

वसन्त के मादक वातावरण में कहीं किसी कुंज में छिपकर कामदेव अपने रूप का गुणगान करने लगा और रति, विरहिया को कैसे सताया जाय इसके नये-नये उपाय सोचने लगी। नवीन स्नेह उमड़ आया और प्रमियों के मन पर उसका उन्मादक प्रभाव छाने लगा। वसन्त ऋतु का इससे सजीव और सजल वर्णन और कहाँ मिलेगा? एक मोहित चित्र सा आँखों में मधुर छा जाता है—कहीं किसी कोने में काम और रति अपने प्रयत्न प्रयोगों की नई युक्तियाँ, रीतियाँ सोच रहे हैं।

वसन्त के इस मादक रूप के विपरीत विरहिणी नायिका के जीवन में वसन्त के आगमन की मार्मिक कल्पना भारतेन्दु ने की है। जीवन में वसन्त का आगमन उल्लास का द्योतक होता है किन्तु विरही के जीवन में वह व्यथा का मूर्तिमान रूप बन गया है—

पीरो तन परयो फूली सरसों सरस सोई
मन मुरझानो पतझार मानो लाई है।
सीरी स्वास त्रिविध समीर सी बहति सदा
अँखियाँ बरसि मधु झरि सी लगाई है॥
हरिचन्द फूले मन मैन के मसूसन सो
ताहि सो रसाल बौर वदि कै बौराई है।
तेरे बिछुरे ते प्रान कंत के हिमन्त अन्त
तेरी प्रेम जोगिनी वसन्त बनि आई है॥[2]

—हरिश्चन्द्र

यहाँ दूसरा ही कल्पना वसन्त पाया है क्योंकि नायिका के शरीर में उसके व्यथा पूर्ण जीवन में मानसिक तौर पर वसन्त का आगमन हुआ है। त्रिविध समीर के सदृश उसके

---

1 [illegible] (द्विजदेव कवित्त का भाग) —[illegible]
[illegible]
[illegible]

उच्छ्वास निरन्तर उठते रहते हैं आँखों से प्रेमसिक्त अश्रु रूपी मधु की वर्षा होती रहती है। आम्र के बौर की भाँति उसका सरस मन भी बौरा गया है। 'प्रेमरागिनी' वसन्त-सी बन गई है।

वसन्त के उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारतेन्दु युग में प्रकृति का रूप उद्दीपन होते हुए भी पूर्णतः परम्पराभुक्त नहीं कहा जा सकता। ऋतु विरही-मानस पर प्रभाव डालती है यह बात तो ठीक है और परम्पराभुक्त भी है किन्तु प्रभाव की परिस्थितियों की व्यंजना और उनके विभिन्न मार्मिक चित्र इन कवियों की अपनी मौलिक कल्पना है। इस युग के कवियों ने ऋतु के सम्बन्ध से विरही मानस की मनोस्थितियों का मथकर निकालने की चेष्टा की है और उसके क्षण भी ढूंढे हैं। वसन्त के अतिरिक्त अन्य ऋतुओं के विषय में भी यह बात युक्ति संगत ही है।

पावस

दूसरी ऋतु जिसका विस्तार वर्णन इस युग में हुआ वह पावस है। यद्यपि प्रत्येक ऋतु का अपना अपना आकर्षण है किन्तु वसन्त और पावस ये दोनों विशेष आकर्षक मानी गई हैं और उसी अनुपात से ये अभाव से पीड़ित विरही के मन को झकझोरती भी हैं।

आकाश में जब ग्रीष्म की तपन के बाद मेघ घुमड़ने लगते हैं, सूखी, प्यासी और मृतप्राय धरती में फिर से प्राण संचार होता है हरी भरी वनस्पति के मिस वह अपनी प्रसन्नता प्रकट करने लगती है तब विरही के लिए फिर एक बार कठिन परीक्षा का समय उपस्थित हो जाता है। सम्पूर्ण प्राणीजगत प्रकृति के उल्लास में जब डूब जाता है तब विरही का प्राण विकल हो उठता है, उसका क्या अपराध है वह भी क्या प्रसन्न नहीं हो सकता, उससे यह अधिकार किसी अज्ञात प्रेरणा ने क्या छीन लिया है? केवल इसीलिए न कि जिस प्रिय में उसकी आत्मा ने अपने दर्शन किए थे वह उसके पास नहीं है। ऐसी ही परिस्थिति उत्पन्न होने पर द्विजदेव की नायिका प्रिय के पास वापस लौट आने की अनुनय के लिए पत्र लिखने को व्याकुल हो उठती है—

घुघरित धुर धुरवान की धुधाई नभ जलधर धार धरा
परसन लागी री।
द्विजदेव हरी भरी ललित कछार त्यों कदम्बन की
डारैं रस बरसन लागीरी॥
कालिंदी तें देखि बन वलिन की बनक नवलिन की
मति अति अरसन लागी री।
वगि लिखु पाती या मघाती मनमोहन को
पावस अवाती व्रज दरसन लागी री॥[1]

—द्विजदेव

---

[1] पद्मऋतु का बनारा—परमानन्द सुमने द्वारा सग्रहीत, द्विजदेव, पृष्ठ १७०

सावन की मोहक अँधियारी रात में जब पपीहा पिउ पिउ पुकारने लगता है बिजली की दमक हृदय में तड़पन सी उत्पन्न करती है तब मदमत्त यौवन और अभिलाषा से पीड़ित विरहिणी अपने घर की सूनी सेज में कामाग्नि से दग्ध फूट फूटकर रो पड़ती है—

> यौवन प्रवेश में विदेश मधुसूदन जी
> निपट अँध्यारी कारी सावन की यामिनी।
> एकटक रटत पपीहा पिक नीलकण्ठ
> हिया चमकत दमकत जब दामिनी॥
> सूने सेज मंदिर में सुन्दरि विसूर बैठी
> प्रीतम सुजान बिन कैसे जिये भामिनी।
> नैन भरि भरि ढर मुख हरि हरि कर
> उठरि उद्धरि पर काम भरी कामिनी॥[1]
>
> —नीलकंठ

दादुर कोकिल व मोर का शब्द उसकी वेदना को तीव्रतर करता है, हृदय में अग्नि-सी जलन लगती है—

> सावन की रैन मैन नावन गोविंद बिन देत दुख भारन में
> झिल्लिन के शोर हैं।
> दामिनि सी प्यारी अँधियारी में चकित होत
> उमड़ि उमड़ि घन घहरत घोर हैं॥
> सूने कुंज मन्दिर में सुन्दरि बिसूर बैठि
> दादुर के दहर सी लेत चहुँ ओर है।
> हिय में वियोगिन के विरह की हूक उठी
> कूक उठी कोयल कुहुक उठे मोर है॥[2]
>
> —कालिदास कवि

बार-बार उमड़ घुमड़कर बरसते हुए बादलों के वातावरण में अपने जीवन की भयंकर दशा करती हुई विरहिणी हताश हो जाती है। पापी पपीहा अपनी रटन का त्याग [illegible] नहीं करता मन में काम भावनाएँ उत्पन्न करता है, पवन के झकोर हृदय को झकझोर रहे हैं। मेघ मल्हार का सुन्दर राग गाते हुए मोर हृदय में टीस उत्पन्न करते हैं—

> [illegible] भरी [illegible] बहु घरि [illegible] विदिशानि फरके
> घमण्ड घमण्ड घन धारारा।
> दादुर [illegible] परमातुर पपीहा पापी
> पीउ-पीउ कहि तन मदन जगाया री॥

1 [illegible]—सुजान [illegible]
2 [illegible] पृष्ठ [illegible] १८६

कहत किशोर तसी पवन झकोरन सा मोरन
 त्यो महत मलार सुर गायारी।
बडे बडे बुन्दन विलोकि वारि धारा वीर
 अबही वरसि गयो फेरि नपि आयारी ॥[1]

—किशोर कवि

इतने दिन तक प्रिय के वियोग मे जीवन की रक्षा की किन्तु अब वर्षा मे कैसे करूँ ?—

छाय के प्रेम गये जब ते तब ते मैं बची
 करि कोटि उपाय क।
पायक पावसरी ऋतु मा अब
 को बचि है उठि कोकिल गाय क ॥
गाय कमो नन्दलाल कहै चपला चमकै
 चहु ओर सों आय क।
आय के हाय मिले नहिं मोहन
 मेरी प्रताप घटा रही छाय क ॥[2]

—नन्दलाल

खीझकर वह दुष्ट चातक, मोर, दादुर व पपीहे को ताडना देने लगती है कि वे अपने क्रूर उन्मादक शब्दो को बन्द करें। पवन, बादल और बिजली भी अब उसके साथ कठिन व्यवहार न करें।

चातक चिहुँक मत मुरवा कुहुक मत
 झींगुर किहुँक मत झकी झननाय मत।
चकवा चिकार मत पपीहा पुकार मत
 बुदझर धारमत धार घहराय मत।
कृष्णलाल गाय मत पीर उपजाय मत
 बालम विदेश पाय मन तन ताय मत ॥
पौन फहराय मत चपला चवाय मत
 धाय मत धुरवा औ घन घहराय मत ॥[3]

—कृष्णलाल कवि

× × ×

घहरि घहरि घन सघन चहूँधा घरि
 छहरि-छहरि विष बिन्दु बरसावना ॥

१ षट्ऋतु का हजारा—परमानन्द सुहाने द्वारा समृहीत, किशोर कवि, पृष्ठ १४८
२ वही, नन्दलाल, पृष्ठ १८६
३ वही, कृष्णलाल कवि, पृष्ठ १५१

द्विजदेव की सौं अब चूक मति दावि
अरे पातकी पपीहा तू पिया की धुनि गावै ना ॥
फेरि ऐसा औसरन ऐहै तेरे हाथ अरे।
मटकि मटकि मोर शोर तू मचावै ना ॥
हौं तो बिन प्रान देह चाहत जोइ अब।
बतहि बरसि तू चकाचौंध बीच धावै न ॥[1]

—द्विजदेव

आषाढ़ में ही पीले नवीन अंकुर धरती से जब फूटने लगते हैं तब विरही को ऐसा लगता है जैसे ये बादल उसके प्राण लेने आये हों—

यहै नविराम पीरे अंकुर महो ते कढ़े बनी पीर।
बनिता के देखें जल बाढ़ के।
काम के उमाहक विरही जन दाहक ये आये,
प्राण ग्राहक वलाहक अषाढ़ के ॥[2]

—कविराम

आषाढ़ फिर सावन भी बीतने लगता है बादल उसकी व्यथा से निरपेक्ष बरसते रहते हैं तब विरही विवश होकर प्रिय से ही रक्षा की प्रार्थना करने लगता है—

परी जब चूक तब गूरु प्राण काशीराम,
हरी हरी भूख हरे शोक सरसाती है।
आप-सी नया है भौन औरे तुम मौन होज
छति लौन ऐसे पौन गौन परसतु है ॥
[illegible] परन तुम छाय परन्न अति विपति,
हमारी हाँ विधाता दरसतु है।
[illegible] छूटी जाति देह,
घर-बार उमड़ घुमड़कर कामबर कोप्या है परदेह अब यह बरसतु है ॥[3]

[illegible] हुई विरहिणी ह्वाय

—काशीराम

[illegible], मन में काम भावनाएँ उत्पन्न होती हैं कि क्या जिस देश में प्रिय है उसमें मल्हार का सुन्दर राग गान हुआ मानता ?—

[illegible] करो हरि यह हरि हिंडुवाइ डारे
[illegible] पोन बठि वाल ना।
[illegible] पियार परमानुर [illegible] यह
[illegible] पीउ यह गान यह टालना ॥

1—[illegible] पुरान [illegible], पृष्ठ [illegible]
[illegible] १४६

झिल्लि गण मूक भई धवद सुनाव नाहिं
विपिन विहँग सग करत कलोल ना।
ऐसे समय दुन्द मोहिं वुन्दन उठाय हाय
पावस निशाना श्याम आवत अबोलना॥[1]

—दिवाकर

मकरन्द की विरहिणी के हृदय में दुविधा है कि या तो प्रिय के देश म वर्षा होती ही न होगी अत उनका मन कामोदीप्त न हुआ अथवा इतनी हुई होगी कि नदी-पथ भर गए और प्रिय मार्ग म बाधा होने के कारण न आ सके। क्या चातक, पपीहा, मोर सब वहा मर गए जो प्रिय के भाव को नही जगाते। नायिका सखी से कहती है कि या तो शिव न फिर से काम भस्म कर दिया होगा या काम के पचबाण भी मर प्रिय पर प्रभाव न डाल सके होगे—

कधौं वहि देश घन घुमडि न बरसत
कधौं मकरन्द नदी नदपथ भरिगे।
कधौं पिक, चातक, चकित चकवाक
मत्त भये दादुर मधुप मोर मरिगे॥
मेरे मन आवत न आली प्यारे आवत है
काम कुर निकर महीतेर्धी निकरिग।
कधौं पचशर हर फेर के भसम कीन्हा
कधौं पच शरजू के पाँचो शर झरिगे॥[2]

—मकरन्द कवि

बेनी कवि की विरहिणी विद्युत का उलाहना देते हुए कहती है कि हे विद्युत! तुम वृक्षादि का नाश कर देती हो, मयूर और पपीहे तुमसे कापते हैं तब विरही के प्राणा का अत भी क्यो नही कर देती? उसको केवल तडपाकर ही क्यो छोड देती हो?—

है अफसोसन रोसन वास विन हौसलता रहि
रूखन सो भिरि।
बेनी पपीहन मोरन हूँ हहरानन दूदि
कर बहुत फिरि॥
ज्या डरप तडप विजुरी परकाहू वियोगिनी प
नकहूँ गिरि॥[3]

—बेनी कवि

१ षट्ऋतु का हजारा, दिवाकर कवि, पृष्ठ १७६
२ वही, मकरन्द कवि, पृष्ठ २१०
३ वही, बेनी कवि, पृष्ठ १६५

एक ओर निराशा के ऐसे भाव जहाँ विरही के मानस को झकझोरते हैं वहाँ दूसरी ओर कोई प्रिय के प्रेम में मन में विश्वास रखता हुआ, पावस के मादक वातावरण में ये दस दिन बिताने होंगे इसकी सोच करता है। एक नायिका अपनी सखी से कहती है—

घूमि घटा घन की गरज चमक चपला छिति छ्वै फिर फेरि।
मोर करें चहुँ ओर ते शोर जुरि कर कजलिया कूक घनेरी॥
गोकुल मोरो सरीर लगे केहि भाँति सो धीर रहेगा धरेरी।
मोहि बिना यह सावन की निसि भावन कैसे बिताय है एरी॥[1]

—गोकुल कवि

विरह की टीस का दिग्दर्शन भारतीय काव्य में स्त्री के पक्ष में अधिकतर किया गया है क्योंकि वह प्रकृति से अधिक भावुक और सहनशीला है, प्रेम का प्रतिदान न पाने पर भी वह अपने भाव का पोषण बड़ी सफलता से कर सकती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि पुरुष में विरह की कोमल वृत्ति होती ही नहीं, होती है किन्तु अपने गम्भीर स्वभाव और कार्य व्यस्तता के कारण वह उसको अभिव्यक्त नहीं होने देता। विरह की विवशता नायक की धीर गम्भीर प्रकृति से मेल नहीं खाती इसीलिए हमारे यहाँ नायक के पक्ष में उसका दिग्दर्शन बहुत ही कम हुआ है किन्तु फिर भी यत्र तत्र उसकी झलक मिल जाती है। अपने मन को समझाते हुए नायक कहता है—

प्राणप्रिया मिलि है मन तू न तरस न तरस न तरस न तरस।
छिन एक छमा कर मन हिय न सरस न सरस न सरस न सरस॥
रसिकेश भरे विरहा भर तो न दरस न दरस न दरस न दरस।
इन आवहि प्यारी घटा तब लौं न बरस न बरस न बरस न बरस॥[2]

—रसिक बिहारी

विरह की वेदना प्रिय से वियुक्त होने पर ही नहीं होती, वियोग की आशंका मात्र से भी हो जाती है। प्रवत्स्यत्पतिका में उसकी स्थिति इसी रूप में है। आकाश में मेघ देख कर नायिका कामना करती है कि वर्षा हो जाय तो उसका पति विदेश जाने का विचार स्थगित कर दे। जब पानी नहीं बरसता तो वह बादल को उलाहना देती है—

भोर ही चलन परदेस प्राण प्यारे सुनि
मेरो दुख पाइ आइ गगन पर छाये हैं।
बूँद न छुटत मान घन के कूट
त्यों त्यों मेरो प्राण छूटे अब क्यों न झरि लाये हैं॥
कहै घनसिंह महाबारिद सु देखिया
बारि तनु दैनो क्या बारिद कहाए हैं।

---

[1] ब्रज... ठकुर कवि पृष्ठ १५६
[2] विरहा पृष्ठ १९६

सकट महाय काम एकउ न आये हाइ
गरजन आये मरी गरज न आये हैं ॥[1]

—धनसिंह

यमक की योजना से उक्ति अत्यन्त सुन्दर बन गई है। एक ओर बादल गरजकर नायिका के शृगार भावो की उद्दीप्ति कर रहे हैं दूसरी ओर बरसते भी नही जिससे उसकी स्वार्थ सिद्धि हो सके यह ध्वनि 'गरजन आये मेरी गरज न आये हैं,' उक्ति स स्पष्ट हो रही है। नायिका के हृदय का यह सघष अत्यन्त स्वाभाविक और सुन्दर है।

कविवर रत्नाकर ने पावस के समस्त उपकरणो को नायिका के जीवन म समाजित किया है। पावस का मूर्तिमान रूप बनकर विरहिणी अत्यन्त हृदयस्पर्शी बन गई है—

रहति सदाई हरियाई हिय घायनि म
उरध उसास सो भकोर पुरवा की है।
पीय पाय गापी पीर पूरित पुकारति हैं
सोई रत्नाकर पुकार पपिहा की है॥
लागी रही ननिन सौं नीर की भरी औ
उठे चित्त म चमक सो चमक चपला की है।
बिनु घनस्याम धाम धाम ब्रजमण्डल म
ऊधौ नित बसति बहार बरसा की है॥[2]

—रत्नाकर

सूर ने भी 'निशि दिन बरसत नन हमारे' कहकर अपन जीवन म पावस का आगमन घोषित किया था किन्तु यहा नैनो की झडी के अतिरिक्त पपीहे के शब्द स गोपियो की आतुर पुकार और विद्युत स हृदय की टीस का साम्य अनुपम है।

मान विप्रलम्भ के प्रसग म भी पावस का उद्दीपन रूप ही मिलता है। पावस की अधाधुध म कौन-कौन क्या-क्या नहा लूट रहा? दूतिका नायिका से कहती है कि तू मान क कारण समय को व्यथ ही गँवा रही है—

लीन्हे लेत मान काऊ छीने लत आनि आनि
लूट लेत कोऊ हठि लाज के समाज को।
द्विजदव की सो या अध्यारी अधाधुधि म
कि लेत कोऊ काहू सुख सम्पत्ति के साज को॥
येरी मेरी तोहि जऊ मानि मान दोष तऊ
समय विचारि कीज ऐसे ऐसे काज को।

१ पट्ऋतु का हजारा, धनसिंह पृष्ठ १८०
२ कविवर रत्नाकर—उद्धव शतक, पृष्ठ ८६

ताहि इतमान के अनादरन घेरो
इत बादरन घेरो जाय जाय ब्रजराज को ॥[1]
—द्विजदेव

पावस का उद्दीपन रूप ही इस काव्य में मुख्य रहा है। सुखी व्यक्ति मादक वातावरण में अधिक सुखी हो जाता है तथा दुखी अधिक दुखी, विरही के मन की व्यथा का इस समय में अधिक अभिव्यक्त होना स्वाभाविक ही है—

सरदार कवि ने पावस को पुरुष पर कटु व्यंग करने का माध्यम भी बनाया है।
श्रावन पूरन मास भये यह कौन नला चित में अभिलाषी।
छाडत प्राणप्रिया अपनी पर भूमि तकावन को मति माखी॥
ए सरदार विचार करो जिनका सुख साथ सब सुचि नाखी।
सास्त्री दै देवन को कर में घर राखत है परकी कर राखी॥[1]
—सरदार कवि

सरदार की इस उक्ति से स्पष्ट होता है कि भारतेन्दु युग में शृंगार विषयक रीति परम्परा का प्रतिपादन यद्यपि हो रहा था किन्तु साथ साथ नैतिक विचार भी जाग रहे थे। अपनी प्रिया को छोड़कर अन्य पर आसक्त होना रीतिकालीन शुद्ध शृंगार परम्परा में निन्द्य गर्हित न था। रूढ़िवादी सामन्ती पुरुष पर इससे अधिक कटु व्यंग और क्या हो सकता है—'साखी दै देवन को कर में घर राखत है पर की कर राखी'।

यही नैतिकता आगे चलकर द्विवेदी युग में जब रीतिकाल के विलासी अनाचार का घोर विरोध हुआ तब पूर्णतः अभिव्यक्त हुई। बसन्त और पावस का विशद् विवेचन करके हमने देखा है कि भारतेन्दुयुगीन कवियों ने ऋतु का उद्दीपन रूप में स्वीकार करके विरही मन की अनेक मनःस्थितियों को बूझने का प्रयत्न किया है। अन्य ऋतुओं के वर्णन में कोई विभिन्नता नहीं है। परम्परागत स्थितियों का वर्णन उद्दीपन रूप में कवियों ने किया है अतः उनका वर्णन विस्तार से न करके कुछ संक्षिप्त उदाहरण ही यहाँ प्रस्तुत किये गए हैं—

ग्रीष्म

एक नायिका ग्रीष्म के वातावरण का वर्णन करके प्रिय से रुकने की प्रार्थना करती है—

सार तहखान ताम खास खसखाने सोध अतर गुलाब की
बयार रपटती है।
भूधर भुधार हौज छूटत फुहार बार बार तार
दानन में धूप दपटति है॥

ऐसे समय गौन कहो कैसे के बनगा प्यार
सुधा के तरग प्यारा अग लपटति है।
चन्दन किवार घनसार के पगार दई
तऊ आनि ग्रीष्म की भार भपटति है ॥[1]

—भूधर कवि

वर्णन में प्रकृति के ताप का वर्णन न होकर रईसों के महलों की सुविधाओं की सूची है। उसमें भी ताप का अनुभव करती हुई नायिका पति से कहती है, 'ऐसे समय में कैसे जाओगे।' विरह के ताप की कोई अनुभूति यहा नहीं है।

एक और स्थान पर ग्रीष्म में प्रकृति के ताप का वर्णन करते समय यदि कवि उसमें हृदय के ताप की बात जोड देता तो उक्ति मार्मिक हो जाती किन्तु वह केवल इतना कहकर रह गया—

पवन भहरान धूल लागी फहरान
अन काम नरतान हिय दयत अधूक है।
सूय की चमक दूज घाम की धमक तीजे
लूह की रमक त उठत तन हूक है॥
कहै वच्चूराम आली चौर न सुहाय अव
विना मिलें स्याम क कलेजा टूक टूक है ॥[2]

—वच्चूराम

वातावरण की तपन का हृदय की व्यथा से क्या सम्बन्ध है यह यहा स्पष्ट नहीं होता।

शरद

उद्दीपन—

फूले आसपास कास विमल विकास वास
रहीन निशानी कहूँ मही में गरद की।
राजत कमल दल ऊपर मधुप मन
छापसी दिखाई छवि विरह फरद की॥
श्रीपति रसिक लाल आली वनमाली विन
कछु न उपाय मेरे जिय के दरद की।
हरद समान तन भयो है जरद अव
करद सी लागती है चादनी शरद की ॥[3]

—श्रीपति

१ षट्ऋतु का हजारा भूधर कवि, पृष्ठ १२७
२ वही, वच्चूराम कवि पृष्ठ १२६
३ वही, श्रीपति कवि पृष्ठ, २७७

नागर के पद्य में भी इस उद्दीपन के प्रभाव का वर्णन उपलब्ध है—

> शरद की ऋतु में उचाट चित्त ब्रजराज
> राधे को विरह व्याप्यो उठत या भाखि भाखि।
> किया कहा चाहत है रति चारि चित चोर पर चन्द
> चाँदनी की चटकहि राखि राखि॥[1]
> —देवमणि कवि

राधा के विरह में कृष्ण चन्द्रमा से अपनी चाँदनी समेट लेने को कहते हैं।

हेमन्त

उद्दीपन—

> पल पल दिन दिन यामिनी घटन लागी
> कामिनी जगन लागी यामिनी घटत में।
> अनत दिवाकर सयोगिनी सुखीनी कीनी दुखिनी
> वियोगिनी लगीनी हमी हेत में॥
> धर धर धरधर बाजत कपाट पट
> सटपट सज प मजत छविवन्त में।
> मगा मह पाम में जो आयो न हमार कन्त
> होंगे प्राण अन्त नहीं पाय के हेमन्त में॥[1]
> —दिवाकर

शिशिर

> पाछी मार की वायु बहे यह शीत की इति है
> बीस दिसा में।
> रोति बड़ो युग सी रजि राति रह्यो
> हिम पूरि दिशा विदिशा में॥
> गोकुल झारिहै मन मरोरि रहाय
> कहा रहै मानदिशा में।
> कौन को छाँह छिपायो तिया छतियाँ तजि नाह
> की माह निशा में॥[1]
> —गोकुल कवि

इस तरह भारतेन्दु युग के षट्ऋतु वर्णन में हम पूर्व परम्परा की शृंखला ही पाते

[illegible]
[illegible]
[illegible]

है। नवीनता केवल विरह को विभिन्न मनोस्थितियो के दिग्दर्शन की है।

बारह मासा के रूप म भी प्रकृति वणन इस युग के काव्य म हुए किन्तु उनका रूप वही है जो षट्ऋतु वणन म है अर्थात उद्दीपन रूप है ग्रत स्वतन्त्र रूप से उसका विवेचन यहा नही किया गया।

निष्कष रूप मे कह सकते हैं कि भारतेन्दु युग मे विरह का विविध चित्रण हुग्रा है। उसका स्थूल रूप यद्यपि परम्परागत है किन्तु उसम ग्रनुभूति का ग्रभाव नहा है। यत्र-तत्र ग्रपने युग की बुद्धि सजगता का प्रभाव भी विरह की ग्रनुभूति म दिग्दर्शित हो जाता है।

यहा इस प्रकार भी इगित करना ग्रनुचित न होगा कि भारतेन्दु-युग के इन कविया के साथ प्राचीन विरह स्फुट काव्य की परम्परा ग्राधुनिक युग म लुप्त हो गई।

[illegible] उद्दीपन [illegible] स्पष्ट है—

[illegible]
विरह [illegible] ।
[illegible]
[illegible] ॥[1]

—वेणीमणि कवि

[illegible] विरह में [illegible] रहता है।

हेमन्त

उद्दीपन—

[illegible]
[illegible] ।
[illegible]
[illegible] ॥
[illegible]
[illegible] ।
[illegible]
[illegible] ॥[2]

—दिवाकर

शिशिर

[illegible]
[illegible] ।
[illegible]
[illegible] ॥
[illegible]
[illegible] ।
[illegible]
[illegible] ॥[3]

—गोकुल कवि

[illegible]

1. [illegible]
2. [illegible]
3. [illegible]

हैं। नवीनता केवल विरह की विभिन्न मनोस्थितियो के दिग्दर्शन की है।

बारह मासा के रूप म भी प्रकृति वणन इस युग के काव्य म हुए किन्तु उनका रूप वही है जो षटऋतु वणन मे है अर्थात उद्दीपन रूप है अत स्वतन्त्र रूप से उसका विवचन यहा नही किया गया।

निष्कष रूप मे कह सकते हैं कि भारतन्दु युग म विरह का विविध चित्रण हुआ है। उसका स्थूल रूप यद्यपि परम्परागत है किन्तु उसम अनुभूति का अभाव नही है। यत्र-तत्र अपने युग की बुद्धि सजगता का प्रभाव भी विरह की अनुभूति म दिग्दर्शित हो जाता है।

यहा इस ओर भी इगित करना अनुचित न होगा कि भारतेन्दु युग के इन कवियो के साथ प्राचीन विरह स्फुट काव्य की परम्परा आधुनिक युग म लुप्त हो गई।

द्वितीय अध्याय

सास्कृतिक प्रबन्ध कविता मे विरह-भावना

२० शताब्दी के प्रारम्भ के साथ भारत की राजनीतिक परिस्थिति पर्याप्त परिवर्तित हो गई थी। अंग्रेजी राज्य के पाँव भारत की धरती पर दृढ़ता से जम चुके थे, स्वतन्त्रता प्राप्ति कठिन ही नहीं असम्भव सा हो गया था। राजनीतिक दासता के साथ सामाजिक और नैतिक पतन ने देश की व्यवस्था विशृंखल हो गई थी अत विदेशी सत्ता का स्पष्ट विद्रोह सम्भव न था।

राजनीतिक क्षेत्र में फैली हुई अशान्ति और अराजकता को अंग्रेजी शासन ने शान्त किया था अत साधारण जनता उसके प्रति कृतज्ञ थी। किन्तु प्रत्येक मनस्वी यह जानता था कि विदेशी शासन देश के लिए घातक है, आत्म-गौरव उसे कचोटता रहता था। डा० नगेन्द्र के शब्दों में वह 'इस क्षति की पूर्ति के लिए अपने प्राचीन गौरव का आह्वान करता था।'[1] संगठन के अभाव में इनी गिनी आत्माओं का कोई मूल्य न था। अत जहाँ एक ओर इन मनीषियों का कार्य सांस्कृतिक जागरण का सन्देश देकर जनता के सुप्त आत्माभिमान को जगाना था जिससे वह स्वतन्त्रता के मूल्य को समझ सके वहाँ दूसरी ओर कारागार की यन्त्रणायें सहकर स्वतन्त्रता की आवाज को जीवित रखना था (खुले विद्रोह का अर्थ उस समय कारागार था)।

सांस्कृतिक जागरण के लिए उस युग के विद्वान् चिन्तक कवियों ने भारतीय पौराणिक एवं ऐतिहासिक साहित्य से उन स्थलों तथा पात्रों को चयनित किया जिनका सम्बन्ध भारतीयों के गौरव और स्वाभिमान से अविच्छिन्न था। आदर्श व्यक्तियों के चित्रण के लिए अनेक प्रबन्ध काव्यों की रचना हुई।

प्रबन्ध काव्यों की रचना के विषय में डा० कृष्णलाल ने अपनी 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' नामक पुस्तक में लिखा है—'प्रबन्धकाव्य प्राय परिवर्तनकाल में ही लिखे जाते हैं। जब प्राचीन साहित्यिक आदर्शों का कोई मूल्य नहीं रह जाता, जब जनता की दृष्टि प्राचीन रूढ़ियों और परम्पराओं से हट जाती है और नए आदर्शों, नई रूढ़ियों और नई परम्पराओं का कोई निश्चित निरूपण नहीं हुआ रहता एवं परिवर्तन

---

१ डा० नगेन्द्र—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ २०

काल में लोग सरल और साधारण प्रबन्ध काव्यों की शरण लेते हैं। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भी ठीक ऐसा ही हुआ।"[१]

डा० कृष्णलाल का सांस्कृतिक प्रबन्ध-काव्य विषयक उपर्युक्त विवेचन सर्वांग-सा प्रतीत नहीं होता। प्रबन्धकाव्यों की रचना उस युग में इसलिए नहीं हुई थी कि कवियों को अपनी पुस्तकों के लिए 'मार्केट' बनानी थी, बल्कि इस कारण हुई थी कि उनके द्वारा जनता के सम्मुख भारतीय संस्कृति के गौरव और आत्माभिमान को प्रस्तुत करना था। कहानी उनके कहने का सबसे सरल उपाय थी। इस युग के प्रबन्ध काव्य इसके प्रमाण हैं। परवर्ती प्रबन्ध-काव्यों की रचना का उद्देश्य भी यही रहा।

राम और कृष्ण के महत् चरित्रों की महत्ता का पुनः स्थापन भी सांस्कृतिक प्रबन्ध कविता से ही हुआ। इससे पूर्व अनेक सामाजिक और धार्मिक कारणों से रीतिकाल में वह नीति परिपाटी के शृंगार तथा कला की प्रतिध्वनि मात्र बन गए थे। केवल अपनी जाति के आदर्श चरित्रों में ही आदर्श नहीं ढूंढा गया प्रत्युत परम्परा से शत्रु मान जाने वाले रावण सरीखे चरित्रों में भी कवि ने उसे खोजने की चेष्टा की। 'रावण' महाकाव्य और 'दैत्यकुल' जैसे ग्रन्थों की रचना हुई।

शृंगार के क्षेत्र में कवि ने उसके परम्परागत रूप की स्वीकृति न करके नवीन मार्ग के निर्माण का प्रयत्न किया। एक ओर माण्डवी और उर्मिला जैसे उपेक्षित स्त्री चरित्रों का उद्धार हुआ, दूसरी ओर शृंगार स्वतन्त्र काव्य विषय न रहकर जीवन की विविध उलझी हुई परिस्थितियों में से एक बन गया जो जीवन की गति की अनुकूलता और प्रतिकूलता के अनुरूप अनेक रूपों में प्रवाहित तथा उन्नमित होता रहता है। इसके फलस्वरूप राधा, सीता, उर्मिला, माण्डवी और धन्यमालिनी (रावण की पत्नी) जैसे पात्रों की नई विशेषताएँ और सम्भावनाएँ प्रकाश में आईं। परम्परागत 'बारहमासा' और 'ऋतुवर्णन' भी साथ-साथ होता रहा किन्तु अधिकांशतः उनका वर्णन कवि का लक्ष्य न था।

प्रस्तुत अध्याय में द्विवेदी युग के प्रसिद्ध प्रबन्ध लेखकों की रचनाओं से लेकर आधुनिक युग के वर्तमान प्रबन्ध काव्यों तक को सम्मिलित किया गया है। यद्यपि अनेक प्रबन्ध काव्य इस युग में लिखे गए हैं किन्तु यहाँ केवल उन्हीं का उल्लेख किया गया है जिनका सम्बन्ध भारत की नवजागति और संस्कृति से है तथा जिनमें विरह की अभिव्यक्ति किसी विशिष्ट रूप में मुखरित हुई है।

सांस्कृतिक प्रबन्ध कविता की विरह भावना का विवेचन रामनरेश त्रिपाठी की 'स्वप्न' और 'पथिक' रचनाओं से प्रारम्भ हुआ है। इसके पश्चात् क्रमशः हरिऔध के 'प्रियप्रवास' और 'वैदेही वनवास' तथा मैथिलीशरण गुप्त के अनेक प्रबन्ध काव्यों 'साकेत', 'यशोधरा,' 'जयद्रथ वध,' 'द्वापर' 'जय भारत,' 'शकुन्तला,' और 'विष्णुप्रिया,' में प्राप्त विरह भावना का अध्ययन है। इनके अतिरिक्त आधुनिक युग के अन्य लब्धप्रतिष्ठ प्रबन्ध

१ डा० कृष्णलाल—आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास (सं० १९०० से १९२७ तक), पृष्ठ ६७

द्वितीय अध्याय

सांस्कृतिक प्रबन्ध कविता में विरह-भावना

२०वीं शताब्दी के प्रारम्भ के साथ भारत की राजनीतिक परिस्थिति पर्याप्त परिवर्तित हो गई थी। अंग्रेजी राज्य के पाँव भारत की धरती पर दृढ़ता से जम चुके थे, उन्हें उखाड़ना कठिन ही नहीं असम्भव सा हो गया था। राजनीतिक दासता के साथ सामाजिक और नैतिक पतन से देश की व्यवस्था विशृंखल हो गई थी अतः विदेशी सत्ता का स्पष्ट विद्रोह सम्भव न था।

शताब्दियों में फैली हुई अशान्ति और अराजकता का अंग्रेजी शासन ने अन्त किया था अतः साधारण जनता उनके प्रति कृतज्ञ थी। किन्तु प्रत्येक मनस्वी यह जानता था कि विदेशी शासन देश के लिए घातक है, आत्म गौरव उसे कचोटता रहता था। डा० नगेन्द्र के शब्दों में वह 'इस क्षति की पूर्ति के लिए अपने प्राचीन गौरव का आह्वान करता था।'[1] संगठन के अभाव में इनी गिनी आवाजों का कोई मूल्य न था। अतः जहाँ एक ओर इन मनीषियों का लक्ष्य सांस्कृतिक जागरण का संदेश देकर जनता के सुप्त आत्माभिमान को जगाना था जिससे वह स्वतन्त्रता के मूल्य को समझ सके वहाँ दूसरी ओर कारागार की कड़ियों से बचे रहकर स्वतन्त्रता की आवाज को जीवित रखना था (खुले विद्रोह का अर्थ उस समय कारागार था)।

सांस्कृतिक जागरण के लिए उस युग के विद्वान चिन्तक कवियों ने भारतीय पौराणिक एवं ऐतिहासिक साहित्य के उन स्थलों तथा पात्रों को अंकित किया जिनका सम्बन्ध भारतीयों के गौरव और स्वाभिमान से अविच्छिन्न था। आदर्श व्यक्तियों के अंकन के लिए अनेक प्रबन्ध काव्यों की रचना हुई।

प्रबन्ध काव्यों की रचना के विषय में डा० कृष्णलाल ने अपनी 'आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास' नामक पुस्तक में लिखा है—'प्रबन्धकाव्य प्रायः परिवर्तनकाल में ही मिलते हैं। जब प्राचीन साहित्यिक आदर्शों का कोई मूल्य नहीं रह जाता, जब जनता की रुचि प्राचीन रूढ़ियों और परम्पराओं से हट जाती है और नए आदर्शों, नई रूढ़ियों और नई परम्पराओं का कोई निश्चित निरूपण नहीं हुआ रहता ऐसे परिवर्तन

---

[1] डा० नगेन्द्र—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ २१

काल म लोग सरल और साधारण प्रबन्ध काव्या की शरण लेत हैं। बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ म भी ठीक एसा ही हुआ।"[१]

डा० कृष्णलाल का सास्कृतिक प्रबन्ध-काव्य विषयक उपयुक्त विवचन सवाग-सा प्रतीत नही होता। प्रबन्धकाव्या की रचना उस युग म इसलिए नही हुई थी कि कविया को अपनी पुस्तका के लिए 'मार्केट' बनानी थी, बल्कि इस कारण हुई थी कि उनके द्वारा जनता के सम्मुख भारतीय सस्कृति के गौरव और आत्माभिमान का प्रस्तुत करना था। कहानी उसके कहने का सबसे सरल उपाय थी। इस युग के प्रबन्ध काव्य इसके प्रमाण हैं। परवर्ती प्रबन्ध-काव्या की रचना का उद्देश्य भी यही रहा।

राम और कृष्ण के महत चरित्रा की महत्ता का पुन स्थापन भी सास्कृतिक प्रबन्ध कविता से ही हुआ। इसस पूव अनक सामाजिक और धार्मिक कारणा से रीतिकाल म वह नीति परिपाटी के शृगार तथा कला की प्रतिध्वनि मात्र बन गए थे। केवल अपनी जाति के आदश चरित्रा म ही आदश नही ढूढा गया प्रत्युत परम्परा से दनु माने जाने वाले रावण सरीखे चरित्रा म भी कवि ने उसे खोजने की चष्टा की। 'रावण' महाकाव्य और 'दत्यकुल' जसे ग्रन्था की रचना हुई।

शृगार के क्षेत्र म कवि न उसके परम्परागत रूप की स्वीकृति न करके नवीन माग क निमाण का प्रयत्न किया। एक ओर माण्डवी और उर्मिला जस उपक्षित स्त्री चरित्रा का उद्धार हुआ, दूसरी ओर शृगार स्वतन्त्र काव्य विषय न रहकर जीवन की विविध उलझी हुई परिस्थितिया म से एक बन गया जो जीवन की गति की अनुकूलता और प्रतिकूलता के अनुरूप अनक रूपा म प्रवाहित तथा उन्मथित होता रहता है। इसके फलस्वरूप राधा, सीता, उर्मिला माण्डवी और धन्यमालिनी (रावण की पत्नी) जसे पात्रा की नई विपत्तियाँ और सम्भावनाएँ प्रकाश म आइ। परम्परागत 'बारह मासा' और ऋतुवणन भी साथ-साथ हाता रहा किन्तु अधिकाशत उनका वणन कवि का लक्ष्य न था।

प्रस्तुत अध्याय म द्विवदी युग के प्रसिद्ध प्रबन्ध लेखका की रचनाओ से लेकर आधुनिक युग के वतमान प्रबन्ध काव्या तक को सम्मिलित किया गया है। यद्यपि अनक प्रबन्ध काव्य इस युग म लिखे गए हैं किन्तु यहाँ केवल उन्ही का उल्लेख किया गया है जिनका सम्बन्ध भारत की नवजागृति और सस्कृति से है तथा जिनम विरह की अभिव्यक्ति किसी विशिष्ट रूप म मुखरित हुई है।

सास्कृतिक प्रबन्ध कविता की विरह भावना का विवचन रामनरेश त्रिपाठी की 'स्वप्न' और 'पथिक' रचनाओ से प्रारम्भ हुआ है। इसके पश्चात् क्रमश हरिऔध के 'प्रियप्रवास' और 'वदेही बनवास' तथा मथिलीशरण गुप्त के अनक प्रबन्ध काव्या 'साकेत', 'यशोधरा,' जयद्रथ वध, 'द्वापर', 'जय भारत,' 'शकुन्तला,' और विष्णुप्रिया, म प्राप्त विरह भावना का अध्ययन है। इनके अतिरिक्त आधुनिक युग के अन्य लब्धप्रतिष्ठ प्रबन्ध

१ डा० कृष्णलाल—आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास (स० १६०० से १६२५ तक), पृष्ठ ६७

काव्यों में विरहाभिव्यक्ति के अध्ययन और अंकन का प्रयत्न भी किया गया है ये ग्रन्थ हैं १ जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' २ निराला का 'तुलसीदास', ३ डाक्टर बल्देवप्रसाद मिश्र का 'साकेतसंत', ४ द्वारकाप्रसाद मिश्र का 'कृष्णायन', ५ हरदयालुसिंह का 'रावण महाकाव्य', ६ रामानन्द तिवारी की 'पार्वती' और गुरु भक्तसिंह का 'नूरजहाँ'। शास्त्रीय 'विरहाभास' की श्रेणी के अन्तर्गत आने वाली कुछ प्रसिद्ध प्रबन्ध रचनाओं की विरह भावना की मनोवैज्ञानिक स्थिति और रससिद्धता का मूल्यांकन 'विरह अथवा विरहाभास' के शीर्षक से किया गया है, इसमें मैथिलीशरण गुप्त की 'पञ्चवटी' और मोहनलाल द्विवेदी की 'कुणाल' और 'उर्मी' का उल्लेख है।

रामनरेश त्रिपाठी

(१) स्वप्न—'स्वप्न' नामक प्रबन्ध काव्य में कवि ने देशभक्ति के मूलभाव पर दृष्टि केन्द्रित करके नारी को पुरुष की मूल प्रेरणाशक्ति के रूप में स्वीकार किया है। स्वप्न का नायक बसन्त अपनी प्रिया पर आसक्त है। उसके रूप के समुद्र और नशा की मादकता में वह डूबा रहता है। सुमना भी अपने पति की इस एकान्त स्थिति से अत्यन्त प्रसन्न है। पार्वतीय प्रदेश की सुषमा ने इन दोनों को आत्म विभोर कर रखा है।

देश पर शत्रु का आक्रमण होता है। सबके पति स्वदेश के स्वातन्त्र्य की रक्षा के लिए युद्ध में जाते हैं किन्तु सुमना स्वार्थवश अपने पति को नहीं जाने देती। जिन युवकों ने मातृभूमि की रक्षा के लिए बलिदान किया था, उनके यश-सौरभ से वातावरण गूंज उठा, सुमना के पति का गुणगान किसी ने नहीं किया। वह विकल हो उठा। उसने पति से युद्ध में जाने की प्रार्थना की किन्तु वह नहीं गया।

निराश सुमना एक रात पति को सोता हुआ छोड़कर न जाने कहाँ चली गई। बसन्त पागल हो गया और उसके विरह में व्यथित रहने लगा।

बसन्त का विरह वर्णन अधिकतर इतिवृत्तात्मक है। कथन शैली के कारण पीड़ा की अनुभूति कुछ काफी दब गया है। किन्तु फिर भी गीति काव्य के अनुभूति रूप यत्र-तत्र प्राप्त हो जाते हैं। स्मृति दशा संचारी बनकर विरह को उद्दीप्त कर रही है।

किन्तु दूसरे ही क्षण उसकी
नीरवता से व्याकुल होकर
अपने अधर रख दिए मैंने
उसके अरुण वर्ण अधरों पर
चौंक उठी वह, किन्तु जानकर
मेरी व्याकुलता का कारण
विद्युत सी खिलखिला पड़ी वह
हाय! भूलता नहीं एक क्षण।।[१]

१ श्री रामनरेश त्रिपाठी—स्वप्न, सर्ग ४, पद १४

उन्माद, प्रलाप, अश्रु, स्मृति और मूर्च्छा दशाओं का समावेश स्थान-स्थान पर किया गया है—

उसके भूषण वसन उठाकर
हृदय लगाकर गद्गद होकर
बार बार चुम्बन करता मैं
अश्रु गिराकर उन्हें भिगोकर
सहसा उस निर्जन घर में वह
सुमना बहकर गिरकर भू पर
मूर्च्छित सा रहता था प्रायः
बहुत समय तक उस स्मरण कर॥[१]

कुछ नवीन कल्पनाएँ अत्यन्त सुन्दर बन पड़ी हैं। संसार में अनेक ज्योतिपिंड होने पर भी विरही को प्रिय के बिना अन्धकार ही दिखाई पड़ता है, इस भावकी व्यंजना वसन्त इस तरह करता है—

दीप, वह्नि, तारे हिमांशु रवि,
हैं प्रकाश के स्रोत बहुत पर
प्रियाबिना मुझको लगता है
अन्धकारमय यह मचराचर॥[२]

रामनरेश त्रिपाठी द्विवेदी काल के कवि हैं अतः वर्णन की इतिवृत्तात्मकता आदि विशेषताओं का उनके काव्य में होना स्वाभाविक है। किन्तु 'स्वप्न' के अध्ययन से ज्ञात होता है कि यह कवि अपने विषय वर्णन में, अपने युग का प्रतिनिधित्व ही नहीं करता, आगामी नवीन युग की भावनाओं का बीजारोपण भी करता चलता है। वैयक्तिक अनुभूति का सर्वात्म के मिस देखना स्थूल प्रेम को सूक्ष्म व अतीन्द्रिय रूप देना तथा अनन्त में चिर विरह का संकेत करना छायावादी युग की रहस्यात्मक अनुभूति की विशेषताएँ मानी जाती हैं। यहाँ वसन्त के विरह में हम ये सब मिल जाती हैं—

पता नहीं किसके वियोग में
वन में नदी-तटों पर तरुवर
मेरी तरह रुदन करते हैं
फूल नाम के अश्रु गिराकर
कोई रोता है अनन्त में
जिसके अश्रुबिन्दु हैं उडुगण
ओस नाम से तृण तरुओं पर
बिखरे रहते हैं जिनके कण

१ रामनरेश त्रिपाठी—स्वप्न, सर्ग ४, पद ७
२ वहीं, पद २०

चश्मों से बहते हैं यह किस
विरही के हैं अश्रु अनवरत
ये प्रपात हैं किस विदग्ध का
अनल बुझाने में सतत रत
किसकी विषम वियोग व्यथा से
विह्वल हुई हृदतनया का उर
प्रगतिशील होती सुमना भी
रही हाय यों ही मिलनातुर ॥[१]

विरही की व्यथा सम्पूर्ण विश्व को आर्द्र बनाती है और वह उसका करुण विरहगान गाता है यह भाव भी नवीन युग की कल्पना है। त्रिपाठी जी ने उसे इस प्रकार व्यक्त किया है—

उसका विरह वेदना अगणित
कंठों में हो उठी निनादित
हृदयों में हो उठा चतुर्दिक
करुणा पारावार तरंगित ॥[२]

इन नवीन अनुभूतियों के साथ रीतिकालीन परम्परा के अवशेष भी नायिका वर्णन में मिल जाते हैं।[३] संक्षेप में 'स्वप्न' भारतेन्दु काल के खण्डहरावशेषों की नई इमारतों में सम्बलता-सा दिखाई पड़ता है।

चरम नैराश्य की स्थिति पर पहुँचकर बसन्त स्वयं से और प्रेम से भी विरक्त हो गया। वह आत्म सुख की खोज करने लगा। यह आत्म-सुख एक नवयुवक की प्रेरणा से उसे देश की रक्षा में मिला। बसन्त के सहयोग से देश की विजय हुई। राजा ने उसको विजय मुकुट पहनाया। विजय मुकुट पहनने के अवसर पर जब उसने उस युवक की खोज की तो वह उसकी प्रियतमा सुमना ही थी—

वह मेरा प्रिय बंधु कहाँ है?
मैं स्वदेश को उसका परिचय
देने को अति ही उत्सुक हूँ
वर्णन कर उपकार समुच्चय
प्राणनाथ की सुमधुर वाणी
सुनकर सुमना गद्गद होकर
सकुचा कर धीरे से बोली
मैं ही हूँ वह, हे प्राणेश्वर।[४]

१ रामनरेश त्रिपाठी—स्वप्न सर्ग ४, पद २१ २२
२ वही पद २५
३ वही सर्ग ४, पद १८, २७
४ वही सर्ग ५, पद ४१

वसन्त का विरह एकान्त वदना होकर भी उसे अकमण्य नही बनाता, देश की रक्षा की ओर उन्मुख कराता है। स्वय सुमना भी परम्परागत नायिकाओ की भाति केवल रोना भीकना नही जानती, आत्म-सम्मान की प्रताडना पीडित हाकर देश की रक्षा करती है और पति को भी प्ररणा दती है। ऐसी स्त्रियाँ ही कवि का 'स्वप्न' है।

(२) पथिक—ब्रिटिश साम्राज्य म राजा की कूटनीति और अत्याचार तथा प्रजा और राजा के बीच की खाई का सकेत त्रिपाठीजी ने अपन 'पथिक' खण्डकाव्य म किया है। उसका निदान भी असहयोग आन्दोलन म हुआ है।

दक्षिण समुद्र के तटपर पथिक अपनी प्रिय पत्नी से बहुत दिन के पश्चात मिलता है। पत्नी उसको पहचानकर घर वापस लौट चलने की प्राथना करती है अपने छोटे बच्चे को अपनी बाहो स मुक्त करके वह उसे ढूटने को निकली थी। पत्नी की अनुनय-विनय का पथिक पर कोई प्रभाव नही पडता। वह ससार क दुखो स घणा करता है, उसके अनुसार वनश्री ससार से कही अधिक सुखद है। निराश स्त्री लौट जाती है। पथिक की सासारिक सघष से पलायन करके प्रकृति के चित्रित आचल म शरण लेने की प्रवत्ति म त्रिपाठीजी की समसामयिक परिस्थितियो का प्रभाव लक्षित है।

इस निराश भावुक को साधु प्रवत्ति का माग दिखाता है। उसन कहा कि 'पौरुष, साहस, सत्य, याय, श्रद्धा और करुणा आदि गुण ईश्वर न मनुष्य को धरोहर रूप म दिये हैं। इन गुणो का यथासभव उपयाग करना मनुष्य का धम है और इनसे पलायन ईश्वर के साथ विश्वासघात। तुम मानव समाज म जाओ और यथानुसार इन गुणो का उपयोग करो। साधु के उपदश से पथिक की आखें खुल जाती है। वह दश भ्रमण करता है और इस प्रकार अपन देशवासियो के अत्यन्त निकट आ जाता है। वह देखता है कि प्रजा बहुत दुखी है और राजा उस पर मनमाना अत्याचार कर रहा है। राजा के अत्याचार का एकमात्र उपचार वह प्रजा को उसम असहयोग करन म बताता है। राजा क्रुद्ध होकर पथिक को प्राण-दण्ड देता है। उसकी मृत्यु से पहल उसकी पत्नी और पुत्र भी आत्मबलि द दते हैं। ससार म जय जयकार गूज उठती है।

पथिक क बलिदान से प्रजा म सगठन हो जाता है और वह विद्रोह करके राजा को देश निकाला दे देती है। प्रजा इसके बाद सुखी हो जाती है और देश म सुख और समद्धि का राज्य स्थापित होता है। इस तरह वह सच्चा प्रेमी देश का आत्मशक्ति के बल पर अत्याचार के बन्धन स मुक्त करता है।

देशभक्ति क भाव म प्रेरित 'पथिक' का लक्ष्य यद्यपि राष्ट्र सगठन है किन्तु उसके मुख्य पात्र पथिक के जीवन के पारिवारिक पक्ष का भी कवि ने पूरा ध्यान रखा है। पथिक की पत्नी की विरह-व्यथा का दिग्दशन हम इस काव्य म मिलता है। पथिक के विरह भाव को कायवश प्रवास की श्रेणी म रखा जा सकता है जिसके आदश की पूर्ति उसक परिवार क बलिदान म होती है।

सबसे प्रथम 'पथिक' काव्य में इस बात की ओर ध्यान जाता है कि द्विवदी-युग क

चश्मों से बहते हैं यह किस
विरही के हैं अश्रु अनवरत
ये प्रपात हैं किस विदग्ध का
अनल बुझाने में सतत रत
किसकी विषम वियोग व्यथा से
विह्वल है हृदतनया का उर
प्रगतिशील होती सुमना भी
कहाँ हाय यों ही मिलनातुर ॥[1]

विरही का व्यथा सम्पूर्ण विश्व को आर्द्र बनाती है और वह उसका करुण विरहगान गाता है यह भाव भी नवीन युग की कल्पना है। त्रिपाठी जी ने उसे इस प्रकार व्यक्त किया है—

उसकी विरह वेदना अगणित
कंठों में हो उठी निनादित
हृदयों में हो उठा चतुर्दिक
करुणा पारावार तरंगित ॥[2]

इन नवीन अनुभूतियों के साथ रीतिकालीन परम्परा के अवशेष भी नायिका वर्णन में मिल जाते हैं।[3] संक्षेप में 'स्वप्न' भारत दुष्काल के खण्डहरावशेषों को नई इमारतों में बदलना सा दिखाई पड़ता है।

चरम नैराश्य की स्थिति पर पहुँचकर वसन्त स्वयं से और प्रेम से भी विरक्त हो गया। वह आत्म सुख की खोज करने लगा। यह आत्म सुख एक नवयुवक की प्रेरणा से उसे देश की रक्षा में मिला। वसन्त के सहयोग से देश की विजय हुई। राजा ने उसको विजय मुकुट पहनाया। विजय मुकुट पहनने के अवसर पर जब उसने उस युवक की खोज की तो वह उसकी प्रियतमा सुमना ही थी—

वह मेरा प्रिय बन्धु कहाँ है ?
मैं स्वदेश को उसका परिचय
देने को अति ही उत्सुक हूँ
वर्णन कर उपकार समुच्चय
प्राणनाथ की सुमधुर वाणी
सुनकर सुमना गद्गद होकर
सकुचा कर धीरे से बोली
मैं ही हूँ वह, हे प्राणेश्वर।[4]

१ रामनरेश त्रिपाठी—स्वप्न, सर्ग ८, पृ० २१-२२
२ वही पृ० २५
३ वही सर्ग ४, पृ० १८, २७
४ वही, सर्ग ५, पद ४१

वसन्त का विरह एकान्त वेदना होकर भी उसे अकर्मण्य नहीं बनाता, देश की रक्षा की ओर उन्मुख कराता है। स्वयं सुमना भी परम्परागत नायिकाओं की भांति केवल रोना भींखना नहीं जानती, आत्म-सम्मान की प्रताडना पीडित होकर देश की रक्षा करती है और पति को भी प्रेरणा देती है। ऐसी स्त्रियां ही कवि का 'स्वप्न' है।

(२) पथिक—ब्रिटिश साम्राज्य में राजा की कूटनीति और अत्याचार तथा प्रजा और राजा के बीच की खाई का संकेत त्रिपाठीजी ने अपने 'पथिक' खण्डकाव्य में किया है। उसका निदान भी असहयोग आन्दोलन में ढूढा है।

दक्षिण समुद्र के तटपर पथिक अपनी प्रिय पत्नी से बहुत दिन के पश्चात मिलता है। पत्नी उसको पहचानकर घर वापस लौट चलने की प्रार्थना करती है, अपने छोटे बच्चे को अपनी बाहों से मुक्त करके वह उसे ढूंढने को निकली थी। पत्नी की अनुनय-विनय का पथिक पर कोई प्रभाव नहीं पडता। वह संसार के दुखों से घृणा करता है, उसके अनुसार वनश्री संसार से कहीं अधिक सुखद है। निराश स्त्री लौट जाती है। पथिक की सांसारिक संघर्ष से पलायन करके प्रकृति के चिन्तित आंचल में शरण लेने की प्रवृत्ति में त्रिपाठीजी की समसामयिक परिस्थितियों का प्रभाव लक्षित है।

इस निराश भावुक को साधु प्रवृत्ति का मार्ग दिखाता है। उसने कहा कि 'पौरुष, साहस, सत्य, न्याय, श्रद्धा और करुणा आदि गुण ईश्वर ने मनुष्य को धरोहर रूप में दिये हैं। इन गुणों का यथासंभव उपयोग करना मनुष्य का धर्म है और इनमें पलायन ईश्वर के साथ विश्वासघात। तुम मानव समाज में जाओ और यथानुसार इन गुणों का उपयोग करो। साधु के उपदेश से पथिक की आंखें खुल जाती हैं। वह देश भ्रमण करता है और इस प्रकार अपने देशवासियों के अत्यन्त निकट आ जाता है। वह देखता है कि प्रजा बहुत दुखी है और राजा उस पर मनमाना अत्याचार कर रहा है। राजा के अत्याचार का एकमात्र उपचार वह प्रजा को उसमें असहयोग करने में बताता है। राजा क्रुद्ध होकर पथिक को प्राण-दण्ड देता है। उसकी मृत्यु से पहले उसकी पत्नी और पुत्र भी आत्मबलि दे देते हैं। संसार में जय जयकार गूंज उठती है।

पथिक के बलिदान से प्रजा में संगठन हो जाता है और वह विद्रोह करके राजा को देश निकाला दे देती है। प्रजा इसके बाद सुखी हो जाती है और देश में सुख और समृद्धि का राज्य स्थापित होता है। इस तरह वह सच्चा प्रेमी देश का आत्मशक्ति के बल पर अत्याचार के बन्धन से मुक्त करता है।

देशभक्ति के भाव से प्रेरित 'पथिक' का लक्ष्य यद्यपि राष्ट्र संगठन है किन्तु उसके मुख्य पात्र पथिक के जीवन के पारिवारिक पक्ष का भी कवि ने पूरा ध्यान रखा है। पथिक की पत्नी की विरह-व्यथा का दिग्दर्शन हम इस काव्य में मिलता है। पथिक के विरह भाव को 'कार्यवश' प्रवास की श्रेणी में रखा जा सकता है जिसके आदर्श की पूर्ति उसके परिवार के बलिदान में होती है।

सबसे प्रथम 'पथिक' काव्य में इस बात की ओर ध्यान जाता है कि द्विवेदी-युग के

कठोर नैतिक अनुशासन के कारण कवि की सौंदर्य दृष्टि नायिका के स्थूल अंगों से हटकर सूक्ष्म और अतीन्द्रिय बन रही थी। पथिक की स्त्री का सौंदर्य कवि ने इन शब्दों में व्यक्त किया है—

उसी समय कमनीय एक स्वर्गीय किरण सी वामा।
कवि के स्वप्न समान विश्व के विस्मय सी अभिरामा।।[1]

सौंदर्य का यह विस्मय रूप ही आगे चलकर छायावाद में अत्यन्त स्पष्ट हुआ। उसके यह उपमान पूर्ववर्ती युग के लिए अपरिचित थे।

विरहिणी पथिक की पत्नी को प्रिय के दर्शन से जो सुख मिला वह भी अपूर्व है—

अन्धे को दृग, महा रंक को विश्व सम्पदा सारी।
जेठ दुपहरी में मरुथल के तृषित पथिक को वारी।
मिलन से जो सुख होता है आत्म रहस्य यती को।
उससे बढ़ सुख मिला अचानक विरह विदग्ध सती को।।[2]

प्रिय मिलन के सुख की उपमा यती के आत्मरहस्य की प्राप्ति से, अनुपम है। आत्म रहस्य की प्राप्ति में जो चिर आत्म विसर्जन का भाव है वही विरही के पुन प्रिय मिलन की व्यंजना करने में समर्थ हो सकता है। उपमा अत्यन्त सशक्त है।

मिलन को कवि प्रेम की सुषुप्ति और विरह को 'जागत गति' मानता है। यह ठीक भी है। मिलन में प्रेमी आत्मविभोर हो जाते हैं किन्तु विरह में प्रेम के कोमल भाव का सावधान रहकर यथाशक्ति पोषण करते हैं—

मिलन अन्त है मधुर प्रेम का और विरह जीवन है।
विरह प्रेम की जागत गति है और सुषुप्ति मिलन है।।[3]

'स्वप्न' की तुलना में पथिक में इतिवृत्तात्मकता कम है। कथोपकथन की शैली कवि ने अपनाई है। पथिक की स्त्री अपने अतीत के दिनों का स्मरण कराकर उससे घर लौट चलने की प्रार्थना करती है—

कहते थे तुम—कोमलता नीरज की ज्योति रतन की।
मोहकता शशि की, गुलाब की सुरभि शान्ति सज्जन की।।
रति का रूप, रंग कंचन का, लेकर स्वाद सुधा का।
विरचा है विधि ने शुभ्र तेरा मुख लेकर वसुधा का।।
मेरे मुख को चन्द्र बताकर तुम चकोर बनते थे।
नीर भरे घन से मेरे कच देख मोर बनते थे।।

---

१ रामनरेश त्रिपाठी—पथिक, प्रथम सर्ग, पृ० ४
२ वही, सर्ग १, पृ० ६
३ वही पृ० १२

आशा का जीवन वह मुझको सदा देखते रहते।
मेरी बातों को स्वप्राण की साँस तुम्हीं थे कहते॥
देख देख निशि वासर मेरी मीठी भरी सुन्दरता।
फूल नहीं समान थे तुम हे मेरे दुख हर्ता॥
मैं समझे थी, पृथ्वीतल पर केवल हैं हम दो ही।
सो तुम हाय! हो गए ऐसे निठुर और निर्मोही॥[1]

अपने प्रेम की तरंगों की उपमा सागर की लहरों से करके वह कहती है कि मैं तुम्हारे पीछे पागल हूँ किन्तु प्रकृति तुम्हारी ओर ध्यान भी नहीं देती।—

प्रेम-पयोनिधि हृदय यह अस्थिर, वारिधि से बढ़कर है।
सच कहती हूँ नाथ! तुम्हारे लिए सदा दुस्तर है॥
तव सेवा के लिए हृदय में है जो मधुर उमंगें।
क्या उससे बढ़कर हैं ये खारी जल जय तरंगें॥[2]

पथिक के मन पर स्त्री की विनती का कोई प्रभाव नहीं पड़ता तब वह हताश हो जाती है—

रमणी हुई परम मर्माहत सुन विरक्ति पति द्वारा।
बरस पड़ी आँखें पावस के घन सी भर जल धारा॥
कहने लगी—विषम पीड़ा सह प्रभु! तव विरहानल में
आई थी मैं आज शरण लेने को सागर तल में॥
हा निराश सब अंग प्राण को रोक रोक जब हारे।
आज अभागिनि के नसीब तुम मिले मृत्यु के द्वारे॥
पहले-पहल पयोधर देकर जिसके कोमल मुख में।
मग्न हुई अति नव्य अनिर्वचनीय अलौकिक सुख में॥
उसी सुमन-अग्रह ने शिशु के कोमल बाहु बन्धन को।
खोल निठुरता से धाई थी मैं विरहाकुल वन को॥
माँ माँ कहता हुआ आँख में आँसू भर वह धाया।
हा! वह दृश्य एक पल मुझसे जाता नहीं भुलाया॥[3]

पथिक की स्त्री परम्परित भारतीय नारी है। पथिक अपने सुख के लिए जीवन से पलायन करके उसे छोड़ आया था, यह उसका अपमान था। किन्तु आत्मसम्मान के आहत होने से पत्नी को पीड़ा नहीं होती, दुधमुँहे पुत्र के मोह को छोड़कर भी वह पति को ढूँढने के लिए निकल पड़ती है। दूसरी ओर मैथिलीशरण गुप्त की 'यशोधरा' है जो

१ रामनरेश त्रिपाठी—पथिक सर्ग १, पद २७-३१
२ वही, पद ३८, ६
३ वही, पद ४१-४२

पति के इस प्रकार चले जाने को अपना घोर अपमान मानती है—

सिद्धि हेतु स्वामी गये यह गौरव की बात।
पर चोरी चोरी गये यही बडा व्याघात॥

आत्म-सम्मान की रक्षा करती हुई वह राहुल का पोषण करती है। गौतम के विरह से उसका हृदय व्यथित है किन्तु वह प्रणय की भीख नहीं माँगती।

रामनरेश त्रिपाठी की नायिका परम्परित ग्राम्य गृहिणी है और मैथिलीशरण गुप्त की यशोधरा नवयुग की जागृति में अपना मूल्य समझने वाली सजग नारी।

हरिऔध

(१) प्रियप्रवास—हरिऔधजी का 'प्रियप्रवास' खड़ी बोली का प्रथम महा-काव्य कहा जाता है। इसमें कवि ने कृष्ण के मथुरागमन तथा उनके विरह में दुखी ब्रज वासियों और मुख्यत राधा का वर्णन किया है। कृष्ण के वियोग में विह्वल ब्रजभूमि का वर्णन अनेक पूर्ववर्ती कवियों ने भी किया है किन्तु उनकी राधा मौन ही रही है, यहाँ उसकी पीड़ा मुखर हो गई है।

इस अवसर पर हरिऔधजी ने कथा में एक मौलिक परिवर्तन किया है। कृष्ण के मथुरागमन के समय राधा अकेली नहीं है ललिता भी उसके पास है। प्रिय के विदेश जाने का समाचार सुनकर राधा की जो दशा हुई उसका चित्रण कवि ने अनुभावों द्वारा इस तरह किया है—

विकसिता कलिका हिमपात से।
तुरत ज्यों बनती अति म्लान है॥
सुन प्रसंग मुकुन्द प्रवास का।
मलिन त्यों वृषभानुसुता हुई॥[1]

'विवर्ण' अनुभाव के वर्णन से वियोगिनी राधा की व्यथा काफी मार्मिक प्रतीत होने लगती है किन्तु इसके पश्चात ही कवि ने प्रलाप का रुदन प्रस्तुत किया है। युग युग की मौन राधा प्रियप्रवास में इतनी मुखर हो गई है कि उसका मर्म छिछला सा लगने लगता है। उनका रुदन पारसी नाटकों की अभिनेत्री के लम्बे-चौड़े गानों की याद दिलाने लगता है—

कल कुवलय के से नेत्र वाले रसीले।
वररचित फबीले पीत कौशेय शोभी॥
गुणगण मणिमाली मंजुभाषी सजीले।
वह परम छबीले लाडिले नन्द जी के॥
यदि कल मथुरा को प्रात ही जा रहे हैं।
बिन मुख अवलोके प्राण कैसे रहेंगे॥

१ हरिऔध—प्रियप्रवास चतुर्थ सर्ग, पद २६, पृष्ठ ४०

युग सम घटिकायें वार की बीतती थीं।
सखि दिवस हमारे बीत कैसे सकेंगे॥
जन मन कलपाना मैं बुरा जानती हूँ।
परदुख अवलोके मैं न होती सुखी हूँ॥
कह कर कटु बातें जी न भूले जलाया।
फिर यह दुखदायी बात मैंने सुनी क्यों?
अयि सखी! अबलाके खिन्नता तू कहेगी॥
प्रिय स्वजन किसी के क्या न जाते कहीं हैं।
पर हृदय न जाने दग्ध क्या हो रहा है।
सब जगत हमें है शून्य होता दिखाता॥[1]

अच्छा होता यदि हरिऔधजी इतना विवरण न देकर अनुभावों के वर्णन से ही व्यथा की व्यंजना कराते। तब अनुभूति अधिक मार्मिक और स्वाभाविक होती। प्रिय प्रवास की राधा ललिता से यह भी स्पष्ट कहती है कि वह कृष्ण का हृदय से वरण कर चुकी है और विधिवत वरण करने की लालसा भी उनके मन में थी, जो अब पूरी होती दिखाई नहीं देती—

हृदय चरण में तो मैं चढ़ा ही चुकी हूँ।
सविधि-वरण की थी कामना और मेरी॥
पर सफल हमें सो है न होती दिखाती।
वह कब टलता है भाल में जो लिखा है॥[2]

कृष्ण के जाने से पहले ही अपनी भावी दशा का आभास राधा को होने लगता है—

अहह सिसकती मैं क्यों किसे देखती हूँ।
मलिन-मुख किसी का क्या मुझे है रुलाता॥
जल-जल किसका है छार होता कलेजा।
निकल निकल आहें क्या किसे बेधती है॥
सखि, भय यह कैसा गेह में छा गया है।
पल पल जिससे मैं आज यों चौंकती हूँ॥
कँपकर गृह में की ज्योति छाई हुई थी।
छन छन अति मैली क्या हुई जा रही है॥[3]

प्रवत्स्यपतिका राधा के इस प्रलाप में केवल दो पद अत्यंत मार्मिक प्रतीत होते हैं—

---

१ प्रियप्रवास चतुर्थ सर्ग, पृष्ठ ४० ४१
२ वही, पृष्ठ ४१, पद ३५
३ वही, पृष्ठ ४२, पद ३८ ३९

सब नभ-तल तारे जो उगे दीखते हैं।
यह कुछ ठिठके से सोच में क्यों पड़े हैं।
ब्रजदुख अवलोके क्या हुए हैं दुखारी।
कुछ व्यथित बने से या हमें देखते हैं।
हर हर किरणें जो फूटती हैं दिखाती।
वह मिष इनके क्या बाँध देते हमें हैं।।
कर वह अथवा यों शान्ति का है बढ़ाते।
विपुल व्यथित जीवों की व्यथा मोचने को।।[1]

राधा के हृदय की स्तब्धता का तारों की स्तब्धता से साम्य सुन्दर है। बीच-बीच में किरणों के फूटने में और उन्हें उनका शान्ति का कर(हाथ) मानने से यह संकेत मिलता है कि भविष्य के विरह में आशा की एकमात्र किरण जन की सेवा और उनकी विपुल व्यथा के मोचन का प्रयत्न होगा। राधा को ललिता के समीप दिखाकर सखी की सांत्वना की नवीन योजना भी हरिऔधजी ने कराई है। सखी को धैर्य बँधाती हुई ललिता का चित्रण अत्यन्त हृदय-स्पर्शी है—

नाना बातें दुख शमन को प्यार से थी सुनाती।
धीरे धीरे नयन जल भी पोछती राधिका का।।
हा! हा! प्यारी दुखित मत हो यों कभी थी सुनाती।
रोती रोती विकल ललिता आप होती कभी थी।
सूखा जाता कमल मुख था होंठ नीला हुआ था।
दोनों आँखें विपुल जल में डूबती जा रही थीं।।
शंकाएँ थी विकल करती काँपता था कलेजा।
खिन्ना दीना परम मलिना उन्मना राधिका थी।।[2]

कृष्ण का रथ गोकुल का पथ छोड़कर आगे बढ़ गया केवल मार्ग में उड़ती हुई धूल ही शेष रह गई। उद्‌भ्रान्त राधा उसी को सम्बोधित करके कहने लगी—

क्यों होती है भ्रमित इतनी धूलि क्यों लिप्त तू है।
क्या तू भी है विचलित हुई श्याम से भिन्न होके।।
आ आ, आके लग हृदय से लोचनों में समा जा।
मेरे अंगों पर पतित हो बात मेरी बना जा।
मैं पाती हूँ सुख रज तुझे आज छूके करों से।
तू आती है प्रिय निकट से क्लान्ति मेरी मिटा जा।।[3]

---

१ प्रियप्रवास, सर्ग ४ पृष्ठ ४२ ४३ पद ४१ ४२
२ वही चतुर्थ सर्ग पृष्ठ ४८, पद ५० ५१
३ वही, सर्ग ५, पृष्ठ ५७, पद ७१ ७२

प्रिय के निकट से आती हुई धूल भी इतनी स्पृहणीय बन जाती है कि विरही उसी को हृदय से लगा लेना चाहता है। राधा को अपनी मनुष्य देह पर बड़ी ग्लानि है, यदि वह भी धूल होती तो प्रिय के साथ किसी तरह चली जाती। धूल को उलाहना देती हुई वह कहती है—

जो तू जाके विशद रथ में बैठ जाती कहीं भी।
किंवा तू जो युगल तुरगों के तनों में समाती॥
तो तू जाती प्रिय स्वजन के साथ ही शान्ति पाती।
यों हो-हो के भ्रमित मुझ सी भ्रांत कैसे दिखाती॥
हा! मैं कैसे निज हृदय की वेदना को बताऊँ।
मेरे जी को मनुज तन से ग्लानि सी हो रही है॥
जो मैं होती तुरग अथवा यान ही या ध्वजा ही।
तो मैं जाती कुँवर वर के साथ क्या कष्ट पाती॥[1]

राधा की यह विरह दशा उन्माद है जहाँ विरही जड़ और चेतन में भेद नहीं कर पाता और जड़ को ही चेतन समझ लेता है। विक्षिप्त-सी राधा एक ओर तो प्रिय के निकट से आने वाली धूल का आलिंगन करती है, दूसरी ओर वह (धूल) प्रिय का छोड़कर चली आई इसलिए उसमें कुत्सन का अनुभव भी करती है।

इसके पश्चात् षष्ठ सर्ग में प्रोषितपतिका राधा का चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है। उनका मन उद्विग्न रहता था और वह दिन रात रोती थी, मन में प्रिय मिलन की अनन्त अभिलाषा थी और वियोग की वेदना हृदय को साल रही थी—

रो रो चिंता सहित दिन को राधिका थी बिताती।
आँखों को थी सजल रखती उन्मना थी दिखाती॥
शोभा वाले जलद वपु की हो रही चातकी थी।
उत्कण्ठा थी परम प्रबला वेदना वर्धिता थी॥[2]

चुपचाप एक दिन घर में खिन्न मन से वह ऐसे ही बैठी आँसू बहा रही थी कि एक पवन का झोंका आया। स्निग्ध वातावरण में प्रिय के अभाव में मन और भी विकल हो गया—

आ राधा को यह पवन की प्यार वाली क्रियाएँ,
थोड़ी-सी भी न सुखद हुई हो गई वैरिणी सी।
भीनी भीनी महक मन की शान्ति को खो रही थी,
पीड़ा देती व्यथित चित को वायु की स्निग्धता थी।[3]

---

१ हरिऔध—प्रियप्रवास, पंचम सर्ग, पद ७४ ७५ पृष्ठ ५७
२ वही षष्ठ सर्ग, पद २६, पृष्ठ ६३
३ वही, पद २६, पृष्ठ ६३

प्रथम तो वायु के इस अतिचार से राधा क्रुद्ध हो गई—

तू आती है वहन करती वारि के सीकरों को।
हा ! पापिष्ठे फिर किसलिए ताप देती मुझे है ॥[१]

किन्तु दूसरे ही क्षण ध्यान आया कि वह कृष्ण के पास उनका सन्देश ले जा सकती है। उन्होंने उसे बहन कहकर सम्बोधित किया और कृष्ण के पास अपना सन्देश ले जाने की प्रार्थना की—

मेरे प्यारे नव जलद से कंज से नेत्र वाले।
जाके आए न मधुबन से औ' न भेजा सन्देशा ॥
मैं रो रो के प्रिय विरह से बावली हो रही हूँ।
जाके मेरी सब दुख कथा श्याम को तू सुना दे ॥
तू जाती है सकल थल ही वेगवाली बड़ी है।
तू है सीधी तरल हृदया ताप उन्मूलती है ॥
मैं हूँ जी में बहुत रखती वायु तेरा भरोसा।
जैसे हो ए भगिनी बिगड़ी बात मेरी बना दे ॥[२]

परहित की भावना प्रियप्रवास की राधा में प्रारम्भ से ही है। पवन से वह कहती हैं—

जाते जाते अगर पथ में क्लान्त कोई दिखावे।
तो जाके सन्निकट उसकी क्लान्तियों को मिटाना ॥
धीरे धीरे परस करके गात उत्ताप खोना।
सद्गंधों से श्रमित जन को हर्षितों सा बनाना ॥[३]

पवन बोलना नहीं जानती इस तथ्य को हरिऔधजी के बुद्धिवादी युग की राधा समझती है। अतः सन्देश मात्र कहने से ही वह सन्तुष्ट नहीं होती, पवन उसके (राधा के) क्रियाकलाप कृष्ण के सम्मुख कैसे अभिव्यक्त करे इसकी भी विधियाँ वह उसे बताती है। कहीं कहीं यह युक्तियाँ अत्यन्त मार्मिक हो गई हैं—

तेरे में है न गुण यह जो तू व्यथाएँ सुनाए।
व्यापारों को प्रखर मति और युक्तियों से चलाना ॥
बैठे जो हों निज सदन में मेघ-सी कान्ति वाले।
तो चित्रों को इस भवन के ध्यान से देख जाना ॥
जो चित्रों में विरह विधुरा का मिले चित्र कोई।
तो जा जाके निकट उसको भाव से यों हिलाना ॥
प्यारे हो के चकित जिससे चित्र की ओर देखें।
आशा है यों सुरति उनको हो सकेगी हमारी ॥[४]

१ हरिऔधजी—प्रियप्रवास, षष्ठ सर्ग पद ३१, पृष्ठ ६४
२ वही पद ३३ से ३६ तक, पृष्ठ ६४ ६५
३-४ वही, पद ६७-६८, पृष्ठ ७०

यदि उस समय कृष्ण घर म न होकर उपवन म हा तो—

जो प्यार मजु उपवन या वाटिका म खडे हा।
छिद्रा म जा क्वणित करना वणु-सा कीचका को।।
या हावगा मुरति उनका सब गोपागना को।
जा हैं वशी श्रवण रुचि से दीघ उत्कण्ठ होती।।[1]

इसी प्रकार विरह की ग्रश्रु रामाच वपथ, कृशता ग्रौर ववण्य ग्रादि दशाग्रा की ग्रभिव्यक्ति का उपाय भी राधा पवन को बताती है—

ग्रश्रु—

ला के फूले कमल दल को श्याम के सामन ही।
थाडा थोडा विपुल जल म व्यग्र हा हो डुबाना।।
या देना ए भगिनी जतला एक ग्रभोज-नत्रा।
ग्राखा का हो विरह विधुरा वारि म बोरती है।।[2]

रोमाच—

धीरे लाना वहन करक नीप का पुष्प कोई।
ग्रौ प्यारे क चपल दग क सामन डाल दना।।
एसे दना प्रकट न्खिला नित्य ग्राशक्तिता हो।
कसे होती विरह वश मैं नित्य रामाचिता हू।।[3]

वपथु उद्वग—

बठे नीचे जिस विटप क श्याम हावें उसी का।
कोइ पत्ता निकट उनके नत्र के ल हिलाना।।
यो प्यारे को विदित करना चातुरी म दिखाना।
मरे चिन्ता विजित चित्त का क्लान्त हो काप जाना।।[4]

कृशता—

सूखी जाती मलिन लतिका जो धरा म पडी हो।
तो पावों क निकट उसको श्याम क ला गिराना।।
यो सीध स प्रकट करना प्राति म वचिता हो।
मरा होना ग्रति मलीन ग्रौ सूखत नित्य जाना।।[5]

ववण्य—

कोई पत्ता नवल तरु का पीत जो हो रहा हो।
तो प्यार क दग युगल क सामन ला उसे हो।।
धीरे धीरे सभल रखना ग्रौ उन्हें यो बताना।
पीला होना प्रबल दुख से प्रोषिता सा हमारा।।[6]

1 हरिग्रौध—प्रियप्रवास, षष्ठ सग पद ७१, पृष्ठ ७०
2–6 वही, पद ७२, ७३ ७४, ७५, ७६

पंचदश सर्ग में कवि ने वियोगिनी राधा की दशा का विस्तृत वर्णन किया है जिसका संक्षिप्त सूत्र यह है—

राधा आके कुसुम ढिग औ भृंग के साथ बोली।
पंछी द्वारा भ्रमित वनके वात का कोकिला से॥
देखा प्यारे कमल पग के अंक को उन्मना हो।
पीछे आई तरणि तनया-तीर उत्कण्ठिता हो॥[१]

सम्पूर्ण सर्ग में उन्माद की दशा है। अनुभूति यद्यपि कहीं कहीं काफी मार्मिक है जैसे पायल से राधा का यह कहना कि—

यथैव पालित हो वाक अंक में।
त्वदीय बच्चे बनते त्वदीय है॥
तथैव माधो यदुवंश से मिले।
अशोभना, कि न मुझा मुझे बना॥[२]

तथा—

विरक्ति बात सुन वेदना भरी।
पिकी हुई तू दुखिता नितान्त ही॥
बना रहा है तव बोलना मुझे।
व्यथामयी दाहमयी, द्विधामयी॥
अतः प्रिये तू मथुरा तुरन्त जा।
सुना स्व वेधी स्वर जीवितेश को॥
अभिज्ञ वे हो जिससे वियोग की।
कठोरता, व्यापकता गभीरता॥[३]

यमुना से—

तव तट पर आके नित्य ही कान्त मेरे।
पुलकित बन आवो में पग घूमते हैं॥
एक दिन उनको पा प्रीत जी से सुनाना।
कल कल ध्वनि द्वारा सब मेरी व्यथाएं॥[४]

किन्तु अत्यधिक विस्तार के कारण मन ऊबने लगता है। बीच-बीच में आई हुई ये मार्मिक विरहानुभूतियाँ भी उसमें विस्मृत होने लगती हैं। अधिकांश विरह भावों में कोई नवीनता नहीं है, न ही कोई विशेष मार्मिकता है।

इसके पश्चात कवि ने षोडश सर्ग में, वसन्त ऋतु के मादक वातावरण में, कुंज में

१ हरिऔधजी—प्रियप्रवास, पञ्चदश सर्ग, प० १२७ पृष्ठ २३६
२ वही, प० ६१, पृष्ठ २३०
३ वही प० ६८ से १००, पृष्ठ २३१
४ वही, प० १२४, पृष्ठ २३५

एकांत विचरण करती हुई राधा को उद्धव द्वारा कृष्ण का संदेश दिलवाया है। राधा के प्रति अलग में यह संदेश हरिऔधजी की मौलिक कल्पना है, किसी अन्य पूर्ववर्ती कवि ने इस प्रकार की संयोजना नहीं की है। कृष्ण ने राधा के लिए संदेश भेजा था—

प्राणप्यारे परम सरले प्रेम की मूर्ति राधे।
निर्माता ने पृथक् तुमसे यों किया क्यों मुझे है॥
प्यारी आशा प्रिय मिलन की नित्य है दूर होती॥
कैसे ऐसे कठिन-पथ का पान्थ मैं हो रहा हूँ॥[1]

तथा—

हैं प्यारी औ मधुर सुख औ भोग की लालसाएँ।
कान्ते लिप्सा जगत हित की और भी है मनाना॥
इच्छा आत्मा परम हित की मुक्ति की उत्तमा है।
वांछा होती विशद उससे आत्म उत्सर्ग की है॥
जो होता है निरत तप में मुक्ति की कामना से।
आत्मार्थी है न कह सकते हैं उसे आत्मत्यागी॥
जी से प्यारा जगत हित औ लोक सेवा जिसे है।
प्यारा सच्चा अवनि-तल में आत्मत्यागी वही है॥[2]

'हरिऔध' की राधा उद्धव से भी अधिक ज्ञानी है। वह उन्हें सच्चे प्रणय, रूप-मोह और भक्ति के अनेक प्रकारों पर विद्वत्तापूर्ण उपदेश देती है। प्रणय भाव की यह व्याख्या अत्यन्त सुन्दर है (देखिए—'प्रियप्रवास', षोडश सर्ग, पृष्ठ २४८-२४९) किन्तु वह किसी काव्यशास्त्री के मुख से अच्छी लगती, वियोगिनी राधा की व्यथा को उससे आघात पहुँचता है। उसकी वेदना तो केवल तब ही मुखर होती है जब कवि उससे कहलवाता है—

मैं नारी हूँ तरल उर हूँ प्यार में वंचिता हूँ।
जो होती है विकल विमना व्यस्त वैचित्र्य क्या है?[3]

वह सेवा मार्ग में पहले ही दीक्षित होने का प्रयत्न कर रही है किन्तु अभी साधक है, सिद्ध नहीं। प्रिय की स्मृति और विरह वेदना बीच-बीच में आकर उसे कचोटती रहती है—

निर्लिप्ता हूँ अधिकतर मैं नित्यशः संयता हूँ।
तो भी होती अति व्यथित हूँ श्याम की याद आते॥
वैसी वांछा जगत हित की आज भी है न होती।
जैसी जी में लसित प्रिय के लाभ की लालसा है॥[4]

---

१ २ हरिऔधजी—प्रियप्रवास षोडश सर्ग, पद ४ ४२ पृष्ठ २४४
३ वही, पद ५०, पृष्ठ २४५
४ वही, पद ५६, पृष्ठ २४६

वह उद्धव से प्रतिज्ञा करती है कि—

जो इच्छा है परम प्रिय की जो अनुज्ञा हुई है।
मैं प्राणों के अछत उसको भूल कैसे सकूँगी॥
यों भी मेरे परम व्रत के तुल्य बात यही थी।
हो जाऊँगी अधिक अब मैं दत्तचित्ता उसी में॥[1]

इस तरह अपनी स्वाभाविक मनोवृत्ति और कृष्ण के सदेश से 'प्रियप्रवास' की राधा के प्रेम का उन्नयन लोक-सेवा में होता है। लोक सेवा की वृत्ति हरिऔधजी के समय की माग है और राधा के प्रणय में कवि ने उसका सुन्दर समावेश किया है। युग की माग के अनुसार हरिऔधजी की राधा (प्रणयिनी नायिका) अपनी व्यथा का समाधान लोक सेवा में करती है, व्यस्त जीवन में केवल रोने धोने से ही काम कहा चलता है, कवि ने इस सत्य के मर्म को समझा है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रियप्रवास में यद्यपि कहीं-कहीं अनावश्यक विस्तार भाव के प्रस्फुटन में बाधा पहुँचाता है किन्तु फिर भी उसके विरह वर्णन में मार्मिकता और नवीन उद्भावनाओं की कमी नहीं है।

(२) वैदेही वनवास—हरिऔधजी की दूसरी प्रसिद्ध प्रबन्ध-कृति 'वैदेही वनवास' है। वैदेही-वनवास की कथा पहले कई बार दुहराई गई, सीता निर्वासन की कथा है। कवि ने कथा की मुख्य रूपरेखा परम्परित रूप में स्वीकार करते हुए भी उसमें आधुनिक लोकादर्शों का समावेश करने की सफल चेष्टा की है। आवश्यकतानुसार मौलिक परिवर्तन भी किए हैं।

प्रबन्ध का प्रारम्भ प्रातःकालीन दृश्य से होता है। उस अत्यन्त रम्य दृश्य को देखकर सीता अनायास ही उद्विग्न हो जाती हैं—

जनकसुता ने कहा प्रकृति महिमा है महती
पर वह कैसे लोक-यातनाएँ है सहती।
क्या है हृदय विहीन? तो अखिल हृदय बना क्या
यदि है सहृदय आखो से आसू न छना क्यो?[2]

रजनी मयक और सरयू सब उन्हें तजहत दिखलाई पड़ते हैं। रजनी के भाग्य पर विचार सा करती हुई वह कहती हैं—

अमित दिव्य तारक चय द्वारा विभु विभुता की।
जिसने दिखलाई दिव दिवता की वर भाँकी॥
अब विराम जिसके विभवों पर है अवलंबित।
वह रजनी इस काल काल द्वारा है कवलित॥[3]

---

१ हरिऔधजी—प्रियप्रवास षोडश सर्ग पद १२६ पृष्ठ २५८
२ वही वैदेही वनवास, प्रथम सर्ग, पद २८
३ वही, पद ३२

कल के मुस्कराते हुए फूल भी आज श्रीहीन हैं—

> कल मैंने था जिन फूलों को फूला देखा।
> जिनकी छवि पर मधुप निकर का भूला देखा॥
> उनमें से कुछ धूल में पड़े हैं दिखलाते।
> कुछ हैं कुम्हला गए और कुछ हैं कुम्हलाते॥[1]

सीता के इस प्रकार उन्मन होने से भविष्य की किसी विपत्ति की आशंका होने लगती है, आगामी विरह की अस्पष्ट ध्वनि यहीं अपनी छाया में वातावरण को समेटती-सी प्रतीत होती है। प्रतीत में (राम रावण युद्ध में) कलह का मूल स्वयं को मानकर सीता खिन्न भी हो जाती हैं। राम उनके मन की स्थिति को पहचानकर उन्हें सान्त्वना देते हुए कहते हैं—

> कहा राम ने यहाँ इसलिए मैं हूँ आया।
> मुदित कर सकूँ तुम्हें प्रियतम कर मन भाया॥
> किन्तु समय ने जब है सुन्दर समा दिखाया।
> पड़ी किसलिए हृदय मुकुर में दुख की छाया॥[2]

वह उन्हें समझाते हैं कि सृष्टि की सेवा में रत समीर से यदि कोई दीपक अनायास बुझ जाता है अथवा किसी रोगी की काया को कष्ट पहुँचता है तो वह उसकी भलाई के अनुपात में नगण्य ही है। समीर और दावाग्नि के सहयोग से यदि कोई तिनका जल जाता है तो इसमें उनका क्या दोष ? यह सब तो किसी अदृष्ट शक्ति के हाथ में है, जिसके ऊपर किसी का वश नहीं है। जीवन में दुख-सुख-पूर्ण अनायास घटित होने वाली घटनाएँ अक्सर घटा करती हैं किन्तु उनके मूल में भी कोई न कोई कल्याण भावना छिपी रहती है—

> यह चाहता समीर न था तृण उड़ जल जाए।
> थी न आग की चाह राख वह उसे बनाए॥
> किन्तु पलक मारते हो गईं उभय निजताएँ।
> होती हैं भव में प्रायः ऐसी घटनाएँ॥[3]
>
> भव के सब परिवर्तन हैं स्वाभाविक होते।
> मंगल के ही बीज विश्व में वे हैं बोते।

राम का विश्वास है कि जीवन में घटित इन सब परिवर्तनों के मूल में कल्याण-भावना निहित रहती है। राम के इस वक्तव्य में भविष्य में उनके न चाहने पर भी सीता को जो निर्वासन मिला उसका संकेत मिल जाता है। 'लोकापवाद' जनसाधारण की

---

१ वैदेही बनवास, प्रथम सर्ग, पद ३६, ३७
२ वही, पद ५३
३ वही, पद ६६

स्वाभाविक प्रवृत्ति से निसृत समीर के समान था किन्तु उसका आशय यह कदापि न था कि उसके कारण सीता को विरह में दग्ध होना पड़े।

राम का यह अटल विश्वास कि लोकमंगल की कामना इन आकस्मिक घटनाओं में निहित रहती है उनको गर्भवती सीता के निर्वासन का साहस दे सका होगा?

व्यक्ति सामाजिक प्राणी है, समाज के अतिरिक्त वह अकेला जी नहीं सकता, यह आज के व्यक्तिवादी युग का भी कटु सत्य है फिर राम के त्रेतायुग की तो बात ही क्या। उस स्थिति में दो बातें हो सकती थीं या तो राम समाज को चुनौती देकर सीता का त्याग नहीं करते या जैसा उन्होंने किया वैसा ही। आज का बुद्धिवादी व्यक्ति राम का पक्ष लेने में असमर्थ है निर्दोष सीता के परित्याग का राम जैसे मनस्वी के लिए क्या अर्थ था? किन्तु 'हरिऔधजी' द्विवेदी युग की मर्यादा में पले हैं जहाँ समाज सर्वोपरि है अतः उन्होंने राम के इस कार्य को स्वीकार करके भी न्याय संगत बनाने का प्रयत्न किया है।

'सीता वनवास' के विषय में अब तक चली आ रही परम्परा से भिन्न परिस्थिति कवि ने रखी है। परम्परागत कथा में राम चुपचाप सीता को निर्वासित कर देते हैं और मार्ग में लक्ष्मण ही सारा वृत्तान्त उन्हें समझाते हैं। राम में वहाँ साहस की कमी दिखलाई पड़ती है। उनके आलोचकों को यह कहने का अवसर मिल जाता है कि यदि राम को सीता पर इतना अनन्य विश्वास था तो कायर की भाँति उन्होंने सीता को वस्तुस्थिति से अनभिज्ञ क्यों रखा? इसी लाञ्छन को धोने के लिए लोकापवाद के विषय में कवि राम के मुँह से कहलवाता है—

लोकाराधन के बल से लोकापवाद को दल दूँगा।[1]

वह स्वयं सीता को सारी परिस्थिति से परिचित कराते हैं। सीता भावी वियोग की आशंका से एकबारगी सिहर उठती है—

प्राणनाथ सब तो सह लूँगी क्या जायगा विरह सहा।[2]

किन्तु फिर राम के धैर्य से स्थिरमति होकर सब सहने का साहस ग्रहण करती हैं—

किन्तु आपके धर्म का न जो परिपालन कर पाऊँगी।
सहधर्मिणी नाथ की तो मैं कैसे भला कहाऊँगी॥
वही करूँगी जो करने की आज्ञा मुझको होवेगी।
त्याग करूँगी इष्ट सिद्धि के लिए बना मन को योगी।
सुख वासना स्वार्थ की चिन्ता दोनों से मुख मोड़ूँगी।
लोकाराधन या प्रभु आराधन निमित्त सब छोड़ूँगी॥[3]

वैदेही-वनवास की सीता कठिन कर्त्तव्य का पालन करने के लिए पूर्णतः

---

१ वैदेही-वनवास, पंचम सर्ग पृष्ठ ०
२ वही, पृष्ठ २२

सजग हैं—

यदि कलकिता हुई कीर्ति ता कसे मुख दिखलाऊँगी।
जीवनधन पर उत्सर्गित हो जीवन धन्य बनाऊँगी॥
विरह वदनाग्रा से जलती दीपक सम दिखलाऊँगी।
पर ग्रालोकदान कर कितन उर का तिमिर भगाऊँगी॥
बिना वदन ग्रवलोके ग्राखें ग्रासू सदा बहाएँगी।
पर मेरे उत्तप्त चित्त को सरस सदव बनाएँगी॥[1]

तथा—

ग्राप जिस हित ममझें उस हित से ही मेरा नाता है।

प्रियप्रवास की राधा की भाति वदेही-वनवास की सीता भी परहित को वदी पर ग्रपनी भावनाग्रा को न्योछावर कर सकती है—

लगी लालसाएँ लालायित हो ह्याकर कल्पाएगी।
किन्तु कल्पनातीत लोकहित ग्रवलोके बलि जाएँगी॥[2]

वदेही वनवास की सीता के निवासन का समाचार ग्रयाध्या म सबको नात है। सीता कौशल्या से ग्रपन निर्वासन काल म राम का ध्यान रखन को कहती है। उनका इस प्रकार कहना भारतीय समाज क वातावरण के ग्रनुकूल-सा नहा लगता परन्तु कौशल्या भी वधू से कहती है हाँ वटी, तू ठीक कहती है।' उन्ह उनकी समझदारी पर पूण विश्वास है।

ग्रत्यन्त धारा सीता का राम, राजकुल ग्रौर पुरवासी सब साश्रु विदा करत हैं माग म सौमित्र से वातालाप म भी, सीता सवहित-साधन की वदी पर ग्रात्मसुख की बलि करने क प्रण पर ग्रटल दिखाई पडती हैं—

वियाग का काल है ग्रनिश्चित
व्यथा-कथा वदनामयी है।
वह गुणावली रूप-माधुरी
रोम राम म रमी हुई है।
ग्रत रहूँगी वियोगिनी मैं
नेत्र वारि क मीन बनगे।
किन्तु दृष्टि रख लाक-लाभ पर
सुकीर्ति मुक्तावली जनेंगे॥[3]

'कभी कुचिन्ता चपला फिरेगी' ग्रादि उक्तिया म वह ग्रपने भावी विरह का विकराल चित्र भी खींचती है—

---

१ वैदेही-वनवास पचम सग, पद २६ ३०
२ वही, पद ३२
३ वही, सप्तम सग, पद ६२ ६३

कभी महा आंधियाँ उठेंगी
कभी विकलता घटा घिरेगी।
दिखा चमक चौंक व्याप्त उसमें
कभी कुचिंता चपला फिरेगी।
परन्तु होगा न वह प्रवंचित।
कदापि म तव्य पुण्य पथ से॥
कभी नहीं भ्रांत हो गिरेगा।
स्वधर्म आधार दिव्य रथ से॥[1]

राम के चरण कमलों की आराधिका सीता अपनी मानवी दुर्बलताओं को स्वीकार करती हुई कहती हैं—

मैं अबला हूँ आत्म सुखों की।
प्रबल लालसाएं प्रतिदिन आ॥
मुझे सताती रहती हैं जो।
तो इसमें है विचित्रता क्या॥

किन्तु—

विधु सुंदर वर वदन ध्यान कर
सारा अंतर तिमिर हरूँगी॥[2]

हरिऔधजी का विरही के लिए एक जीवन दर्शन है। उनका कहना है कि प्रेमी प्रिय के प्रेम को विश्वप्रेम में परिणत कर दे तभी सुखी हो सकता है। यह शाश्वत सत्य भी है। किंतु प्रेम का यह उन्नयन स्वाभाविक गति से प्रेमी के अनजाने में, स्वयं धीरे-धीरे होता रहता है। वह भावुक विचारक की भांति पहले से ही प्रिय के प्रेम और विश्व प्रेम में तटस्थ भाव से मनन नहीं किया करता। हरिऔधजी की नायिकाएँ भावुक विरहिणी के स्थान पर मननशीला उपासिकाएं सी प्रतीत होती हैं। सीता लक्ष्मण से कहती हैं—

सर्वोत्तम साधन है उर में।
भव हित पूत भाव का भरना॥
स्वाभाविक-सुख लिप्साओं को।
विश्व प्रेम में परिणत करना॥[3]

राम से निरवधि वियोग प्राप्त सीता के मुख से हम उद्विग्न उर के कुछ उद्गार सुनना चाहते हैं योगी का उपदेश नहीं। धीर से धीर नारी की मन स्थिति भी ऐसी परिस्थिति में डाँवाडोल हो जानी स्वाभाविक थी परन्तु यहाँ हरिऔध की सीता आवश्यकता से अधिक समझदार दिखाई पड़ती है। सहृदय पाठक उनकी समझदारी से

१ वैदेही वनवास, सप्तम सर्ग, पद ६६ ६७
२ वही पद ७२
३ वही ...

अपनी भावनाओं का सामंजस्य बैठाने में असमर्थ रह जाता है। सीता की विरह दशा नवम सर्ग में प्रथम बार हम सौमित्र के मुँह से सुनते हैं—

किन्तु एक अति-पति परायण की दशा।
उनकी मुख मुद्रा उनकी मार्मिक व्यथा।
उनकी गोपन भाव भरित दुख-व्यञ्जना।
उनकी बहु संयमन प्रयत्नों की कथा।
मुझे बनाती रहती है अब भी व्यथित ॥[1]

यद्यपि लक्ष्मण के वर्णन से ज्ञात होता है कि सीता के धीर वचन उनके भराये हुए कण्ठ से निःसृत हुए थे किन्तु पढ़ने के वर्णन से उस तरह की व्यथा की प्रतीति किंचित भी नहीं होती।

वाल्मीकि के आश्रम में सीता का नवीन जीवन प्रारम्भ हो जाता है। चन्द्र का ज्योत्स्ना से समन्वित एक रात को अपने कर्तव्य और भय को कुछ क्षण के लिए वह भूल जाता है। वह चाँदनी से प्रश्न करती है—

तुम तो लाखों कोस दूर की अवनी पर आती हो।
फिर भी पति से पृथक् न होकर पुलकित बनी दिखाती हो।

और किसलिए थोड़े अन्तर पर रह मैं उकताती हूँ।
बिना नवल नीरद तन देखे दृग से नीर बहाती हूँ॥
ऐसी कौन न्यूनता मुझमें है, जो विरह सताता है।
मिले बता दो मुझे क्यों नहीं चन्द्र वदन दिखलाता है॥[2]

यह क्षण भर का टोना, रजनी का भुलावा सीता पर से जैसे एकाएक टूट जाता है और वह 'तिमिरावृत्त न्यूनता के निरसन' की प्रार्थना करने लगती हैं। अर्थात् अपने अज्ञान के कारण उत्पन्न विरह वेदना को भुला देना चाहती है।

निरपराधिनी सीता राम के हाथों नव कष्ट भोग रही हैं किन्तु वह उसे क्लेश नहीं मानती। राम के विषय में वह कहती हैं—

पर निरपराध को प्रियतम ने कभी नहीं कलपाया।
उनके हाथों से किसने कब कहाँ व्यर्थ दुख पाया॥[3]

अपनी दशा की व्याख्या वह इस प्रकार करती है—

चातक से जिसके दृग हैं छवि स्वाति सुधा के प्यास।
प्रतिकूल पड़ रहे हैं अब, जिसमें मुख वासर के पास॥[4]

---

१ वैदेही वनवास, नवम सर्ग, पद १५, १६
२ वही, दशम सर्ग, पद ४७ से ६५ तक
३ वही, एकादश सर्ग, पद ४०
४ वही, पद ४५

वर्णन मार्मिक है किन्तु समझ में नहीं आता कि सीता की क्या वस्तुतः यही दशा है कि उनके मुख वानर के पास प्रतिकूल पड़ रहे हैं? तब कैसे राम के लिए वह कह सकती हैं कि उन्होंने किसी निरपराध को कभी नहीं सताया।

वाल्मीकि के आश्रम में एक वर्ष बीत जाने पर भी सीता विरह वेदना को, राम से मिलने की उत्कण्ठा को, कर्तव्य से अधिक प्रश्रय न दे सकीं। कर्तव्य सतत उनके भावों को दबाता जा रहा है। इतनी कर्तव्य निष्ठा सीता 'हरिऔध' की ही निधि है। कालिदास, भवभूति और दिङ्नाग आदि भी अपनी सीता को इतना धीर और कर्मठ न बना सके थे। यहाँ जब सीता कहती है कि वह विरह से व्यथित है तो पाठक को संशय सा होने लगता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि कवि का उद्देश्य सहृदय को सीता की विरह व्यथा से परिचित कराना नहीं है, राम और सीता के धैर्य और कर्तव्य निष्ठा का संदेश देना है जो राम के वनदेवी के प्रति इस कथन से स्पष्ट है—

लोकाराधन राजनीति सर्वस्व है।
है पराथ परमार्थ पंथ भी अति गहन॥
पर अति य कर्तव्य औ सद्धर्म है।
सहनशक्ति तो क्या न करें संकट सहन॥
कुलपति आश्रम वास जनक नन्दिनी का।
हम दोनों का सदविचार मम है॥
वेद विहित बुध वृन्द समर्थित पूत तम।
भवहित मगन मूलक वांछित कर्म है॥[1]

कर्तव्य के गुरु भार को संभालने में भी विरह की मार्मिक व्यंजना को अवसर मिल सकता था किन्तु यहाँ ही वनवास में वह पक्ष सूना हुआ सा ही रह गया है।

सीता बारह वर्ष तक वाल्मीकि के आश्रम में रहीं। उनके पवित्र आचरण की सत्कीर्ति सम्पूर्ण भारत में फैल गई और लोकापवाद का मार्ग कुण्ठित होने लगा। तब राम ने अश्वमेध के अवसर पर सीता को पुनर्ग्रहण करने का विचार किया। सीता अश्वमेध यज्ञ में गईं किन्तु पति के दर्शन करते समय हर्षातिरेक में भाव विह्वल हो गईं। उसी भाव विह्वलता में उनके प्राण निष्ठुर संसार का त्याग करके आकाशगामी हो गए।

वैदेही वनवास की कथा सीता निर्वासन की कथा होकर भी बिलकुल नवीन है। उसका उद्देश्य विरह के मर्म का निरूपण नहीं कर्तव्य मार्ग का प्रदर्शन है।

मैथिलीशरण गुप्त

(१) साकेत— साकेत की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना वियोगिनी उर्मिला का विरह है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर से इंगित पाकर आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने हिन्दी के कवियों से उपेक्षित उर्मिला के उद्धार की अपील की थी और उस काल के काव्य महारथियों में

१ वैदेही-वनवास, सप्तदश सर्ग, पद ७८ ७९

मैथिलीशरण गुप्त ने इस कार्य को पूर्ण करने का बीड़ा उठाया था।

वियोग की पीड़ा वास्तविक वियोग में ही नहीं प्रिय की अभाव कल्पना में भी होती है। उनके बिना जीवन कैसे बीतेगा, इस भाव से विरही का मानस सिहर उठता है। उर्मिला की विरह वेदना की अभिव्यक्ति साकेत में 'प्रोषितपतिका' ही नहीं 'प्रवत्स्यत्पतिका' के रूप में भी हुई है।

राम को कैकेयी की कृपा से नव राज्याभिषेक के स्थान पर वनवास मिला तब लक्ष्मण भी स्वेच्छा से उनके साथ जाने को प्रस्तुत हो गए। सीता ने तो सोच लिया—
सीता ने सोचा मन में—स्वर्ग बनेगा अब वन में।

किन्तु बेचारी उर्मिला कुछ न कह सकी। इस स्थिति में कवि ने उर्मिला से कुछ न कहलवाकर लक्ष्मण के मानस-पट पर उसकी करुण वियोगिनी मूर्ति की मौलिक कल्पना की है। माताओं और ज्येष्ठ के सम्मुख लक्ष्मण की नवविवाहिता पत्नी उनसे खुलकर बातचीत न कर सकती थी अतः उसकी अभिव्यक्ति का इससे सुन्दर कोई दूसरा उपाय न हो सकता था। कर्त्तव्यनिष्ठ लक्ष्मण भाई के साथ जाने को तत्पर थे किन्तु भोली भाली उर्मिला के हृदय की व्यथा भी उनसे छिपी न था। अतः मन ही मन कर्त्तव्य की गुरुता का उत्तरदायित्व उसको समझाने की चेष्टा उन्होंने की—

उठी न लक्ष्मण की आँखें जकड़ी रहीं पलक पाँखें।
किन्तु कल्पना घटी नहीं उदित उर्मिला हटी नहीं॥
खड़ी हुई हृदयस्थल में—पूछ रही थी पल-पल में।
मैं क्या करूँ ? चलूँ कि रहूँ ? हाय और क्या आज कहूँ ?
आः ! कितना सकरुण मुख था, आर्द्र-सरोज अरुण मुख था।
लक्ष्मण ने सोचा कि—अहा, कैसे कहूँ चलो कि रहो॥
यदि तुम भी प्रस्तुत होगी—तो सकोच सोच दोगी।
प्रभुवर बाधा पावेंगे छोड़ मुझे भी जावेंगे॥
नहीं-नहीं यह बात न हो रहो ! रहो हे प्रिय रहो।
यह भी मेरे लिए सहो और अधिक क्या कहूँ अहो॥[1]

लक्ष्मण के उस मन्तव्य को उर्मिला ने जब समझ लिया। उसकी विवश व्य
अश्रुओं के रूप में फूट पड़ी—

श्री सीता के कन्धे पर—आँसू बरस पड़े झरझर।

माता से भी लक्ष्मण को जब वन जाने की स्वीकृति मिल गई तो उर्मिला अपने धड़कते हुए हृदय को समझाने लगी।—

कहा उर्मिला ने हे मन ! तू प्रिय पथ का विघ्न न बन।
आज स्वार्थ है त्याग भरा ! है अनुराग विराग भरा॥

---

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—साकेत, चतुर्थ सर्ग, पृष्ठ ७७-७८

तू विकार से पूर्ण न हो, शोक भार से चूर्ण न हो।[1]

वह और अधिक न सोच सकी और मूर्च्छित होकर गिर पड़ी।

उर्मिला का दूसरा वियोग चित्र षष्ठम सर्ग में राम लक्ष्मण के जाने के बाद प्रस्तुत होता है। यहाँ प्रोषितपतिका उर्मिला विरह-वेदना से अत्यन्त कृशकाय हो गई है। उसके विवर्ण मुख से मन का उद्वेग झलक रहा है—

कुम्हलाई तथा करवाली, या ग्रस्त चन्द्र की उजयाली।
मुखकान्ति पड़ी पीली पीली आँखें अशान्त नीली नीली॥
क्या हाय! यही वह कृशकाया या उसकी शेष सूक्ष्म छाया?[2]

वियोग का अत्यधिक कष्ट सहकर भी उर्मिला कर्त्तव्य को प्रमुखता देती हुई गम्भीरता से परिस्थिति को सोचती-समझती है। उसके लिए इतना ही बस है—

करना न सोच मेरा इससे, व्रत में कुछ विघ्न पड़े जिससे।
आने का दिन है दूर सही पर है मुझको अवलम्ब यही॥
आराध्य युग्म के सोने पर, निस्तब्ध निशा के होने पर।
तुम याद करोगे मुझे कभी, तो बस फिर मैं पा चुकी सभी॥[3]

उर्मिला के विरह का प्रारम्भ अत्यन्त सुन्दर हुआ है। उसमें वह संयत गरिमा है जो उसके चरित्र की निधि बन सकती थी। चित्रकूट में लक्ष्मण से अल्प मिलन के अवसर तक वह बराबर उसमें विद्यमान है।

मेरे उपवन के हरिण, आज वनचारी
मैं बाँध न लूँगी तुम्हें तजो भय भारी॥[4]

किन्तु नवमसर्ग तक पहुँचते पहुँचते न जाने वह गरिमा कहाँ विलुप्त हो गई। गुप्तजी ने उसे अत्यन्त साधारण विरहिणी बना दिया जो पति के वियोग में फूट फूटकर रोती है उन्मादिनी सी रहती है खाना-पीना उसे अच्छा नहीं लगता, सब सुखद उपकरण दुख दायी हो गए हैं। इस परिस्थिति से यद्यपि विरही के जीवन के विविध रूप उपस्थित हो सके हैं किन्तु वे उर्मिला के चरित्र के अनुकूल नहीं लगते। सहृदय पाठक उसके महान त्याग की व्यथा को अत्यन्त संयत देखने का इच्छुक था किन्तु वेदना के अजस्र प्रवाह ने उसके महत्त्व को कम कर दिया। इतनी त्यागमयी को इतना हल्का होकर रोने की क्या आवश्यकता थी।

कवि को उर्मिला से विरह के लम्बे चौदह वर्षों की अवधि किसी भाँति कटवानी थी और उसने राजगृह की वंचिता नववधू की भाँति ही काटी। इस लम्बे विरह वर्णन में

---

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—साकेत, पृष्ठ ७६
२ वही षष्ठम सर्ग, पृष्ठ १०५
३ वही पृष्ठ १०७
४ वही, अष्टम सर्ग, पृष्ठ १६३

विरही के जीवन की अनेक सुन्दर स्थितियो का समावेश हुआ है।

प्रोषितपतिका उर्मिला को कतव्य भावना निरकुश नही होने देती। मन प्रिय को समीप बुलाना चाहता है किन्तु कर्तव्य कुछ ही क्षण म भावना पर विजय प्राप्त कर लेता है।

भूल अवधि सुध प्रिय से कहती जगती हुई कभी 'आओ',
किन्तु कभी सोती तो उठती वह चौंक बालकर 'जाओ'।[1]

उर्मिला के इस कथन की व्याख्या विभिन्न विद्वानो न पथक् पृथक ढग से की है। कन्हैयालाल सहल कहते हैं—

"उर्मिला मध्या नायिका है। जागृतावस्था म भी जब उर्मिला को चौदह वर्षों की अवधि का स्मरण न रहता तो वह लक्ष्मण का सयोग सुख के लिए आमन्त्रित करती थी' जब स्वप्न म लक्ष्मण से मिलन होता तो मध्या नायिका की भाति चौंककर 'जाओ' कह उठती थी।"[2]

सहलजी का उपयुक्त मन्तव्य कामशास्त्र के अनुसार 'मध्या नायिका' के भेद म (सोने जागने की अवस्था म) हो सकता है ठीक बठता हो किन्तु वह उर्मिला के प्रसग मे मनोविज्ञान सगत नही है। जागते हुए का अथ यहा जाग्रत अवस्था नही है अध विस्मृतावस्था है। इस प्रसग म स्वय कवि का वक्तव्य अत्य त मान्य है—

"मैंने तो यहा यही कहना चाहा था कि जागत म उर्मिला भले ही अवधि की सुधि भूलकर पीडा के कारण पति को पुकार उठती थी परन्तु स्वप्न म भी वह अवधि से पहले उनका आना नही चाहती थी—यदि कभी वे स्वप्न म आ जाते ता 'जाओ' कहकर वह जाग उठती थी।'[3]

डा० नगन्द्र इसे अर्धविस्मृतावस्था कहत है। इसके विषय म उनका कहना है—

"परन्तु उर्मिला की इस अर्धविस्मृति के पीछे इस युग के मनोविज्ञान की अन्तर्धारा है। इसमे रूढि का पालन नही, स्वाभाविक स्थिति का चित्रण है। वहा आदश और कामना के बीच म सघष है। आदश कहता है 'जाओ' भाव कहता है 'आओ'। इसी द्वन्द्व की अन्तर्धारा उसकी अर्ध विस्मृति के मूल म बह रही है।'[4]

नगेन्द्रजी का उर्मिला विरह विषयक यह विश्लेषण ठीक ही है। यह अर्धविस्मृतावस्था' विरही की स्वाभाविक यथार्थ अनुभूति और उन्माद की अवस्था के बीच को कडी है। इसे उद्वेग स कुछ आगे की स्टेज (स्थिति) कह सकते हैं। आदश और भावना के सघष से जिस उद्वेग का मन म उदय हुआ वही इस अर्धविस्मृतावस्था के रूप म विरही की अवचेतना म छिपी यथाथ कामना और उसके चेतन को झकझोरते हुए आदश का द्वन्द्व

१ साकेत, नवम सग, पृष्ठ १६५
२ साकेत के नवम सग का 'काव्य वैभव' पृष्ठ ८९,
३ श्री मैथिलीशरण गुप्त—साकेत के नवम सग का 'काव्य वैभव' पृष्ठ १५७-१५८
४ डा० नगेन्द्र—साकेत एक अध्ययन, पृष्ठ ७१

बनकर प्रकट होता है। इसी से भावावेश में उर्मिला कहती है—

अरण्य से हैं प्रिय लौट आते,
छिपे छिपे आकर देखते सभी,
कभी स्वयं भी कुछ दीख जाते।[1]

उसकी विरह-व्यथित स्थिति को लक्ष्मण भी देख सकते तो कितना अच्छा होता। कम से कम उसके प्रणय के मूल्य को तो पहचान ही लेते। विरही की यह कामना कि जिसके लिए वह कष्ट झेल रहा है उसे भी पता चल सकता अत्यन्त भोली है।

उसी भोली कामना में बहते बहते उसे अनुभव होता है जैसे उसके प्रिय आ गए हैं—

सुभग आ गए, कान्त आ गए।[2]

आरती और अर्घ्य सब कुछ अर्पण करने को मन लालायित हो उठता है—

त्वरित आरती ला उतार लूँ।
पद दृगम्बु से मैं पखार लूँ।
चरण भरे देख धूल से,
विरह सिन्धु में प्राप्ति कूल से।
उदित उर्मिला भाग्य धन्य है,
अब कृती कहाँ कौन अन्य है?[3]

किन्तु तभी उसे भास होता है कि लक्ष्मण अकेले लौटे हैं। कर्तव्य कचोटने लगता है—

प्रभु कहाँ, कहाँ किन्तु अग्रजा,
वह नहीं फिरे, क्या तुम्हीं फिरे।
हम गिरे अरे तो गिरे गिरे!

वह लक्ष्मण से प्रश्न करती है—

दयित क्या यहाँ जान के,
घर दिया तुम्हें भेज आप ही,
यह हुआ मुझे और ताप ही।[4]

भावना और कर्तव्य के आरोह अवरोह में उर्मिला ऊबती डूबती रहती है। उर्मिला के विरह का यह रूप अत्यन्त स्तुत्य है। कवि के शब्दों में वह विरहिणी बाला प्रिय की आराधना में स्वयं आरती बन गई थी—

---

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—साकेत, नवम सर्ग पृष्ठ १६५
२ वही, पृष्ठ २४१
३ वही पृष्ठ २४२
४ वही, पृष्ठ २४३

मानस मंदिर म सती, पति की प्रतिमा थाप,
जलती-सी उस विरह म, बनी आरती आप ॥[1]

देव के मंदिर म जलती हुई आरती का वह श्रद्धामय रूप उर्मिला के व्यक्तित्व म बना रहता यदि वह साधारण स्वार्थमय नारी की भांति अपने वियोग का कारण सीता को मानकर उन पर व्यग्य न करती। सखि जब उससे कुछ खान पीने की प्रार्थना करती है तो वह खीज स अपनी उदासीनता प्रकट करती हुई कहती है—

बन को भेंट मिली है, एक नई जडी मुझे जीजी से,
खाने पर सखि, जिसके गुड गोबर-सा लगे स्वय ही जी से।[2]

उर्मिला का वह वक्तव्य चाह वह उन्माद म भी हो, उसके चरित्र के अनुकूल नहीं लगता। विवशता म भी अपने वियोग का दोषी सीता को ठहराना हीन-सा प्रतीत होता है। ऐसा था तो पहले ही उसे लक्ष्मण के वन जाने का विरोध करना चाहिए था। न जाने क्या सोचकर मैथिलीशरण गुप्त न उसके मुह से यह कहलवाया है।

वसे वियोगिनी उर्मिला की दशा बहुत ही करुण है। उसको खाना-पहनना अच्छा नहीं लगता किन्तु विरह की लम्बी अवधि का समुद्र पार करन के लिए शरीर की रक्षा नितान्त अनिवाय हो गई है। सखी से वह कहती है—

पिऊ ला, खाऊँ ला, सखि पहन ल ला, सब करूँ,
जिऊँ मैं जसे हो, यह अवधि का अर्णव तरूँ।
कहे जो मानू सो, किस विध बता धीरज धरू ?
अरी कैसे भी तो पकड प्रिय के व पद मरूँ ॥[3]

सखी जब भले वस्त्र बदलने को कहती है तब लक्ष्मण के कठिन जीवन का स्मरण करके उसे उत्तर देती है कि वस्त्र कितने ही भले हो वल्कल से तो अच्छे हैं—

धूलि धूसर हैं तो क्या, या तो मृण्मात्र गात्र भी,
वस्त्र य वल्कलो से तो हैं सुरम्य, सुपात्र भी ॥[4]

घर के सब व्यक्ति उसकी स्थिति से अत्यन्त चिन्तित हैं वह इस बात स पूर्ण अभिज्ञ है किन्तु विरह की इस उन्मन पीडा पर उसका कोई वश नहीं है। वह इतनी प्रौढ और गम्भीर नहीं कि उसका किसी निर्माणात्मक क्षेत्र म उन्नयन कर सके—

रोता हैं और दूनी निरखकर मुझे दीन-सी तीन सासें,
होते हैं देवरश्री नत, हत बहन छोडती हैं उसासें।
आली तू ही बता द इस विजन बिना मैं कहाँ आज जाऊँ ?
दीना, हीना, अधीना ठहरकर जहाँ शान्ति दूँ और पाऊँ ?[5]

---

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—साकेत, नवम सर्ग, पृष्ठ १६५
२ वही, पृष्ठ १६६
३ ५ वही, पृष्ठ १६७

मथिलीशरणजी की उर्मिला पूणत भावुक है समभदार नही। यदि समभदार होती तो चौदह साल की लम्बी अवधि को तीनो सासो की सेवा म, उन्हे धय बधाने म तथा और दूसरे रचनात्मक क्षत्रो म लगाकर रसमय बना लेती। सहृदय पाठक उसके चरित्र म समय के व्यतीत होते होते कुछ विकास देखने का इच्छुक था किन्तु वह नवोढा भावुक ही बनी रही। कहना न होगा कि उर्मिला के विरह वणन म गुप्तजी के सम्मुख आज के युग की सजग काय शील विरहिणी के स्थान पर रीतिकालीन परम्परागत विरहिणी-नायिका रही है, जो अपनी स्थिति म विवश, विघ्न से नाता तोडकर एकान्त कोने म बठी रोया करती है। स्वय गुप्तजी की यशोधरा और हरिऔधजी की 'राधा' का महान् आदश उसस कोसो दूर है।

उर्मिला के विरह मे ऋतुवणन परम्परागत है किन्तु उसका उद्दीपन रूप स्वीकार करते हुए भी मथिलीशरणजी ने उसम एक मौलिक परिवतन किया है। उन्होने वतमान की तुलना म अतीत के सुखद दिनो की स्मति रखकर वतमान की पीडा को तीव्रतर बना दिया है। इस स्मति म विशेषता यह है कि द्विवदी काल के नतिपरक दृष्टिकोण के कठोर अकुश म रहते हुए भी कवि ने दाम्पत्य जीवन की निष्कपट अभिव्यक्ति की है। हेमन्त से पीडित उर्मिला कहती है—

सी सी करती हुई पाश्व म पाकर जब तब मुभको,
अपना उपकारी कहते थे मेरे प्रियतम तुभको।।
केवल ही सबल है अब तो
ले आसन हा आज पुनीत,
आया यह हम त दया कर
देख हम सन्तप्त सभीत।।[1]

सी-सी करती हुई प्रिया का समीप पाकर हेमन्त को अपना उपकारी कहने म सयोग की ध्वनि अनुपम है और उसके अभाव की व्यथा और भी कटु तथा तीक्ष्ण।

वर्षा ऋतु का मादक वातावरण भी उर्मिला का अच्छा नही लगता—

कुलिश किसी पर कडक रहे हैं
याली तोयद तडक रहे है।
कुछ कहने के लिए लता के
अरुण अधर वे फडक रहे हैं।
मैं कहती हू—रहे किसी के
हृदय वही जो धडक रहे हैं।
अटक भटककर मटक भटककर
भाव वही जो भडक रहे है।[1]

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—साकेत, नवम सग, पृष्ठ २३० २३१

वर्षा में कांपती हुई किसी एकाकी लता को देखकर उर्मिला को ऐसा लगता है—

कुछ कहने के लिए लता के
अंग्ण अधर वे फड़क रहे हैं।

लता से अपने जीवन का यह साम्य अनुपम है। दोनों यातना सहकर भी कुछ कह नहीं सकती, अभिव्यक्ति कुण्ठित हो गई है। मन के भाव होंठों तक फड़ककर हो रह जाते हैं। कुलिश और ताजद इनकी व्यथा से अपरिचित हैं और इन पर मनमाना अत्याचार कर रहे हैं।

वसन्त में कोयल की कूक भी उसे विरह-व्यथित सी लगती है समीर प्रकृति का सुवसित श्वास नहीं नि श्वास-सा प्रतीत होता है और सुरभि अबीर उड़ाती हुई नहीं धूलि फाँकती सी दिखाई देती है।

यह कोयल जो कूक रही थी, आज हूक भरती है,
पूर्व और पश्चिम की लाली रोष वृष्टि करती है।
लेता है निश्वास समीरण, सुरभि धूल चरती है
उबल सूखती है जलधारा यह धरती मरती है॥[1]

शरद में खंजनों को देखकर उसे प्रिय के नेत्रों का स्मरण हो आता है—

निरख सखी ये खंजन आए।
फेरे उन मेरे रंजन ने नयन इधर मन भाए।
फैला उनके तन का आतप मन में सर सरसाए॥
घूमे वे इस ओर वहां, ये हँस यहां उड़ छाए,
करके ध्यान आज इस जन का निश्चय वे मुस्काए।
फूल उठे हैं कमल, अधर से ये बंधूक सुहाए॥[2]

वह काम से अत्यन्त पीडित हो घबराकर उनसे प्रार्थना करती है—

'मुझे फूल मत मारो

दुःख में उसकी सहानुभूति अपनी समदुःखिनी प्रोषितपतिकाओं से लेकर कोक और मकड़ी तक पहुँच गई है। प्रोषितपतिकाओं को अपने यहां बुलाकर वह कुछ उनकी सुनना चाहती है और कुछ अपनी कहना क्योंकि इस तरह दुख बँट जाता है—

प्रोषित-पतिकाएं हों जितनी भी सखि उन्हें
निमन्त्रण दे आ,
समदुखिनी मिलें तो दुख बँटें जा, प्रणय
पुरस्सर ले आ॥[3]

---

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—साकेत, नवम सर्ग पृष्ठ २ १
२ वही, पृष्ठ २१६
३ वही, पृष्ठ २००

कोर के प्रति सहानुभूति रखती हुई वह कोकी को सान्त्वना देती है—

काक शोर मत कर हे तात,
कोकि कष्ट में हूँ मैं भी तो सुन तू मेरी बात,
धीरज धर अवसर आने दे, सह ले यह उत्पात।
मेरा सुप्रभात वह तेरी सुख सुहाग की रात॥[1]

क्योंकि उर्मिला का दृढ विश्वास है कि वियोग में दोनों पक्ष विरह की वेदना से व्यथित रहते हैं—

दोनों ओर प्रेम पलता है।
सखि पतंग भी जलता है हा! दीपक भी जलता है।[2]

यहां दीपक व पतंग के मिस अपने और लक्ष्मण के जीवन की व्याख्या भी वह करती है। एक के त्याग को तो विश्व में सराहना मिलती है और दूसरा उपेक्षित-सा चुपचाप कष्ट झेलता रहता है—

दीपक के जलने में आली,
फिर भी है जीवन की लाली।
किंतु पतंग भाग्य लिपि काली किसका वश चलता है?
दोनों ओर प्रेम पलता है।[3]

मकड़ी के प्रति सहानुभूति प्रकट करती हुई वह उससे अपना साम्य करती है। दोनों विवश जाल में फंसी हुई है इसका संकेत उसने किया है। वस्तुतः यह साम्य भ्रामक है क्योंकि मकड़ी जाल में स्वयं नहीं फँसती औरों को फंसाती है।

सखि न हटा मकड़ी को, आई है वह सहानुभूतिवशा,
जालगता मैं भी तो, हम दोनों की यहां समान दशा।[4]

उर्मिला के विरह में मार्मिक स्थलों की कमी नहीं है किंतु वे यत्र तत्र बिखरे पड़े हैं। उसके भाग्य पर रोना आने लगता है जब वह कहती है—

कूड़े से भी आगे पहुंचा अपना अदृश्य गिरते गिरते
दिन बारह वर्षों में घूड़े के भी सुने गए हैं फिरते।[5]

कभी अपने मन को समझाती है—

नयनों को रोने दे मन, तू संकोच न बन, प्रिय बठे हैं,
आँखों में आकर हो, गए नहा वे कहाँ यहीं पठे हैं।

विरह के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए कहता है—

---

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—साकेत, नवम सर्ग, पृष्ठ २०८
२ ३ वही पृष्ठ २०४ ७ ८
वही, पृष्ठ २२८
, पृष्ठ २३६

सिद्ध है स्वयं साधना आग, सुधा क्या क्षुधा जो न होती।

मिलन मूल सूची से कम क्या अनी विरह के शूल में।[1]
उसका कहना है कि विरह ने उसे बुरे समय की पहचान करा दी है—
जहाँ विरह ने मार दिया है किया वहाँ उपकार भी,
सुध बुध हर ली, किन्तु दिया है काल ज्ञान विचार भी।[2]

उर्मिला के विरह में शारीरिक पक्ष की उपेक्षा नहीं है। असह्य वेदना में वह अपने यौवन बाल को बचाकर रखना चाहती है—

मेरे चपल यौवन बाल।
अचल अंचल में पड़ा सो, मचलकर मत साल

मन पुजारी और तन इस दुखिनी का थाल
भेट प्रिय के हेतु उसमें एक तू ही लाल।[3]

जीवन के मध्याह्न में ही उसका प्रिय से वियोग हो गया था, अतएव अभिलाषाओं की यह कामना अत्यन्त स्वाभाविक है। यौवन की उपमा चपल बाल से काफी उपयुक्त है।

नवम सर्ग की उन्मन व्यथा दशम सर्ग में मानसिक व्याधि-सी बन गई है। न अब उर्मिला अपनी-सी दुखिनी प्रोषितपतिकाओं को बुलाकर उनसे दुख-सुख बाँटना चाहती है, न पशु पक्षियों को अपनी स्नेहार्द्र दृष्टि से सहानुभूति अर्पित करती है। वह कहीं एकांत कोने में बैठी रोया करती है केवल सखी सुलक्षणा उसके साथ है। कवि उसकी दशा की व्यंजना इस भाँति करता है।

कृश देह, विभा भरी भरी,
धृति सूखी, स्मृति ही हरी-हरी।
उड़ती अलकें जटा बनी,
बनना था प्रिय पाद मार्जनी।[4]

नैराश्य इतना अधिक हो गया है कि सरयू में डूबकर मरने की चेष्टा करती है—
यह नीचे सरयू, इस घर।
इसका कल कण में भरूँ
जल क्या है बस डूब ही मरूँ॥[5]

---

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—साकेत नवम सर्ग पृष्ठ २३३
२ वही, पृष्ठ २०४
३ वही पृष्ठ २०७
४ वही, दशम सर्ग, पृष्ठ २७५
५ वही, पृष्ठ २५७

वह अपनी सुध बुध बिलकुल भूल हुए है। सखी सुलक्षणा न पकडती तो क्या जाने वह डूब ही जाती—

धर या मन, बात थी अरी
मरती हूँ कब मैं मैं मरी मरी ?[१]

विस्मृत सी होकर वह अतीत की स्मृति म डूब जाती है और जड सरयू का अपने जन्म, जनक के यहा बालपन न मण के प्रति प्रथम आकर्षण और धनुष यज्ञ प्रसग आदि की लम्बी गाथा सुनाती है। इसको उन्माद की गुणकथन अवस्था कह सकते हैं। वाणी म अभिव्यक्ति होन से वह 'प्रलाप' के अत्यन्त समीप आ जाती है किन्तु उसे प्रलाप इस लिए नहा कह सकते क्योकि उसम असगतता नहा है भाव की तन्मयता है। कर्त्तव्य का द्वन्द्व इस स्थिति म भी उसकी चेतना स लुप्त नही होता—

कुलवधू इस रम्य गेह की,
दुहिता होकर मैं विदेह की
प्रिय को घर दह भोग से
करती वचित क्या सुयोग स ?[२]

सक्षेप म कह सकत हैं कि उर्मिला के विरह की अनेक कामदशाएँ उद्वेग, उन्माद वैवर्ण्य और अश्रु आदि परम्परित व्यथा के भार को सम्भालते हुए भी अधिक मनोविज्ञान सम्मत हैं, क्योकि उर्मिला क बुद्धिवादी व्यक्तित्व न स्वय कर्त्तव्य के उत्तरदायित्व को निभान का प्रण किया था। अचेतन म जो अतृप्ति उसको साल रही थी, उस पर 'चेतन मन' कठोर अकुश रखन का प्रयत्न करता रहा। ऋतु वर्णन का भी कवि ने वियोगिनी उर्मिला की व्यथा सक्लिष्ट दशा के अनुरूप ही व्यजित किया है। अतीत की स्मृति को जगाकर य भी उसकी वेदना को तीव्रतर करती है।

अत म उर्मिला क विरह के विषय म यह कहा जा सकता है कि उसकी भावराशि बिखरी होन पर भी अत्यन्त मार्मिक है। बिखरी हुई सम्भवत वह इसलिए है कि गुप्तजी न उसकी अर्धविस्मृत अव था को हा यथार्थ माना है। भावावेग और आदर्श का द्वन्द्व उसे बराबर झकझोरता रहा है किन्तु वियोग की उस लम्बी अवधि म समय क साथ वह समझदार प्रौढा नहा बनती भावुक मुग्धा ही रहती हे। भावुक मुग्धा रूप म दुर्बलता के होत हुए भी वह आदर्श स कही च्युत नही हुई। केवल एक स्थान पर न जान जीजी का क्या बुरा कह बैठा—

बन को भेट मिली है, एक नई वह जडी मुझ जीजी से।

मैथिलीशरणजी न उर्मिला की वियोग वेदना का स्वाभाविक गति स भाग्य से टकरा दिया है, अपने हाथो उसे राह नही दिखाई है। इसी कारण वह (यदि अग्रजी के एक शब्द म उसक चरित्र को बाँधें तो कहना होगा) वस्तुत 'ह्यू मन' है। ह्यू मन रहते हुए

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—साकेत, दशम सर्ग पृष्ठ ३२७
२ वहा पृष्ठ ३६६

उन्नयन की उसने आवश्यकता ही नहीं समझी।

(२) यशोधरा—गुप्तजी की यशोधरा आधुनिक सांस्कृतिक कविता के विरह-भाव की अमूल्य निधि है। भारतीय नारी के सांस्कृतिक गौरवपूर्ण जीवन का प्रतिनिधित्व जितने सुन्दर रूप में यशोधरा करती है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। यशोधरा गौतम की नवयुवा विवाहिता है। संसार के करुण-वेदनामय रूप से भयभीत होकर सिद्धार्थ एक रात अनायास उसको अकेली सोती हुई छोड़कर सिद्धि की खोज में घर से चल गए। अभिमानिनी यशोधरा अपमान से काँप गई। प्रिय सिद्धि की कामना के लिए गए थे, इसका उसे दुख न था, दुख था तो इस बात का कि उसको वह वंचना में छोड़कर गए, यदि कहकर जाते तो क्या वह उन्हें मना कर देती? 'ग्लानि' में उसका मन भर आता है। उसका स्वाभिमान आहत हो उठता है

सखि वे मुझसे कहकर जाते,
कह, तो क्या मुझको वह अपनी पथ-बाधा ही पाते?
मुझको बहुत उन्होंने माना,
फिर भी क्या पूरा पहचाना?
मैंने मुख्य उसी को जाना,
जो वे मन में लाते।
सखि वे मुझसे कहकर जाते।
स्वयं सुसज्जित करके क्षण में,
प्रियतम को, प्राणों के पण में,
हमीं भेज देती हैं रण में—
क्षात्र-धर्म के नाते।
सखि वे मुझसे कहकर जाते।[1]

यही कसक उसके मन में तब भी रहती है जब वह कहती है कि सास-ससुर जब मुझसे पूछेंगे कि तुमसे तो कहकर ही गए होंगे, कहाँ जा रहे हैं, तब क्या उत्तर दूँगी। क्या यह कहूँगी कि मुझसे कुछ नहीं कहा?

सास सुसर पूछेंगे
तो क्या उनसे अभी कहूँगी मैं?
हा! गर्विता तुम्हारी
मौन रहूँगी, सहूँगी मैं।[2]

वियोग की असह्य वेदना सहकर भी वह सिद्धार्थ को ढूँढने के प्रस्ताव को मना कर देती है। शुद्धोधन जब कहते हैं—

---

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—यशोधरा, पृष्ठ २४
२ वही, पृष्ठ २६

तू क्या कहती है बहू, पाऊँ मैं जहाँ कहा,
चतुर चरों को भेज खोजूँ भी उसे नहीं ?[१]

तब यशोधरा कहती है—

तात, नहीं

तथा—

खोज करना उन्हीं के प्रतिकूल है।

शुद्धोधन जब पूछते हैं—

कैसे ?

तब यशोधरा अत्यन्त गम्भीर उत्तर देती है—

तात, सोचो, क्या गए वे इसी अर्थ हैं,
आज हम लावें उन्हें क्या वे असमर्थ हैं ?[१]

विरह की कसक से वह पीड़ित न हो ऐसी बात नहीं है। छन्दक जब लौटकर गौतम का सारा वृत्तान्त कपिलवस्तु में सुनाता है तो वह उन्मादी सी हो जाती है। कोई शृंगार उसे अच्छा नहीं लगता। विरह के चरम नैराश्य में सखी से कहती है—

जाओ मेरे सिर के बाल।
अलि कतरी ला मैंने क्या पाले काले व्याल ?[१]

किन्तु दूसरे ही क्षण सभल जाती है। वात्सल्य उसे जीने की प्रेरणा देता है—

मेरी मलिन गूदड़ी में भी है राहुल-सा लाल।
क्या है अंजन अंगराग, जब मिली विभूति विशाल ?
बस सिन्दूर बिन्दु से मेरा जगा रहे यह भाल
वह जलता अंगार जला दे उनका सब जंजाल।[१]

यशोधरा के विरह की अवधि अनिश्चित है, गौतम यदि सिद्धि प्राप्त करके लौट भी आएँगे तब भी पति पत्नी सम्बन्ध की तो समाप्ति हो ही गई इस दृष्टि से उसका विरह करुण विप्रलम्भ के अन्तर्गत आता है।

सुख के दिनों के सब उपकरण यशोधरा के लिए दुखदायी हो गए हैं। वही कुंज हैं, वही उनके पालित पक्षी कोकिल, कीर शिखी आदि हैं किन्तु प्रिय के बिना सब अनाथ से लगते हैं—

उनका यह कुंज कुटीर वही
झड़ता उड़ अंशु अबीर जहाँ,
अलि, कोकिल, कीर, शिखी सब हैं
सुन चातक की रट 'पीव कहाँ' ?

---

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—यशोधरा, पृष्ठ ३०
२ वही, पृष्ठ ३१
३ ४ वही, पृष्ठ ३४

अब भी सब साज समाज वही
तब भी सब आज अनाथ यहा,
सखि जा पहुचे सुध सग कहा
यह अध सुगन्ध समीर वहा।[1]

यशोधरा की यह कामना कितना भावी और स्वाभाविक है—

सखि जा पहुँचे सुध सग कहा
यह अध सुगन्ध समीर वहा।

प्रिय का गुण कथन करती हुई वह कहती है—

दव कराल काल-सा जिसको काप उठें सब भय स
गिर प्रतिद्वन्द्वी नन्दार्जुन, नागदत्त जिस हय से,
वह तुरग पालित-कुरग सा नत हो गया विनय म
क्या न गजता रगभूमि फिर उनकी जय जय जय स ?
निकला वहा कौन उन जसा प्रबल पराक्रमकारी ?[2]

विरहा की वदना और सहनशक्ति का अत्यन्त सुन्दर व्यजना यशोधरा क इन शब्दा म हुई है।

जलने का ही स्नेह बना
उठने को ही वाष्प बना है
गिरने को ही मेह बना
जलता स्नेह जलावगा हा
फाट वाष्प फलावगा हा
मिट्टी मह गलावगा हा।
सब सहन को दह बना।
जलन को ही स्नेह बना॥[3]

स्नेह करके मनुष्य का जलना ही पडता है प्रेम म ही विरह का अस्तित्व होता है। विरही की अनन्त अभिलाषाएँ आसू बनकर उमडती रहती हैं और शरीर तिल तिल करके गलता जाता है। सूर ने भी कहा था—

प्रीति करि काहू सुख ना लह्यो।

यशोधरा क विरह वणन म ऋतु-वणन भी अनुपम है। सब ऋतुएँ उसक जीवन पर घटित होना जाती हैं। साकेत की उर्मिला के विरह म भी ऋतु का लगभग वही रूप है किन्तु वहाँ आलकारिता क बोझ म भाव पक्ष दब-सा गया है। यशोधरा की सी सीधी

---

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—यशोधरा, पृष्ठ ४४
२ वही, ८७
३ वही, ४१

मार्मिक अभिव्यक्ति वहा नही है। गौतम के जाने क बाद विरहिणी यशोधरा की वही दशा हो गई है जो वसन्त की समाप्ति पर ग्रीष्म के आने से प्रकृति की होती है।

वसन्त

सखि वसन्त से कहाँ गये वे,
म उष्मा सी यहा रही।[1]

ग्रीष्म

तप मेरे मोहन का उद्धव धूल उड़ाता आया,
हाय ! विभूति रमाने का भी मन योग न पाया।
सूखा कण्ठ पसीना छूटा, मृगतृष्णा की माया,
झुलसी दृष्टि अँधेरा दीखा दूर गई वह छाया।
मेरा ताप और तप उनका
जलती है हा ! जठर मही।[2]

वर्षाकाल म न जाने कहाँ का वाष्प जो पहल प्रकृति म सोया पड़ा था, उमड़ आया। ऋतु क उद्दीपन स विरहिणी यशोधरा की अश्रुधारा भी उमड़ आई है। विस्मृति क गर्भ म डूबती हुई स्मृति पुन सजीव हो गई—

जागी किसकी वाष्प राशि जो सूने म सोती थी ?
किसकी स्मृति के बीज उगे य सृष्टि जिन्ह बोती थी
अरी वृष्टि, ऐसी ही उनकी दया दृष्टि रोती थी
विश्ववदना की ऐसी ही चमक उन्ह होती थी।
किसक मेरे हृदय की धारा
शतधा होकर आज बही ?[3]

ऋतु का यह वर्णन विरही की मानवीय भावनाओ के अत्यधिक अनुरूप है। वाष्प के उठने म 'उच्छ्वास' और मेह के गिरने म अश्रु की ध्वनि है। वाष्प के वर्षा के रूप म परिणत होने के सहज वैज्ञानिक तथ्य को विरही क जीवन पर कवि ने कुशलता से घटाया है।

शरद के मिस वह गौतम के गुणो की और तपस्या की ही प्रशसा करती है।

उनकी शान्त कान्ति की ज्योत्स्ना जगती है पल पल म
शरदातप उनके विकास का सूचक है थल-थल म,
नाच उठी आशा प्रतिदल पर किरणो की झल झल मे,
खुला सलिल का हृदय कमल खिल हृमा के कल-कल म।

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—यशोधरा, पृष्ठ ४१
२ वही पृष्ठ ४१
३ वही, पृष्ठ ४२

पर मेरे मध्याह्न वता क्यो
न्गी मूर्च्छा बनी वही ?[1]

हेमन्त और शिशिर उसके दुख को उद्दीप्त करते हैं—

हेमपुज हमन्तकाल के इस आतप पर वारूँ
प्रियस्पर्श की पुलकावलि मैं कस आज विसारूँ ?
किन्तु शिशिर यह ठडी सासें हाय ! कहा तक धारूँ ?
तन गारूँ, मन मारूँ, पर क्या मैं जीवन भी हारूँ ?[2]

उसके विरह दुख का अधकार ही सम्पूण सष्टि पर आच्छादित होता हुआ प्रतीत होता है—

पता न पत्ते तक उनका त्याग दखकर त्यागे,
मेरा धुधलापन कुहरा बन छाया सबके आगे
उनके तप के अग्निकुण्ड स घर घर म ह जागे,
मेरे कम्प, हाय ! फिर भी तुम नहीं कहीं से भागे
पानी जमा परन्तु न मेरे
खट्टे दिन का दूध दही ।[3]

स्वप्न म यदि प्रिय स साक्षात्कार होता है तो वह उन्मत सी उनसे प्राथना करने लगती है—

नाथ कहा जाते हो ?
अब भी अधकार छाया है ।

रोकने के प्रयत्न म नीद खुल जाती है तो वह विवश सी कह उठती है—

हा ! जग कर क्या पाया,
मैंने स्वप्न भी गँवाया है ।

यशोधरा की अनेक वियोग दशाओ म मरण तक का बडा सुन्दर वणन मथिलीशरणजी न किया है । प्रकृति का उद्दीपन रूप रखकर वह कहते हैं—

फूलो पर पद रख, कूलो पर रख लहरो स रास,
मन्द पवन के स्पन्दन पर चढ कर आया मधिलास ।
भाग्य न अवसर पाया री ।
मरण सुन्दर बन आया री ।

प्रिय के विरह म यशोधरा मरण का सुयोग भी प्राप्त नहीं कर सकती । इसकी विवशता और भी स्वाभाविक और सुन्दर है—

फिर भी गोपा क कपाल म कहाँ आज वह भोग ?
प्रियतम का क्या, यम का भी है दुलभ उस सुयोग ?

१ २ श्री मैथिलीशरण गुप्त—यशोधरा, पृष्ठ ४३
३ वही, पृष्ठ ४०

बनी जननी भी जाया री।
मरण सुन्दर बन आया री।

जीवन रूपी नौका यशोधरा के लिए दुवह सी प्रतीत हो रही है—

जीर्ण तरी भूरि भार, देख, अरी, एरी।
कठिन पन्थ, दूर पार और यह अंधेरी।
सजनी उलटी बयार,
बग धरे प्रखर धार,
पद पद पर विपद वार
रजनी घन घेरी।
जीर्ण तरी भूरि भार, देख, अरी, एरी![1]

किन्तु राहुल रूपी रत्न जो गौतम ने उसे सौंपा था, उसको उन्हें लौटाने का भार भी तो उसी पर है—

समय हो रहा सपत्न
अपने बस कौन यत्न?
गांठ में अमूल्य रत्न
बिसरी सुध मेरी।
जीर्ण तरी भूरि भार देख अरी एरी।
भव का यह विभव साथ
थाती भर किन्तु हाथ।
लें तो कब लौट नाथ?
माप बस बेरी।
जीर्ण तरी भूरि भार देख, अरी एरी।

राहुल के पालन पोषण के इस उत्तरदायित्व ने यशोधरा की पीड़ा को और भी करुण बना दिया है। वह फफक फफककर रो नहीं सकती। फिर भी अपनी व्यथा भूलकर उसे रसमय बनाना चाहती है।

कभी प्रिय की स्मृति आती है और राहुल कहानी कहने का हठ करता है तो उसके पिता की कहानी सुनाकर उसका मन बहलाती है—

सुन उपवन में बड़े सबेर
तात भ्रमण करते थे तेरे,
जहां सुरभि मनमानी।

गाते थे खग कल कल स्वर में
सहसा एक हंस ऊपर से

---

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—यशोधरा, पृष्ठ ८८

गिरा, विद्ध होकर खर शर से
हुई पक्ष की हानी

चाक उहान उसे उठाया,
नया ज म सा उसने पाया
इतन म आखेटक आया
लक्ष्य सिद्धि का मानी

मागा उसन आहत पक्षी
तेरे तात किन्तु थ रक्षी।
तब उसने जो था सब भक्षी—
हठ करने की ठानी।[1]

वह राहुल को लोरी गाकर सुलाती है—

सो मेरे अतर्धन सो।[2]

किन्तु अन्यमनस्क-सी कभी कभी उसके बहुत रोने पर खीज जाती है। उस उद्वेग की स्थिति मान सकते हैं।

चुप रह चुप रह हाय अभागे।
रोता है अब किसके आगे?
तुझे देख पाते वह रोता,
मुझे छोड जाते क्या सोता?
अब क्या होगा? तब कुछ होता
सोकर हम खोकर ही जागे
चुप रह चुप रह! हाय! अभागे॥[3]

यदि राहुल गौतम के जाते समय रोया होता तो

तभी उसे ध्यान आता है कि बालक राहुल का रोने म क्या दोष है उसे क्या पता कब रोना चाहिए कब नही? वस्तुस्थिति स परिचित हाकर फिर से विवश सी राहुल को सात्वना दने लगती है—

बेटा मैं ता हूं रोने का,
तेरे सारे मल धोने को।
हस तू है मत कुछ होने को,
भाग्य आयगे फिर भी भाग॥[4]

---

१ मैथिलीशरण गुप्त—यशोधरा, पृष्ठ ५६ २०

२ वही पृष्ठ ६१

३ ४ वही, पृष्ठ ४६

राहुल जब बोलना सीखता है तो माँ, मा कहकर पुकारता है। यशोधरा उससे पिता कहने को कहती है—

मा मेरे अवलम्ब बता क्या अम्ब अम्ब कहता है?
पिता, पिता कह बेटा, जिनसे घर सूना रहता है॥[1]

यशोधरा का राहुल से पिता कहने का आग्रह करना उसकी मनोस्थिति के अत्यन्त अनुकूल है।

ऐसे ही राहुल का पिता को ढूँढने का भाव—

विहग समान यदि अम्ब पंख पाता मैं
एक ही उड़ान में तो ऊँचे चढ़ जाता मैं
मंडल बनाकर मैं घूमता गगन में
और देख लेता पिता बैठे किस वन में॥[2]

अत्यन्त स्वाभाविक है। उसमें दोष निकालना बालमनोविज्ञान का अपरिचय दिखाता है। किन्तु कुछ नवीन आलोचकों ने राहुल के इस कथन को असंगत ठहराया है।[3]

कहना न होगा कि इस प्रकार की दोषान्वेषण से युक्त आलोचना गुप्तजी की 'यशोधरा' के सहृदय पाठक के लिए अत्यन्त असह्य है। न जाने किस कारण इन नवीन आलोचकों ने इतनी असम्भव और असंगत आलोचना की है। माता और बालक के व्यवहार से परिचित कोई भी समझदार व्यक्ति उनके मत से सहमत नहीं हो सकता।

वस्तुतः राहुल माँ की पीड़ा को बहुत कुछ बाँटने का प्रयत्न करता है। यशोधरा की विवश स्थिति की व्यंजना राहुल के इन शब्दों में अत्यन्त सशक्त है—

माँ ठी तू मेरे लिए रोती उनके अर्थ।
हम दोनों के बीच तू पागल सी असमर्थ॥

सिद्धार्थ के विरह में वह इतनी दुर्बल हो गई है कि राहुल उसके चित्र को पहचान नहीं पाता। इतना कष्ट सहन करके भी यशोधरा पति को एक बार भी बुरा नहीं कहती। गौतमी जब कहती है कि राजकुमार अत्यन्त निष्ठुर है हम सबको छोड़कर चले गए' तब यह उसे मना करती है— अरी तू उन्हें निर्दय क्यों कहती है? वे तो किसी कीट पतंग का दुःख भी नहीं देख सकते।[4]

गौतमी— तभी न हम लोगों को इतना सुख दे गए है।'

यशोधरा— नहीं वे अपने दुःख का भागी बनाकर हम अपना सच्चा आत्मीय

[1] श्री मैथिलीशरण गुप्त—यशोधरा पृष्ठ ४६
[2] वही, पृष्ठ ५५
[3] नि इन्द्रसिंह—यशोधरा का काव्य रूप पृष्ठ ४४
[4] मैथिलीशरण गुप्त—यशोधरा पृष्ठ ११७

सिद्ध कर गए है और हम सबके सच्चे सुख की खोज म ही गए है।'

यशोधरा का गौतम के अतिरिक्त अपना स्वतन्त्र जीवन दर्शन था और वह था ससार म रहकर सघर्षों से विजय प्राप्ति। वह स्पष्ट मुक्ति को चुनौती देती है, 'कह मुक्ति भला किसलिए तुझे मैं पाऊँ।' यहीं तक गिरिजादत्त शुक्लजी के शब्दों म 'भावुकता से सिक्त होकर प्रवाहित हुआ है'—। यशोधरा के गौतम के प्रति ये भाव भी इसी दर्शन का द्योतन करते हैं—

जल मे शतदल तुल्य सरसते,
तुम घर रहते हम न तरसते
देखो दो दो मेघ बरसते
मैं प्यासी की प्यासी।
आओ हो वनवासी ॥[1]

नदी, बादल, हस और पवन सबसे विरही प्रिय के पास सदेश ले जाने की प्रार्थना करता रहा है। प्रिय की स्मृति मे डूबी, एकाकिनी यशोधरा नदी के प्रदीप दान करती हुई प्रिय के पास अपना सदेश ले जाने को कहती है। सदेश जितना सक्षिप्त है उतना ही मार्मिक भी—

तुझे नदीश मान दे,
नदी प्रदीप दान ले।
तुझे और क्या दूँ? थोडा भी आज बहुत तू मान ले,
तम म विषम माग का इसको तुच्छ सहायक जान ले।
मिलें कहीं मेरे प्रभु पथ म तू उनका सधान ले,
तुझे कठिन क्या है यह यदि तू अपने मन म ठान ले।
मेरे लिए तनिक चक्कर खा नव यात्रा की तान ले,
घूम घूमकर झूम झूमकर, थल थल का रस पान ले।
कह देना इतना ही उनसे जब उनको पहचान ले—
'धाय तुम्हारे सुत की गाथा बैठी है बस ध्यान ले।'[2]

अन्तिम पक्ति म मातृत्व के उत्तरदायित्व को सम्भाल बैठी हुई वियोगिनी यशोधरा का सजीव चित्र साकार हो जाता है। 'तुझे नदीश मान दे' म मान वचिता मानिनी यशोधरा की करुण व्यथा मुखरित हुई है, जो अत्यन्त हृदयस्पर्शी है।

यशोधरा जितनी अनुरागमयी है उतनी ही मानिनी भी। गौतम के जाने के बाद ही अपने अपमान की याद करके कहती है—

---

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—यशोधरा, पृष्ठ ११६
२ वही, पृष्ठ ११८

गए, लौट भी वे आवेंगे,
कुछ अपूर्व अनुपम लावेंगे।
रोते प्राण उन्हें पावेंगे,
पर क्या गाते - गाते ?
सखि, वे मुझसे कहकर जाते ॥[1]

सचमुच, गौतम के सिद्धि प्राप्त करके लौट आने के समय महाप्रजावती जब उ उन्हें लिवा लाने को कहती है—

बाधा कौन-सी है तुझे आज वहां जाने में ?[2]

तब वह उत्तर देती है—

बाधा तो यही है, मुझे बाधा नहीं कोई भी।
विघ्न भी यही है जहाँ जाने से जगत में
कोई मुझे रोक नहीं सकता है—धर्म में,
फिर भी जहाँ मैं, आप इच्छा रहते हुए
जाने नहीं पाती ! यदि पाती तो कभी यहां
बैठ रहती मैं ? छान डालती धरित्री को !
सिंहनी सी काननों में, योगिनी सी शैलों में।
शफरी-सी जल में, विहंगिनी - सी व्योम में।[3]

वह गौतम को लेने नहीं जाती किन्तु उनके आगमन के लिए उत्कं है—

फिर भी नाथ न आए।
नैन गये हाय जो उनको वे भी लौट न पाये।[4]

जब वे बिलकुल ही द्वार पर आ जाते हैं तो मन को समझाती है—

रे मन आज परीक्षा तेरी।
विनती करती हूँ मैं तुमसे बात न बिगड़े मेरी।
अब तक जो तेरा निग्रह था
वह अभाव के कारण वह था।
लोभ न था, जब लाभ न यह था,
सुन अब स्वागत भेरी।
रे मन आज परीक्षा तेरी।[5]

---

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—यशोधरा, पृष्ठ २५
२ वही पृष्ठ १२५
३ वही, पृष्ठ १२६
४ वही पृष्ठ ३६
५ वही, पृष्ठ १४०

उसक मन म कसक यही है—

विदा न लेकर स्वागत से भी वंचित यहा किया है,
हृत अत मे यह अविनय भी तुमने मुझे दिया है।

गौतम स्वय गोपा के पास क्षमा याचना को आते हैं और मानिनी, विरहिणी गोपा के आत्मसम्मान की रक्षा करते हैं—

माना दुबल हो या गौतम छिपकर गया निदान,
किन्तु तुझे, परिणाम भला ही हुआ सुधा सधान।
क्षमा करो सिद्धाथ शाक्य की निदयता प्रिय जान
भनी करुण पूण आज वह शुद्ध बुद्ध भगवान।[1]

अपनी एकमात्र निधि राहुल को वह भिक्षुक बुद्ध को सौंप दती है। असमय म ही मिले हुए वराग्य के लिए वह रोती चिल्लाती नहीं। उसके लिए जीवन का दाम्पत्य सुख स्वप्न हो गया था, उस रूप मे गौतम स मिलन भी निरवधि, किन्तु उसकी शिकायत उसन कभी नही की। मन म विरह की एक टीस अवश्य थी किन्तु सकुचित स्वाथ स उसे वह कलुषित न करना चाहती थी। अपनी सम्पूण भौतिक अभिलाषाओ को बुद्ध को समर्पित करके जसे वह निश्चिन्त हो गई। उसका यह त्याग अत्यन्त स्तुत्य है—

मेरे दुख म भरा विश्व सुख, क्यों न भरूँ फिर मैं हामी।
बुद्ध शरण धम शरण, सघ शरण गच्छामि॥[2]

सक्षेप म कहा जा सकता है कि यशोधरा का विरह हिन्दी-काव्य की अमूल्य निधि है। यशोधरा म नारी हृदय की कोमलता और जागरूक व्यक्ति के स्वाभिमान ने अद्भुत अन्तद्वन्द्व प्रस्तुत किया है। इसी स विरह क असह्य दुख को सहकर भी उसन कही किसी भी स्थिति म अपने को हलका पडन नही दिया है। न वह गौतम को ढूढन गई, न उनक लौटकर आने पर स्वागत के लिए दौडी।

विरह की लम्बी अवधि को राहुल की देखभाल, पालन पोषण स उसने मधुर बना लिया और साथ ही विरही के जीवन की स्वाभाविक स्थितिया, उद्वेग, उन्माद, अश्रु, गुणकथन और मरण आदि म भी ऊबती डूबती रही। ऋतु का मादक वातावरण उसके विरह की उद्दीप्ति करके उसे और अधिक लग्न स प्रिय की बाट जोहने के लिए प्रेरित करता रहा।

विरह म सदेश पद्धति का महत्त्वपूण स्थान है। वियोगिनी यशोधरा ने भी नदी के द्वारा सदेश कहलवाया है किन्तु वहाँ भी गौतम द्वारा आहत उसका स्वाभिमान उस कचोटता रहा। इसी स नदी न मान द' की नसर्गिक भावना उसकी वेदना को तीव्रतर बना रही है।

---

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—यशोधरा पृष्ठ १८३
२ वही, पृष्ठ १४७

यशोधरा के वियोगिनी जीवन में स्वाभिमान रक्षा के महत्त्व को स्वयं गौतमबुद्ध ने भी अन्त में प्रश्रय दिया।

(३) जयद्रथ वध—'जयद्रथ वध' में अभिमन्यु के युद्ध प्रयाण के अवसर पर मैथिलीशरणजी ने एक अपूर्व स्थिति की योजना की है। वह है उत्तरा का विलाप। अब तक विदेश जाते हुए पति को रोकने के प्रयत्नों का काव्य में पर्याप्त वर्णन मिलता रहा है किन्तु यहाँ अभिमन्यु विदेश नहीं जा रहा, युद्ध के लिए प्रस्थान कर रहा है। उत्तरा के हृदय में अपशकुन के विचार उठ रहे हैं। इसीलिए वह उन्हें नहीं जाने देना चाहती।

प्रवत्स्यपतिका कौन-सी दशा उत्तरा की है किन्तु वह प्रवत्स्यपतिका नहीं है। करुण विप्रलम्भ की किस विशिष्ट श्रेणी में उसे रखा जाए, यह समझ में नहीं आता। अभिमन्यु से वह कहती है—

जो वीर पति के कीर्ति पथ में विघ्न बाधा डालती
होकर सती भी वह कहाँ कर्तव्य अपना पालती।
अपशकुन आज परन्तु मुझको हो रहे, सच जानिए
मत जाइए सम्प्रति समर में प्रार्थना यह मानिए।
जाने न दूंगी आज मैं प्रियतम तुम्हें संग्राम में,
उठती बुरी हैं भावनाएँ हाय ! इस हृद्धाम में॥[1]

इस परिस्थिति का चित्रण हिन्दी विरह काव्य के लिए एकदम नवीन है। आधुनिक युग से पहले ऐसा कोई उदाहरण नहीं मिला।

अभिमन्यु की मृत्यु के बाद उत्तरा का विलाप करुण विरह है, करुण रस नहीं। प्रिय की मृत्यु पर शोक से पीड़ित होती हुई भी उत्तरा यह मानने को तत्पर नहीं है कि उसका पति अब अलोक्य में कहीं नहीं है। वह कहीं किसी 'वह्नि पथ' पर भी प्रिय से मिलने को व्याकुल है—

तज दो भले ही तुम मुझे, मैं तज नहीं सकती तुम्हें,
वह थल कहाँ पर है जहाँ मैं भज नहीं सकती तुम्हें ?
है विदित मुझको वह्नि पथ अलोक्य में तुम हो कहीं
हम नारियों की पति बिना गति दूसरी होती नहीं॥
जो सहचरी का पद मुझे तुमने दया कर था दिया,
वह था तुम्हारा इसलिए प्राणेश ! तुमने ले लिया।
पर जो तुम्हारी 'अनुचरी' का पुण्य पद मुझको मिला
है दूर हरना तो उसे, सकता नहीं कोई हिला॥[2]

---

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—जयद्रथ वध, प्रथम सर्ग पृष्ठ ६

२ वही, द्वितीय सर्ग, पृष्ठ २३

'कुमारसम्भव' की रति की भांति वह भी सुरपुर की अप्सराओं से ईर्ष्या करती है। किन्तु अपने प्रणय पर विश्वास रखती हुई गर्व का अनुभव करती है—

सुरपुर गए हो नाथ! क्या तुम अप्सराओं के लिए?
पर जान पड़ती है मुझे यह बात मन में भ्रम भरी,
मेरे समान न मानते थे तुम किसी को सुन्दरी।
हाँ अप्सराएँ आप तुम पर मर रही होंगी वहाँ,
समता तुम्हारे रूप की त्रैलोक्य में रखी कहाँ?
पर प्राप्ति भी उनकी वहाँ भाती नहीं होगी तुम्हें?
क्या याद हम सबकी वहाँ आती नहीं होगी तुम्हें?[1]

पति की मृत्यु हो गई यह बात उत्तरा मानने को तैयार नहीं है। वह भूमिशायी अभिमन्यु की मनुहार करती है—

हे जीवितेश उठो, उठो, यह नींद कैसी घोर है!
है क्या तुम्हारे योग्य, यह तो भूमिसेज कठोर है।
रख शीश मेरे अंक में जो लेटते थे प्रीति से,
यह लेटना अति भिन्न है, उस लेटने की रीति से॥[2]

उत्तरा का विलाप परम्परागत 'करुण विरह' है जिसकी पूर्व कड़ी कालिदास के 'कुमारसम्भव' की रति के विलाप में और 'स्वयंभू रामायण' की मन्दोदरी के विलाप में मिल सकती है।[3]

(४) द्वापर—'द्वापर' में कृष्ण के जीवन से सम्बन्धित व्यक्तियों के आत्मकथन के रूप में, कवि ने, कृष्ण के जीवन की झाँकी प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। आज तक कृष्णकाव्य में कुब्जा एक तिरस्कृत नारी के रूप में ही रही है। वह कंस की दासी है, कृष्ण ने उसे अपनाया है और उद्धव प्रसंग में गोपियां उसका उपहास करती हैं। किन्तु मैथिलीशरण गुप्त के भावुक हृदय ने उसके हृदय को भी टटोला है, उसके मर्म को भी पहचानने का प्रयत्न किया है।

'द्वापर' की कुब्जा का 'पूर्वराग' वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक है। कृष्ण से प्रथम भेंट के पश्चात् जब कुब्जा का कायाकल्प हुआ तब उसके युवक हृदय में कृष्ण से मिलने की अभिलाषा का जन्म हुआ। पहले दासी के व्यवहार के अनुकूल ही वह सोचने लगी कि 'मैं दासी हूँ यदि कृष्ण से मिलने स्वयं चली जाऊं तो बाधा ही क्या है?'—

---

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—जयद्रथ वध पृष्ठ २४
२ वही, पृष्ठ २८
३ संस्कृत और अपभ्रंश सम्बन्धी काव्यों के विरह विवेचन में कालिदास और स्वयंभू की विरह भावना

आने को न आप कहता तो
कुब्जा क्या राधा थी,
मैं तो चेरी थी, जान में
मुझे कौन बाधा थी?
किन्तु आज आकुल हूं वन में
जैसी वह व्रजरानी,
दासी ने घर बैठ उसकी
मर्म वेदना जानी ॥[1]

फिर सोचती है कि यदि वह राधा की दूती होती तो कितना अच्छा था, कम से कम उनके सन्देश के मिस ही कृष्ण से मिलन सम्भव हो जाता।

होती हाय! आज कुब्जा ही
यदि राधा की दूती,
जाकर शरण इसी मिस से तो वे
अरुण चरण तो छूती ॥[2]

कुब्जा के अन्तर्द्वन्द्व का कवि ने सुन्दर वर्णन किया है। उसके मन में कृष्ण से मिलने की अदम्य अभिलाषा है। किन्तु साथ ही उसे अनुभव होता है कि कायाकल्प के साथ उसका मन कल्प भी हो गया है, दासी के शील का निर्वाह वह नहीं कर पा रही। वह कृष्ण के पास जाना चाहकर भी नहीं जा सकती—

कल्प हुआ यह जिस काया का,
इसे कहां ले जाऊं?
आवें वही, उसे अर्पण कर
परित्राण मैं पाऊं।
दे न गया वह यह शरीर ही
हाय! शील भी ऐसा,
करते बनता, नहीं, चाहती
हूं मैं करना जैसा ॥[3]

कृष्ण को गारुडी रूप मानकर वह कूबड़ का सर्प समझती है। वह सर्प उसकी पीठ में कुण्डली मारे बैठा था कृष्ण ने ही त्राण कराया, किन्तु अब विरह रूपी बिच्छू से कौन रक्षा करे?[4]

---

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—द्वापर, पृष्ठ १४४

कूबड न था, कुण्डली पकडे—
जकडे मुझे पडा था,
तूने कौन मन्त्र फूका, वह
उठ हट दूर खडा था।
किन्तु विरह वृश्चिक ने आकर
अब यह मुझको घेरा,
गुणी गारुडिक, दूर खडा तू
कौतुक देख न मेरा॥[1]

कुब्जा के आत्म चिन्तन मे सप और बिच्छू का यह रूपक कुछ बच्चा का खेल-सा लगता है।

मन के अन्तर्द्वन्द्व पर विजय प्राप्त करती हुई कुब्जा निश्चय करती है कि यदि कृष्ण उससे मिलने नही आएगे तो भी वह स्वय चली जाएगी। यही तो है, कृष्ण कहगे कि उसका आचरण दासी जसा है तो वह कह देगी, 'हा मैं आपकी दासी ही हूँ—

यही कहेगा न तू—'अधीरे,
निकली तू चेरी ही।'
हाँ हाँ, मैं चेरी, मैं चेरी,
तेरी ही, तेरी ही।[2]

रात्रि मे उसे नीद भी नही आती। मन म कृष्ण को बसाकर वह सन्तुष्ट नही है, उसे सशरीर मिलन चाहिए। दिवस रात्रि के पख लगाकर कल्पना म वह आत्मविस्मृत हो जाना चाहती है, कृष्ण से पूण तन्मय—

अहोरात्र के पख लगाकर
सुध-सी उडती हूँ मैं,
तुझसे मिलने को अपने से
आप बिछुडती हूँ मैं।[3]

वह उनसे मिलन को अत्यन्त आकुल है—

तेरी व्यथा बिना सुन, मेरी
कथा न पूरी होगी,
तू चाहे जिसका योगी हो,
मेरा क्षणिक वियोगी॥[4]

आज के कवि का ध्यान केवल राजा रानी की कहानियो से हटकर साधारण जन

---

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—द्वापर, पृष्ठ १५०
२ वही, पृष्ठ १५०
३ वही, पृष्ठ १५२
४ वही, पृष्ठ १५२

की ओर भी गया है। इसी से कुब्जा सी तिरस्कृता दासी का विरह व्यथा गुप्तजी की लेखनी म आकर अमर हो गई। प्रेम और विरह का कोमल तन्तु केवल धनिका क हृदय का शासन ही नहीं करता निधना के हृदय म भी धडक्ता है। यह आज के कवि ने पहचाना है। हिन्दी म यह केवल आधुनिक युग की विशेषता है। भक्तिकाल म यदि सन्ता व भक्ता म उसका स्थिति कही जाय तो सत कोई साधारण जन नहीं थ। मथिलीशरण गुप्त की कुब्जा भक्त नहा है वह नारी है, शुद्ध नारी ही, जो प्रणय-याचना क लिए तडपती है।

इसके अतिरिक्त वृन्दावन के वन म एकान्त घूमती हुई राधा के 'प्रलाप' के रूप म मथिलीशरण गुप्त न उनकी वदना भी द्वापर म व्यक्त की है। मथिलीशरण गुप्त की राधा (द्वापर म) कोई अति मानवीया नारी नहीं है, न उन्होंने अपनी व्यथा का उन्नयन देश-सेवा अथवा जन सेवा म किया है। वह एकान्तिक प्रमिका है। उसन जीवन म विश्वासघात पाया है, इस तथ्य को वह भली भाति जानती है फिर भी अपने हृदय से प्रम का त्याग नहीं कर पाती।

कृष्ण की मधुप वत्ति को ललकारती हुई राधा कहती है—

मरे तप्त प्रेम से तेरी
बुझ न सकेगी क्षुधा हरे।
निज पथ अरे चला जाना तू
अल मुझे सुधि सुधा हरे॥[1]

कृष्ण के चचल प्रेम का यह चुनौती प्रथम बार द्वापर की राधा से मिलती है। भक्तिकाल म तो राधा के लिए यह सोचना ही पाप था। (यद्यपि गोपिया उपालम्भ म कृष्ण का मधुप कहती है) रीतिकाल की राधा भी धम के आतक को न भूल सकी। आधुनिक युग म भी राधा न कई तरह से अपना मन बहलाना चाहा—सेवाव्रत अपना कर (प्रियप्रवास) अथवा स्थितप्रज्ञ होकर कृष्ण के बालरूप की झाँकी से गोकुलवासियो का मन बहला बहलाकर (कृष्णायन)। किन्तु मथिलीशरण गुप्त के द्वापर म राधा, द्वापर युग की सिकुडी सिमटी अपना लज्जा और पीडा को मौन से बचाती हुई नारी न रह सकी। वह आधुनिक युग का सजग आहत नारी बन गई।

उसने स्पष्ट रूप स कृष्ण का चुनौती देते हुए कहा कि मेरे और तुम्हार प्रम की वृत्ति म ही मूल रूप स अन्तर है। मैं तप्त प्रेम म विश्वास करती हूँ और तुम अनेक के पीछे दौडते म। मैं तुम्हार पीछ फिर भी पागल हूँ इसका कारण यह नहीं है कि तुम बहुत महान् हो बल्कि यह है कि मैं अपना वत्ति स विवश हूँ। इसीलिए मुख से भी कुछ नहीं कहती हूँ—

कसे तुष्ट करोगी तुमको,
नहीं राधिका वृथा हरे।

---

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—द्वापर, पृष्ठ १२

पर कुछ भी हो नही कहेगी
तरी मुग्धा मुग्धा हरे।[1]

ऐकान्तिक एकपक्षीय प्रेमी विश्वासघात पाने पर यह विश्वास नही करना चाहता कि उस छला गया है, कल्पना क ग्रादश म ही वह ग्रपन प्रेम को सजोये रखना चाहता है, यही दशा राधा की है—

सब सह लूगी—रो रोकर मैं,
देना मुझे न बोध हरे।
इतनी ही विनती है तुमसे,
इतना ही ग्रनुरोध हरे ॥[2]

कटु सत्य कहने के लिए वह कृष्ण से क्षमा मागती है साथ ही कहती है कि इस सत्य के लिए उन्ह उस पर क्रोध नही करना चाहिए। हा, यदि वह उन्ह भूल जाय तो ग्रवश्य दण्ड के योग्य हो जाएगी—

क्या मानापमान करती हूँ
कर ना बठना क्रोध हरे।
भूले तेरा ध्यान राधिका,
तो लना तू शोध हर ॥[3]

यह भी मन की विषम स्थिति ही है कि ग्राहत प्रेमी ग्राघात पाने पर भी ग्राघात कर्ता की कृपा की ग्राकाक्षा करता है।

मौन राधा मथिलीशरण गुप्त के द्वापर म मुखर हो गई हैं। कवि ने उन्ह ग्रतिमानवीय रूप नही दिया, उनकी मनास्थिति के विश्लेषण का प्रयत्न किया है। ग्रत्यन्त सक्षिप्त होने पर भी यह प्रयत्न ग्रत्यन्त प्रशसनीय है, स्वाभाविक तथा मार्मिक भी।

(५) जयभारत—मथिलीशरण के 'जयभारत' म विधुर शान्तनु ग्रौर मत्स्यराज की कन्या योजनगन्धा की प्रणय गाथा वर्णित है। विधुर शान्तनु गगा के विरह म पीडित यमुना के तट पर घूम रहे थे वहा उनकी भेंट सत्यवती से हुई। भेंट के पश्चात् कवि शान्तनु म ग्रन्तद्वन्द्व व पूवराग के विरह की पीडा दिखा सकता था किन्तु उसने एसा नही किया। प्रथम परिचय म ही राजा के कामुक हृदय न विवाह का प्रस्ताव मत्स्य कन्या के सम्मुख रख दिया—

बालो नत मुख से ही बोलो, ग्रधिक नही बस हाँ भर दो,
विरह विरस ग्रपने राजा को फिर से हरा भरा कर दो ॥[4]

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—द्वापर पृष्ठ १२
२ वही, पृष्ठ १३
३ वही, पृष्ठ १३
४ वही, जयभारत, सा योजनगन्धा, पृष्ठ २३

उनके आकर्षण के चेष्टा रूप में परिवर्तित होने का संकेत भी कवि ने किया है।

अस्तु रात होने को है अब, चलो तुम्हें पहुँचा आऊँ।
असमय ठौर कुठौर अकेली छोड़ स्वयं कैसे जाऊँ?[1]

राजा के भेजे हुए अमात्य से जब धीवर ने अपने दौहित्र के राज्याधिकारी होने का प्रस्ताव रखा तो वह अत्यन्त क्रोधित होकर लौट गया। धीवर भी अपनी कन्या को केवल राजभोगिनी नहीं बनाना चाहता था। उसको 'भार्या पद' प्रिय था और इसीलिए उसका यह हठ था। अमात्य के जाने के पश्चात् वह सोचने लगा—

भूप भोगिनी भिक्षुक की भी भार्या को पा सकी कहीं?[2]

उधर अमात्य ने धीवर का मन्तव्य जब राजा को सुनाया तो वह हताश हो गए—

सुनकर मन्त्री से सब बातें शान्तनु ने ली लम्बी सांस,
फिर कुरहाते-से बोले वे गड़ी हृदय में मानो गाँस।
राजनीति का घात नहीं, यह है सीधी सामाजिक बात,
मेरा जो हो पाय न मेरी प्रजा हाय! बाधा व्याघात।
धीवर को अधिकार, करे वह किसी पात्र को कन्यादान,
राज्य करे देवव्रत मेरा मरूँ भले मैं अगति समान॥[3]

कवि ने राजा शान्तनु के चरित्र की रक्षा करने का काफी प्रयत्न किया है किन्तु फिर भी वह उनकी दुर्बलता का उपचार नहीं खोज सका है। 'मरूँ भले मैं अगति समान' में राजा के हृदय की घोर निराशा की सूचना मिलती है। देवव्रत ने धीवर राज से जब राज्य को त्यागने और आजन्म विवाह न करने की प्रतिज्ञा की तो धीवर राजी हो गया, तब भी शान्तनु उस विवाह का विरोध न कर सके। मैथिलीशरण तब भी शान्तनु की चारित्रिक दृढ़ता की रक्षा का प्रयत्न करते रहे। योजनगन्धा के घर आने पर उन्होंने कहा—

शान्ति गई शान्तनु की यद्यपि योजनगन्धा घर आई
कह रो पड़े—पुत्र बलि देकर मैंने नव पत्नी पाई॥[4]

शान्तनु का यह आत्म पश्चात्ताप हास्यास्पद सा प्रतीत होता है। यदि वह चाहते तो देवव्रत से विवाह का विरोध कर सकते थे किन्तु वश करने की शक्ति उनमें नहीं थी। उनका कामुक मन योजनगन्धा के सौन्दर्य का दास बन गया था, उसी से वह अत्यन्त संतप्त थे। सत्यवती पर रीझकर भी वह उसके पुत्र को राज्याधिकारी इसलिए नियुक्त नहीं कर सकते थे क्योंकि प्रजा राजकुमार के साथ थी। अतः स्वयं देवव्रत ने ही पिता के

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—जयभारत, पृष्ठ २४
२ वही, पृष्ठ २५
३ वही, पृष्ठ २५
४ वही, पृष्ठ २६

दुख का कारण जानकर भीष्म प्रतिज्ञा कर ली।

वृद्ध शान्तनु के सत्यवती के प्रति पूर्वाकर्षण के वर्णन का अवकाश मिलने पर भी मैथिलीशरण उसके वर्णन का साहस न कर सके। उनके नीतिप्रिय मन को जैसे वह अच्छा नहीं लगा। परम्परागत कथा में परिवर्तन होना बहुत कठिन था अत शान्तनु के मन सन्ताप के रूप में कवि ने उसे नीति संगत बनाने का प्रयत्न किया है। उनके पूर्वराग का न तो विस्तृत वर्णन है न उसमें कोई विशेषता ही।

(६) शकुन्तला—मैथिलीशरण गुप्त ने कालिदास के अभिज्ञान शाकुन्तलम् का हिन्दी में काव्य रूपान्तर किया। शकुन्तला को कालिदास की कृति का अनुवाद कहा जाता है किन्तु अनेक स्थलों पर गुप्तजी ने कालिदास की कल्पना को भी अधिक परिष्कृत करने का सफल प्रयत्न किया है। यहाँ 'शकुन्तला' के विरह का पूर्ण विवरण न देकर उन स्थलों की मौलिकता का संक्षिप्त अध्ययन ही उद्देश्य है।

प्रोषितपतिका शकुन्तला के दुर्वासा शाप प्रसंग में कवि ने नवीन कल्पनाओं का संयोजन करके उसे अधिक मार्मिक बना दिया है। प्रोषितपतिका शकुन्तला की दशा का वर्णन कवि इस प्रकार करता है—

भोली सूरत थी रसार्द्र उसकी प्रेमाम्बु की वृष्टि में,
हो ली सुन्दर रूप की चरम थी सीमा सभी सृष्टि में।
ये स्वाभाविक भव्य भाव उसके, है अन्य की क्या कथा?
बैठी है म्लस्त वसन्त के विरह में ज्यों वन्य देवी यथा॥[1]

वनदेवी के वसन्त के विरह में श्रीहीन होने की उपमा शकुन्तला से करना अत्यन्त सुन्दर है, कालिदास के 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में यह उपमा नहीं मिलती।

दुर्वासा शाप प्रसंग में, शकुन्तला की तन्मयता के विषय में एक श्लोक देकर कालिदास ने दुर्वासा से उसे शाप दिलवा दिया है। 'शकुन्तला' में गुप्तजी ने यह प्रसंग कुछ अधिक विस्तृत करके शकुन्तला की मनोस्थिति को और भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है। प्रकृति और मानव के बीच एक सहानुभूतिपूर्ण सौहार्द्र की अनुभूति [illegible] मार्मिक कर देती है। शकुन्तला से दुर्वासा के आगमन की ओर ध्यान [illegible] पवन उसका ध्यान उस ओर आकर्षित करने का [illegible]

आया जान उन्हें, उस पवन भी [illegible]
खींचा वस्त्र अनेक बार उसने, [illegible]
थी प्यारे पति के समीप [illegible]
तद्वा निश्चल प्रेम की [illegible][2]

---

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—[illegible]
२ वही, पृष्ठ २१

शकुन्तला म ये सयोजनाए करके गुप्तजी न प्रमाणित किया है कि लब्ध प्रतिष्ठ कवियो की रचनाओ के अनुवाद मे भी विषय को अधिक मार्मिक बनाने का अवकाश रहता है, यदि अनुवादक स्वय का विषय की परिस्थिति म डुबा दे। 'शकुन्तला' का विरह वर्णन सक्षिप्त होते हुए भी बहुत सुन्दर है।

(७) विष्णुप्रिया—देवी उर्मिला और यशोधरा की अश्रुसिक्त विवश पीडा की ओर दृष्टिपात करने के पश्चात् मथिलीशरण गुप्त की करुणाद्र दृष्टि ने बगाल के सुप्रसिद्ध वष्णव भक्त चतन्यदेव की पत्नी देवी विष्णुप्रिया की एकाकिनी व्यथा को सिसकते पाया और अपनी लेखनी से उसे अमर कर दिया।

विष्णुप्रिया कुलीन ब्राह्मण कुल की कन्या थी। विवाह पूव भी गौरहरि अर्थात चतन्यदेव के प्रति उसके मन म अनन्य श्रद्धा थी, उसकी इस भावना को एक सखी के प्रति वार्तालाप म मथिलीशरणजी ने सकेत रूप स व्यक्त किया है। सखी से विष्णुप्रिया कहती है—

हाय सखि तूने यह क्या कर दिया अभी,
कसी एक हूक सी उठा दी इस उर म
उठती रहे न यह जन्म भर ऐसी ही[1]

चतन्य से विवाह के पश्चात विष्णुप्रिया स्वय को धन्यभाग मानने लगी। वह प्राणपण से सास की सेवा करती और गृहस्थी की देखभाल किया करती थी। निमाई (चतन्यदेव) पितरो को पिण्डदान करने के लिए 'गया' गए और वहीं से वष्णव धम म दीक्षित होकर सन्यास लेने की आकाक्षा मन म लिए घर को लौटे।

घर लौटने पर उनकी दशा उद्भ्रान्त विक्षिप्तो की सी ही हो रही थी। कृष्ण के प्रेम न उन्ह पागल बना दिया था। माता को अपना मन्तव्य सुनाने के पश्चात् पत्नी की आज्ञा प्राप्त करना भी उन्होने उचित समझा। विष्णुप्रिया निमाई' के गृह-त्याग के इस निर्णय के लिए तनिक भी प्रस्तुत न थी। इस स्थल पर उसके हृदय म उठते हुए अनेक भावो के द्वन्द्व का बडा सुन्दर व्यक्तीकरण हुआ है। प्रिय के भावी वियोग की आशका से उद्विग्न, भ्रात और स्तब्ध विष्णुप्रिया के अनुभावो की अभिव्यक्ति मथिलीशरणजी इस प्रकार करते हैं—

विष्णुप्रिया स्तब्ध हुई सुनकर पहले।
भ्रात-सी उन्ही की ओर कुछ क्षण देखा की।
कापी फिर और गिरी धरा पर उनके,
निगड लता सी गति रोध कर लिपटी।
रोई वह किन्तु बोल पाई नहीं कुछ भी,
आँसू वह निकले वचन नहीं निकले।[2]

१ श्री मथिलीशरण गुप्त—विष्णुप्रिया पृष्ठ १७
२ वही पृष्ठ ४०

'उद्धेरे' की वपु और मधु दशाओं की मार्मिक अभिव्यंजना यहाँ हुई है।

विष्णुप्रिया में स्वकीया भाव का बहुत अभिमान है। स्वकीया भाव पर गर्व करती हुई वह निमाई को भर्त्सना देती हुई-सी कहती है—

इन्द्र इन्द्राणी को त्यों कृष्ण वर रानी को
सदा रखते हैं, व भजा नहीं तुमसे।
छल सकते हैं दूर कृष्ण भोली राधा का
किन्तु रुक्मिणी को एक बार छल दूँ वे
गाठ वह खोल नहीं सकता विधाता भी।
वेदी के समक्ष, साक्षी कर सब देवों को,
ग्रहण किया था यह पाणि क्या इसीलिए?
कौन योग पूर्ण होगा त्याग कर मुझको?
धर्म के विरुद्ध ही तुम्हारा यह कर्म है।[1]

किन्तु यह भर्त्सना क्षणिक, दुर्बल और विद्रोह मात्र थी। दूसरे क्षण ही उसका स्वाभाविक दैन्य प्रमुख हो उठा—

किसके शरण जाऊँ आज मैं अभागिन?
मेरे प्राण माग लो, प्रयाण ही न मांगो यों।[2]

अतः य विष्णुप्रिया को अनेक भांति समझाते रहे। उस रात वह घर में ठहर गए। विष्णुप्रिया समझी कि वह नहीं जाएँगे किन्तु उसे रात को अकेला सोता छोड़कर वह चले गए। निमाई के जाने के पश्चात् जब वह दुःस्वप्न देखकर अचानक जागी तो उनको न पाकर विलाप करने लगी—

हाय! मैं छली गई हूँ,छिपकर भागे वे,
जाग कर आप यहाँ मुझको सुला गए

जानती थी, वंचक न होंगे, विदा लेंगे वे,
पूजकर उनको विसर्जित करूँगी मैं।[3]

विष्णुप्रिया का उपर्युक्त वक्तव्य 'यशोधरा' के 'सखि वह मुझसे कहकर जा...' की फीकी प्रतिध्वनि मात्र सा लगता है। उसमें वह प्रबल आक्रोश नहीं है जो यशोधरा में था।

वस्तुतः वंचना करके जाने का दोष निमाई पर व्यर्थ ही लगाया गया है। उन्होंने जाने की आज्ञा विष्णुप्रिया से मांगी थी और उसकी दुर्बलता को भी देख लिया था। पाठ...

---

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—विष्णुप्रिया, पृष्ठ ४२
२ वही, पृष्ठ ४३
३८ वही, पृष्ठ ४७

का भी सहसा यह विश्वास नहीं होता कि विष्णुप्रिया सचमुच निमाई को पूजकर विसर्जित कर सकती थी।

वह निमाई के वैराग्य पर व्यंग्य करती है—

अबला के भय से भाग गए,
वे उससे भी निबल निकले,
नारी निकले तो असती है
नर यती कहा कर चल निकले।[1]

यशोधरा ने वात्सल्य के अवलम्ब से विरह के दिन काट लिए थे, विष्णुप्रिया को सहारा भी प्राप्त न था—

भरी गोद ही होती मेरी
तो रोते दिन सह लेती मैं
तिनके का भी कहाँ सहारा
जिसके बल पर बह लेती मैं
कौन यहाँ अब जिससे कुछ
अपने जी की कह लेती मैं
सुत पाती तो पति क्यों खोती
जैसे रहती रह लेती मैं।[2]

निराशा के किन्हीं क्षणों में वह अपनी परिस्थितियों की तुलना उर्मिला और यशोधरा से स्वयं भी करती है—

अयि उर्मिले, धैर्य रख मन में कट जावेगा काल,
भद्रे ऊँचा हुआ और भी भव में तेरा भाल।
यशोधरा, रख तू सँभालकर राहुल-सा निज लाल,
उसे माँगने को आवेंगे तेरे बुद्ध विशाल।
पर यह विष्णुप्रिया करे क्या लेकर शून्य कपाल?
कापालिक थोड़े हैं उसके प्राणों के प्रतिपाल।[3]

सबकी सहज सहानुभूति के अवलम्ब पर वह विरह के दिन काट रही थी—

सबकी सहज सहानुभूति है,
इतना ही आधार है।
व्यथित हो रहा मेरे कारण
सारा स्त्री संसार है।

---

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—विष्णुप्रिया, पृष्ठ ४७
२ वही, पृष्ठ ५०
३ वही, पृष्ठ ७६

कहता है, 'नारी पर नर का
कितना अत्याचार है ।'[1]

'स्वप्न' में प्रिय से मिलन की कामना विष्णुप्रिया करती है किन्तु निद्रा के अभाव में वह भी दुर्लभ हो जाता है। अभागिनी विष्णुप्रिया नींद को उलाहना देती है—

हा विश्वासघातिनी निद्रा !
मैं जब नहीं चाहती थी तब आई स्वप्न सछिद्रा ।
अब तू क्या इतना इतराती,
नहीं मनाने पर भी आती
कहीं स्वप्न भी उनका पाती
मैं दुखिनी दरिद्रा ।[2]

वियोग में 'मरण दशा' की अभिव्यक्ति विष्णुप्रिया की कामना के रूप में इस तरह व्यक्त हुई है—

स्वामी त्याग गए हैं गेह,
प्रस्तुत हूँ मैं, तज दूँ देह।

और

क्या मरना भी अपने अधीन।
जीवन मेरे दयनीय दीन।
पी रहा तिमिर-फणि प्राण वायु,
तनु बन्धन से तन रह स्नायु।
× × ×
जाने क्या अब भी शेष आयु,
जल है तप से भी आज हीन
जीवन मेरे दयनीय दीन ।[3]

षट् ऋतु वर्णन तो वह 'पर्वोत्सवों' के मिस करती है। यह सुन्दर ऋतु पर्व विष्णुप्रिया के दुख को उद्दीप्त ही करते हैं—

आया अब ऋतुराज, फूल
फूले हैं वन उपवन में,
मारी कोयल ने कूक, प्रेम की
हूक उठी जन-जन में।

---

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—विष्णुप्रिया, पृष्ठ ५८
२ वही, पृष्ठ ५४
३ वही, पृष्ठ ५६, ६०

बौर मधूक सहकार क्या न,
अब आ पहुची है होली,
उड गया किन्तु वह रग राग ही
शेष रहा इस मन म।[1]

'विष्णुप्रिया' म कुछ स्थल अत्यन्त विचित्र हैं। प्रताप रुद्र राजा के भेजे हुए वस्त्राभूषण, चतन्य, विष्णुप्रिया के पास क्यो भेजते है ? यह बात समझ म नही आती। हाँ इस स्थिति की योजना से अभागिनी विष्णुप्रिया की विवश दशा का व्यग्य भरा उपहास अवश्य स्पष्ट हो जाता है। उसके अपने शब्दो म—

टूट पडेगा मेरा छज्जा।
बहू क्या उसके ऊपर मैं बनकर वासक सज्जा ?
भेजा प्रिय ने वस्त्र विलक्षण,
जिसम जडे अग्नि के से कण।
धारण कर क्या उसे उसी क्षण
खोऊँ उलटी लज्जा।
टूट पडेगा मेरा छज्जा।[2]

'यशोधरा' का सा स्वाभिमान विष्णुप्रिया मे नही है। वह अत्यन्त दीन और भोली है। निमाई (चतन्य) समीप ही शान्तिपुर म ठहरे हुए हैं। यह सुनकर वह तत्क्षण ही उनसे मिलने जाने के लिए तत्पर हो जाती है—

हो गई शची माँ खडी जस वह बठी थी
पीछे चली विष्णुप्रिया नीचे को निहारती।

किन्तु जब नित्यानन्द से उसने सुना—

'कहूँ कसे मैं,
रोका है उन्हान माँ, बहू को साथ लाने स।'

तो जसे उस बचारी पर वज्र टूट पडा—

'अम्बा ! बहू जस उठी बठ गई वसे ही।'[3]

इस स्थल पर 'शची माँ' का वक्तव्य अत्यन्त मार्मिक है। बहू की मर्यादा की रक्षा करती हुई वह अपनी ममता की माँग को भी कुचल देती है—

'लौट जा निमाई, तब मैं भी नहीं जाऊँगी।
यह नही उसकी तो मैं भी वह, कौन हूँ ?
अब अधिकार इसे रोकने का क्या उसे ?
देखू मुख मैं ही तब क्यो उस कृतघ्न का।'

---

१ मैथिलीशरण गुप्त—विष्णुप्रिया, पृष्ठ ६१
२ वही, पृष्ठ ७८
वही, पृष्ठ ६१

किन्तु विष्णुप्रिया तब भी कहती है—

'जो कुछ उन्होंने कहा ठीक ही कहा मा
मेरा वहा जाना अब होगा अनुचित ही।'[1]

विरह की अनन्त अवधि को विष्णुप्रिया सास की सेवा मे बिताती है। वह रानी नही थी कि उसके खाने-पीने का प्रबन्ध घर बठे हो जाता। मध्यवर्ग के परिवार की जीविका की समस्या का हल करने का प्रयत्न-सा करती हुइ विष्णुप्रिया सास से कहती है—

किन्तु मा ही बठकर क्से हम खाएँगी ?
कात कर सूत निज लाज अब रक्खेंगी।'[2]

सूत कातकर जीविका चलाना उसके चरित्र के रचयिता की गाधीवादी विचार-धारा का अभिलषित करता है। समस्या का यह समाधान सवथा आधुनिक-सा प्रतीत होता है।

निमाई के अपने पुर म आने का समाचार सुनकर विष्णुप्रिया का उनसे मिलन न जाने का निणय यशोधरा की फीकी नकल सी लगती है। वसा मान और दन्ता उसम नही है। सखि न जब कहा—

लज्जा दूसरो स रहे, क्या सकोच उनसे ?

तब वह कहती है—

उनको हुआ या तो मुझे भी वह क्या न हो ?
छिपकर ही तो सखि, व गये थ मुझसे।

न मिलने म एक सकोच और भी है—

राहुल को भेंट दी थी गौतम को गोपा ने
'मैं उन्हे क्या दूगी भला ?' 'तून तो
प्रथम ही सब कुछ दे दिया है छोडा नही कुछ भी।[3]

एक ओर यशोधरा है जो कहती है—

बाधा तो यही है मुझे बाधा नहीं कोई भी।

और—

रे मन आज परीक्षा तेरी।

दूसरी ओर विष्णुप्रिया है जो—

देव अभी द्वार पर पहुँच न पाये थ,
आगे बढ विष्णुप्रिया परो पडी उनके।'[4]

---

१ श्री मैथिलीशरण गुप्ता—विष्णुप्रिया, पृष्ठ ६१
२ वही, पृष्ठ ६५
३ वही, पृष्ठ १११
४ वही, पृष्ठ ११६

चैतन्य ने अत्यन्त कृशता के कारण उसे पहचाना भी नहीं किन्तु इससे विष्णुप्रिया ने स्वयं को तिरस्कृत अनुभव नहीं किया। कवि के शब्दों में, चैतन्य ने जब उससे पूछा—

बोले—तुम कौन हो ? उठी वह तुरत ही
क्षुब्ध फणिनी सी नहीं, आकुल हिलोर सी।[1]

उसकी यह प्रतिक्रिया उसके स्वभावगत दैन्य को ही दिग्दर्शित करती है। चैतन्य उससे ईश्वर भजन में समय-यापन की जब बात कहते हैं तो उसके हृदय की मर्यादा का बाँध टूट पड़ता है। चैतन्य के रहते हुए वह अन्य पुरुष कृष्ण का ध्यान कैसे करे—

देते नहीं करने कृपण तुम वह भी।
आ आकर बीच में स्वयं ही बैठ जाते हो।[2]

चैतन्य से उनकी खड़ाऊँ पाकर वह अनन्य भक्त की भाँति ही तृप्त हो जाती है। किन्तु दाम्पत्य भाव से युक्त स्वकीया की कसक अभी भी शेष रहती है—

अब यहाँ न होगी भेंट,
वहाँ भी होगी, इसका क्या पता
क्या वह पुण्य पायेगी यह हता,
व्यवधान सके जो मेट ?[3]

यशोधरा ने 'संघं शरणं गच्छामि, बुद्धं शरणं गच्छामि' कहकर प्रिय से तदाकार होने का भाव पा लिया था। किन्तु विष्णुप्रिया को लगता रहा कि उसके स्वामी के चरण इतने ऊपर उठ गए हैं जहाँ उसके साथ का पहुँचना असम्भव है। उसने अपनी आशा को अन्य जन्म की बाट जोहने में तल्लीन कर दिया—

नहीं पहुँचता मेरा साथ,
इतने ऊँचे उठे तुम्हारे
चरण अचानक नाथ।
उनका नीचे पड़ना भी क्या
सहूँ स्वार्थ के साथ ?
रही हमारी आशा अब तो
अन्य जन्म के हाथ।

चैतन्य जब प्रभु मूर्ति में तल्लीन हो गए तो उसके धैर्य का बाँध टूट गया। वह मृत्यु की कामना करने लगी किन्तु स्वप्न में चैतन्य ने उसे उपदेश दिया—

---

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—विष्णुप्रिया, पृष्ठ ११७
२ वही, पृष्ठ ११७
३ वही, पृष्ठ ११६
४ वही, पृष्ठ ११६

आयु शेप रहते मरण आत्मघात है
स्थूल रूप से ही यदि चाहो तुम मुभको
मरी एक मूर्ति रक्खा निज गह कक्ष म[1]

उनके आदेशानुसार विष्णुप्रिया ने घर म एक मन्दिर बनवाकर प्रिय की मूर्ति उसम स्थापित की। जीवन पर्यन्त वह उसीकी सेवा म दिन व्यतीत करती रही।

विष्णुप्रिया का विरह निरवधि 'करुण विरह' है। वह यशोधरा की सी दृढ़ स्वभाव मानिनी नही है। उसके क्षणिक मान के क्षणों का पर्यवसान भी दैन्य म ही होता है। उर्मिला की भाँति उसका विछोह भी यौवन के प्रभात म ही हो गया था किन्तु असह्य व्यथा झेलते हुए भी वह उन्मादी नही हुई न उसने अपना तमाशा बनाया और न अपने भाग्य का क्षोप किसी और के माथ मढ़ा। अत्यन्त सयत, मर्यादित भाव से वह परिवार के प्रति सब कर्तव्यों को पूरा करती रही। यद्यपि चैतन्य को उसने अन्त म कृष्ण रूप मान लिया था राग का उन्नयन भक्ति म होता हुआ सा प्रतीत होता है किन्तु कौन जाने हृदय के किसी निभृत कोने म चैतन्य से मिलन की आशा लिये हुए ही वह जीवन की दूभर घड़िया व्यतीत कर रही हो।

जयशंकरप्रसाद

कामायनी—कामायनी म विरह की दो परिस्थितिया मिलती है, एक तो मनु और श्रद्धा के युग्म जीवन से पूर्व के प्रणय के रूप म और दूसरी, अहंभाव से पूर्ण मनु के श्रद्धा से सम्बन्ध विच्छेद के प्रसग म।

प्रथम रूपदर्शन से उत्पन्न पूर्वराग की स्थिति है किन्तु मनु और श्रद्धा का यह पूर्वप्रणय हिन्दी काव्य के लिए एकदम नई चीज़ है। प्रसाद ने रूढ़ि का पालन नही किया है। पूर्वराग के प्रसंगों म पहले गुण श्रवण अथवा रूप दर्शन से प्रेमी पक्ष नायक अथवा नायिका अनायास प्रेम पाने की ओर आकर्षित हो जाते थे और उसके लिए अभिलाषा करने लगते थे। उनकी वह अभिलाषा प्रारम्भ म रूप लाभ से अधिक कुछ नही कही जा सकती। यहाँ परिस्थिति भिन्न है।

मनु और श्रद्धा के पूर्वराग का प्रारम्भ उनमें से किसी एक के रूप-वर्णन से नही बल्कि श्रद्धा के कौतूहलमय प्रश्न से हुआ है। उस एकान्त प्रदेश म चिन्तित से बैठे हुए मनु से श्रद्धा प्रश्न करती है—

कौन तुम ? ससृति जलनिधि तीर
तरंगों से फेंकी मणि एक
कर रहे निर्जन का चुपचाप
प्रभा की धारा से अभिषेक ?

---

१ श्री मैथिलीशरण गुप्त—विष्णुप्रिया, पृष्ठ १३८

मधुर विश्रान्त और एकान्त
जगत का सुलझा हुआ रहस्य
एक करुणामय सुन्दर मौन
और चंचल मन का आलस्य।[1]

उस महाप्रलय के भीषण विप्लव में भाग्य से जीवित श्रद्धा ने जब अपने ही जैसे एक और व्यक्ति को भी पाया होगा तो उसके उल्लास की सीमा क्या होगी इसकी कल्पना ही की जा सकती है। वह व्यक्ति भी अपूर्व दीप्तिमान था अतः श्रद्धा सहज ही उसकी ओर आकर्षित हो गई। उसकी यह उक्ति कितनी सहज और निर्व्याज है—

और चंचल मनका आलस्य
मेरा मन तुम्हें देखकर अलसाने लगा है।

यहाँ प्रश्न में भाव का संकोच नहीं है हृदय की सरल अभिव्यक्ति है। इस सरल प्रश्न से मनु, लुटे से, प्रश्नकर्ता को किंकर्तव्य विमूढ़ से देखते ही रह गए।

एक झटका सा लगा सहर्ष
निरखने लगे लुटे से, कौन—
गा रहा यह सुन्दर संगीत?
कुतूहल रह न सका फिर मौन।[2]

वह सौन्दर्य जिसे मनु देख रहे थे, अनुपम था। श्रद्धा के सौन्दर्य वर्णन में विशेषता यह है कि वह ऐन्द्रिय न होकर भावमय है—

हृदय की अनुकृति बाह्य उदार
एक लम्बी काया उन्मुक्त,
मधु पवन क्रीडित ज्यों शिशु साल
सुशोभित हो सौरभ संयुक्त।[3]

हृदय की उदारता और सरलता व शिशु का सा भोलापन जो श्रद्धा के स्वभाव की विभूति थी वह सब उसके इस रूप वर्णन में प्राप्त है।

उसके स्थूल अंग-वर्णन में भी अभूतपूर्व उपमानों की संयोजना से एक नवीन चमत्कार आ गया है जिससे हम उसे अपने चर्म चक्षुओं से न देखकर भाव चक्षुओं से देखने लगते हैं—

नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अधखुला अंग,
खिला हो ज्यों बिजली का फूल
मेघ वन बीच गुलाबी रंग।[4]

---

१ श्री जयशंकरप्रसाद—कामायनी, श्रद्धा सर्ग, पृष्ठ ४५
२ वही, पृष्ठ ४५
३ ४ वही पृष्ठ ४६

रूप का वह चित्र कवि के भाव प्रवाह मे पुन अतीन्द्रिय हो जाता है—

कुसुम कानन अचल म, मद
पवन प्रेरित सौरभ साकार
रचित परमाणु पराग शरीर
खडा हो ले मधु का आधार।
और पडती हो उस पर शुभ्र
नवल मधु राका मन की साध
हँसी का मद विह्वल प्रतिबिम्ब
मधुरिमा खेला सदश अबाध।[१]

प्रथम परिचय म वासना की अभिलाषा इन दोना म से किसी म भी उदभूत नही होती। उनम केवल अपना एक साथी मिलने की सुखद अनुभूति है जिसने उनके जीवन के एकाकीपन को तोड दिया। मनु श्रद्धा से पूछते है—

कौन हो तुम बसत के दूत
विरस पतझड म अति सुकुमार।
घन तिमिर म चपला की रेख
तपन म शीतल मद बयार।
नखत की आशा किरण समान
हृदय के कोमल कवि की कान्त—
कल्पना की लघु लहरी दिव्य
कर रही मानस हलचल शान्त।[२]

कामायनी का पूवराग अभूतपूर्व है। प्रणय भाव की हृदय पर धीरे धीरे विजय का इतना सुन्दर व स्वाभाविक दिग्दशन इसम पूव उपलब्ध नही होता। मनु और श्रद्धा का प्रेम Love at first sight प्रथम दशन म उत्पन्न 'अभिलाषा' नही है, सानिध्य से धीरे धीरे उत्पन्न हुई ममता है जो एक विशिष्ट सीमा पर पहुँचकर कोई बधन, कोई बाधा स्वीकार नही करती दूसरे पक्ष का सब कुछ अपना बना लेना चाहती है और अपना सब कुछ उसको अर्पित कर देना। उन दोनो के उस भाव की अभिव्यक्ति प्रसाद ने अत्यन्त सुन्दर ढग स की है—

चल पडे कब से हृदय दो पथिक स अश्रान्त,
यहाँ मिलन क लिए, जो भटकते थ भ्रान्त।
एक गृहपति, दूसरा था अतिथि विगत विकार
प्रश्न था यदि एक, तो उत्तर द्वितीय उदार॥

× × ×

१ श्री जयशकरप्रसाद—कामायनी, श्रद्धा सग, पृष्ठ ४८
२ वही, पृष्ठ ५०

नदी तट के क्षितिज मे नव जलद, सायकाल,
खेलता दो बिजलियों से मधुरिमा का जाल।
लड रहे अविरत युगल थे चेतना के पाश
एक सकता था न कोई दूसरे को फास॥
था समर्पण में ग्रहण का एक सुनिहित भाव,
थी प्रगति पर अड़ा रहता था सतत अटकाव॥
चल रहा था विजन पथ पर मधुर जीवन खेल,
दो अपरिचित से नियति अब चाहती थी मेल॥
नित्य परिचित हो रहे तब भी रहा कुछ शेष,
गूढ अन्तर का छिपा रहता रहस्य विशेष।
दूर जैसे सघन वन-पथ अन्त का आलोक,
सतत होता जा रहा हो नयन की गति रोक॥[1]

गूढ अन्तर में छिपे उस रहस्य को जब मनु के मन में काम और रति ने स्पष्ट कर दिया तब वह बाधा स्वयं ही हट गई। मनु कर्म के मार्ग में प्रवृत्त हुए और श्रद्धा को आत्मसमर्पण करना पड़ा।

मनु के श्रद्धा के प्रति कामनायुक्त युग्मभाव की अभिव्यक्ति प्रसाद ने उनके अत्यन्त सुन्दर शब्दों में इस भांति प्रस्तुत की है—

वासना की मधुर छाया! स्वास्थ्य बल विश्राम।
हृदय की सौन्दर्य प्रतिमा! कौन तुम छवि धाम।
कामना की किरन का जिसमें मिला हो ओज,
कौन हो तुम इसी भूले हृदय की चिर खोज।
कुन्द मन्दिर सी हसी ज्यों खुली सुषमा बाँट,
क्यों न वैसे ही खुला यह हृदय रुद्ध कपाट॥[1]

पुरुष के इतने समीप स्वयं को पाकर श्रद्धा ने प्रथम बार 'अभिलाष' से उत्पन्न नारी सुलभ लज्जा का अनुभव किया जो क्रमश विवशता में परिणत होकर समर्पण में तदाकार हो गई।

मनु ने जब कहा—

'मैं तुम्हारा हो रहा हूं यही सुदृढ विचार,
चेतना का परिधि बनता घूम चक्राकार।
मधु बरसती विधु किरण हैं कांपती सुकुमार,
पवन में है पुलक मथर, चल रहा मधुभार।

---

[1] श्री जयशंकर प्रसाद—कामायनी, वासना सर्ग, पृष्ठ ८१

तुम समीप, अधीर इतने आज क्या हैं प्राण,
छक रहा है किस सुरभि म तृप्त होकर घ्राण।[1]

तब श्रद्धा—

झुक चली सव्रीड वह सुकुमारता क भार,
लद गई पाकर पुरुष का नममय उपचार।
और वह नारीत्व का जो मूल मधु अनुभाव,
आज जस हस रहा भीतर बढाता चाव।
मधुर व्रीडा मिश्र चिन्ता साथ ले उल्लास,
हृदय का आनन्द कूजन लगा करने रास॥[1]

आनन्द, लज्जा और चिन्ता स उत्पन्न अन्तद्वन्द्व की योजना करके प्रसाद ने श्रद
के पूवराग को बहुत स्वाभाविक बना दिया है। अभिलाषा मनु के प्रति समपण कर
को प्ररित करती है और लज्जा समझाती है—

इतना न चमत्कृत हो बाल।
अपने मन का उपकार करो,
मैं एक पकड हू जो कहती
ठहरो कुछ सोच विचार करो।[2]

तब श्रद्धा अपने मन की दुबलता को स्वीकार करके उसकी अभिलाषा और
विवशता का लज्जा के सम्मुख रखती है—

मैं आज समझ तो पाई हूँ
मैं दुबलता म नारी हूँ,
अवयव की सुदर कोमलता
लकर मैं सबसे हारी हूँ।
पर मन भी क्यो इतना ढीला
अपने ही होता जाता है।
× × ×
सवस्व समपण करने की
विश्वास महा तरु छाया म
चुपचाप पडी रहने की क्यो
ममता जगती है माया में?
× × ×

१ श्री जयशकरप्रसाद—कामायनी, वासना सग, पृष्ठ ८६
२ वही, पृष्ठ ६४
३ वही, लज्जा सग, पृष्ठ १०४

मैं जभी तोलने का करती
उपचार स्वयं तुल जाती हूँ,
भुज लता फँसाकर नर तरु में
झूले सी झोंके खाती हूँ।

अन्तर्द्वन्द्व को 'विश्वास' से जीतकर श्रद्धा मनु को आत्म-समर्पण कर देती है।

पूर्वराग के प्रसंग में श्रद्धा का यह अन्तर्द्वन्द्व हिंदी काव्य के लिए अनुपम निधि है। कवि ने स्थूल को बहुत पीछे छोड़ दिया है और मन के संसार में प्रवेश करने का प्रयत्न किया है, उस प्रयत्न में वह सफल भी हुआ है। कामायनी से पहले, नारी में आकर्षण के प्रभाव के फलस्वरूप 'लज्जा' केवल अनुभाव मात्र बनकर आती थी। उसकी यह मनोवैज्ञानिक व्याख्या इससे पूर्व प्राप्त नहीं होती।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि कामायनी में श्रद्धा और मनु का पूर्वराग प्रसंग हिंदी काव्य में अद्वितीय और अनुपमेय वस्तु है। पूर्व प्रणय का क्रमिक विकास और उसके प्रभाव से उत्पन्न अन्त संघर्ष की झाँकी का दिग्दर्शन अन्यत्र दुर्लभ है। प्रसाद के समान प्रतिभाशील अन्तर्मन के वेत्ता के हाथों में उसे जो निखार मिला है उसके कारण आधुनिक विरह काव्य का 'पूर्वराग' आधुनिक से पहले के हिन्दी संस्कृत साहित्य के पूर्व राग वर्णनों को श्रीरहित कर देता है। यहाँ पूर्वराग केवल मिलन की 'अभिलाषा' न रहकर प्रेम की दृढ़ नींव बन गया है, वह नींव जो एक क्षण में नहीं खोदी जा सकती, उसके लिए समय की अवधि अपेक्षित है।

श्रद्धा में हृदय का समर्पण था और मनु में वासना, जो शरीर के उपभोग के लिए विकल थी। उपभोग भी जब उसके लिए अप्राप्त न रहा, तब वह कुछ और नवीन की चाहना करने लगी—

उठती अन्तस्तल से सदैव
दुर्ललित लालसा जो कि कान्त,
वह इन्द्रचाप सी झिलमिल हो
दब जाती अपने आप शान्त।[1]

उधर मातृत्व का भार सम्भालती हुई श्रद्धा प्रणय क्रीड़ाओं की चंचलता से दूर, गम्भीर होती जा रही थी। उसका वह अनायास परिवर्तन मनु को अच्छा न लगता था। प्रणय लीलाओं के चांचल्य का अभाव उन्हें बहुत खटकता था, उसे उन्होंने स्वयं प्रणय का अभाव ही मान लिया। श्रद्धा के व्यवहार को देखकर मनु सोचने लगे—

श्रद्धा का प्रणय और उसकी
आरम्भिक सीधी अभिव्यक्ति,
जिसमें व्याकुल आलिंगन का
अस्तित्व न तो है कुशल सूक्ति

१ श्री जयशंकरप्रसाद—कामायनी, ईर्ष्या सर्ग, पृष्ठ १३६

भावनामयी वह स्फूर्ति नहीं
नव नव स्मित रेखा में विलीन
अनुरोध न तो उल्लास नहीं
कुसुमोदगम-सा कुछ भी नवीन।[1]

अपने मन में अनुभूत होती हुई इस कमी का जब उन्होंने श्रद्धा के सन्मुख व्यक्त किया तब मातत्व के उल्लास से पूर्ण श्रद्धा ने उन्हें भविष्य के नवागन्तुक की सूचना दी और उसके प्रति अपने ममत्व को प्रगट किया। मनु श्रद्धा पर एकाधिकार शासन चाहते थे वह ईर्ष्या से जलने लगे और श्रान्त क्लान्त और तड़पती हुई श्रद्धा को छोड़कर चल गए।

मनु की उदासीनता से उत्पन्न इस विषम परिस्थिति को हम करुण विप्रलम्भ के अन्तर्गत मानते हैं क्योंकि एक तो उदासीनता के कारण वियोग निरवधि हो गया है, दूसरे स्वप्न सर्ग से पहले श्रद्धा को यह भी नहीं पता कि मनु कहाँ हैं जीवित भी हैं अथवा नहीं। 'स्वप्न' में मनु की विपत्ति की सूचना मिल जाने पर भी श्रद्धा के पास ऐसा कोई प्रमाणपत्र नहीं था कि इस जीवन में प्रिय से पुनर्मिलन सम्भव हो सकेगा।

मनु श्रद्धा से केवल इतना कहकर चले गए थे—

तुम अपने सुख से सुखी रहो
मुझको दुख पाने दो स्वतन्त्र,
'मन की परवशता महा दुख'
मैं यही जपूँगा महामन्त्र।[2]

श्रद्धा अपने मन की दो बात भी उनसे न कर सकी। वह लौट आने की अभ्यर्थना ही करती रह गई—

रुक जा सुन ले ओ निर्मोही।
वह कहती रही अधीर श्रान्त।

मनु के चले जाने के पश्चात विरहिणी श्रद्धा का करुण वेदनामय चित्र स्वप्न सर्ग में मिलता है। कामायनी के विरह वर्णन में कवि ने शास्त्रीय परम्परागत वियोग दशाओं को प्रश्रय नहीं दिया है न ही उनका विस्तृत वर्णन किया है। एक मार्मिक करुण स्थिति का केवल एक चित्र प्रस्तुत किया है। कामायनी की श्रद्धा के विरह की केवल एक सन्ध्या कवि हमारे सन्मुख रखता है, उसी से कुमार के जन्म और उतने बड़े होने तक की अवधि का जब वह पर्वतीय प्रदेश में किलकारी मारता घूमता था हम अनुमान लगा सकते हैं।

एकाकिनी श्रद्धा हिमालय के उस एकान्त प्रदेश में पर्ण कर पड़ी थी। वह विरह

---

1. श्री जयशंकरप्रसाद—कामायनी, ईर्ष्या सर्ग पृष्ठ १३६
2. वही, पृष्ठ १५४

वदना सहते-सहते अत्यन्त कृशगात हो गई थी—

कामायनी कुसुम वसुधा पर पडी, न वह मकरद रहा
एक चित्र बस रेखाओ का, अब उसमे है रग कहाँ!
वह प्रभात का हीन कला शशि किरन कहा चाँदनी रही,
वह सध्या थी, रवि शशि तारा ये सब कोई नही जहाँ।[1]

उसकी मानसिक स्थिति का दिग्दर्शन कवि इन शब्दो मे करता है—

एक मौन वेदना विजन की, झिल्ली की झनकार नही,
जगती की अस्पष्ट उपेक्षा एक कसक साकार रही,
हरित कुज की छाया भर थी वसुधा आलिगन करती,
वह छोटी सी विरह नदी थी जिसका है अब पार नही।[2]

विरह नदी के पार जाने मे असमर्थ श्रद्धा अपने प्रेम पर अनन्त विश्वास रखती हुई मनु के कभी लौट आने की प्रतीक्षा कर रही थी क्योकि 'अपने सपने से सपना को' तो वह पहले ही अर्पित कर चुकी थी तथा 'विश्वास रजत नग पगतल मे', 'पीयूष स्रोत सी बहने' की प्रतिज्ञा भी उसने कर ली थी।

उस सध्या मे, किरणे भी नीद की गोद मे विश्राम लेने के लिए जा रही थी किन्तु विरहिणी का, प्रिय की स्मृति वहा भी चैन लेने नही देती—

नील गगन मे उडती उडती विहग बालिका सी किरने,
स्वप्न लोक को चला थकी सी नीद सेज पर जा गिरने,
किन्तु विरहिणी के जीवन मे एक घडी विश्राम नही
बिजली सी स्मृति चमक उठी तब, लगे जभी तम घन घिरने।[3]

मनु के साथ बीते हुए वे कुछ दिन अब वियोग के दुख की अनन्त अवधि बन गए थे। श्रद्धा पास मे बहती हुई मन्दाकिनी नदी मे प्रश्न करने लगी—

जीवन मे सुख अधिक या कि दुख, मदाकिनी कुछ बोलोगी?
नभ मे नखत अधिक सागर मे या बुदबुद है गिन दोगी?[4]

आह के उच्छवास मे, मिलन से पहले ही जीवन का अन्त न हो जाय, यह भय भी उसे है। चरम नैराश्य मे अनन्त वियोग वेदना सहकर भी मनु के मिलन की उत्कट अभिलाषा बराबर हृदय मे बनी हुई है। जब तक न मिले तब तक दीपशिखा को प्रतीक्षा मे जलते ही रहना चाहिए। उसके जीवन की चरम परिणति दोनो के एकाकार होने मे है। एकाकार होने के पश्चात कुछ भी हो जाय तो कोई भय नही—

---

[1] श्री जयशकरप्रसाद—कामायनी, स्वप्न सर्ग पृष्ठ १७५
[2] वही पृष्ठ १७५
[3] [illegible]

द य श्वास से आह न निकले सजल हूँ मैं मान यहा।
कितना स्नेह जलाकर जलता ऐसा है लघु दीप कहा ?
बुझ न जाय वह साझ किरन सी दीपशिखा इस कुटिया की
शलभ समीप नही तो अच्छा सुखी अकेले जल यहा।[1]

विरही के लिए जीवन की बीती घडिया कष्टपूर्ण होकर भी मधुर होती हैं। वह उन्हे भुलाना नहा चाहता। श्रद्धा कहती है—

'अरे मधुर हैं कष्टपूर्ण भी जीवन की बीती घडिया

प्रकृति के सब सुखद उपकरण विरह म श्रद्धा के लिए दुखदायी हो गए। कोकिल की कूक और पराग की मदा धता मे वसी हलचल उसे दिखाई नही पडती अपने हृदय को यह समझाती है—

आज सुनू केवल चुप होकर, कोकिल चाह जो कह ले,
पर न परागो की वसी है चहल-पहल जो थी पहले,
इस पतझड की सूनी डाली और प्रतीक्षा की सध्या
कामायनी ! तू हृदय कडा कर धीरे धीरे सब सह ले।[2]

स्मृति म डूबी, दुखी श्रद्धा के एकमात्र सम्बल कुमार ने जब 'मा कहकर उसे पुकारा तब उसकी भावधारा विशृखल हुई—

मा फिर एक किलक दूरागत गूज उठी कुटिया सूनी,
मा उठ दौडी भरे हृदय म लेकर उत्कठा दूनी।[3]

वात्सल्य का योग विरह की पीडा को और भी आर्द्र व मधुर बना रहा है। लुटरी खुली अलक वाले 'मानव' को हृदय से लगाती हुई श्रद्धा उसे उपालम्भ देती है—

कहा रहा नटखट ! तू फिरता अब तक मेरा भाग्य बना।
अरे पिता के प्रतिनिधि, तूने भी तो सुख दुख दिया घना,
चचल तू, वनचर मृग बनकर भरता है चौकडी कही
मैं डरती तू रूठ न जाये करती कसे तुझे मना !

पिता के प्रतिनिधि म पिता के प्रति जो उपालम्भ है, वह अद्भुत है। तीन शब्दों म एक लम्बी कथा की सयोजना प्रसाद ने कर दी है, वह अतीत की कथा, जो श्रद्धा के हृदय को साल रही थी।

स्मृति और वात्सल्य के सहारे विरह के अनन्त दिवस बस ही बीतते जा रहे थे। वह सध्या भी उसी तरह बीत जाती यदि रात्रि म मनु का इडा पर अत्याचार और प्रजा का मनु के प्रति विद्रोह, श्रद्धा को 'स्वप्न म नही दिखाई देता। मनु विपत्ति म है यह जानकर वह विश्वासमयी प्रिय को ढूढने निकल पडी। अनेक कष्ट सहकर सारस्वत

१ श्री जयशकरप्रसाद—कामायनी, स्वप्न सर्ग, पृष्ठ १७६
२ वही, पृष्ठ १७७
३ वही, पृष्ठ १७९

नगर पहुँची और मनु का विपत्ति से त्राण किया।

इडा और कुमार को राज्यकाय सौंपकर ये दोनो कलाश पर तपस्या के लिए चल गए। अन्त में 'चिरमिलन' की इसी स्थिति में हम मनु और श्रद्धा को देखते हैं।

कामायनी के दार्शनिक पक्ष के अतिरिक्त मनु और श्रद्धा के जीवन का यह मानवीय पक्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। पुरुष के स्वाभाविक अह को नारी की समर्पण शक्ति व उदारता जीत सकती है यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है। इसी तथ्य का निरूपण प्रसाद ने सफलतापूर्वक कामायनी में किया है। विरह वर्णन बहुत सक्षिप्त होने पर भी अपूर्व मार्मिक है, विरही की सहनशक्ति और मिलन की कामना के सहारे उसमें जीवन की चाहना, दोनो भावो की सुन्दर अभिव्यक्ति प्रसाद ने यहा की है—

'शलभ समीप नहीं तो अच्छा सुखी अकेले जले यहा।'

तथा—

'कामायनी तू हृदय कडा कर धीरे धीरे सब सह ले।'[1]

निराला

तुलसीदास—'तुलसीदास' में निराला ने तुलसीदास और उनकी पत्नी रत्नावली की जीवन गाथा मुखरित की है। किस तरह वह महाकवि और चिन्तक पत्नी के उलाहने की चोट से, जीवन से विरक्त होकर ईश्वरोन्मुख हो गया, यही इस ग्रन्थ का वर्ण्य विषय है।

निराला के तुलसीदास अत्यन्त सस्कृत रुचि सम्पन्न मानव हैं। कवि ने उनका चित्रण परम्परागत कामुक तुलसीदास के रूप में नहीं किया है। पत्नी को छोडकर जाने से पहले वह मित्रों के साथ पचवटी भ्रमण के लिए गए थे। वहीं उन पुण्यस्थलो की स्मृति से भारत का प्राचीन वैभव और रामराज्य का स्वप्न उनके सम्मुख सजग हो गया—

साचा कवि ने, मानस तरग'
यह भारत सस्कृति पर सभग
फली जो, लेती सग-सग जन-गण को,
इस अनिलवाह के पार प्रखर
किरणो का वह ज्योतिर्मय घर,
रविकुल-जीवन-चुम्बनकर मानस धन जो।
है वही मुक्ति का सत्य रूप
यह कूप-कूप भव अघ कूप,
वह रव, यहाँ जो हुआ भूप, निश्चय रे।
चाहिए उस और भी और,

फिर साधारण को कहाँ ठौर?
जीवन के जग के यही तौर हैं जय के।
करना होगा यह तिमिर पार—
देखना सत्य का मिहिर द्वार—
बहना जीवन के प्रखर ज्वार म निश्चय
लडना विरोध से द्वन्द्व समर
रह सत्य मार्ग पर स्थिर निर्भर
जाना भिन्न भी देह, निज घर निःसशय ?[1]

वह महान चिन्तक कल्पना मे स्वय को जनहित के लिए जीवन के बन्धनो से मुक्त कर ही रहा था कि तभी रत्नावली और उसका प्यार चेतना को अभिभूत करने लगा—

उस क्षण, उस छाया के ऊपर,
नभ-तम की सी तारिका सुघर,
आ पडी, दृष्टि म जीवन पर सुन्दरतम
प्रेयसी, प्राणसगिनी नाम
शुभ रत्नावली सरोज दाम
वामा, इस पथ पर हुई वाम सरितोपम।[1]

पचवटी म तुलसी को वतमान स त्रेता में ले जाने वाली यह अनुभूति जीवन की गति म चेतन से लुप्त होकर अचेतन मे स्थायी हो गई।

प्रवासी प्रिय तुलसीदास पत्नी की स्मृति मे कुछ क्षण के लिए विश्व का भूल गए। एक काल्पनिक चुम्बन की अनुभूति में जीवन का सम्पूण कष्ट, सारा क्लेश बिलीन हो गया—

जिस तरह गन्ध से बँधा फूल,
फलता दूर तक भी, समूल
अप्रतिम प्रिया से, त्या दुकूल प्रतिमा म
मैं बधा एक शुचि आलिंगन,
आकृति म निराकार, चुम्बन,
युक्त भा मुक्त यों आजीवन लघिमा म।[3]

तुलसीदास अपनी पत्नी पर अत्यन्त आसक्त थ, लौटने पर जब वह घर म नही मिली तो सम्पूर्ण घर सूना-सूना लगन लगा। मिलन की स्थिति म जो आँगन उल्लास से परिपूण रहता था, वही आज वियोग मे दुखी था, घर के नत्र भी किसी अपरिचित

१ निराला—तुलसीदास, पद ३३ ३५
२ वही, पद ३७
३ वही, पद ५४

अपराध से झुके हुए थे, वह घर नहीं था तुलसी के अपने हृदय का छायाचित्र बन गया था। वियोगी तुलसी को पत्नी के विरह में घर कितना बुरा लगने लगता है इसका बहुत सुन्दर वर्णन निराला ने किया है। विरह विह्वल प्रेमी की मन स्थिति का अत्यन्त सुन्दर दिग्दर्शन यहाँ हुआ है—

देखा वह नहीं प्रिया, जीवन,
नत-नयन भवन, विषण्ण आँगन,
आवरण शून्य वे बिना वरण मधुरा के
अपहृत श्री, सुख स्नेह का सद्म,
निःसुरभि, हत हेमन्त पद्म!
नैतिक नीरस निष्प्रीति छद्म ज्यों पाते
यह नहीं आज गृह, छाया उर
गीति से प्रिया की मुखर मधुर
गति-नृत्य तालोच्छ्वसित नूपुर चरणारुण
व्यंजित नयनों का भाव सघन
भर रंजित जो करता क्षण क्षण,
कहता कोई मन से उन्मन, सुन रे सुन।
यह आज हो गई दूर तान
इसलिए मधुर वह और गान,
सुनने को व्याकुल हुए प्राण प्रियतम के।[1]

कोई वस्तु जब हमसे दूर हो जाती है तब मन उसको पाने की ओर भी अधिक उद्विग्न और विकल होने लगता है 'अलभ है इष्ट अत अनमोल' की भावना यहाँ भी है—

यह आज हो गई दूर तान
इसलिए मधुर वह और गान।

यहाँ कवि ने नायक के पक्ष में 'प्रवास' विरह की योजना की है। प्रकृति का रूप उद्दीपन है। तुलसी जब पत्नी को लौटा लाने के लिए चल पड़ते हैं तब मार्ग में—

मग में पिक कुहरित डाल डाल,
हैं हरित विटप सब सुमन माल,
हिलतीं लतिकाएँ ताल-ताल पर सस्मित,
पड़ता उन पर ज्योति - प्रपात,
है चमक रहे सब कनक गात,
बहती मधु धीर समीर नात, आलिंगित॥[2]

१ निराला—तुलसीदास पद ७१ ७२
२ [illegible]

परम सुषमा का भी शुचि सार,
विलासो का था वर शृगार।
भरत का भुवन वहा सुविशाल,
सभी ऋतुओ मे सुखद रसाल।
विराजित था वर गगन विहार,
धरा का एक उच्छवसित प्यार॥[1]

× × ×

उसी मे एक दिवस सविलास
निशागम पर भरकर उल्लास।
किये झकृत वीणा के तार,
भरत ने छेड़ा राग मलार॥
रत्न उत्खचित मच का मोर,
बना जीवित सा भावविभोर।
भरत के चरणो पर चुपचाप,
हुआ न्योछावर अपने आप॥[2]

उसी क्षण माण्डवी भी वहा आ पहुची—

बढी स्वर की लहरी इस तौर
उठे रस के बादल सब ठौर।
उसी क्षण क्षणदा सी अभिराम
माण्डवी पहुँची वहाँ ललाम।
प्रिया के आते ही तत्काल,
बनियाँ सौ - सौ बजी रसाल।
हजारो दीप हुए अनुकूल,
अराश महक उठे शुचि फूल॥
भरत खिल उठे बढ उठे हाथ,
कहा लो जीवित वीणा साथ।
मिले फिर से रति और अनग,
सजे फिर घन विद्युत के सग॥[3]

माण्डवी भी वम आमोद प्रिय नही है—

तनिक रुक गई माण्डवी आप,
कहूँ आलाप कहूँ कि प्रलाप?

> अधर पर एक मधुर मुस्कान,
> लाल सी लहरा गई अजान ॥[1]

भरत अपनी प्रियतमा की छवि को निहारते ही रह गए—

> कौन कहता है तुम हो एक,
> एक होकर भी बनी अनेक।
> तुम्हारी ही छवि का विस्तार,
> विश्व में देखूंगा साकार ॥[2]

वह प्रियतमा भी अपने प्रिय से स्नेह के आदान प्रदान में किसी भांति न्यून नहीं है—

> और मैं तुम्हें हृदय में थाप
> बनूंगी अर्घ्य आरती आप।
> विश्व की सारी कान्ति समेट,
> करूंगी एक तुम्हारी भेंट।
> पुरुष मन में छवि का विस्तार,
> नारि मन में संकोच अपार।
> पुरुष का हो अनन्त पर चाव,
> नारि का एक कान्त पर भाव ॥[3]

भरत ने अपनी सफाई देते हुए कहा—

> मनुज की मधुप वृत्ति पर चोट
> लगाई खूब व्यंग की ओट।
> किन्तु क्या प्रिय नहीं यह ज्ञान,
> तुम्हीं इन प्राणों की तान ॥[4]

माण्डवी ने गर्विता का-सा व्यंग्य करके पति को चिढ़ाते हुए कहा—

> तान मैं हूं जीवित बीन,
> अहा उपमाएं मधुर नवीन।
> न शब्दों में हो या अनुराग,
> संत दिखलाया करते त्याग ॥[5]

बेचारी माण्डवी को क्या पता था कि संत का त्याग उसे वस्तुतः देखना पड़ेगा। आमोद प्रमोद पूर्ण उस सुखद वार्तालाप के बीच माण्डवी के यह शब्द सुनकर संत दिख

---

१ डा० बलदेवप्रसाद मिश्र—मानव सन्त भरत सा, पद १५
२ वही, पद ४३
३ वही, पद ४४ ४५
४ वही, पद ४६
५ वही, पद ४७

लाया करते त्याग भरत जसे चौक गए। उन्होंन माण्डवी का मुह सा बन्द करते हुए कहा— ऐसे शब्द मुह से न निकालो, कभी कभी अनजान म कही गई बात भी भाग्य की लकीर बन जाती है —

इष्ट हो सतो को तप त्याग,
चाहिए मुझे एक अनुराग।
गल्प की माया बुरी बलाय,
सुखी जीवन सुख से निभ जाये॥[1]

बात वही समाप्त हो गई। वह नवदम्पत्ति मामा युधाजित के यहा हिमालय की श्री शोभा देखन क लिए चला गया।

परन्तु अनजान म कही गई उस बात को भाग्य की लकीर बनना था और वह बनी भी। निस्पृह भरत के लिए ककेयी का राजा दशरथ स राज्य मागना मूखता थी। महात्मा तनसादाम क दान्त म वही रघुकुल की लहलहाती आशालता के कुल्हाडी सिद्ध हुई। राजा दशरथ न प्राण त्याग दिया। राम तो वन का गए ही, सीता और लक्ष्मण को भी माना उस राम विहीन अयोध्या स घृणा हो गई और स्वच्छा स राजसी जीवन का त्याग करके उनके साथ चल गए।

अयोध्या म हो रहे इन परिवतनो स अनभिज्ञ भरत, मामा युधाजित के द्वारा धीरे धीरे अयोध्या का राज्य ग्रहण करने का उकसाये जा रहे थे। किन्तु पितृवत्सल, भ्रातृवत्सल भरत पर इस कूटनीति का कुछ भी प्रभाव न पड रहा था। एक बार युधाजित के मथरा सम्बन्धी सकेत म भरत का माथा ठनक गया। (मथरा को युधाजित ने अयोध्या म इसलिए छोड रखा था कि वह ककेयी को भरत के लिए राज्य माँगने को प्रेरित करे)। भरत षडयन्त्र म माकन्त क महलो को बचाने के लिए जल्दी ही वहाँ पहुचने को विह्वल हो उठे। परन्तु वहाँ पहुचने पर स्तब्ध रह गए। स्वय डा० मिश्र के शब्दो म 'उ होने देखा कि तीर तरकश से छूट चुका था।

भरत न निश्चय कर लिया कि वह राज्य ग्रहण नही करगे। पिता का अन्तिम सस्कार करन क पश्चात उन्होन राम स अपनी माता के अपराध की क्षमा याचना करने और अयोध्या लौट चलने की प्रार्थना करन की ठानी। उनका विश्वास था कि राम उनके आग्रह का टालग नही। राम का यह अनन्य भक्त अपन प्रभु को मनान के लिए वन म पहुँचा किन्तु वह अपनी प्रतिज्ञा पर दृढ थ हताश भरत राम की पादुकाए लेकर अयोध्या लौटे। चरण पादुकाओ को सिंहासन पर रखकर उन्होन राज्य-काय प्रारम्भ कर दिया और स्वय जीवन स विरक्त होकर नन्दी ग्राम म रहन लग।

माण्डवी क धय की परीक्षा का अब समय आ गया था। उसके स्थान पर कोई दूसरी स्त्री होती तो अवश्य भरत क इस त्याग म सहयोग देन से हिचकती। जब पिता

---

१ डा० रामप्रसाद मिश्र—साकेत सन्त, प्रथम सर्ग, पृ० ४८

ने स्वयं अपने हाथ से राज्य का उत्तराधिकारी भरत को बनाया तो क्या वह उसे ग्रहण नहीं करते ? यह मानवी सुलभ प्रश्न माण्डवी के सम्मुख उपस्थित होना अस्वाभाविक न था। किन्तु माण्डवी भरत की योग्य पत्नी थी उसमें मानवता चरम उत्कर्ष को पहुंच चुकी थी। उस मनस्विनी की गम्भीरता की थाह पाना अत्यन्त दुरूह कार्य है जिसने सहनशीलता से प्रत्येक परिस्थिति के साथ संघर्ष किया। चौदह वर्ष तक यौवन के प्रभात में ही पति के साथ वानप्रस्थाश्रम ग्रहण कर लिया। माण्डवी का चरित्र हमारे साहित्य की अद्वितीय निधि है। उसकी सौम्यमूर्ति के रोम रोम में सहृदय व्यथा का अनुभव करता है परन्तु वह वदना मौन है मुखर नहीं, गम्भीर है छिछली नहीं।

भरत त्यागी बनकर नन्दी ग्राम में तपस्या कर रहे थे आत्मग्लानि उनके शरीर, मन और आत्मा को भस्म किये दे रही थी। राजकार्य में व्यस्त रहकर वह स्वयं को भूल जाना चाहते थे। इधर माण्डवी प्रत्यक्ष रूप में पति के स्नेह से वंचित न होने पर भी उसकी तत्कालीन उदासीनता से पीड़ित थी। दाम्पत्य-व्यवहार की अभिव्यक्ति का अवकाश ही न रहा था। हास विलासमयी माण्डवी भाग्य से लड़कर हारी हुई भी उस पर कैसे विजय प्राप्त कर रही थी। देखिए—

भारत की यह नारी।
कल थी वधु आज माता सी दिव्य देवियाँ हारी॥
भोजन लेकर चली माण्डवी जहां भरत व्रतधारी।
जीवन रक्षक कन्दमूल फल, बस, सामग्री सारी॥
आई उतर तपस्या भू पर नारी बन सुकुमारी।
पर सुकुमारी अग्नि शिखा थी जन-जग-पावन-कारी॥[1]

वह सुकुमारी साकार तपस्या बन गई थी। इसमें एक ओर माण्डवी के भरत के प्रति अगाध प्रेम का दूसरी ओर उसकी संयत सहनशीलता का दिग्दर्शन कवि कराता है। भरत के साथ माण्डवी ने भी राजसिक वेशभूषा को त्याग दिया था—

तन पर दो खादी के टुकड़े, चार चूड़ियां प्यारी।
एक छत्र शासक की यह थी आधी देह दुलारी॥[2]

माण्डवी की वेदना काव्यशास्त्र निर्धारित विरह की किसी भी श्रेणी के अन्तर्गत नहीं आ सकती किन्तु फिर भी वह विरह का ही रूप है। विरह वस्तुतः वहां होता है जहां किसी कारण से चाहे वह कारण मानसिक हो चाहे परिस्थिति द्वारा आरोपित प्रेमी-युग्म का शरीर अथवा भावना से वियोग हो जाता है और वे दोनों उस परिस्थिति से संघर्ष करते हुए, मिलन की घड़ी की ओर निहारते हुए, प्रेमभाव का पोषण करते हैं। यहां भरत की उदासीनता और आत्मग्लानि, इन दोनों की भरत और माण्डवी की प्रेमाभिव्यक्ति

---

१ डा० बलदेवप्रसाद मिश्र—साकेत सन्त, सर्ग १४ ४—४
२ वही

के लिए दृढ अवरोध वन गई थी—

दोनो एक परन्तु वीच थी असिधारा वह भारी ।
चौदह वर्षों तक न भावना जिसने अन्य निहारी ।।[1]

राम के वनगमन से अयोध्या के महलो और राजपरिवार की दशा विलकुल उलट पलट गई थी । एक ओर प्रोषितपतिका उर्मिला की यह दशा थी—

देह महल मे रुद्ध हुई थी पर न निरुद्ध विरह निर्भर था ।
भरी दृगो ने जल धाराए शब्द शब्द करुणा कातर था ।।[2]

किन्तु दूसरी ओर माण्डवी थी जिसे—

किन्तु माण्डवी को तो आहो का भरना भी वर्जित तर था।

सम्मुख है राकेश चकोरी पर न उधर निज नयन उठाय ।
विकसी प्रभा प्रभाकर की है, पर न कमलिनी मोद मनाय ।।
था वसन्त आँखो के आगे, पर कीलित ही पिक का स्वर था ।
अहह ! माण्डवी को तो आहो का भरना भी वर्जित तर था ।।
जो है दूर उसी की आशा रख कर मन समझाया जाय ।
समझ सराहूँ मैं उस मन की, पास रहे पर पास न आये ।।
सलिल विरह की वात न जिसमे, स्वत प्यास उठना दुभर था ।
अहह ! माण्डवी को तो आहो का भरना भी वर्जित तर था ।।[3]

'साकेत सन्त के सर्ग १८ मे ४—अ, आ इ इन तीन पदो मे ही कवि ने एक बडी गाथा समाविष्ट कर दी है। माण्डवी के अनुपम विरह का चित्र नेत्रो के सम्मुख साकार हो जाता है । कर्त्तव्यनिष्ठा माण्डवी माताओ का मन वहलाती थी, उर्मिला की देखभाल करती थी और स्वय पति की सेवा करके सबका दुख भार हलका करने मे रत थी ।

माताओ के दुलार उर्मिला वियोग भार
और स्वत की सेवा हरने को व्यग्र सकल ।।[4]

उस कठिन सयमित जीवन मे उल्लास का क्षण केवल तब आता था जब वह भरत के समीप नन्दीग्राम को जाती थी । आराध्य के मन्दिर की आराधिका माण्डवी के लिए—

अवध नन्दिग्राम माग पग पग था तीर्थ विमल ।
हरने को व्यथा ।।

कवि गुरु रवीन्द्रनाथ जी की अनुभूति और महावीरप्रसादजी द्विवेदी के आदेश से गुप्तजी ने व्यथित उर्मिला की वियोग वेदना को पहचाना था किन्तु उससे भी करुण

१ डा० बल्देवप्रसाद मिश्र—साकेत सन्त, सर्ग, १४ ८—अ
२ वही, सर्ग १४ ८—अ
३ वही सर्ग १८ ४—आ
४ वही, सर्ग १८ ४—इ

कठिन विरह से पीडित माण्डवी उपक्षित रह गई थी। साकेत म त के रचयिता न उस
व्यथा का परिचय कराकर सहृदय जगत का बडा उपकार किया है।

द्वारकाप्रसाद मिश्र

कृष्णायन—कृष्णायन के नाम से स्पष्ट है कि कवि ने इसम कृष्ण के जीव
की गाथा वर्णित की है। राधा के पक्ष म कृष्णायन म पूर्वराग का प्रभाव है। कृष्ण के
साथ उनकी हसी, ठिठोली का चित्रण ही कवि ने किया है।

कृष्णायन' मे कृष्ण का प्रारम्भ से ही अतिमानवीय रूप म चित्रण किया गया
है। सूर तथा अ य भक्त कविया के कृष्ण भी अतिमानवीय थ किन्तु राधा के साथ रास
रचात समय उनका यह रूप ओझल सा रहता था। मिश्र जी क कृष्ण रासलीला करत
करत राधा को एक कुज म ल जाते है और अपने अवतार का रहस्य समझात हैं। वह
जानते हैं कि उ ह कसादि राक्षसों का वध करना है अत राधा को आदेश दते हैं कि जब
तक वह असुरो का हनन करें तब तक वह (राधा) व्रज मे रहकर उनक प्रमभाव का
पोषण कर—

जब लगि मैं कुछ काल उबारहु,
खोजि-खोजि असुरन सहारहु,
तुम व्रज बसहु करहु रखवारा,
सीचहु प्रम विटप दुखवारी।
उत मैं करहुँ शूल निमूला,
फूलहि प्रम-कुसुम इत फूला।
धर्मादिक फल लागहि चारी,
लहहि प्रिया जग कृपा तुम्हारी॥[1]

कृष्ण के मथुरा जाने पर इसीलिए कृष्णायन' की राधा को विरह का सामना
नहीं करना पडा। साथ ही कवि न कृष्ण पर लगे हुए विश्वासघात क दोष का अ तमन
भी कर दिया। फिर भी सनातन नारी को पृथ्वी पर अवतार लेकर पत्नी का बनना
पडा। राधा कृष्ण के चिरतन रहस्य को जानते हुए भी उनके मथुरा गमन के अवसर
पर स्वय को न सँभाल सकी। और—

अस सुपुलक सुत तुरग मुख फरेउ धनस्याम,
स्यदन तन तेहि क्षण गिरी कोउ विरहिणी नाम॥[2]

राधा की व्यथा का यह चित्रण परम्परागत है। कृष्णकाव्य म राधा की व्यथ-
सदा मौन रही है यहाँ भी वसी ही है। कृष्ण के जाने के समय सम्पूर्ण व्रज विरत रहा था
किन्तु राधा रोती नही पछाड खाकर उनके रथ के सम्मुख गिर पडती है। कृष्ण भी निरपण

---

[1] श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र—कृष्णायन अवतरण काण्ड, पद १६१, पृष्ठ १००
[2] वही पद १८८, पृष्ठ १०६

नहीं जा पाते, वह अनायास ही राधा को गोद में उठा लेते हैं कर्त्तव्यवश जाना आवश्यक था अतः अपनी थाती को यशोदा की गोद में सौंपकर रथ आगे बढ़ा देते हैं। उनकी व्यथा का चित्रण कवि ने इन शब्दों में किया है—

त्यागत ब्रज ब्रजराज अथोरा,
होत विमुख, बरस दृग नीरा॥[1]

मथुरा में समय समय पर कृष्ण को ब्रजवासियों की सुधि आती रहती है। जरासंध के आक्रमण के समय जब उन्हें मथुरा छोड़नी पड़ी तब वह उद्धव के हाथ अपना कुशल समाचार गोकुल को भेजना न भूले—

गयऊँ न कबहुँ सुधिहु नहिं लीन्ही,
लहि मैं प्रीति व्यथा बहु दीन्ही।
बसिहौं दूरि द्वारका जायी,
तजिहैं तनु ब्रजजन बिलखायी।
उद्धव सुहृदहिं श्याम बोलवा,
जाहु अबहिं ब्रज बचन सुनावा।
जानि सुमति सब कहेउ ब्रजेशू,
चलेउ सचिव लै प्रेम सन्देशू॥[2]

'कृष्णायन' की गोपिकाएँ कृष्ण को प्रियतम के रूप में स्मरण नहीं करतीं, जाति के संरक्षक के रूप में याद करती हैं।

जस पुरजन तस हम सब ब्रजजन
श्याम भूप, हम दोउ प्रजाजन।
जन रंजन वर राजन धर्मा,
प्रजा प्रपीडन घोर अधर्मा॥[3]

अतः उनके विषय में तो विरह व्यथा का अवकाश ही नहीं रहता।

कवि का विश्वास है कि कृष्ण के गोकुल से जाने के पश्चात् भी यमुना के तट पर राधा और श्याम रूप का मिलन होता था। गोकुल में आने के दूसरे दिन प्रातःकाल जब उद्धव यमुना पर स्नान करने गए तो उन्हें वहाँ वंशी स्वर सुनाई दिया। सम्पूर्ण वातावरण उल्लासमय हो गया चन्द्रमा की ज्योत्स्ना विकसित हो गई वन के प्रसून खिलने लगे और त्रिविध समीर बहन लगा। तभी उद्धव ने देखा कि मोर मुकुट पीताम्बरधारी कृष्ण समक्ष ही वंशी बजा रहे हैं और एक नारी उनकी चरण वंदना कर रही है।

मोरमुकुट, पट पीत घत, वनमाला अभिराम,
वादत वंशी धरि अधर, कोटि काम छवि श्याम।

१ श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र—कृष्णायन, मथुरा काण्ड, पद १, पृष्ठ ११६
२ वही, पद १६०, पृष्ठ २०३
३ वही पद ७६ पृष्ठ २०८

पदतल लखि वहुरि कोउ वामा,
धरि सुमनाजलि करति प्रणामा।
लाचन चकित विलोकत शोभा,
भक्ति प्रवाह हृदय मन लाभा।
भयउ अदृश्य दश्य पल माही,
नहि हरि कतहुँ वाम कहुँ नाही॥[1]

नद के घर जब उद्धव लौटकर आए तो उसी युवती का यशोदा के समीप देखकर चकित रह गए। यशोदा ने उनका परिचय युवती से यह कहकर कराया कि 'य श्याम की सखि हैं।'

राधा का विरह वणन यहाँ भी कवि न नही किया कवल कृष्ण क प्रति उनक आकपण की अभिव्यक्ति लज्जा अनुभाव द्वारा कराई है—

श्याम सखी राधा यहै, कहउ महरि मुसुकाय
डरत मधुपुरहु जाहि हरि, मुरली लति चोराय॥
गवनी राधा सुनत लजानी,
यशुमति प्रीति पुनीत बखानी॥[2]

मथुरा म पुन आगमन पर उद्धव न यमुना क वशी तट की वात जब कृष्ण का बताई तब उ होने राधा स अपना एकत्व सिद्ध किया।

एकहि मैं अरु राधिका द्वत भाव भव भ्राति,
ब्रजजन समुझि रहस्य यह, लहिहैं पुनि सुख शाति॥[3]

गीता काण्ड म सूयग्रहण क अवसर पर पुन कृष्ण की ब्रजवासियो स भट होती है। राधा भी वहाँ उपस्थित है किन्तु वह सूर की विरहिणी राधा नही है पूणकाम स्थितप्रज्ञा राधा है। उ होने सचमुच ही कृष्ण से एकत्व की स्थिति प्राप्त कर ली है और इसीलिए वह प्रसन्न है। रुक्मिणी क प्रश्न म राधा और कृष्ण का वियोग ही कभी नही हुआ—

इन कीन्ह निज वश यदुरायी,
चहहि जहाँ जब लहि बोलायी।
प्रविशत श्रुतिपुट राधा नामा
होत विमन सहसा घनश्यामा।
पावत जब तब हम हरि दशन,
बसत सतत इन सग मनमोहन।[4]

---

१ श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र—कृष्णायन, मथुरा काण्ड पद १८०, पृष्ठ २०५
२ वही पद १८२ तथा १८३ का प्रथम पक्ति, पृष्ठ २०६
३ वही पद १८४, पृष्ठ २०७
४ वही, गीता काड, पद ६४, पृष्ठ ५ ५

यहां भी सूर की सी विरह व्यथित राधा कहीं दृष्टिगोचर नहीं होती। वह व्यथा को भूलकर पूर्ण रूप से कृष्णमय हो गई है। लोगों के कहने से वह कृष्ण की बाललीला को रंगमंच पर उपस्थित करती है।

राधा के कृष्ण में अनन्त विश्वास और राजा कृष्ण के अपनी बाल-संगिनी को सांसारिक रूप में अपनाने की हिचक को कवि ने बड़ी चतुराई से गीता काण्ड के एक पद में संकेत रूप से व्यक्त किया है। कृष्ण राधा के प्रति विश्वासघात के लिए स्वयं को भर्त्सना देते हैं—

> लखत हरिहु सोचत मन माहीं,
> मैं कृतघ्न प्रिया सम नाहीं ॥[1]

कृष्णायन की राधाकृष्ण प्रणय गाथा के अध्ययन से ज्ञात होता है कि कवि ने उसमें अनेक मौलिक अनुभूतियों का समावेश कराया है। कृष्ण के अतिमानवीय रूप को मानकर एक ओर तो मथुरागमन से पहले ही रासलीला के समय भावी वियोग के लिए राधा को सान्त्वना दिलाई दूसरी ओर यमुना तट पर उनके नित्य मिलन की कल्पना की। इसके फलस्वरूप एक तो कृष्ण के ऊपर से विश्वासघात के दोष के प्रक्षालन का प्रयत्न किया दूसरी ओर राधा के एकान्तिक प्रेम की प्रतिष्ठा की रक्षा की।

कृष्ण में पूज्य बुद्धि होने के कारण यद्यपि कवि ने उनके दोष प्रक्षालन का भरसक प्रयत्न किया है किन्तु फिर भी उसका बुद्धिवादी मस्तिष्क राधा पर किये गये अन्याय को न भूल सका और राधा की अपूर्व ममता को देखकर कृष्ण को मन ही मन पश्चाताप करना पड़ा।[2]

राधा की वियोग व्यथा मौन होते हुए भी मार्मिक है। वह कृष्ण के वियोग में इसलिए नहीं तड़पती (कि कवि के शब्दों में यमुना तट पर उनका नित्य मिलन होता है)। यदि ऐसा था तो जाते समय मूर्च्छित होने की क्या आवश्यकता थी? वस्तुतः उसने अपनी व्यथा को ब्रजवासियों का मन बहलाने के लिए मन में ही छिपा लिया है क्योंकि वह जानती है कि उसकी साधारण वर्ग की नारी को राजा कृष्ण स्वीकार न करेगा।

राधा के विरह के अतिरिक्त 'कृष्णायन' में उज्जयनी की राजकुमारी मित्रविन्दा के पूर्वराग का सुन्दर वर्णन है। कृष्ण, वसुदेव की बहिन व मित्रविन्दा की मां के साथ उज्जयनी आए थे वहीं राजकुमारी ने उन्हें प्रथम बार देखा—

> लगउ मित्रविन्दु हरिहिं रस नयन असहाय
> जननी उर धरि मुनि मधु पितु हिय कछुक लजाय।[2]

सरल लज्जा अनुभाव में राजकुमारी के मन के आकर्षण की सूचना बड़े सुष्ठु

---

1 द्वारिकाप्रसाद मिश्र—कृष्णायन गीता काण्ड, पद ६६ पृष्ठ ४२६
2 वही

रूप से दी गई है, यहाँ कवि उस आकर्षण के फल रूप उत्पन्न विरह का विवरण नहीं देता। उसके पश्चात ही राजकुमारी मित्रविन्दा थोड़े दिन के लिए अपनी सखी रुक्मिणी के यहाँ चली जाती है।

मित्रविन्दा की स्थिति अन्य पूर्वराग से व्यथित नायिकाओं से कुछ भिन्न है। माता पिता, परिवार से उसे ताड़ना नहीं मिलती, स्वयं उसकी माँ यह चाहती है कि उसका विवाह कृष्ण से हो जाय। रानी पति से कहती है—

मधुपुर जब मैं हरिहिं निहारा, उपजेउ सहसा हृदय विचारा।
श्याम मित्रविन्दा छवि-खानी विरचे विधि संयोग मन ठानी॥
दोहा—शिव गिरिजा, विधुसिन्धुजा, मन्मथ रति अनुरूप,
कांचनमणिहु संयोग सम, यह सम्बन्ध अनूप॥[1]

मित्रविन्दा के पिता आधुनिक युग के सजग पिता की भाँति ही सजग हैं। पुत्री के मन की बात जाने बिना वह अपने आप कुछ नहीं करना चाहते। वह रानी से स्पष्ट कह देते हैं कि मित्रविन्दा से पूछे बिना कृष्ण से विवाह का प्रस्ताव नहीं करेंगे—

पै जाने बिनु तनया भावा,
उचित न करब हरिहिं प्रस्तावा।[2]

वृद्ध पिता को पुत्री के लिए वर खोजते समय पुत्री की सम्मति भी अवश्य लेनी पड़ती है—

औरहु भय इक मम मन माहीं,
करहि विरोध सुवन कहुँ नाहीं।[3]

कन्या के विवाह से सम्बन्धित इन कठिनाइयों का बड़ा स्वाभाविक वर्णन 'कृष्णायन' के कवि ने किया है। आधुनिक युग से पहले युवक-युवती का परस्पर आकर्षण घर और परिवार से असम्पृक्त होकर चलता था, उसकी बात अधिक से अधिक सखियों तक सीमित रहती थी किन्तु कृष्णायन में स्वयं मित्रविन्दा की माता उससे उसके मन का हाल पूछने जाती है।

मित्रविन्दा का कृष्ण के प्रति आकर्षण रुक्मिणी के यहाँ जाने से और भी तीव्रतर हो गया। रुक्मिणी स्वयं कृष्ण पर आसक्त थी। जब उन्हें पता चला कि कृष्ण सांदीपनी गुरु के साथ उज्जयिनी आये हुए हैं तो मित्रविन्दा के विदा के दिन उन्होंने अपना प्रेम-सन्देश उसके हाथ कहलवाया—

मम प्रयाण दिन नयनन वारं
भाषी गिरा विदर्भ कुमारी-

1. श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र—कृष्णायन, मथुरा काण्ड, पद १०५, पृष्ठ .
2. वही, पद १०६

फिरहिं त्यागि गुरुकुल जब नाथा
कहेउ सुनय मोरि सब गाथा ॥[1]

नारद से कृष्ण का गुणश्रवण सुनकर मित्रविन्दा उन पर पूर्ण आसक्त हो गई। रुक्मिणी का भी जब अपने जैसा हाल देखा तो वह धर्मसंकट में पड़ गई। उज्जयिनी लौट कर आई तो उसका यह हाल था—

सखी स्वजन सखिजन सुकुमारी,
अन्यमनस्क मलीन दुखारी।
मनहुँ अदृष्टपूर्व कोउ बामा,
दग्ध हृदय, उद्विग्न प्रवामा।
क्षीण शरीर यष्टि शुच भारा,
ग्रीष्म शुष्क जनु सुरसरि धारा।
मदन-सराग विवर्ण विशेषा
श्रीहत प्रात मनहु राकेशा।
अन्तर्गूढ विषाद - घन, छादित हृदयाकाश,
भयी नष्ट सहसा मनहुँ प्रणाधिक अभिलाष ॥

कृशता, विवर्ण और उद्वेग दशाओं का अत्यन्त स्वाभाविक व संक्षिप्त वर्णन हुआ है। अतिशयोक्ति कहीं नहीं है। आगे अश्रु और 'मूर्च्छा' का भी सुन्दर वर्णन है। रानी जब मित्रविन्दा के समीप उसका हाल पूछने गई तब—

पूछेउ वृत्त लत मन थाहा,
बहउ कुँवरि दृग सलिल प्रवाहा।
वृन्त छिन्न किसलय अनुहारी
मूर्च्छित मातु अंक सुकुमारी ॥[2]

नारी सुलभ लज्जा और संकोच मित्रविन्दा के स्वभाव की विभूति है। अपनी व्यथा को वह स्वयं में समेट रहती है। माँ जब धीरे धीरे उसके मन को स्नेह से कुरेदती है तब अपने मन की बात वह उनसे कहती है—

मृदु बचनि जननी समुझावा,
क्रम क्रम लज्जावरण हटावा,
कही मित्रविन्दा सब गाथा।
जेहि विधि भवन लखे यदुनाथा।
जित मनसिज हरि छवि अभिरामा
बसी अमिट जेहिविधि हृदधामा।

---

[1] श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र—कृष्णायन, पद १३७, पृष्ठ १६८
[2] वही, पद १३४, [illegible]

मिलिहैं कबहुँ माहिं बनवारी,
गइउँ बिम्ब साथ उर धारी।[1]

रुक्मिणी भी कृष्ण पर आसक्त है और दिन रात उनका गुणकथन करती है, वह पक्षियों के द्वारा सन्देश भिजवाती है इसका संकेत मिश्रबन्धु करती है—

दोहा—निरखी सखि उत प्राण प्रिय, रुक्मिणी छवि-गुण धाम,
नारद मुख सुनि हरि सुयश, जपति दिवसनिशि नाम।
अर्पित हरि-पद तन मन प्राण,
पूजति हरिहि, धरति हरि ध्याना।
मुनि जन्म कारा मधुरारी
तीयराज वहि कहति कुमारी।
परसउ हरि व्रज निज पद रेणू,
तथा — गुनति गार धनि सवति धनू।[2]

दोहा—लखि गवनत खग वारि धर, पवनहु उत्तर ओर,
प्रेषति प्रेम सन्देश सखि, हरि अनुरक्ति विभोर।[3]

प्रकृति के विभिन्न उपकरणों पक्षी, बादल और पवन के हाथ अपनी व्यथा का सन्देश प्रिय के पास भिजवाने की पद्धति बहुत पुरानी है। कालिदास, जायसी और हरिऔध सबन ही ऐसे सन्देश विरहिया द्वारा कहलवाये हैं। मिश्रजी ने किसी एक के द्वारा सन्देश का विस्तृत विवरण न देकर सबका संकेत मात्र कर दिया है।

मित्रविन्दा अपने और सखि के दोनों के दुख से दुखी है। वह दोनों के एक ही व्यक्ति पर इस तरह आसक्त होने को भाग्य की विषमता समझती है, माँ से कहती है—

दोहा—प्रिय सखि-दुख मैं दुखिता सकी न कहि मुख माहि।
भयउ भाग्य निर्णय विषम अटल एक पल माहिं॥[4]

परम्परागत रूप से कृष्ण को सोलह सहस्र रानियों का स्वामी समझा जाता है, साथ ही कवि की उनके प्रति पूज्य बुद्धि भी है। अतः रुक्मिणी की व्यथा से मित्रविन्दा व्यथित है, उसे ईर्ष्या नहीं होती। उसके मन की यह प्रतिक्रिया प्रेम की स्वाभाविक गति के प्रतिकूल है। सम्भवतः वह सामन्ती नारी की पुरुष के प्रति स्वाभाविक दासता की सूचना देती है, जहाँ पुरुष के अनेक पत्नीत्व को नारी प्राकृतिक मानती है। माता ने भी पुत्री का यही समझाया—

१ श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र—कृष्णायन पद १०५, पृष्ठ १८७
२ वही, पद १२५, पृष्ठ १८७
३ वही, पद १२६, पृष्ठ १८८
४ वही पद १२७, पृष्ठ १९६

दोहा—तुमहु सखी मम भजि गुणन, सकत पाय यदुनाथ
नहि एकहि निधि नलिनि दोउ, करत समान सनाथ।[1]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'कृष्णायन' में मित्रविन्दा के पूर्वराग का रूप परम्परागत होने पर भी उसमें अनुभूति की कमी नहीं है। रुक्मिणी और मित्रविन्दा को सखा रूप में प्रस्तुत करके और मातव राजकुमारी को रुक्मिणी के यहाँ रहने के लिए भेजकर कवि ने उसके मानसिक अन्तर्द्वन्द्व की मौलिक अनुभूति का समावेश किया है। उसके परम्परागत विरह में रोना खीझना नहीं है, सन्तुलित हृदय की वेदनापूर्ण अभिव्यक्ति है।

उज्जयिनी के राजा और रानी जब विवाह का प्रस्ताव कृष्ण के सम्मुख रखते हैं तो वह यह कहकर उस समय के लिए बात टाल देते हैं कि बड़े भाई से पहले वह विवाह नहीं करेंगे।[1] बाद में द्वारका काण्ड में कृष्ण उज्जयिनी नरेश की मृत्यु के पश्चात् मित्रविन्दा को 'स्वयंवर' में से हरण कर लाते हैं।

रुक्मिणी के पूर्वराग का वर्णन कवि ने मित्रविन्दा के शब्दों में कराया है

परसेउ हरि वत्स निज पद रेणू,
गुनति गापधनि सर्वति धेनू।
नीरद कांति जानि वनमाली,
ऋतुपति पावस मानती आली।
विलसत सुनि हरि तनु पीताम्बर
पहिरति पीत त्यागि नीलाम्बर।
जानि हरिहि गुंजा अनुरागी,
मुक्ताहार दिए सखि त्यागी।
हरि गिर चद्रक सुनि सुकुमारी,
पाले शिखि उडाय शुक सारी।
जानि धरा मधुराधर श्यामा,
वादति वेण बीन तजि बामा।
लखि भवनत खग गरिधर पवनहु उत्तर ओर,
प्रणति प्रेम सदन सखि हरि अनुरक्ति विभोर।[1]

गुणश्रवण प्रेम और उन्माद की विरह-दशाओं का संक्षिप्त विवरण यहाँ मिलता है।

जरासन्ध के अत्याचार से पीड़ित कृष्ण मथुरा छोड़कर द्वारका चले जाते हैं और वहाँ मथुरा की नई राजधानी की स्थापना करते हैं। एक दिन कृष्ण उद्धव के साथ

---

[1] श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र—कृष्णायन पद १३८ पृष्ठ १६६

उपवन म भ्रमण कर रह थे। वहा उन्होंने एक ब्राह्मण को आते देखा। यह ब्राह्मण रुक्मिणी का सन्देश लाया था—

नाथ ! विदभ देश मम वासू,
नप भीष्मक यश-गौय निवासू
रुक्मि भूप-सुत दारुण जनु फणि,
सुता भुवन भामिनी मणि रुक्मिणी।[१]

दोहा—कुमुद देह, पूर्णेंदु मुख, कर पद उषा विलास,
दंति श्रेणि अलि मधु अधर, शरद् चन्द्रिका हास।

सोरठा—नाथ विमल यश गान सुनि नारद मुख पितु भवन,
धरति दिवस निशि ध्यान, अर्पित तन-मन प्रभु चरण।

ब्राह्मण ने यह भी बताया कि रुक्मि जरासंध का मित्र है। अत कृष्ण से रुक्मिणी के विवाह के पक्ष म नहीं है परन्तु—

रुक्मिणि? भीषण प्रण ठाना
वरहुँ हरिहि नतु त्यागहु प्राणा।[२]

बलराम और कृष्ण ने आपस म परामर्श किया कि रुक्मिणी के उद्धार के बहाने वह मथुरा छोड़कर भाग आने के अपयश को भी प्रक्षालन कर सकेंगे। अत केवल रुक्मिणी के प्रेम के लिए ही नहीं प्रत्युत राजनीति से प्रेरित होकर भी कृष्ण ने विदभ की ओर प्रयाण किया। कृष्ण जब वहा पहुच तो शिशुपाल से रुक्मिणी के विवाह के सब साज उपस्थित थे। वहीं पार्वती के मन्दिर के पास कृष्ण का उससे मिलन होता है। कृष्ण की उपस्थिति म आगतपतिका रुक्मिणी के उल्लास की अभिव्यक्ति कवि इन शब्दों में करता है—

लखत नपति शत नयनन जानी,
हरि अनुरक्त कुमारि लजानी।
उत्तरीय निज विकल सभारी,
भाल अलक कर वाम निवारी।[३]

कृष्ण के आने से पूव रुक्मिणी की उद्विग्नता का वणन कवि कर सकता था, परन्तु उसने नहीं किया।

'कृष्णायन' के विरह भाव सम्बन्धी इन प्रसगों के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि उसके परम्परागत रूप को ही कवि ने लिया है। कृष्ण के प्रति उसकी अत्यन्त पूज्य बुद्धि है। वह उनके जीवन की कोई महत्त्वपूर्ण घटना नहीं छोड़ना चाहता। मग एक ओर तो राजकाज म उलझे हुए कृष्ण के पास विरह-व्यथा के लिए अवकाश ही नहीं है

१ श्री द्वारकाप्रसाद मिश्र—कृष्णायन, द्वारका काण्ड पद ७, पृष्ठ २३७
२ वही, पद ८, पृष्ठ २३७
३ वही, पद २२, पृष्ठ ४५

दूसरी ओर उनसे सम्बन्धित मित्रविन्दा, राधा और रुक्मिणी के हृदय की गहराई के विवरण तक भी कवि ने पहुँचना नहीं चाहा है फलतः अनुभूति के यत्र-तत्र संकेत मिलने पर भी अधिकांश विरह-वर्णन इतिवृत्तात्मक है। अनुभूति का संकेत जहाँ है वहाँ मार्मिक है।

हरदयालुसिंह

रावण महाकाव्य—'रावण महाकाव्य' दैत्यकुल के सुप्रसिद्ध महान राजा रावण के जीवन चरित्र को लेकर लिखा गया है। आर्यों की दृष्टि अपने आदर्श चरितों के प्रति संकुचित थी अतः उन्होंने विपक्षियों के जीवन में सौंदर्य को नहीं देखा। किन्तु आज के कवि ने निष्पक्ष होकर उनके जीवन में भी प्रवेश किया है और पता लगाया है कि वह केवल मनुष्य मांसाहारी बर्बर जीव ही नहीं थे, उनके जीवन में भी मानव जैसे सुख-दुख, हर्ष विषाद, प्रेम व पीड़ा का स्रोत बहा करता था।

'रावण महाकाव्य' में मेघनाद का सुलोचना के प्रति विरह वर्णित है। पातालपुरी में सुलोचना की भेंट मेघनाद से हुई थी। वहाँ सरोवर में नक्र ने सुलोचना के पैर को पकड़ लिया और मेघनाद ने उसे बचाया था। वहीं इन दोनों का गंधर्व विवाह हुआ। सुलोचना को पातालपुरी में छोड़कर मेघनाद जब लंका को लौटा तो विरह संतप्त रहने लगा। रावण ने राजवैद्य को बुलाकर मेघनाद की नाड़ी दिखाई चतुर सुषेण ने समझ लिया कि राजकुमार को मदन का रोग लगा है। समुद्र के तट पर अत्यन्त ऐश्वर्यशाली एक महल बनवा दिया गया और राजकुमार वहीं रहने लगा।

रावण-काव्य में मेघनाद का विरह परम्परागत संस्कृत नाटकों की पद्धति का है। चित्रलेखन उन्माद प्रलाप आदि स्थितियाँ उन्हीं के अनुरूप है। विरह में प्रिया का चित्र लेखन करते हुए मेघनाद का उन्माद व अश्रु दशाओं का वर्णन अत्यन्त स्वाभाविक है—

रंग औ तूलिका लै कर मैं,
  पटिया पै रहै कबौ चित्र बनावत।
अंकित कै तिय को मनुहारि,
  बड़े मन लौ रहै अंक लगावत।
बोल नहीं तब मानिनी जानिकै,
  वाको रहै परि पायँ मनावत।
आँखिन में असुवा उमड़े
  तेहि राजकुमार निहारि न पावत।[1]

---

१ श्री हरदयालुसिंह—रावण महाकाव्य, सातवाँ सर्ग, पद २, पृष्ठ १०५

कवि उनकी कृशता का वणन करत हुए कहता है—

नील-सरोज सों कोमल गात,
गयो घननाद को या कुम्हिलाई।
जाडेन का रतियानि से जस
तुषार सों पकज जात सुखाई ॥[1]

मघनाद के मन का उद्वग दखिए—

डारि दियो पट भूषण कौ हूँ,
कहूँ सरचाप को दीन्हो बिहाइ।
बाल सखा लखि ताकि, दसा
लियो आँगुरी दाँतन माँहि दबाइ ॥[1]

एक रात्रि चन्द्रमा क उदित हान पर मघनाद के मन म विचार आया कि यह अवश्य ही पातालपुरी जाएगा। अत चन्द्रमा के हाथ उसन सदेश कहलान का निश्चय किया। चन्द्रमा स राजकुमार ने विनती की—

बाम बिलोचन हौ ही विराट के,
औ सिव सीस प वास तुम्हारो।
है गति मन्द दिवाकर की जहाँ
रावरो हात तहाँ उजियारो॥
लोकनि कौ उपकारी बड़ो गुनि
आपुही कौ यहि जोग विचारो॥
मो प दया करि प्रान प्रिय
पहुचाय हौ दीज सन्देस हमारो ॥[2]

विरह म प्राकृतिक उपकरणा का दूत बनाकर भेजन की पद्धति बहुत पुरानी है। कालिदास क मघदूत क पश्चात सूर और नन्ददास न भ्रमर को दूत बनाया। सत्यनारायण कविरत्न का भ्रमरगीत भी उसी श्रेणी का हुआ। हरिऔधजी की राधा न 'पवन' को कृष्ण क पास दूत बनाकर भेजा। आधुनिक काल म अनूप शर्मा के सिद्धाथ म मराल दूत बना और हरदयालुसिंह क दत्यवश म हस। चन्द्रदूत भी उसी पद्धति का है।

विरही मघनाद का चन्द्रमा को दूत बनाकर भजत समय बराबर यह ध्यान रहता है कि उसकी किरणें राह म विरहिया को दुख देंगी—

प बिप वीथी मरीची लख,
गति हाय वियागिनी की कहा ह्व हैं।

---

१ श्री हरदयालुसिंह—रावण महाकाव्य, सातवाँ सग, पद ३, पृष्ठ १०५
२ वही, पद २५

ओढनी स्याम निसा तिय की,
घबराय के भागत मे फटि जैहै ॥[1]

कालिदास के यक्ष की भाँति मेघनाद भी चन्द्रमा से भारत की सुषमा देखकर आगे बढ़ने का आग्रह करता है—

नाहर को रव घोर सुनै,
जुप रावर स्यन्दन के मग भाग।
राकेहुते केहु भाँति रुके नहिं,
हाँतल मे यो महाभय पाग॥
पीट पे दे थपकी कर सौं
पुचकारियो हौल सभारि के वाग।
दडक कानन मजुल दृश्य
निहारव को जेहित अनुराग॥[2]

उसमें अपने रूप का गर्व है। 'यक्ष की कन्याएं कलाश पर मेरी भक्ति के भाव से गिरिजा के गले में हार पहनाती होंगी और अनुकूल वरदान पाकर स्वयं को धन्य समझती होंगी।

जच्छ तिया तहा हेम सरोज के,
मालनि का गुहे ल्यावती ह्वै है।
औ मेरी भक्ति के भावन सौं,
गिरिजा के गरे पहनावती ह्वै है॥
सैल सुता पद पकज पुजि
अखड सुहाग को पावती ह्वै है।
या विधि मो सिगरी युवती,
निज जीवन धन्य बतावती ह्वै हैं॥[1]

यह सुलोचना के लिए सदेश कहता है—

राखत अपन प्रानिन को
हिय लालसन सौं अभिलाषनि धारी।
धारेहि मासनि को अब और
बिताय दे माँग मेरी सुकुमारी॥
लक में लहै तुम्हें बुलवाय,
सुन सब हाल जब महतारी।

---

१ आनन्द चतुर्वेदी—रावण महाकाव्य, सातवाँ सर्ग, पद २१
२ [illegible]

खोय के दुख के चौसनि कौ,
फिरि है फिरि सौ वह भाग्य हमारो ॥[१]

मेघनाद सुलोचना से केवल एक बार मिला और उसके रूप पर आसक्त हो गया। गंधर्व विवाह तथा मिलन के प्रथम चिह्न चुम्बन परिरम्भण आदि भी हुए किन्तु मेघनाद अधिक दिन उसके समीप नहीं रहा, लंका को लौट आया। लंका में वह अपने मन की बात किसी से नहीं कहता। अतः 'प्रवास' होते हुए भी रावण महाकाव्य में मेघनाद का विरह रूपदर्शन से उत्पन्न पूर्वराग के अधिक निकट हो गया है और वह पूर्वराग है अथवा प्रवास इस विषय में सन्देह-सा होने लगता है।

रावण महाकाव्य में दूसरा विरह प्रसंग रावण की स्त्री धान्यमालिनी का है। रावण की मृत्यु के पश्चात् धान्यमालिनी का विरह शृंगार का आशापूर्ण विप्रलम्भ न होकर निराशा समन्वित शोक स्थायी भाव का 'करुण' है। किन्तु रावण की स्मृति वह भूलती नहीं, वात्सल्य का पोषण करके प्रतिशोध की जड़ें दुस्तर बनाती है। विभीषण से बदला लेने के लिए वह अरिमर्दन को ललकारती है।

रावण के वियोग में दिन बिताती हुई धान्यमालिनी को देखिए—

कहत रही इक रुचिर कहानी।
सुत नयननि निंदिया नियरानी॥
मयनन्दिनी की आँखि न लागी।
सोचत ही सिगरी निसि जागी॥
पति-गुन-गुन सुमिरत बहु भाँती।
रोवति बात रही सब राती॥
या विधि सौं अँसुवा दृग ढारी।
भीजि गयो पट अंचल सारो॥[२]

धान्यमालिनी अत्यन्त आत्माभिमानिनी है। उसकी विरह व्यथा अत्यन्त मार्मिक है। मृतक पति को लौटाया नहीं जा सकता किन्तु मातृभूमि जो षड्यन्त्रकारियों ने छीन ली, पति का वह गौरव तो लौटाया जा सकता है। धान्यमालिनी उसी आशा के सहारे जी रही थी। अरिमर्दन ने जब रोने का कारण उससे पूछा तब उसने बताया—

तुव पितु हुतो लंक गढ स्वामी।
रह्यो सुरेश जासु अनुगामी॥

ताको एक विभीषण भाई।
उपज्यो बंस अनल दुखदाई॥

---

१ आ हरदयालुसिंह—रावण महाकाव्य, सातवाँ सर्ग, पद ४५
२ वही, सोलहवाँ सर्ग, पद १८

रघुवसिन सग प्रीति दढाइ।
निज भाइन डारयो मरवाई॥[1]

माता की प्रेरणा से ही अरिमदन लका को अत्याचारी विभीषण के शासन स मुक्त करता है, कुश से उसकी सधि हो जाती है।

धन्यमालिनी का वियोग वात्सल्य के सहारे आशा प्रेरित बनता है।

रामानन्द तिवारी शास्त्री

पार्वती—कुमार कार्तिकेय के जन्म तथा मदन के दग्ध होने की कथा को लेकर पार्वती का य लिखा गया है। देव दानव युद्ध म तारकासुर जब देवो को अत्यन्त त्रास पहुँचाने लगा तब ब्रह्मा ने उन्हे समझाया कि शिव और पार्वती के सयोग स उत्पन्न पुत्र ही असुरा का सहार कर सकता है।

पार्वती हिमालय की पुत्री थी। उन दिना योगीश्वर शिव कलाश पर घोर तपस्या म मग्न थ। उनकी तपस्या का यशगान सुनकर अनेक व्यक्ति उनके दशनाथ आते थ। एक दिन हिमालय भी अपनी कन्या के साथ आए और उन्होने शिव से प्राथना की—

पुण्य दशन स शिवकर आपके अभिराम,
हुए आज कृताथ हम चिर पूण-काम प्रणाम
आपक दुलभ दरश का एक ही फल नाथ!
याच्य दशन और सेवा नित सुता के साथ।[2]

योगीश्वर शिव भी अन्य योगियो की भाति प्रकृति स दूर रहकर प्रकृति के बन्धना का नष्ट करन का प्रयास कर रहे थे। प्रकृति के प्रतिरूप नारी का उन्होंने अपने तपस्या के लिए बाधा रूप स्वीकार किया—

भूप से बोल सदाशिव नप प्रकृति से दूर,
ध्यान तप स कर प्रकृति के बन्धना को चूर
आत्म स्थिति की सिद्धि का कुछ कर रहा अभ्यास
है न समुचित प्रकृति को देना यहाँ अवकाश।[3]

परम सुकुमारा उचित इसको न यह आयास
उचित योगी का न रखना प्रकृति को निज पास
योग्य इसके आपके कमनीय कचन धाम,
उचित आत्म नियोग म मुझको प्रकृति उपराम।

---

१ डा हरन्यायसिंह—रावण महाकाव्य, सोलहवाँ सग पद १५
२ डा रामानन्द तिवारी शास्त्री—पार्वती, तीसरा सग, पृष्ठ ८०
३ वही पृष्ठ ८०

प्राथना इससे हमारी यही पवतराज।
हो गए कृत-कृत्य इसके दरस से हम आज,
छोड इस तन्वंगिनी को आप अपन गह,
नित्य दशन का पधारें नपति निस्सदेह।[1]

पावती अत्यन्त विदुषी और शास्त्रज्ञाता थी, तपस्या म प्रकृति का और फलत नारी का यह तिरस्कार उन्ह अच्छा नहीं लगा। प्राथना के रूपम शिव के तक को चुनौती-सी दते हुए उन्होने कहा—

पर कुतूहल मान मरा क्षमा करना नाथ।
है न क्या योगीश्वरो को भी प्रकृति अनिवाय?
देव कण कण म प्रवाहित है प्रकृति के स्रोत,
विश्व म सवत्र स्वामिन्! प्रकृति मात प्रोत।
आपका यह श्रवण-दशन, वचन का व्यवहार,
नाथ! सुकुमारी प्रकृति का ही रुचिकर व्यापार
आपक य तप, नियम, व्रत धारणा औ' ध्यान
है प्रकृति के माग से ही आत्म अनुसन्धान।[2]

अत तिवारीजी की 'पावती' नारद के वचन सुनकर परम्परागत पावती की भाँति ध्यानावस्थित शिव के सम्मुख तपस्या करना प्रारम्भ नहीं करती प्रत्युत उनके समीप रहने की स्वीकृति स्वय अपनी योग्यता के आधार पर प्राप्त करती है। शिव पावती के तक स निरुत्तर हो जात हैं और अपनी परिचर्या के लिए उनका समीप रहना स्वीकार कर लत हैं। तब पिता की आज्ञा लेकर वह सेवा रूप घोर तप का प्रारम्भ कर देती है। इस प्रकार सेवा व्रत में दीक्षित पावती का चित्र कवि ने एसा खींचा है—

भाल का शशि हरण करता तीव्र तप का स्वद
ध्यान मग्न दवता का दूर करता खेद,
नियम विधि श्रम भाल का हरता सुदुवह भार
धय बनता हृदय का व्रत पूण शीलाचार।[3]

शिव और पावती को अपनी अपनी तपस्या म निरन्तर सलग्न देखकर देवता उद्विग्न हो उठे। इन्द्र ने अपने मित्र मदन को उनकी तपस्या भग्न करने के लिए भेजा। एक दिन शिव जब पावती की पूजा का हार ग्रहण कर रहे थे तब—

अवसर जान उसी क्षण करके लक्ष्य शम्भु के तनु को
धर सम्मोहन बाण काम ने खीचा कुसुमित धनु को।

---

१ श्री रामानन्द तिवारी शास्त्री—पावती, तापस सग, पृष्ठ ८०
२ वही पृष्ठ ८१
३ वही, पृष्ठ ८४

चन्द्रोदय आरम्भ काल में आचचल सागर से,
होकर अल्प अधीर प्रभावित किंचित अविदित स्मर से
उत्सुक लोचन खोल तरी से चचल छवि सागर मे
हुए प्रवाहित ईश एक पल अदभुत रूप प्रसर में।[1]

काम से आन्दोलित शिव के हृदयगत भाव जब नेत्रों में छलक उठे तो वह पार्वती से भी छिपे न रह सके और उन्होंने एक अभूतपूर्व भाव का अनुभव किया—

पुलकित एक अपूर्व भाव से सहसा शैल कुमारी,
कर सकुचित चारु अंगो को लज्जा से सुकुमारी
मन्द वायु से साचीकृत-सी देहलता कम्पित सी,
व्रीड़ा से विभ्रान्त नयन से खड़ी रही विस्मित सी।[2]

प्रेम भाव से उत्पन्न लज्जा वेपथु व्रीड़ा और विस्मय के अनुभावों का वर्णन कवि ने अत्यन्त स्वाभाविकता से किया है। पूर्वराग की तुल्यानुराग पीड़ा की अनुभूति इसी स्थल से शिव और पार्वती में प्रतिष्ठित होती है, यद्यपि शिव ने उसे अपने मन की दुर्बलता माना और मदन का भस्म करके भी वे इस पाप का शमन करने के हेतु घोर तपस्या को अन्यत्र चले गए।

शिव के चले जाने के पश्चात निराश पार्वती घर को लौट आई। इस 'पूर्वराग' की पीड़ा में केवल काम वेदना नहीं थी प्रत्युत कुसुमसायक की विवश पत्नी के लिए समवेदना भी थी। शिव उनके रूप सौन्दर्य से प्रभावित होकर भी उसका तिरस्कार करके चले गए थे, उस विरक्ति की कचोट से पार्वती अत्यन्त दुःखी हो गईं—

स्मरण कर शिव का क्षणिक वह रागमय दृक्पात,
किन्तु चक्षु तृतीय से वह मदन का तनु घात,
औ उपेक्षा-पूर्ण तप के हेतु दूर प्रयाण
कर रहा था सतत आकुल पार्वती के प्राण।
स्मरण कर रति का करुणतम स्नेहपूर्ण विलाप,
हो रहा था पार्वती के चित्त को सन्ताप
देवताओं का स्मरण कर वदन दीन मलीन,
पार्वती रहती निरन्तर मौन चिन्ता लीन।
और अपने रूप रति की विफलता कर ध्यान,
नित्य करती रूप का निन्दा सहित बहुमान,
नारियों के रूप का फल प्रेम-पूर्ण सुहाग।
मरण से बढ़कर दयित का त्याग-पूर्ण विराग,

---

१ डॉ रामानन्द तिवारी शास्त्री—पार्वती, पाँचवाँ सर्ग, पृष्ठ १२३
२ वही, पृष्ठ १३१

जागते सोते सदा ही वह करुण इतिहास,
पार्वती के चित्त को रखता अतीव उदास।[1]

पार्वती की विरह-वेदना अत्यन्त संयमित है उसका उपचार करने के लिए सखियो को उशीर उबटन की आवश्यकता नहीं पडी चन्दन मगमदलेपन की भी नहीं। उन्होने न हृदय की ज्वलन का वर्णन किया, न गले की माला कुम्हलाई और न ही सखिया को गीले वस्त्र ले लेकर निकट जाना पडा—

किन्तु पर्वतराज की कन्या तरुण अभिजात
शान्ति और गम्भीरता से थी सदा अवदात
पूछती सखियाँ कभी थी यदि हृदय की बात,
स्नेह स धीरज बधाती थी कभी यदि मान,
धैर्य औ आशा सहित कर मधुर वार्तालाप
अन्य तप प्रसग से थी छिपाती निज ताप।[2]

पूर्वराग की पीडा का यह दिग्दर्शन अभूतपूर्व है। आधुनिक युग स पहले पार्वती जैसी सयमिता नायिकाएं तुलसी की सीता और सूर की राधा थी। सीता का तो पुष्प वाटिका म राम के दर्शन के पश्चात विरहानुभूति का अधिक अवकाश न था क्योंकि दूसरे दिन ही स्वयंवर था। राधा ने नेत्रो के पराये हो जाने पर बहुतेरे हाथ पांव पटके, सगी-साथी, घर-परिवार सब छोड दिए और यहाँ तिवारीजी की पार्वती हैं जो सखियो के पूछने पर, मा के सान्त्वना देने पर हृदय की बात बडी कुशलता स छिपा लेती हैं।

नारद ने जब हिमाचल स कहा कि शिव तप स ही मान्य हैं तब पार्वती ने तपस्या करने की मन म ठान ली—

मौन तप को छोड मुझको मार्ग कोई और,
विश्व मे तप साधना का है सदा सिरमौर,
निखरती तप स हृदय की निभव मात भक्ति
प्राप्त होती सिद्धि की निर्बाध धारण शक्ति।[3]

कवि ने पार्वती की तपस्या का विस्तृत वर्णन किया है। उस सुकुमार वय म अनन्त रूप और गुणा स समन्वित पार्वती को तपस्या करते देख अप्सराएं चकित रह जाती थी—

अप्सराएँ पार्वती का देख तप और शील,
मन्त्रणा आश्चर्य से करतीं मुदुर सलील
अमर यौवन का अनगल औ' अखण्ड विलास,
भ्रान्ति है क्या? सत्य केवल तप नियम उपवास।[4]

---

[1] श्री रामानन्द तिवारी शास्त्री—पार्वती, छठा सर्ग पृष्ठ १२९
वही, पृष्ठ १३१
वही, पृष्ठ १२८

चन्द्रोदय आरम्भ काल मे आचचल सागर से,
होकर अल्प अधीर प्रभावित किंचित अविदित स्मर से
उत्सुक लोचन खोल तरी से चचल छवि सागर मे
हुए प्रवाहित ईश एक पल अदभुत रूप प्रसर मे।[1]

काम से आन्दोलित शिव के हृदयगत भाव जब नेत्रो म छलक उठे तो वह पावती से भी छिपे न रह सके और उन्होने एक अभूतपूर्व भाव का अनुभव किया—

पुलकित एक अपूर्व भाव से सहसा शल कुमारी,
कर सकुचित चारु अगो का लज्जा से सुकुमारी
मन्द वायु से साचीकृत सी देहलता कम्पित सी,
व्रीडा स विभ्रान्त नयन स खडी रही विस्मित सी।[2]

प्रेम भाव से उत्पन्न लज्जा वेपथु व्रीडा और विस्मय के अनुभावो का वणन कवि ने अत्यन्त स्वाभाविकता से किया है। पूवराग की तुल्यानुराग पीडा की अनुभूति इसी स्थल से शिव और पावती म प्रतिष्ठित हाती है, यद्यपि शिव ने उसे अपने मन की दुबलता माना और मदन को भस्म करके भी वे इस पाप का शमन करने के हेतु घोर तपस्या का अन्यत्र चले गए।

शिव क चले जाने के पश्चात निराश पावती घर को लौट आई। इस 'पूवराग' की पीडा म केवल काम वेदना नही थी प्रत्युत कुसुमसायक की विवश पत्नी के लिए समवेदना भी थी। शिव उनके रूप सौन्दय स प्रभावित होकर भी उसका तिरस्कार करके चले गए थे उस विरक्ति की कचोट से पावती अत्य त दु खी हो गई—

स्मरण कर शिव का क्षणिक वह रागमय दकपात,
कि तु चक्षु तृतीय से वह मदन का तनु घात,
औ उपेक्षा-पूण तप के हेतु दूर प्रयाण
कर रहा था सतत आकुल पावती के प्राण।
स्मरण कर रति का करुणतम स्नेहपूण विलाप,
हो रहा था पावती के चित्त को सन्ताप
देवताओं के [illegible]मरण कर वदन दीन मलीन,
[illegible] निरन्तर मौन चिन्ता-लीन।
[illegible]र तपस्या से प्रस[illegible]ति की विफलता कर ध्यान,
[illegible] है तो स्वय को [illegible] का निन्दा सहित बहुमान,
[illegible] पश्चात् कि वह [illegible] का फल प्रेम-पूण सुहाग।

२९१

जागत ज्ञान सम ही वह करुण इतिहास,
पार्वती के चित्त को रखता अतीव उदास।[1]

पार्वती की विरह-वेदना अत्यन्त संयमित है उनका उपचार करने के लिए सखियों को उशीर, उबटन की आवश्यकता नहीं पड़ी चन्दन मा मदलेपन का भी नहीं। उन्होंने न हृदय की ज्वलन का वर्णन किया, न गले की माला कुम्हलाई और न ही सखियों को गीले वस्त्र ले लेकर निकट जाना पड़ा—

किन्तु पर्वतराज की कन्या तरुण अभिजात
शान्ति और गम्भीरता से थी सदा अवदात
पूछती सखियाँ कभी यदि हृदय की बात,
स्नेह में धारज बधाता थी कभी यदि मात
धैर्य औ' आशा सहित कर मधुर वार्तालाप
अन्य तप प्रसंग से थी छिपाती निज ताप।[2]

पूर्वराग की पीड़ा का यह चित्रण अभूतपूर्व है। आधुनिक युग से पहले पार्वती जैसी संयमिता नायिकाएं तुलसी की सीता और सूर की राधा थीं। सीता को तो पुष्प वाटिका में राम के दर्शन के पश्चात विरहानुभूति का अधिक अवकाश न था क्योंकि दूसरे दिन ही स्वयंवर था। राधा ने नेत्रों के पराए हो जाने पर बहुतेरे हाथ-पाँव पटके सखी-साथी, घर-परिवार सब छोड़ दिए और यहीं गिरिजा जी की पार्वती हैं जो सखियों के पूछने पर, माँ के सान्त्वना देने पर हृदय की बात बड़ी कुशलता से छिपा लेती हैं।

नारद ने जब हिमाचल से कहा कि शिव तप से ही साध्य हैं तब पार्वती ने तपस्या करने की मन में ठान ली—

माँ ने तप को छोड़ मुझको ... कोई और
विश्व ने तप साधना का ... है। वह अत्य... ...ी है और संवेदनशील।
निखरती तप से हृदय की। माता और सखियों के सम्मुख व्यक्त नहीं
प्राप्त होती सिद्धि की। विवाह युग्म के क्रन्दन से अस्थिर हो जाती हैं।

कवि ने पार्वती की तपस्या का विस्तार न पर कवि ने दख है किन्तु उनमें वह रमा मन व रूप और गुणों से समन्वित पार्वती के दिं छिन्न भिन्न कर दिया। यदि इन दोनों के जाती थी—

अप्सराएँ पार्वती का ' पार्वती' का विरहवर्णन अधिक मार्मिक हो
मन्त्रणा आश्चर्य से क... श्रेनुभूति मिलती है तो पृष्ठा तक लुप्त हुई रहती
अमर यौवन का अनगल ... नहीं बन पाती।
भ्रान्ति है क्या? सत्य केवल

१. श्री रामानन्द तिवारी शास्त्री—पार्वती, छटा सर्ग, पृष्ठ १६५
२. वही, पृष्ठ १३१
३. वही, पृष्ठ १२५

वर्षा ऋतु के आगमन पर बडे-बडे ऋषि मुनि भी उटज का निर्माण करने को बाध्य होते थे किन्तु ध्यानावस्थित पार्वती को कोई सुधि न थी—

> मिद्ध ऋषि, मुनि पव से ही कर उटज निर्माण,
> विवश रक्षित वास करते, त्याग चरण प्रयाण,
> कर अनावृत शिला तल पर शल वाला वास,
> कर रही तप से व्यतीत अपूर्व चातुमास।[1]

एक स्थल पर ध्यानावस्थित पार्वती का कवि ने अत्यन्त सुन्दर चित्र खींचा है। 'शरद राका में एकान्त शिला पर तपस्या करती हुई पार्वती गेरुए वस्त्रों मे ऐसी प्रतीत होती थी जैसे राका की पलकों में उषा का स्वप्न जगा हो।'[2] चांदनी रात्रि के धूमिल उजियाले में गेरुए वस्त्रों से आवृत पार्वती की यह उपमा अनुपम है।

जो पार्वती आँधी पानी से भी विचलित न होती थी, वह रात्रि के निर्जन में सरिता के दोनों कूलों पर स्थित चक्रवाक युग्म के करुण क्रन्दन से व्यथित हो उठती थी। विरहानुभूति के इस सूक्ष्म तथ्य की पकड कवि ने अत्यन्त सफलता से की है कि घायल की गति घायल जाने और न जाने कोय'—

> चक्रवाक मिथुन वियोगी सरित कूल समान,
> परस्पर दोनो पृथक औ उभय आकुल प्राण,
> करुण क्रन्दन से विनीरव निशा में ध्रुव शान्त,
> भंग करते पार्वती का ध्यान औ एकान्त।[1]

ध्यान के इस प्रकार भंग होने के पश्चात मन की क्या दशा होती थी इसका तनिक संकेत भी कवि कर देता तो अनुभूति अत्यन्त मार्मिक हो जाती किन्तु तपस्या के [illegible] होने दिया। इस[illegible] आगे ही पार्वती मन्त्र जाप करती दिखाई पडने [illegible]

कर रहा था सतत [illegible]न शिव उनकी परीक्षा लेने आते हैं और जब
स्मरण कर रति का क[illegible] उनका चिर दास घोषित कर देते हैं। पार्वती
हो रहा था पार्वती [illegible]शिव के लिए तपस्या कर रही है, वटु रूप शिव
[illegible] स्मरण।

> [illegible] निरन्त[illegible] तपवती तुम गिरि कुमारी,
> [illegible]स्या से प्रस[illegible] रति [illegible] कहाँ हर अहि शूलधारी,
> तो स्वयं को [illegible] [illegible]त हो करो कल्याण अपना
> [illegible]ात् कि वह [illegible] [illegible]ा मधुर यौवन पूर्ण सपना।[1]

तो पार्वती अत्यन्त क्रुद्ध हो जाती हैं—

सुन वटु के कटु वचन कोप से हुए अधर आकम्पित,
औ उमा की भ्रू लतिकाएं सहसा हुईं विकुंचित
कर तिरछे अपांग में किंचित लोहित युगल नयन को,
हुई तापसी पर्वत कन्या वटु से विवश वचन को।[1]
× × ×
यद्यपि हो श्रुति शास्त्र परायण द्विज! तुम पूर्ण विपश्चित,
परमेश्वर का रूप तत्वतः नहीं जानते निश्चित
इसीलिए हर का निन्दा युत तत्पर हुए वचन में,
मन्द सदा ईर्ष्या करते हैं महाचरित से मन में।
× × ×
अथवा व्यर्थ विवाद सुने हैं तुमने उनमें जैसे
दोष अनन्त सभी वे उनमें चाहे हों भी वैसे,
एक भाव से हुआ उन्हीं में संस्थित मानस मेरा,
शिव में ही बन गया सनातन मेरा प्राण बसेरा।[2]

वटु फिर अधिक तर्क के लिए जब मुख खोलने लगता है तो अत्यन्त क्रुद्ध पार्वती वहाँ से चलने को स्वयं तत्पर हो जाती हैं—

'अथवा मैं ही चलूं यहाँ से' कह चल दी गिरि बाला।

उसी समय उन्होंने वटु में शिव के वास्तविक रूप के दर्शन किये और महेश ने प्रसन्न हो उन्हें पत्नी रूप में स्वीकार कर लिया।

'पार्वती' काव्य में पार्वती के इस पूर्वराग के विषय में कहा जा सकता है कि कवि ने परम्परित कथा में भी विरहानुभूति की नवीन पद्धति खोजने की चेष्टा की है। विरहाकुल पार्वती अत्यन्त संयत और गम्भीर हैं। वह अत्यन्त विदुषी है और संवेदनशीला भी। एक ओर वह अपने मन की व्यथा को माता और सखियों के सम्मुख व्यक्त नहीं करती दूसरी ओर रति की पीड़ा और चक्रवाक युग्म के क्रन्दन से अस्थिर हो जाती है। पार्वती के हृदय के भावुक स्थल स्थान स्थान पर कवि ने देखे हैं किन्तु उनमें वह रमा नहीं, तपस्या के महत्त्व की आँधी ने उन्हें छिन्न भिन्न कर दिया। यदि इन दोनों के उचित अनुपात का ध्यान रखा जाता तो 'पार्वती' का विरहवर्णन अधिक मार्मिक हो सकता था। अब कहीं एक पद में वह विरहानुभूति मिलती है तो पृष्ठों तक लुप्त हुई रहती है। फलतः वह अनुभूति उतनी प्रभावास्पद नहीं बन पाती।

---

१ श्री रामानन्द तिवारी शास्त्री—पार्वती, सातवाँ सर्ग, पृष्ठ १६५
२ वही, पृष्ठ १६५

गुरुभक्तसिंह

नूरजहां—गुरुभक्तसिंह की 'नूरजहाँ' में विरह का सबसे मार्मिक दिग्दर्शन अनारकली की वियोग वेदना में मिलता है। अनारकली सलीम की प्रेयसी थी किंतु स्वयं अकबर उसे अपने अन्तःपुर की रानी बनाना चाहता था। इसी से एक बार उसे सलीम के साथ प्रणय क्रीडाएँ करते देखकर अकबर क्रोधित हो गया और उसको प्राणदण्ड की आज्ञा दी। जिस दिन अनारकली को प्राणदण्ड मिलने वाला था उसके पहले दिन उसकी मानसिक स्थिति क्या थी इसका सुन्दर वर्णन कवि ने किया है।

अनारकली को जीवन की आशा न थी, 'मरण मिलन के मार्ग में विकराल रूप से खड़ा था फिर भी वह प्रिय के दर्शन को आतुर थी—

उस मेरे मृत्यु समय में जब लोहे से हूँ जकड़ी।
जल्लादों ने नंगी कर तलवार जब हो पकड़ी॥
शोणित पीने को प्यासी करवालों की छाया में।
यह अमर जाय हँसता हो इस मिट्टी की काया में॥
जब जनता मूक खड़ी हो चिंतित सी दाएँ बाएँ।
तब क्षणभर का करुणामय वह जीवन बन आ जाएँ॥[1]

वह उस दर्शन को अन्तिम चिरमिलन का प्रतिरूप मानती है। जब उसका स्वतन्त्र पार्थिव अस्तित्व विलय हो जाएगा और सनाम में ही वह एकाकार हो जाएगी—

जब नहीं कामना कोई सुख शांति भंग करती हो।
जब सागर से मिलने को सरि अंतिम पग धरती हो॥[2]

मृत्यु के उन क्षणों को वह सरिता के समुद्र से मिलने के अन्तिम पग के समान मानती है। उस क्षण की यह उपमा परिस्थिति की अभिव्यंजना में जैसी समर्थ हुई है वैसी अन्यत्र दुर्लभ है।

अनारकली की विरह वेदना में आत्म चिन्तन की मार्मिकता इन्हीं पंक्तियों से स्पष्ट हो जाती है।

'प्रवत्स्यत्पतिका' के 'प्रवास' व 'अभाव की मदाका' के समान ही यह मरण की आशंका की वियोग वेदना है और करुण विरह का ही रूप है। 'नूरजहाँ' के प्रबन्ध प्रवाह की एकसूत्रता में निष्प्रयोजन होते हुए भी अनारकली का विरह प्रसंग स्वयं में बहुत सुन्दर है। अकबर अनारकली को प्राणदण्ड नहीं देता निर्वासित करता है। आखेट के हेतु वन में गए सलीम से भटकती हुई अनारकली की भेंट होती है और उनके अंक में विष खाकर वह प्राण त्याग करती है। इसी को चिर मिलन का प्रतीक मानती हुई कहती है—

'नहीं कामना है विलास की प्रणय मिला दर्शन पाया'

---

1 श्री गुरुभक्तसिंह—नूरजहां चौथा सर्ग, पृष्ठ २६
2 वही, पृष्ठ २६

'नूरजहाँ' में महर और सलीम के विरह में कोई विशिष्ट विशेषता नहीं अतः उसका विवरण और विवेचन यहाँ नहीं किया गया।

विरह अथवा विरहाभास

काव्यशास्त्रियों ने रति भाव के 'नायक-नायिका अन्यतर मात्र विषयत्व' और गुरुजन गतत्व' में शृंगाराभास माना है।[1] शृंगार नहीं। साथ ही उन्होंने कहा कि अनौचित्य की कसौटी वही है जहाँ सहृदय वैसा अनुभव करे। 'नायकनायिका अन्यतरमात्र विषयत्व' का विवेचन निबन्ध के प्रथम अध्याय में करते हुए हमने सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि वहाँ भी रति का उज्ज्वल रूप है आभास नहीं क्योंकि प्रतिदान के अभाव में एकनिष्ठता की उत्कटता और तीव्रतर हो जाती है।

'पंचवटी' की शूर्पणखा की लक्ष्मण के प्रति प्रणय-याचना भी शृंगाराभास न रह जाती यदि तत्काल ही लक्ष्मण को छोड़कर वह राम के सम्मुख स्वयं को पत्नी रूप में स्वीकृत करने का प्रस्ताव न रखती। उसके इस कृत्य से उसका व्यभिचारी रूप उभर उठता है और प्रेम के उज्ज्वल भाव की तन्मयता को आघात पहुँचता है।

पंचवटी के प्रणय याचना काण्ड में गुप्तजी ने प्रारम्भ में शूर्पणखा की विवश स्थिति का अत्यन्त मार्मिक चित्र उपस्थित किया है। लक्ष्मण से प्रेम का प्रतिदान न पाकर शूर्पणखा कहती है—

तुम कह सकते हो कि चन्द्र का
कौन दोष जो ठगा चकोर
किन्तु कलाधर ने डाला था
किरण जाल क्या उसकी ओर?
दीप्ति दिखाता यदि न दीप तो
जलता कैसे कूद पतंग,
व्याध मुग्ध करते ही फिर क्या
व्याध पकड़ता नहीं कुरंग?
लेकर इतना रूप कहो तुम दीख पड़े क्योंकि मुझे छली?[2]

युवा वरिष्ठ पुरुष को देखकर लुभा जाना असुर कन्याओं का स्वभाव कहा गया है। गुप्तजी की 'हिडिम्बा' भी एसे ही भीम पर लुभा गई थी किन्तु वहाँ अनौचित्य न था क्योंकि वह प्रेम अन्त तक स्थिर रहा। प्रेम के प्रतिदान के अभाव में भी यदि शूर्पणखा का भाव लक्ष्मण तक स्थिर रहता तब चाहे प्रतिहिंसा की भावना से सीताहरण और राम-रावण युद्ध होता या न भी वह विरह के उज्ज्वल व प्रतिष्ठित पद की एक निम्नतर कोटि को प्राप्त होता। क्योंकि प्रतिदान के अभाव की प्रतिक्रिया मनोविज्ञान में कभी-

१ शृंगार का शास्त्रीय विवेचन (प्रथम अध्याय)
२ पंचवटी, पृष्ठ ३८

कभी परपीडन (sadism) की मनोवृत्ति में देखी गई है।[1] शूर्पणखा कुछ क्षण बाद ही जब राम से प्रणय की भीख मांगने लगती है तो उसकी लक्ष्मण के प्रति याचना के शब्द हास्यास्पद लगने लगते हैं। वे विरह की मधुरवेदना के परिचायक न बनकर मायाविनी की वाक्चातुरी बन जाते हैं उन्हें हम 'विरहाभास' कहेंगे।

'गुरुजनगतत्व' की विपरीत स्थिति सोहनलाल द्विवेदी के 'कुणाल' में मिलती है। वृद्ध अशोक की तरुणपत्नी तिष्यरक्षिता जब अपने वात्सल्य के पात्र पुत्र 'कुणाल' पर आकृष्ट होती है तो परिस्थिति अत्यन्त विषम हो जाती है। समाजशास्त्र की दृष्टि से तिष्यरक्षिता का कुणाल के प्रति प्रेम भाव घोर पाप है उसमें प्रेम और विरह जैसी कोमल वस्तु के लिए स्थान ही कहां है? किन्तु विमाता और सपत्नी के पुत्र के कृत्रिम उपादानों का यदि लोप कर दिया जाय तो अनौचित्य कहाँ रह जाता है। तिष्यरक्षिता युवा थी सुन्दर थी, उसके मन में यौवन का उल्लास भी था। सम्राट् के सुख वैभव के लिए इसका विवाह उनसे कर दिया गया था किन्तु उसकी उमंग अतृप्त थी, भूखी थी। वह किसी को अपना सब-कुछ अर्पण करना चाहती थी। अशोक के ऐश्वर्यमय राज्य की वह एकान्त अधिष्ठात्री थी किन्तु वह हृदय का शासन चाहती थी, जहाँ कोई उसके हृदय पर शासन करे और वह भी उसकी एकमात्र अधिकारिणी बन जाय।

कुणाल को जब उसने रंगमंच पर कामदेव का अभिनय करते देखा तो सुप्त भावनाएं अनायास विकल हो उठीं—

वातायन औ सुन्दर गवाक्ष,
ये दरस रहे मादक कटाक्ष,
हो रहे राग रंजित युगाक्ष,
ये विकल किसी के बने प्राण!
हो गए रूप पर नयन लुब्ध,
उत्कंठा से उर सिंधु क्षुब्ध,
उत्सुकता से यौवन विक्षुब्ध
था पड़ा लक्ष्य पर काम बाण॥[2]

कुणाल का रंगमंच पर अभिनय तो समाप्त हो गया किन्तु तिष्यरक्षिता के मन में नवीन अभिनय का आरम्भ हुआ—

अभिनय उधर समाप्त इधर
आरम्भ और ही अभिनय।
तिष्यरक्षिता के मानस में
हुआ प्रेम अरुणोदय।

---

१ देखिए, विरह भावना का मनोवैज्ञानिक विवेचन (प्रथम अध्याय)
२ श्री सोहनलाल द्विवेदी—कुणाल पृष्ठ १६

लगे कामना के पक्षीदल
करने मधुमय कलरव।
लगी वासना की कलिकाएँ
बिखराने मधु वभव ॥[1]

तिष्यरक्षिता के मन म यह अनुभव पहला था। अब तक वह सम्राट् की वासना की दास थी, यत्र की भाति उसको अपना कर्तव्य पूरा करना पडता था। किन्तु आज वह, अपने हृदय की वासना कामना का पात्र खोजन को विकल हो उठी थी।

और कोई युग होता तो कवि उसे कुलटा, कलकिनी और न जाने कितने विशेपणा से विभूपित करता किन्तु आज के कवि ने नतिकता के बन्धनो को तोडकर मन के रहस्य को जानने की चेष्टा की है। इसीलिए सोहनलाल द्विवेदी तिष्यरक्षिता के हृदय को इतन निकट से देख पाय हैं—

मन का हस उडा मानस से
चुगने मुक्ता उज्ज्वल
उच्च नभोमण्डल मे उडकर
पाने जीवन सबल ॥[2]

जीवन का सबल खोजने की कामना कितनी निरीह और पवित्र है किन्तु बेचारी तिष्यरक्षिता पर कुणाल की विमाता होने का अभिशाप था। इसीलिए जीवन मे एक नवीन स्वप्न के उद्गम होने पर भी वह भयभीत थी—

तिष्यरक्षिता लगी झूलने
स्वप्नो के हिंदोल
कब आयेगा मिलन प्रात
उमडेंगी सुख हिल्लोल
उन्नत कुच कुभो को लेकर
फिर भी युग युग की प्यासी सी
आमरण चरण नुठित हाने
वाली प्रेयसि सी दासी-सी
नीरव थी नूपुर की रुनझुन
नीरव ही था किंकिण का रव
भय था, कोई सुन ले न कहीं
इन चचल चरणो का वभव ॥[3]

अभिशप्त व्यक्ति के लिए सुख की कामना करना मूर्खता है, इस रहस्य को

---

१ श्री सोहनलाल द्विवेदी—कुणाल, पृष्ठ ३१
२ वही, पृष्ठ ३२
३ वही, पृष्ठ ३६

अभागिनी तिष्यरक्षिता न समझ सकी। इसीलिए कुणाल के समीप प्रणय की भि
मागने चली गई—

आइ कुणाल के पाश्व
तिष्यरक्षिता सज सोलह शृगार।
रति चली मुग्ध करने जस,
रूठे अनग को, ले उभार॥[1]

वह उससे कहने लगी—

कुछ समझा कुछ देखा तुमने
है जग जीवन म सार कौन ?
अलि क्या कहता है सरसिज से,
सरसिज खिल उठता त्याग मौन ?
बोलो कोकिल क्या कहती है ?
मधुऋतु म आम्र पल्लवित से
क्या कहती बहती सरिताएँ
मिलती ह सिन्धु उच्छवसित से
समझे कुणाल क्यों मलयज म
कलिका का केसर उडता है ?
अनजान पथिक पावस ऋतु म
सहसा निज गह को मुडता है।

तिष्यरक्षिता न समाज की नीतिभग का घोर अपराध किया था, भला समा
का मुनि उस कस सहन करता, अपराध की याद दिलाते हुए उसने उसे शाप दिया औ
पश्चाताप के लिए ईश्वर की पूजा आराधन का पुण्यमाग भी दिखा दिया। कुणाल
दा— म समाज के बन्धन बोल उठ—

क्या कहती हो यह माता तुम
यह मेरे लिए पहली है,
क्या हुआ तुम्हे है आज कौन-
सी सूझी यह रगरेली है ?[2]

विवश तिष्यरक्षिता ने जब स्पष्ट कहा—

मैं तो अपने अ तरतम का
सौरभ पराग धर चरणो मे
उत्कठित स्म रही मुख को,
उत्तर आता किन वरणा म।

---

१ श्री मोहनलाल [illegible]—कुणाल, पृष्ठ २८
२ वही [illegible]

तब—

मर्माहत से थे अब कुणाल
श्रद्धानत प्रणत बने अस्थिर।
'आर्ये तुम हो जननी मेरी,
सोचो तो, क्या कहती हो फिर।
कैसे यह साहस हुआ तुम्हें,
माता अब राजभवन जाओ।
कुछ पूजा भजन करो जिससे
हलचल में परम शान्ति पाओ॥

पौराणिक गाथाओं में अभिशाप से यक्ष और गंधर्व राक्षस हो जाते थे और अपने मूलगत स्वभाव को भूलकर अपनी दुर्दशा के कारण शापकर्त्ता के लहू के प्यासे हो जाते थे। यही दशा अभिशप्त तिष्यरक्षिता की हुई। एक क्षण के लिए वह स्तब्ध रह गई—

पीकर आँसू के घूट, रक्त के घूट
गरल के घूट, शान्त,
निर्जीव शिला की मूर्ति-सदृश
वह खडी रही नीरव अशान्त
आँखों में था घन अंधकार
पदतल बिखरे थे अग्निखंड।
वह चलती थी अंगारों पर,
लेकर के जलते प्राण पिंड॥[1]

उस क्षण में जैसे पुराना व्यक्तित्व जलकर क्षार हो गया और नया राक्षसी वृत्ति का व्यक्तित्व उभरने लगा। कुणाल के लिए अनन्त ममता को हृदय में संजोकर भी वह प्रतिहिंसा से भभक उठी—

ममता कहती है, मान मान
निर्मम हो इतना हठ न ठान',
पर घाव कह रहा 'पुन मूल
अपने पथ पर फिर रख न भूल।'
वह रही लाज मर जन्मधिकूल
प्रक्षालन कर या पंकमूल,
मैं सोच न पाती थका ज्ञान,
इस दुख से कैसे मिले त्राण?

[1] डा० सेठ दनाथ द्विवेदी—कुणाल पृष्ठ ४१, ४०

मैं निर्झरिणी पत्थर हूँगी
अपने हाथों से विष दूँगी

मैं इस छल का बदला लूँगी
प्रतिहिंसा बनकर धधकूँगी।[१]

प्रतिहिंसा की अग्नि में अपनी अतृप्त अभिलाषाओं को जलाकर उसने जो कालिख बनाई, उसी को छल से कुणाल की आँखों में भोंक दिया जिससे फिर वह उसे आकृष्ट न कर सके। मानवी दानवी बन गई।

समाज के अनौचित्य के कारण तिष्यरक्षिता की विरह वेदना को विरहाभास कहने को मन नहीं मानता। वस्तुतः आभास वहाँ होता है जहाँ वास्तविक वस्तु नहीं होती किन्तु यहाँ पग-पग पर तिष्यरक्षिता की वेदना हृदय को बरबस मींडती चलती है। प्रतिहिंसा से उसने कुणाल जैसे महान व्यक्ति को अन्धा कर दिया, यह दूसरी बात है किन्तु वह प्रतिहिंसा भी तो उसकी विरह की पीडा का ही प्रतिरूप थी। कुत्सित ध्वंसात्मक प्रतिरूप, जहाँ प्रेम के कुण्ठित होने पर विरही प्रेमपात्र को पीडा देने में सुख का अनुभव करता है। यह परिवर्तन उसके मन की मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रिया थी जिसे मनोवेत्ता 'परपीडन' की स्थिति (Sadism) कहते हैं। यह समाज का अभिशाप था जिस पर न तिष्यरक्षिता का वश था, न ही कुणाल का वश। समाज के कृत्रिम व धन का तिष्यरक्षिता के मन की यह दुर्बल चुनौती थी।

स्थूल दृष्टि से देखने से सोहनलाल द्विवेदी की 'उर्वशी' की स्थिति भी 'तिष्यरक्षिता' के सदृश प्रतीत होती है। परन्तु वास्तव में वे दो भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ हैं।

उर्वशी इन्द्र की प्रियतमा थी। अर्जुन के रूप लावण्य पर मुग्ध होकर उसने उनसे प्रणय याचना की और अस्वीकृति पाने पर उन्हें नपुंसक होने का शाप दिया। अर्जुन ने भी इन्द्र की प्रियतमा के नाते से उसे माँ कहकर पुकारा था।

विमाता की पुत्र के प्रति प्रणय भावना को भी कुणाल और तिष्यरक्षिता से सबध से हमने विरहाभास न मानकर विरह भाव ही माना है, क्योंकि तरुण तिष्यरक्षिता को वस्तुतः जीवन में कभी प्रेम का मधुर अनुभव न हुआ था। वह उससे वंचित कर दी गई थी। समाज ने उसकी भावनाओं पर अनुशासन का घोर अंकुश लगा दिया था जिससे वह मचल न सके। उसकी पीडा वास्तविक विरह की पीडा थी।

इधर उर्वशी अप्सरा है, चिर तरुण। वह सामान्या नायिका है और प्रत्येक सुन्दर युवक पर लुभा जाना उसका स्वभाव है। सामान्या नायिका के प्रेम को काव्यशास्त्रियों ने शृंगाराभास माना है क्योंकि वहाँ रूप और धन का लाभ प्रधान भाव रहता है हृदय का समर्पण नहीं। उर्वशी को धन का अभाव नहीं था, न ही उसकी आवश्यकता के लिए

१ बालकृष्णनाथ द्विवेदी—कुणाल, पृष्ठ ४८-४९

ह ग्रजुन के समीप गई थी। वह रूप की लोभी थी। जहाँ तिष्यरक्षिता कुणाल से 'जीवन का सबल' पाने गई थी, वहाँ उवशी पाथ के प्रण को डिगान के लिए ग्रपना उवशी नाम सार्थक करने को।

चली उवशी,
नाम सार्थक बनाने को
धीर गम्भीर पाथ प्रण के डिगाने को,
रगने को सौन्दय के रग म
विलास के ढग म
सोने को, सोतो जसे
सुख से सरोजिनी,
नीरव निशीथ म
नयन बन्द
मौन स्पद अर्जुन के सग म।[1]

प्रकृति ग्रौर उद्देश के ग्रनुरूप परिस्थिति म दोना का ग्राचरण भी भिन्न है। तिष्यरक्षिता के 'मन का हस मानस से उज्ज्वल मोती चुनने के लिए गया था, 'ग्रामरण चरण लुठित होनेवाली दासी' जसी तिष्यरक्षिता की दशा थी। वह 'ग्रनजान पथिक के पावस ऋतु म ग्रनायास घर की ग्रोर मुडने के भाव' का ग्रनुभव करना चाहती थी समाज से ग्रभिशप्त 'नीरव थी नूपुर की रुनभुन'।

यहाँ रूपगर्विता उवशी, ग्रजुन से कुछ लेने नही ग्राई थी, वह ग्रपने ग्रपूव रूप ग्रौर यौवन का दान करके उन्ह कृतकृत्य करना चाहती थी। वह रूप ग्रौर यौवन जिसकी ग्रभिलाषा दवता करते हैं ग्रौर उन्ह नही मिलता। जहाँ तिष्यरक्षिता म ग्रात्मा की भूख थी, वहा उवशी म रूप की तप्ति ग्रौर शरीर की भूख है। तिष्यरक्षिता की व्यथा नारी के ग्रभाव का शाश्वत-व्यथा की कथा है ग्रौर उवशी की वासना, विलास की एक करवट मात्र—

किन्तु,
ग्राज देने मैं ग्राई हूँ—
देती जो किसी को नही
ग्रनुपम ग्रमूल्य निधि
उत्सुक, उत्कण्ठित, उद्ग्रीव, उन्मन विधि,
देव, ग्रसुर, नाग, किन्नर, गन्धव, सप,
चाहते जिसे हैं
ग्रौर चचल ग्रचल पसार

1 श्री मोहनलाल द्विवेदी—उवशी (वासवदत्ता), पृष्ठ १२

भिक्षा सी मागते है, भिक्षुक हो बार बार
निराधार
पुण्यशील ! तपोनिधे !
तप के प्रसाद सा, नियम अपवाद सा
अपने इस अनिंद्य अनवद्य
रूप का हृदय का यौवन का दान,
प्राण इसे स्वीकृत करो
श्रेष्ठतम दान यह।
आज सीमन्त म भरो नवसिंदूर।[1]

उर्वशी की प्रज्ज्वलित वासना अतृप्ति का क्षणिक उदगार था। अत वह विरहाभास है, विरह नही।

निष्कर्ष

प्रस्तुत अध्याय के अनेक प्रबन्धकाव्यो की विरह भावना के अध्ययन के पश्चात यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि विरह इनके रचयिताओ के लिए आहत अह का विवश रुदन मात्र न था वरन लोकादर्शो की रक्षा करते हुए उन्हें प्रेरणा प्रदान करनेवाला मार्ग प्रदर्शक स्तम्भ था। देशभक्ति और समाज के प्रति कर्तव्य इन दो उत्तरदायित्वो को लगभग सब काव्यो के विरही प्राणपण से निभाने की चेष्टा करते रहे है। 'स्वप्न' और 'पथिक' की नायिकाओ सुमना और पथिक की पत्नी से लेकर 'प्रिय प्रवास' की राधा, 'वैदेही वनवास' की सीता तथा मैथिलीशरण गुप्त की उर्मिला, यशोधरा, राधा, उत्तरा, शकुन्तला और विष्णुप्रिया एव जयभारत के वृद्ध शान्तनु सब इसी कर्तव्य कर्म मे दीक्षित दिखाई पडते है। सब अपनी व्यक्तिगत पीडा को समष्टि के सुख के लिए बलिदान कर सकते हैं अथवा करने को व्याकुल एव तत्पर प्रतीत होते है। प्रसाद की श्रद्धा और मैथिलीशरण गुप्त की यशोधरा दोनो अपनी विरहावधि के एकमात्र अवलम्ब पुत्रो को लोककल्याण के लिए प्रस्तुत कर देती हैं। 'साकेत सत' की माण्डवी प्रिय के समीप रहकर भी विरह-व्यथा झेलती है और 'रावण महाकाव्य' की धान्यमालिनी अनन्त व्यथा सहती हुई पुत्र को शत्रु से प्रतिशोध लेने के लिए उत्तेजित करती है। प्रिया का विरह निराला के तुलसीदास के सम्मुख भारत की विराट संस्कृति के रहस्य को उदघटित करता हुआ उन्हें 'रामचरित मानस' जैसे महान ग्रन्थ की रचना के लिए प्रेरित करता है। लोकादर्शो की प्रतिष्ठा प्रत्यक्ष अथवा गौण रूप मे सास्कृतिक प्रबन्ध कविता मे है अवश्य

[1] श्री रामधारीसिंह दिनकर—उर्वशी, पृष्ठ १७

किन्तु उससे विरह की मार्मिक अभिव्यंजना को अधिकांशतः क्षति नहीं पहुँची है। यह एक सुयोग है कि कर्त्तव्य और भावना इनके विरहों के हृदय को उद्वेलित और मथित करती हुई भी एक-दूसरे पर हावी नहीं हुई है और उनका स्वस्थ उन्नयन ही कवि कर सका है।

कर्त्तव्य और भावना के उद्वेलन और द्वन्द्व में अन्य व्यक्तिगत विशेषताएँ भी प्राप्त होती हैं। कहीं अनुपात से भावना विरही को अधिक प्रभावित करती हुई प्रतीत होती है और कहीं कर्त्तव्य। 'स्वप्न' की नायिका सुमन आत्मगौरव और प्रतिष्ठा में प्रेरित होकर देश की ओर से युद्ध करने जा सकती है और हरिऔध की सीता और राधा कर्त्तव्य पर भावना का समझदारी से उत्सर्ग भी कर सकती हैं। दूसरी ओर साकेत की उर्मिला है जो कर्त्तव्य से विवश-सी होकर भावना के उन्माद में विरह के दीर्घ चौदह वर्षों की अवधि काटती है। माण्डवी भाव और कर्त्तव्य में सामंजस्य स्थापित करती हुई निस्वार्थ सेवा को लभ्य बना लेती है।

सिद्धि के मुमुक्षु प्रिय के द्वारा त्यागी गई नायिकाओं में यशोधरा और विष्णुप्रिया हैं। इन दोनों की भी अपनी व्यक्तिगत विशेषताएँ हैं। एक पति को उचित गौरव प्रदान करती हुई भी यथासम्भव आत्माभिमान की रक्षा करती है और दूसरी दीना सी पति के सम्मुख घिघियाती है।

कथा-प्रसंगों के प्रवाह में सांस्कृतिक प्रबन्ध काव्यों में कुछ और नवीन चरित्रों और उनकी विरहानुभूतियों का मनोवैज्ञानिक और मार्मिक चित्रण भी हुआ है जैसे कृष्णायन में राजकुमारी मित्रविन्दा, द्वापर में कुब्जा और गुरु भक्तसिंह की नूरजहाँ में अनारकली हैं। इन पात्रों की विरहानुभूति में मार्मिक अन्तर्द्वन्द्व के समावेश ने उन्हें अत्यन्त मर्मस्पर्शी बना दिया है। हिमालय की पुत्री पार्वती की पीड़ा और चारित्रिक दृढ़ता से यद्यपि संस्कृत का पाठक अनभिज्ञ न था किन्तु रामानन्द तिवारी ने उसे हिन्दी पाठकों के लिए सुगम बना दिया।

सांस्कृतिक प्रबन्ध काव्यों की विरहाभिव्यक्ति में परम्परागत परिपाटियों का उचित समावेश भी यत्र तत्र उपलब्ध है। इनमें संदेश पद्धति, कामदशाएँ और ऋतुवर्णन—बारहमासा प्रमुख हैं। प्राचीन सन्देश-पद्धति के अनुरूप नदीदूति, पवनदूति और चन्द्रदूत के वर्णन क्रमशः यशोधरा, प्रियप्रवास और रावण महाकाव्य में प्राप्त होते हैं। 'सन्देश पद्धति' में पात्र की मानसिक स्थिति के अनुकूल चित्रण का प्रयत्न है। उनका दिग्दर्शन कालिदास के मेघदूत की भाँति ही मानवीय भावनाओं के अत्यधिक निकट है। 'प्रियप्रवास' की पवनदूति के वर्णन में यत्न और युक्ति से विरही की मानसिक स्थिति के अर्पण का आग्रह भी है। ऋतुवर्णन और बारहमासा के सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है कि उनमें कवियों ने पात्रों के मनःस्थिति का पूर्ण सामंजस्य प्रतिष्ठित रखने का प्रयत्न किया है। काम-दशाओं का चित्रण परम्परागत होते हुए भी अधिक मनोविज्ञान संगत है। आधुनिक युग में मनोवैज्ञानिकों ने जिन मनोरहस्यों का उद्घाटन किया है चेतन और अवचेतन के रहस्यों को स्पष्ट किया है, उसका प्रभाव हिन्दी के कवि पर भी स्पष्ट

है। 'साकत की उर्मिला की काम दशाओ म चेतन और अधचेतन के द्वन्द्व से यह स्पष्ट है कि अधचेतन मन का चेतन के विरुद्ध कसा घोर सघष चला करता है। कसे वह विरही के मानस को झकझोरता है।

सक्षेप म कहा जा सकता है कि सास्कृतिक प्रब ध कविता म विरह की परम्परा गत परिपाटी की रक्षा के साथ युगानुकूल चेतना और लोकादर्शों से समद्ध विरह भावना का सफल चित्रण हुआ है।

तृतीय अध्याय

छायावादी काव्य मे विरह-भावना

२०वी शताब्दी के प्रथम दस वर्षों के समाप्त होते होते भारत में अंग्रेजी शिक्षा और संस्कृति का पर्याप्त प्रचार हो चुका था। विश्वविद्यालयों में विदेशी ढंग की सहशिक्षा के प्रचार से वैयक्तिक स्वातंत्र्य के नवीन विचार इस युग के युवक हृदय में घर कर रहे थे। प्रेम और सौन्दर्य के विषय में भी इस युग का भावुक युवक रोमानी स्वप्न बना रहा था। किन्तु सामाजिक परिस्थितियां इस प्रकार के विचारों और अनुभूतियों के अनुकूल न थीं। मध्ययुग की जर्जर सामन्ती रूढ़ियां दृढ़ता से अपने अधिकार की रक्षा में संलग्न थीं। द्विवेदी युग की कठोर नैतिकता के वातावरण में साहित्य में वैयक्तिक प्रेम और विरह की स्पष्ट अनुभूतियों के अभिव्यक्त होने का विचार भी अचिन्त्य था।

निदान भावुक नवयुवक कवियों का अंतर्मुखी हो जाना स्वाभाविक ही था। प्रकृति का अधिकाधिक संसर्ग प्राप्त करके उन्होंने उसके जीवन को निकट से देखा और मानव-जीवन के कार्य-व्यापारों तथा प्रकृति के जीवन में अद्भुत साम्य के रहस्य की उपलब्धि की। इस रहस्य की प्राप्ति से मन के भावों की अभिव्यक्ति का नवीन मार्ग दिखा प्राप्त हो गया। प्रकृति के प्रतीकों के द्वारा मन की सुख दुःखात्मक अनुभूतियों को अभिव्यक्ति का स्पष्ट अवकाश मिलने लगा। अर्थात प्रकृति के विभिन्न उपकरणों को आलम्बन रूप में चेतना सन्निविष्ट प्राणी की भांति अनुभूत करके उनके प्रेम और विरह के मिस इन्होंने अपने हृदयगत भावों को व्यक्त किया। इसके अतिरिक्त प्रकृति की अनन्त सुन्दरी नारी के रूप में कल्पना करके भी ये स्वयं उसके भोक्ता बने, उसके प्रति अनेक कोमल भावों और वेदनाओं को अभिव्यक्त किया।

विरहानुभूति का तीसरा रूप रहस्यवादी विरहानुभूति के रूप में प्रकट हुआ। प्रकृति के साहचर्य से उस अनन्त सौन्दर्य की निर्माणकर्त्री अलौकिक सत्ता की ओर भी भावुक का ध्यान गया। उसके प्रति निरन्तर आकर्षण का अनुभव करते-करते वह उसकी प्राप्ति के लिए विकल हो उठा और उसकी विरह-वेदना में तड़पा भी। सृष्टि में व्याप्त सत्ता के प्रति यह वैयक्तिक भाव कुछ आधुनिक युग की मौलिक विशेषता नहीं है। सृष्टि के प्रारम्भ से ही प्रकृति और उसके निर्माता के प्रति जिज्ञासाएं और अनुभूतियां मानव मन को अभिभूत करती रही हैं। आधुनिक युग की रहस्यानुभूतियों की विशिष्टता यह है

कि इनकी अनुभूति करने वाला भावुक समाज और जीवन के दनिक कार्यों से असम्पृक्त उस अलौकिक सत्ता का एकान्त आराधक नही है, जीवन की विविधताओ मे उलझा हुआ सासारिक प्राणी है। अत रहस्यवाद (अपार्थिव सत्ता और जीव के वयक्तिक प्रणय) के अथ को समझकर उसकी पूव-पृष्ठभूमि के आधार म इस युग के भावुक की रहस्यवादी विरहानुभूतियो का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। प्रस्तुत अध्याय म सवप्रथम रहस्यवाद के अथ और उसके विविध सस्थानो का विवेचन करने का प्रयत्न किया गया है, तत्पश्चात प्रमुख छायावादी कवियो क काव्य म प्राप्त विविध विरहानुभूतियो क अध्ययन का प्रयत्न है।

प्रसाद के काव्य मे रहस्यवादी विरहानुभूति और लौकिक विरहानुभूति की दो समानान्तर पृथक धाराएँ उपलब्ध है अत उनका विवेचन पृथक पृथक किया गया है। अन्य छायावादी कवियो, महादेवी, पन्त और निराला म इनका स्पष्ट विभाजन सम्भव नही है अत उसके परस्पर प्रभाव को विरहानुभूति के अध्ययन के सम्बन्ध से यहाँ लक्षित किया गया है।

रहस्य भावना का उद्गम और उसकी भारतीय परम्परा तथा आधुनिक रहस्यवाद

सष्टि के प्रत्येक कायकलाप को अनुशासित तथा सुष्ठु रूप म गतिशील देखकर उसके नियन्ता को जानने की अभिलाषा, मनुष्य म आदिकाल से रही है।[1] वदिक ऋषियो न उसके रूपनिर्माण का भरसक प्रयत्न किया किन्तु हताश नेति-नेति' करके रह गए। उसका रूप स्थिर करन म स्वय को असमथ मानकर उन्होने उसे अरूप ही रहने दिया किन्तु जानन की प्रक्रिया म कई नवीन रहस्यो का उदघाटन हुआ। प्राचीन आय दो दलो म बट गए। उनम से एक दल तक और युक्ति से ब्रह्म के रूप निधारण का प्रयत्न करता रहा और दूसरे न उसके रूप निर्माण म तक व बुद्धि की पराजय की घोषित किया।[2] इसी दूसरे दल क मनीषियो ने यह अनुभव किया कि मन कवल उसको जानन की जिज्ञासा स सन्तुष्ट नही है, अधिकाधिक उस ओर आकर्षित होता जा रहा है। कभी कभी ऐसे स्थल भी अनुभूति म आते है जब व्यक्ति उसके आलिगन मे निबद्ध, सम्पूण विश्व को कुछ समय के लिए एसे भूल जाता है जस कोई पुरुष अपनी प्रिया के आलिगन म स्वय को और

---

१ केनेषित पतति प्रेषित मन केन प्राण प्रथम प्रैत युक्त ।
केनेषितां वाचमिमां वदन्ति चक्षु श्रोत्र क उ देवो युनक्ति ॥

—केनोपनिषद्, प्रथम भाग, प्रथम श्लोक

२ नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।

—मुण्डकोपनिषद्

नैषा तर्केण मतिरापनेया ।

—कठोपनिषद्

दरद का मूल जाता है।[1] रहस्यभावना के उद्गम के विषय में यह उक्ति ठीक ही है।

परमात्मा का अनभिव्यक्त रूप सब कुछ होते हुए भी हमारे उपयोग का नहीं है। जो 'रूप रेख गुन जाति जुगुत बिन' है वह हमारे आश्रय का विषय नहीं हो सकता। वहाँ तो 'निरालम्ब मन चकृत धावै' ही होता है। संग्रह मनुष्य की प्रकृति है और सुन्दर के प्रति आकर्षण उसकी सहज प्रवृत्ति। इस विषय में आबाल वृद्ध सभी की मानसिक स्थिति समान है। मानव की सहज मानसिक प्रवृत्ति श्रेष्ठ को अपना बनाने में सुख और संताप का अनुभव करती है। संग्रह की यह स्वयंभू मनोवृत्ति जिसे एकत्र करना चाहती है उसमें आकर्षक गुणों की प्रतिष्ठा करती है। इसीलिए अरूप में रूप, अनाम में नाम, अरेख में रेख, अगुण में गुण और अजाति में जाति की कल्पना उत्पन्न हो जाती है और इसीलिए 'रूप रेख गुन जाति जुगुति बिन' वह 'रूप रेख गुन जाति जुगुति सह' बनकर हमारे संग्रह का विषय बन जाता है।

परमात्मा की यह भावना सनातन भावना है। वेदों में इसीलिए उसे हिरण्यगर्भ, अग्नि अथवा पुरोहित कहकर रूप दिया गया है और यदि यह सत्य है कि वेद संसार का प्राचीनतम साहित्य है तो यह भी मान्य है कि वेद ने ही सबसे पहले उस अरूप में रूप कल्पना की। उपनिषद् अनेक रूपों में यही काम करते आए हैं। अग्नि विद्या, मधु विद्या, सामोपासना, प्राणोपासना इत्यादि सबमें उस अतीन्द्रिय को इन्द्रिय ग्राह्य बनाने की चेष्टा प्रतीत होती है। इस प्रकार उसकी निराकारता को खण्डित किये बिना ही उसमें साकारता स्थापित करने की चेष्टा रहस्य भावना का मूल है।

---

१ तद्यथा प्रियया स्त्रिया संपरिष्वक्तो न बाह्यं किञ्चन वेद नान्तरम् (बृहदारण्यक)। उपमन्त्रयते स हिंकारो ज्ञापयते स प्रस्ताव स्त्रिया सह शेते।

—प्रसाद के (रहस्यवाद) निबन्ध से, (काव्य और कला तथा अन्य निबन्ध)।

\+ + +

From the ordinary process of dreaming sleep a transition is made to deep sleep when the soul advances more closely to the world to come, and from the mere consciousness of individual things, such as the concept of being a King or a God, becomes conscious of itself as the universe, in which case however, there is no longer any possibility of contrast between subject and object, and ordinary consciousness is superseded by the union for the time being with Prajna Atman the intelligent self the absolute In this condition as a man in the embrace of his Darling wife does not have any consciousness of out or inner The spirit in this condition is without desire it is unaffected by good, unaffected by evil the father ceases to be father, the mother the mother the world the world the Gods the Gods

—'*Religion and Philosophy of Vedas*—*Keith*'

आर्या के इन दोनो सम्प्रदायो को दुखवादी और आनन्दवादी कहा जाय तो अनुपयुक्त न होगा। दुखवादी आर्यो को जीवन के कष्ट और क्षणभगुरता का अनुभव होते हुए भी कही सहारा न था सब कुछ शून्य था अत दुख था और आनन्दवादियो के सम्पूर्ण कष्ट और क्लेश भी रहस्यमय प्रिय के व्याज से सुखमय हो जाते थे। दुखवादी विवेक की धारा का नसर्गिक विकास विरक्ति मूलक बौद्धधर्म मे हुआ, और आनन्दवादी, धर्म कर्मो का मार्ग बनाकर अधिकाधिक सुख की प्राप्ति के आराधक रहे। स्वय भगवान तथागत भी अपने धर्म के प्रचार के हेतु सिद्धि की प्राप्ति करानेवाले मन्त्रो की अवहेलना न कर सके यद्यपि उन्होने उसे त्याज्य माना। भगवान बुद्ध के महानिर्वाण के पश्चात आनन्द के प्रति यही आकर्षण उनके अनुयायियो मे महायान के अस्तित्व का कारण बना।

महायान का क्रमिक विकास मन्त्रयान से वज्रयान मे हुआ जहा बौद्धधर्म के निरत्न बुद्ध, धर्म और सघ के स्थान पर कामिनी, काम और सुरा बन गए। प्राचीन वदिक रहस्यमय अनुभूति— जायया सम्परिष्वक्तो न बाह्य वेद न आन्तरम् का कुत्सित रूप (योगिनी आराधना) के रूप मे व्यभिचार बना। किन्तु फिर सुधार का युग आया, सिद्धो की योगिनी भौतिक-बौद्ध सघो मे रहने वाली भिक्षुणी न होकर सर्वागमो की त्रिपुर सुन्दरी का प्रतिरूप थी।[1] किन्तु सोऽहम् की स्थिति मे वह माता न रहकर प्रिया बन गई, वदिक ऋषि की भार्या के समान 'घरिणी। आत्म रूपी पुरुष का प्रकृति के रहस्य रूपी भार्या के प्रति यह प्रणय अदभुत था।

---

[1] ऊचा पावत तहि बसइ सबरी बाली।
मोरंगि पिच्छ परहिण सबरी गिवत गुजरी॥
माला॥
उमत सबरो पागल शबरो माकर गुली गुहाडर।
तोहौरि णिय घरिणी णामे सहज सुन्दरी॥
शबरपा।
—हरप्रसाद बौद्ध—अपभ्रश का साहित्य पृष्ठ २८१, २८२

At time of recitation I remember the mother
Lustrous as the scarlet hibiscus
Her body pasted with saffron and sandal
Her hair kissed by musk
The Mother with smiling eyes
With red garlands ornaments and raiment,
Who holds the arrow bow noose and goad
The charmer of countless men
—*Avelon s Translation of Tripur Sundar Stotra from Tantras Their Philosophy & Occult Secrets*—D N Bose & Hiralal Haldar

दु खवादी भाय भी केवल अरूप की जिज्ञासा से सतुष्ट न रह सके। उन्होने उसमे ऐसे सर्वशक्तिमान पुरुष की कल्पना की जो विवेक के अन्तिम सत्य का प्रतिरूप हो। दूसरी ओर वह भी आनन्द की सूक्ष्म नैसर्गिक लालसा को न त्याग सके और अपने आदर्श पुरुष । उसके ललित रूप का समावेश भी उन्होने किया। ऐसा पूर्णावतार कृष्ण का था। माधुर्य भक्ति का उद्गम यही से हुआ। किन्तु कृष्ण का रूप मन-कर्म-वचन से गोचर होते हुए भी उनसे परे था, अत गोपियो का कृष्ण के विरह मे जलना पड़ा। दूसरी ओर राधा भक्ति मे माधुर्य का सुख प्राचीन आनन्दवादी भावना का प्रतिरूप बनकर शाश्वत सुख बन गया।

सिद्धो की विशुद्ध रहस्यात्मक सुखद अनुभूति पर जब दु खवादी नाथो की साधना का कठोर नियन्त्रण और अवरोध उपस्थित हुआ तो वह भी कष्टसाध्य प्रियतम की साधना को दुर्गम मान बैठे। इन्द्रियो और मन पर कठोर सयमन और नियन्त्रण रखकर 'उसको' प्राप्त करने के प्रयत्न होने लगे। कबीर तथा परवर्ती सन्तो की साधना मे सिद्धो और वैदिक आनन्दवादी ऋषियो की सुखद मिलन कल्पना तथा वैष्णवो और नाथो के चिर विरह के दुख का अद्भुत सम्मिश्रण हुआ। प्रियतम से रगभरी खेलते हुए भी कबीर उनके विरह मे तड़पते हैं।

वैदिक आनन्दमयी रहस्यानुभूति मे दुख का समावेश नैसर्गिक और स्वाभाविक इसलिए बन गया क्योकि कष्टपूर्ण सासारिक जीवन मे अपार्थिव के मिलन की अनुभूति कुछ क्षणो के लिए होती है शाश्वत नही बन पाती। अत उसमे विरह का होना स्वाभाविक है, साधक मिलन के सुखद क्षणो के विलीन होते ही विरह मे तड़पता है। यह अवश्य है कि साधना से वह उस सुखद क्षणो का अधिकाधिक बढ़ा सकता है और तब अन्त मे विरह की स्थिति ही न रहेगी। चिरमिलन ही रहस्यवादी के प्रेम की अन्तिम स्थिति है।

भारतीय रहस्य परम्परा को मध्ययुग मे फारस के सूफियो की साधना से बल प्राप्त हुआ और वह द्विगुणित रूप से समृद्ध हो गई। सूफियो की रहस्य साधना और भारतीय रहस्य साधना मे तात्विक भेद नही है, यह कहना त्रुटिपूर्ण है कि सूफियो का अपार्थिव ब्रह्म प्रियतमा था और भारतीयो का प्रियतम पुरुष (जैसा कि उपर्युक्त भारतीय रहस्य साधना के विवेचन मे स्पष्ट भी है)। मध्ययुग के सन्तो की रहस्य साधना सूफियो की भाँति प्रबन्ध शैली के माध्यम से भी अभिव्यक्त नही हुई उनकी वैयक्तिक साधना को भारतीय रहस्य परम्परा का ही क्रमिक विकास मानना चाहिए। कबीर का पोषण मुसलमानी परिवार मे होने के कारण सयोग से उसमे, शरीयत तरीकत मारीफ़त आदि सूफी साधना के पारिभाषिक शब्द आ गए हैं। किन्तु उनके रहस्य का दु खवाद भी अपने शुद्ध रूप मे भारतीय ही है। सम्भव है कबीर ने दोनो मे कोई तात्विक भेद न पाने के कारण ही उनका समन्वय कर दिया हो। रहस्यवाद सभ्यता के प्रारम्भिक युग मे अन्तर्मुखी ...ना मे पुरुष और प्रकृति, ब्रह्म और जगत् सम्बन्धी जिज्ञासाओ के फलस्वरूप अस्तित्व पाया था।

आधुनिक रहस्यवाद

आधुनिक युग मे प्रथम महायुद्ध के पश्चात जब बाह्य अभिव्यक्ति के मार्ग कुण्ठित हुए और भावना अन्तमुखी होकर प्रकृति के अधिक समीप आई तब पुन पुरुष और जगत सम्बन्धी जिज्ञासाओ ने भावुक के मन को आच्छादित कर लिया। मानव व जगत के जीवन का एकात्म कवि ने बुद्धि के सूक्ष्म धरातल पर अनुभव किया और हृदय की भाव भूमि पर उसने जीवन की अखण्डता की रहस्यमयी अनुभूति की। तब उसके नियन्ता के विषय म फिर से जिज्ञासाएँ उठने लगी और भावुक 'उसके' मिलन तथा विरह की लहरो म हिचकोले लेने लगा।

आधुनिक युग चेतना के विसर्जन का युग नही है न ही आज का रहस्यवादी दैनिक जीवन से असम्पृक्त एकान्त साधक है। अत सामाजिकता की नैतिकता म आज के रहस्यवादी की अनुभूति वाच्छिन्न हो गई है। उसे प्रतीको का आश्रय लेना पडा है। जीवन की बाह्य अभिव्यक्ति म अवरोध होने म क्योंकि कवि अन्तमुखी हुआ है अत अपने गूढ रूप म उसकी रहस्यानुभूति वैदिक ऋषियो और सिद्धो की रहस्यात्मक अनुभूति के समीप होते हुए भी वही नही है। उसका भौतिक अनुभूति का सूक्ष्म उन्नयन ही अधिक माना जा सकता है।

यहाँ यह स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है कि आलोचको ने, प्राय छायावादी कवियो की सब मिलन विरह अनुभूतियो को रहस्यवादी अनुभूति मान लिया है, यह विचार ठीक नहा है। छायावादी काव्य म रहस्यात्मक अनुभूति का अभाव न होने पर भी ऐसा विरह-काव्य की कमी नही है जो वैयक्तिक पीडा को प्रकृति के प्रतीको के आश्रय मे व्यक्त करता है। अत उसकी अनुभूति सूक्ष्म अथवा वायवी सी दिखाई पडने लगती है। ऐसी वायवी अनभूति को छायात्मक (सूक्ष्म व अतीन्द्रीय) विरहानुभूति कहना तो समुचित होगा किन्तु आध्यात्मिक अथवा रहस्यात्मक अनुभूति कहना ठीक नहीं।

पश्चिम की सौन्दर्य-कल्पना और रूपविधान को स्वीकार करते हुए भी आधुनिक रहस्यवादियो ने अपनी भावना और चिन्तन के स्रोत भारतीय भाव भागीरथी से ग्रहण किए हैं। प्रसाद पर वेद उपनिषद, शैव दर्शन तथा बौद्ध दर्शन, निराला पर रामकृष्ण परमहस और विवेकानन्द तथा पन्त और महादेवी पर क्रमश वेदान्त और वैष्णव तथा बौद्ध दर्शनों का प्रभाव पडा है।

रहस्य भावना के विविध सोपान

जिज्ञासा— रहस्यभावना का प्रथम सोपान जिज्ञासा है। सृष्टि के विराट विस्तार या नियमित रूप म नियन्त्रित करने वाले अपार्थिव के प्रति जब भावुक का मन आस्थावान होता है तो मन की प्रथम प्रक्रिया होती है जिज्ञासा। जिज्ञासु कुतूहल से उसके कार्यव्यापारो को देखता रह जाता है मन विस्मय से विमूढ सा रहता है। यही जिज्ञासा

दिक ऋषि के 'कस्म देवाय हविषा विधेम' के रूप म प्रकट हुई थी और कबीरादि मध्य-युग के सन्ता की वाणी म होती हुई आज के रहस्यवादिया की भावना म अभिव्यक्त हुई।

कहो भया अवर कासू लागा,
कोई जाणगा जाननहार समागा ॥
अवरि दीस केता तारा, कौन चतुर ऐसा चितरन हारा ॥[1] —कबीर

तडित की मुस्कान सा वह कौन है ॥ —महादेवी

परिचय—उस 'अचिन्त्य' का अधिकाधिक परिचय प्राप्त करते-करते रहस्यवादी जान लेता है कि उसकी स्थिति होने पर भी उसे शब्दोम नही बाधा जा सकता इसीसे जिनासु पुकार उठता है 'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया बहुना श्रुतेन'—मुण्डकोपनिषद्।[2] कबीर कहते हैं वह गूंगे का गुड है, तुलसी भी त मय होकर कह उठते हैं—'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' और प्रसाद—कसे हो क्या हो इसका तो भार विचार न सह सकता'—(कामायनी)। यह परिचय की स्थिति है जिसम उस सौन्दय सत्ता के महत्त्व से अभिभूत होकर भी रहस्यवादी विमूढ-सा हो जाता है, फिर भी वह उसके हृदय म एक अभूतपूव कसक को भरने लगता है।

कौन तुम मरे हृदय म ?
कौन मरी कसक म नित मधुरता भरता अलक्षित ?[3] —महादेवी

परिचय म विस्मय की स्थिति के पश्चात् ऐसी स्थिति आती है जब रहस्यवादी सृष्टि के प्रत्यक कण के सौन्दय को उस विराट के रूप म एकात्म्य देखने लगता है और, उसके अनन्त सौन्दय से उल्लसित हो उठता है। औपनिषदिक कहता है—ईशावास्य इद सवम्—ईशोपनिषद्।

लाली मरे लाल की जित देखो तित लाल,
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल ॥[4] —कबीर

तेरी आभा का कण नभ म दता अगणित दीपदान।
दिन को कनक राशि पहनाता, विधु का चाँदी का परिधान ॥[5] —महादेवी

---

१ श्री श्यामसुन्दरदास—कबीर ग्रन्थावली, पद १४१
२ काव्यकला और अन्य निबन्ध, पृष्ठ ५३
३ सुश्री महादेवी—यामा, पृष्ठ १३५
४ श्री श्यामसुन्दर दास—कबीर ग्रन्थावली
५ सुश्री महादेवी—यामा, पृष्ठ ११४

वह अनन्त रूप राशि अनिवचनीय है इसे सभी रहस्यवादी एक कण्ठ से स्वीकार करते हैं।

वास्तविक रूपदशन का प्रयत्न और मिलन

प्रिय का आभा के बिखरे हुए सौन्दय कणो को एक स्थान, एक व्यक्तित्व म समन्वित देखने की अभिलाषा लगभग सभी रहस्यवादियो म मिलती है। मिस्र की देवी आइसिस या आयडा (जो सत्य की प्रतीक है) को देखने की चाहना पश्चिम के रहस्यवादी कवि अभिव्यक्त करते है। यहाँ औपनिषदिक ऋषि कहता है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहित मुखम्।
तत्व पूषणपावणु सत्यधर्माय दृष्टय॥[1]

—ईशोपनिषद

और प्रसाद—

सब कहते हैं खोलो-खोलो छवि देखूगा जीवन धन की॥[2]

किन्तु जहाँ 'ईशावास्य' का जिज्ञासु उस रूप को देखकर निश्चय करता है—

योऽसावसौ पुरुष सोऽहमस्मि॥[3]

—ईशोपनिषद्

वहाँ प्रसाद का रहस्यवादी अपने अस्तित्व को पृथक रखकर भी उससे चिर-प्रेम की कामना करता है—

तुम हो कौन और मैं क्या हू
इसम है क्या धरा सुनो।
मानस जलधि रह चिर चुम्बित
मरे क्षितिज उदार बनो॥

सायुज्य मुक्ति के मुमुक्षु और रहस्यवादी म वही अन्तर है जो ईशावास्य के ऋषि और प्रसाद म, दोनो रहस्य की खोज म तल्लीन रहते है किन्तु एक का उसके व्यक्तित्व म विलय हो जाता है और दूसरा विलग रहकर उससे नित्य प्रेम करना चाहता है।

विरह

मिलन के क्षण रहस्यवादी जीवन म अत्यन्त लघु होत है। अधिकाशत वास्तव की भूमि म वह, अपने अपार्थिव प्रिय' की स्मृति की कचोट स अश्रु बहाया करता है। लौकिक प्रेम म विरही की जो दशाए होती हैं लगभग वही सब रहस्यवादी भी अपने जीवन म अनुभव करता है। मिलन क क्षणो के अनेक अनुभव स्मृति रूप म रहस्य-वादी की कविता म मिलत हैं।

१ ईशोपनिषद् श्लोक १५
२ श्री जयशंकरप्रसाद—कामायनी
३ ईशोपनिषद्, श्लोक १६

रहस्यवादी का विरह काव्यशास्त्री विरह की श्रेणियो म नही बाधा जा सकता कि तु पूवराग, प्रवास, मान ग्रौर करुण, सबकी स्थितियाँ न्यूनाधिक रूप म सवत्र उसमे मिल जाती हैं। ग्रपार्थिव प्रिय से कभी प्रत्यक्ष भौतिक मिलन जसा मिलन सम्भव नहा है। ग्रत करुण विप्रलम्भ की ग्रथक प्रतीक्षा भी उसम प्राप्त हा जाती है।

(रहस्यवादी विरहानुभूति प्रसाद)

'भावुकित रहस्यवाद' का विवेचन करते समय पहले कहा जा चुका है कि छायावाद की सब विरहानुभूतियो को रहस्यात्मक ग्रभिव्यक्ति नही कहा जा सकता। उनम कुछ ऐसी वयक्तिक ग्रनुभूतिया है जो प्रकृति के प्रतीकों का ग्राश्रय लेकर व्यक्त हुई ग्रौर ग्रतीन्द्रिय तथा छायात्मक बन गई। प्रसाद के ग्रासू के सम्बन्ध म विद्वानो म मतभेद है। कुछ उसको शुद्ध लौकिक विरह-काव्य मानते है ग्रौर ग्रन्य रहस्यवादी भावनाग्रो से समन्वित विरहाभिव्यक्ति।

शुक्लजी ने ग्रपने इतिहास मे प्रसाद-सम्बन्धी ग्रालोचना मे लिखा है—

"ग्रासू तो वास्तव म है शृगारी विप्रलम्भ के जिनम ग्रतीत सुख की स्मृतियाँ रह रहकर झलक मारती है। पर कभी कभी व उस ग्रनात प्रियतम के लिए बहुत जान पडते हैं।"[1]

नन्ददुलारे वाजपेयी ग्रौर विनयमोहन शर्मा प्रभृति विद्वान ग्रासू को लौकिक विरह-काव्य मानते हैं। वाजपेयी का कहना है—

"ग्रासू को ग्रध्यात्म ग्रौर छायावाद का नाम देकर उसे जटिल बना देने के पहले उसका उसके प्रकृत रूप म देखना चाहिए। विरह का इतना बडा मार्मिक वणन करने वाले कवि को किसी वाद की छाया म लेने की जरूरत नही—उसकी उच्चता स्वयसिद्ध है पर कहने से क्या लाभ कि यह वियोग किसी परोक्ष सत्ता के प्रति है, जब प्रत्यक्ष जीवन का यह वियोग ग्रधिक मार्मिक ग्रौर ग्रधिक सत्य है।"[2]

विनयमोहन शर्मा जी का मन्तव्य है—

'या, प्राय मनुष्य के हृदय मे—चाहे उसका जीवन किसी भी नतिक धरातल पर स्थित हो—एस क्षण कभी-कभी ग्रवश्य ग्राते हैं, जब वह ग्रन्तमुखी हो किसी ग्रदृष्ट सत्ता के प्रति ग्रासक्ति-सी ग्रनुभव करता है। ऐसे व्यक्ति यदि कलाकार या कवि हुए हैं, तो ग्रपनी इस ग्रनुभूति को व्यक्त कर देते हैं, पर चूकि उनकी ग्रनुभूति क्षणिक होती है इसलिए उनकी ग्रभिव्यक्ति भी ग्रधूरी ग्रौर धुधली होती है। प्रसाद म ऐसी ग्रनुभूति की कभी-कभी लहर उठती दीख पडती है—पर जब उस ग्रनुभूति की केवल कामना भर उनके मन म होती है तब हमे उस कामना को रहस्य भावना नही समझ लेना चाहिए।'[3]

---

१ ग्रा रामच द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ८१६

२ ग्रा नन्ददुलारे वाजपेयी—जयशकर प्रसाद, पृष्ठ ४२

३ ग्रा विनयमोहन शर्मा—कवि प्रसाद ग्रासू तथा ग्रन्य ...

कवि के काव्य में अधिकाधिक सारगर्भित अर्थ देखना ही सहृदय का लक्ष्य होता है। 'आँसू' की विरहाभिव्यक्ति की रससिद्धता शुद्ध मार्मिक विरहानुभूतियों के रूप में तो विवादास्पद हो ही नहीं सकती किन्तु यदि उसमें अधिक गम्भीर अर्थ प्राप्त हो सके तो उनकी ओर दृष्टिपात करना भी अनुचित नहीं होता।

जैसा कि शुक्लजी ने कहा है, आँसू का अधिकांश भाग लौकिक विप्रलम्भ है किन्तु यत्र-तत्र उसमें रहस्यात्मक अनुभूति भी मिल जाती है। यत्र तत्र भी क्या, आँसू के द्वितीय संस्करण की विरहानुभूति का अध्ययन यदि किया जाय तो ग्रन्थ के प्रथम बीस पृष्ठों में अभिव्यक्त हुई अनुभूति शुद्ध रहस्यात्मक विरहानुभूति और बाकी लौकिक विरह भावना दिखाई पड़ती है जिसका उन्नयन उपसंहार रूप में प्रसाद लोकमंगल में करना चाहते हैं। इस रूप में प्रसाद के 'आँसू' में निश्चित रूप से विरह की दो कोटियाँ मिलती हैं जिनमें प्रथम बीस पृष्ठों में अभिव्यक्त हुई अनुभूति रहस्यात्मक आध्यात्मिक अनुभूति है। 'आँसू' की अनुभूति का क्रम रहस्यात्मकता से लौकिकता की ओर क्यों गया? यह एक दूसरा प्रश्न है। वस्तुतः तो लोक मंगल की कल्पना की परिपक्वता के बाद ही रहस्यात्मकता आनी चाहिए थी। भावना के विकास में व्यतिक्रम अवश्य दिखाई पड़ता है किन्तु उसका यह अर्थ नहीं कि उसमें आध्यात्मिक अनुभूति है ही नहीं। अस्तु!

आँसू के द्वितीय संस्करण के प्रथम बीस पृष्ठों में आये हुए पदों को निश्चित रूप से रहस्यवादी विरहकाव्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

एकान्त भावुक की अन्तर्मुखी साधना में अपार्थिव नियन्ता के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न होती है 'आँसू' की प्रथम पंक्तियों में ही यह भाव व्यक्त हुआ है—

इस करुणा कलित हृदय में
अब विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती?[1]

करुणा कलित हृदय और वेदना, यह दोनों रहस्यवाद के लिए आवश्यक तत्त्व हैं। करुणाकलित हृदय में भावना और ममवेदना की विशेषताएँ होती हैं, जो मानव को उसके स्व के संकुचित संसार से आगे उठाकर कुछ और देखने की दिव्य दृष्टि भी देती है। विश्व की हलचल 'हाहाकार' में उसके नियन्ता के प्रति वेदना का जन्म होता है (वेदना का अर्थ जानने की अभिलाषा माना जा सकता है।)

अव्यक्त के प्रति जिज्ञासा जागृत हो जाने के बाद रहस्यवादी को सम्पूर्ण विश्व अभावमय दिखाई पड़ने लगता है और प्रिय के भान से वह उस रिक्त स्थान को भरना चाहता है—

आती है शून्य क्षितिज से
क्यों लौट प्रतिध्वनि मेरी

[1] श्री जयशंकरप्रसाद—आँसू, पृष्ठ ७

टकराती विलखाती सी
पगली सी देती फेरी।[1]

व्यक्त और अव्यक्त के मध्य चेतना रूपी तरगिणी आदोलित हो उठती है। व्यक्त (ससार) के कारण उत्पन्न विस्मृति के अधकार म अव्यक्त (अपार्थिव प्रिय) की भाँति नक्षत्रालोक की भाँति छिटकी हुइ दिखाई देती है। कवि को ऐसा प्रतीत होता है से वे सब उसकी पीडा रूपी अग्नि की छिटकी हुई चिनगारियाँ हो।

क्यो व्यथित व्योम गगा सी
छिटका कर दोना छोरें
चेतना तरगिनि मेरी
लेती है मदुल हिलोरें।
बस गइ एक बस्ती है
स्मतिया की इसी हृदय म
नक्षत्र लोक फला है
जसे इस नील निलय म।
ये सब स्फुलिंग हैं मेरी
इस ज्वालामयी जलन के
कुछ शेष चिह्न केवल
मेरे उस महा मिलन के॥[2]

आँसू की निम्नलिखित पक्तिया को किसी भाति भी लौकिक विरह के अतगत नहा रखा जा सकता—

वाडवज्वाला सोती थी
इस प्रणय सिंधु के तल म
प्यासी मछली सी आँखें
थी विकल रूप के जल म
बुलबुले सिधु के फूट नक्षत्र मालिका टूटा
नभ मुक्त कुन्तला धरणी
दिखलाइ देती लूटी।[3]

रहस्यवादी की विरह-दशा का यह वणन अरत गुढ रूप म कबीरादि सता की उलटबासिया व काव्य रूपका की कोटि का ही है। जब म मछली के ध्यान रह जान का अयथा क्या तात्पय हो सकता है ? अव्यक्त का व्यक्त रूप विश्व ही रूप का जल है,

१ श्री जयशकरप्रसाद—आँसू, पृष्ठ ८
२ वही, पृष्ठ ६
३ वही, पृष्ठ १०

और साधक की आंखें मछली के सदृश। पहले यह मछली रूपी आंखें रूप के जल में रहकर भी व्याकुल थी अब रूप का जल छिन्न भिन्न हो गया है। विश्व का सौन्दर्य, रहस्यवादी विरही को आकृष्ट नहीं कर पा रहा, सब कुछ लुटा सा शून्य-सा दिखाई देता है। प्रणय सिंधु के तल में सोई हुई वास्तविक वेदना की वाडवज्वाला जाग उठती है।

'आंसू' के इस अंश की रहस्यवादिता को उसकी ये पंक्तियां और भी स्पष्ट कर देती हैं—

इस विकल वेदना को ले
विसन सुख को ललकारा
वह एक अबोध अकिंचन
बेसुध चैतन्य हमारा॥[1]

यहाँ अबोध बेसुध और चैतन्य शब्द ध्यान देने योग्य हैं। रूप जल का मोह टूटने से पहले चैतन्य बेसुध पड़ा था उसको वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं था। अब वाडवज्वाला सी विरह वेदना का अनुभव करते हुए भी वह किसी चिर सुख की कामना करने लगा है।

इससे आगे की पंक्तियां भी कवि की विरह व्यथा के अपार्थिव के प्रति होने का संकेत करती है—

अभिलाषाओं की करवट
फिर सुप्त व्यथा का जगना
सुख का सपना हो जाना
भीगी पलकों का लगना।

अभिलाषाओं की करवट शब्द में वृत्तियां के अन्तर्मुखी होकर उनके अपार्थिव के प्रति उन्नयन का भाव है।

पीड़ा की अवस्थिति के बाद 'मिलन' के क्षणों का अनुभव भी प्राय सभी रहस्यवादी करते हैं। उसकी अभिव्यक्ति के लिए लौकिक मिलन के प्रतीकों का आश्रय भी लिया ही जाता है क्योंकि और कोई माध्यम रहस्यवादी विरही को उपलब्ध नहीं है। प्रसाद ने भी लौकिक मिलन संकेतों से ही उस मिलन को अभिव्यक्त किया है—

इस हृदय कमल का घिरना
अलि अलकों की उलझन में
आंसू मरन्द का गिरना
मिलना निश्वास पवन में॥[3]

---

१ श्री जयशंकरप्रसाद—आंसू, पृष्ठ ११
२ वही पृष्ठ ११
३ वही पृष्ठ १२

रहस्यवादी के जीवन मे मिलन के ये क्षण अत्यन्त लघु होते हैं ठोस धरती पर पाव रखते ही वह पुन पीडा [redacted] तडपने लगता है। श्यामा और चातक की करुण पुकार म उस अपनी व्यथा का ही आर्द्र स्वर सुनाई पडता है। किन्तु अन्य व्यक्तियो को जिन्ह उस अपूर्व पीडा का अनुभव नही हुआ उसकी बात सुनने का अवकाश नही होता—

मादक थी मोहमयी थी
मन बहलाने की क्रीडा
अब हृदय हिला देती है
वह मधुर प्रेम की पीडा।[1]

चातक की चकित पुकारें
श्यामा ध्वनि सरल रसीली
मेरी करुणार्द्र कथा की
टुकडी आसू स गीली।
वसुध जो अपने सुख से
जिनकी हैं सुप्त व्यथाएँ
अवकाश भला है किनको
सुनने को करुण कथाएँ।[2]

आसू के पृष्ठ सख्या १३ से पृष्ठ सख्या २० तक म प्रसाद न मिलन की अनुभूतिया का और अपनी विवशता का विविध वणन किया है। साधक का अपार्थिव प्रिय स मिलन वस ही होता है जस लहरो का हिमकर से—

गौरव था नीचे आए
प्रियतम मिलने को मरे
मैं इठला उठा अकिंचन
देखे ज्यो स्वप्न सवेर।[3]
× × ×
परिचय राका जलनिधि का
जसे होता हिमकर स
ऊपर से किरणें आतीं
मिलती हैं गले लहर से।[4]

---

१ श्री जयशकरप्रसाद—आसू, पृष्ठ १२ १३
२ वही, पृष्ठ १ १३
३ वही, पृष्ठ १७
४ वही, पृष्ठ १८

मीरा के 'ह री मैं तो दरद दीवानी मेरी दरद न जान कोय' की भाति प्रसाद भी कहते हैं—

रो रोकर सिसक सिसक कर
कहता मैं करुण कहानी
तुम सुमन नोचते सुनते
करते जानी अनजानी।[1]

'आंसू के इस प्रथम अश म रहस्यवादी की विरह यथा क सब सस्थान हैं—जिज्ञासा, शून्य, पीडा, मिलन और फिर चिर पीडा। उसको लौकिक विरह काव्य नहीं कहा जा सकता।

पष्ठ सख्या २० से आगे के सब पदा म लौकिक विरह भावना की अभिव्यक्ति है जो पीडा की अतिशयता म अतीन्द्रिय हो गई है और उसका उ नयन कवि ने लोक मगल म करना चाहा है। इसका विस्तृत अध्ययन हम यहाँ न करके आगे दूसरे अश, 'प्रसाद के का य म लौकिक विरह भावना म करगे।

'आंसू क इस प्रथम भाग के अतिरिक्त रहस्यात्मक विरहानुभूति प्रसाद के काव्य म अत्य त विरल है। 'झरना' की एक कविता खोलो द्वार', 'लहर' की दो एक कवि ताओं और 'कामायनी' क आशा सग म यत्र तत्र उसके दर्शन होते हैं।

कामायनी के आशा सग म सृष्टि के आदिपुरुष 'मनु क मिस प्रसाद का भावुक जिज्ञासु पुकार उठता है—

विश्वदेव, सविता या पूषा
सोम मरुत चचल पवमान
वरुण आदि सब घूम रहे हैं
किसके शासन म अम्लान?
किसका था भ्रू भग प्रलय सा
जिसम य सब विकल रहे,
अरे प्रकृति के शक्ति चिह्न ये
फिर भी कितन निबल रह।[2]

× × ×

महानील इस परम व्योम म
अ तरिक्ष म ज्योतिर्मान,
ग्रह, नक्षत्र और विद्युत्कण
किसका करत से सधान।

---

१ श्री जयशकरप्रसाद—आंसू पृष्ठ १५
२ वही, कामायनी, आशा सग, पृष्ठ २५ २६

छिप जाते है और निकलते
आकर्षण में खिंचे हुए
तृण वीरुध लहलहे हो रहे
किसके रस में सिंचे हुए
सिर नीचा कर किसकी सत्ता
सब करते स्वीकार यहाँ,
सदा मौन हो प्रवचन करते
जिसका, वह अस्तित्व कहाँ ?[1]

सृष्टि के नियन्ता का रूप निर्माण करने में स्वयं को असमर्थ पाकर, कवि उस विषय में अपनी पराजय स्वीकार करता है किन्तु फिर भी वह जानता है कि 'वह विराट' अनन्त रमणीय है।

हे अनन्त रमणीय ! कौन तुम ?
यह मैं कैसे कह सकता।
कैसे हो ? क्या हो इसका तो
भार विचार न सह सकता ॥[2]

वेदान्तियों की भाँति प्रसाद भी मानते हैं कि ब्रह्म स्वयं अपनी माया के अंधकार से आच्छादित होकर छिपा हुआ है। सूफी साधकों ने भी अलौकिक प्रिय की अलक के अंधकार के पीछे उसके सुन्दर रूप का अस्तित्व माना है। जीवन अथवा विश्व उनके लिए आत्मा की अंधकारमयी रजनी है। प्रसाद का रहस्यवादी 'स्वयं अपनी अलकों में छिप उस रूप को' दर्शन के लिए उत्सुक हो उठा है—

निज अलकों के अंधकार में तुम कैसे छिप आओगे ?
इतना सजग कुतूहल ! ठहरो यह न कभी बन पाओगे।

भावुक जिज्ञासु जितना उस रूप के निकट जाना चाहता है उतना ही वह दूर हटता जाता है, केवल उसके सौन्दर्य के कण यत्र तत्र प्रकृति में बिखरे पड़े हुए रह जाते हैं—

आह चूम लूँ जिन चरणों को चाँप चाँप कर उन्हें नहीं—
दुख दो इतना अरे अरुणिमा ऊषा सी वह उधर बही।
वसुधा चरण चिह्न सी बनकर यहीं पड़ी रह जावेगी।
प्राची रजकुंकुम ले चाह अपना भाल सजावेगी ॥[3]

वह पहले केवल उस सौन्दर्य के दर्शन करना चाहता है यद्यपि उस अनन्त सौन्दर्य की चकाचौंध में पहले इसकी आँखें बन्द हो जाएँगी किन्तु फिर भी वह उसे पहचान लेगा।

१ श्री जयशंकरप्रसाद—कामायनी, आशा सर्ग, पृष्ठ २६
२ वही, पृष्ठ २५
३ वही लहर पृष्ठ १०

और तब उसमें अपनी चिर पिपासा की तृप्ति को पाकर उसे अपने आलिंगन में जकड़ लेने को व्याकुल हो उठेगा।

दख न लू इतनी ही तो है इच्छा ? लो सिर झुका हुआ।
कोमल किरन उगलियों से ढँक दोगे यह दृग खुला हुआ ।।
फिर कह दोगे पहचानो तो मैं हूँ कौन बताओ तो।
किन्तु उन्हीं अधरों से पहले उनकी हँसी दबाओ तो ।।
सिहर भर निज शिथिल मृदुल अंचल को अधरों से पकड़ो।
बेला बीत चली है चंचल बाहु लता से आ जकड़ो ।।[1]

लहर की उपर्युक्त कविता में प्रसाद का शाश्वत प्रिय, सूफियों की मुग्धा नायिका—जायसी की 'पद्मावती' का प्रतिरूप सा बन जाता है।

'झरना' प्रसाद की प्राथमिक रचनाओं में से है किन्तु उसकी अटपटी कविताओं के मध्य में भी उनका रहस्यवादी हृदय कभी-कभी लौकिक कष्ट की आंच से तपकर शाश्वत प्रिय के द्वार पर विश्राम पाने के लिए आतुर हो उठा है। 'खोलो द्वार' नामक कविता में हम 'प्रसाद' का वही आत्मविश्वास पाते हैं जो कबीर का है। अन्तर केवल इतना है कि कबीर ने अपनी व्यक्तित्व रूपी 'चदरिया' को प्रारम्भ से यत्न से ओढ़ा और 'प्रसाद' ने आँसुओं से धोकर उसको निर्मल बना दिया है—

धूल लगी है, पद काँटों से बिंधा हुआ, है दुख अपार।
किसी तरह से भूला भटका आ पहुँचा हूँ तेरे द्वार।
डरो न इतना, धूलि धूसरित होगा नहीं तुम्हारा द्वार।
धो डाले हैं इनको प्रियवर, इन आँखों से आँसू ढार ।।[2]

इन वैयक्तिक रहस्यात्मक अनुभूतियों के अतिरिक्त समष्टिगत रहस्यानुभूति के संकेत भी प्रसाद के काव्य में मिलते हैं। समष्टिगत रहस्यानुभूति के मूल में भी लोक कल्याण की भावना ही है। प्रसाद का रहस्यवादी अपने साथ विश्व को भी उस अपूर्व अनुभूति में तन्मय देखना चाहता है। कबीर जैसे 'जहँ चढ़ि हँसा केलि कर' की कल्पना करते थे वैसे ही प्रसाद—

स्नेहालिंगन की लतिकाओं की झुरमुट छा जाने दो,
जीवन धन ! इस जले जगत को वृन्दावन बन जाने दो ।।[3]

वह विश्व के प्रत्येक प्राणी को द्वैत की भावना से रहित स्नेह के आलिंगन में आबद्ध देखना चाहते हैं।

प्रसाद और कबीर में वही अन्तर है जो साधक और सिद्ध में है। एक विश्वास के युग में ताल ठोककर यह कह सकता था कि मैंने ऐसा अनुभव किया है और दूसरा

१ श्री जयशंकर प्रसाद—लहर पृष्ठ १०
२ वही झरना खोलो द्वार, पृष्ठ २१
३ वही, लहर पृष्ठ २०

बुद्धि क युग म, अपनी क्षणिक रहस्यात्मक अनुभूतियो को स्थायी बनाने को निरन्तर तत्पर है।

प्रसाद लौकिक विरहानुभूति

प्रसाद के काव्य म वयक्तिक प्रेम और विरह की एक स्पष्ट धारा 'झरना' से आरम्भ होकर लहर' तक आई है। प्रारम्भ में अपनी अनुभूति म वह शुद्ध मासल थी किन्तु धीरे धीरे उसका मानसीकरण होता गया सूक्ष्म और अतीन्द्रिय होते-होते वह छायात्मक बन गई, कवि की वयक्तिक व्यथा न कहकर प्रकृति के कण कण की व्यथा का आभास बन गयी।

कवि का 'जीवन सोता' 'झरना' म शान्त गति स 'गिरि सकट' के बीच म से बह रहा था तभी किसी ने जाह्नवी क समान उसका आदर करके, प्रेम का दीप उसे भेंट किया—

गिरि सकट म जीवन सोता मन मारे
चुप बहता था
कलकल नाद नही था उसम मन की बात
न कहता था।
इसे जाह्नवी-सा आदर दे किसने भेंट चढाया है।
अचल से सस्नेह बचाकर छोटा दीप जलाया है॥[1]

कवि के युवक मन म यौवन सुलभ अभिलाषाएँ, लालसाएँ हैं। अपन प्रथम मिलन की अनुभूति को उसने निर्व्याज व्यक्त किया है—

निभृत था—पर हम दोनो थ
वलियाँ रह न सकीं फिर शान्त।
कहा जब व्याकुल हो उनसे—
मिलेगा कब ऐसा एकान्त ?'
हाथ म हाथ लिया मैंने
हुए वे सहसा शिथिल नितान्त
मलय ताडित किसलय कोमल
हिल उठी उँगली, दशा, भ्रान्त।[2]

जब प्रिय स उस विश्वासघात मिला तो सहसा विश्वास न हुआ। हताश-सा वह उससे अनुनय करने लगा—

क्रोध स, विषाद से, दया पूव प्रीति ही स,
किसी भी बहान स तो याद किया कीजिए।[3]

---

[1] श्री जयशकरप्रसाद—झरना, (अचना), पृष्ठ २७
[2] वही पृष्ठ ७१ ७२,
[3] वही, पृष्ठ ४१

यहाँ प्रसाद, गालिब के अत्यंत निकट आ गए हैं। यह अनुभूति बहुत कुछ 'और कुछ नहीं तो अदावत ही सही' जैसी ही है। ऐसे ही एक और स्थान पर भी उनके भाव जैसे गालिब के भावों की प्रतिध्वनि से लगते हैं—

औरो के प्रति प्रेम तुम्हारा इसका मुझको दुख नहीं।
जिसके तुम हो एक सहारा, वही न भूला जाए कहीं॥[1]

—प्रसाद

कता कीजिए न ताल्लुक हमसे
गर क्यों तुमने मुहब्बत ही सही।

—गालिब

परन्तु यह स्थिति बहुत अधिक समय तक नहीं रही। प्रसाद का प्रेमी भावुक किसी के सामने प्रेम के लिए अधिक घिघियाना नहीं चाहता—वह उपेक्षा में ही सुख की खोज करने लगता है—

किसी पर मरना यही तो दुख है।
'उपेक्षा करना' मुझे भी सुख है
यही प्रार्थना हमारी।
जलन छाती की बड़ी सहता हूँ
मिलो मत मुझसे यही कहता हूँ,
बड़ी हो दया तुम्हारी।[2]

'झरना' में प्रेम की यह अनुभूति और उसमें निराशा की व्यथा सीधे तथा सरल रूप में अभिव्यक्त हुई है। कवि ने प्रकृति के प्रतीकों का आश्रय लेकर उसे सूक्ष्म अतींद्रिय रूप देने की चेष्टा नहीं की है। 'आँसू' में प्रतीकों का आश्रय लेकर वह अतींद्रिय बनती हुई-सी प्रतीत होती है—

परिरम्भ कुम्भ की मदिरा
निश्वास मलय के झोंके
मुख-चन्द्र चाँदनी जल से
मैं उठता था मुँह धोके।
थक जाती थी सुख रजनी
मुखचन्द्र हृदय में होता
श्रम सीकर सदृश नखत से
अम्बर पट भीगा होता॥
आयेगी कभी न वैसी
फिर मिलन कुंज में मेरे

१ श्री जयशंकरप्रसाद—झरना, पृष्ठ ८४
२ वही पृष्ठ ८६

चाँदनी शिथिल अलसाई
सुख के सपना स भरे।
लहरा म प्यास भरी है
हैं भँवर पात्र भी खाली
मानस का सब रस पीकर
लुटका भी तुमने प्याली॥[1]

प्रिय स मिलन और वियोग की व्यजना एक पद म बडी सुन्दरता स हुई है—

मादकता स आय तुम
सना स चल गए थ
हम व्याकुल पडे बिलखत
थ उतरे हुए नश स।[2]

प्रिय क आगमन की मदिरा क मादक प्रभाव और चल जान की होश म आन से तुलना बडी सजीव है।

प्रिय द्वारा दिये गए आश्वासन पर कटु व्यग्य शुद्ध वयक्तिकरूप म अत्यन्त मामिक हा उठा है—

इतना सुख जो न समाता
अतरिक्ष म जल थल म
उनकी मुट्ठी म बन्दी
था आश्वासन क छल म।[3]

सम्पूण सृष्टि उस अपने सुख-दुख का प्रतिरूप-सी लगती है। प्रकृति का प्रत्येक कण उसकी व्यथा से आद्र हो उठा है—

क्या छलक रहा दुख मरा
ऊषा की मदु पलका म
हाँ। उलझ रहा सुख मरा
सध्या की घन अलका म।

अनन्त दुख और वेदना सहकर भी कवि निराशा के गत म नही गिरा है। उसन सुख दुख के मध्य जीवन की स्वस्थता के दशन किए हैं।—

मानव जीवन वेदी पर
परिणय हो विरह मिलन का

---

१ श्री जयशकरप्रसाद—आँसू, पृष्ठ १७
२ वही पृष्ठ ११
३ वही, पृष्ठ ४१
४ वही पृष्ठ ४७

यहाँ प्रसाद, गालिब के अत्यन्त निकट आ गए हैं। यह अनुभूति बहुत कुछ 'और कुछ नही तो अदावत ही सही' जैसी ही है। ऐसे ही एक और स्थान पर भी उनके भाव जसे गालिब के भावो की प्रतिध्वनि से लगते हैं—

औरो के प्रति प्रेम तुम्हारा, इसका मुझको दुख नही।
जिसके तुम हो एक सहारा, वही न भूला जाए कहीं॥[1]

—प्रसाद

कता कीजिए न ताल्लुक हमसे
गर को तुझसे मुहब्बत ही सही।

—गालिब

परन्तु यह स्थिति बहुत अधिक समय तक नही रही। प्रसाद का प्रेमी भावुक किसी के सामने प्रेम के लिए अधिक घिघियाना नही चाहता—वह उपेक्षा म ही सुख की खोज करने लगता है—

किसी पर मरना यही तो दुख है।
'उपेक्षा करना' मुझे भी सुख है
यही प्रार्थना हमारी।
जलन छाती की बडी सहता हूँ
मिलो मत मुझसे यही कहता हूँ,
बडी हो दया तुम्हारी।[2]

'झरना' मे प्रेम की यह अनुभूति और उसम निराशा की व्यथा सीधे तथा सरल रूप मे अभिव्यक्त हुई है। कवि ने प्रकृति के प्रतीको का आश्रय लेकर उसे सूक्ष्म अतीन्द्रिय रूप देने की चेष्टा नही की है। 'आंसू' म प्रतीको का आश्रय लेकर वह अतीन्द्रिय बनती ... की प्रतीक होती है—

सित
वह
विरही की विवश स्थिति
भाता है—
सुख
जब
चुपके
यह
कठिन विरह व्यथा स व्य
है। आंसू और स्मित के स

परिरम्भ कुम्भ की मदिरा
निश्वास मलय के झोके
मुखचन्द्र चाँदनी जल से
मैं उठता था मुह धोके।
थक जाती थी सुख रजनी
मुखचन्द्र हृदय म होता
श्रम सीकर सदृश नखत से
अम्बर पट भीगा होता॥
सोयगी कभी न वसी
फिर मिलन कुज म मेरे

चान्नी शिथिल अलसाइ
सुख के सपनों से भर।
लहरों में प्यास भरी है
है भवर पात्र भी खाली
मानस का सब रस पीकर
लन्दा दी तुमने प्याली॥[1]

प्रिय से मिलन और वियोग की व्यंजना एक पद में बड़ी सुन्दरता से हुई है—

मादकता में आये तुम
संज्ञा से चले गए थ
हम व्याकुल पड़े बिलखते
थ, उतरे हुए नशे से।[2]

प्रिय के आगमन की मदिरा के मादक प्रभाव और चले जाने की, होश में आने से तुलना बड़ी सजीव है।

प्रिय द्वारा दिये गए 'आश्वासन' पर कटु व्यंग्य गूढ़ वयक्तिकरूप में अभिव्यक्त मार्मिक हो उठा है—

इतना सुख जो न समाता
अतरिक्ष में जल थल में
उनकी मुट्ठी में बंद का तारा।
था आश्वासन के छल

सम्पूर्ण सृष्टि उन अपने सुख-दुख का प्रतिबिम्ब भ्रमर के मिस विरही की करुण कथा उसकी व्यथा से आर्द्र हो उठा है— सुख, स्वप्न के समान चिर अस्थायी होता है, स्मृति को ही जीवनपथ का पाथेय बना

क्यों छलक रहा दुख
ऊषा की मृदु पलकों स्वप्न देखकर जाग गया?
हाँ! उलझ रहा सुख क्या कर जो भाग गया।
संध्या की घन अलकों मतवाली सुंदर छाया में।
निज सुहाग मधुमाया में
थके पथिक की पन्था की।[4]

अनन्त दुख और वेदना सहकर भी कवि निराश सुख दुख के मध्य जीवन की स्वस्थता के दर्शन किए हैं मानव जीवन की माध्यम से मिलन और विरह की मार्मिक परिणय हो विरह मिलन

१ श्री जयशंकरप्रसाद—आंसू, पृष्ठ २७
२ वही पृष्ठ ३३
३ वही, पृष्ठ ४६
४ वही पृष्ठ ४७

भूति का सफल चित्रण किया है—

वे कुछ दिन कितने सुदर थे?
जब सावन घन सघन बरसते—
इन आखो की छाया भर थे!
× × ×
सुरधनु रजित नव जलधर से—
भरे क्षितिज व्यापी अम्बर से,
मिले चूमते जब सरिता के
हरित कूल युग मधुर अधर थे।[1]

सुरधनु के रग से रजित बादलो से युक्त अम्बर मे प्रेमी मन के विविध भावो की र व्यजना हुई है। सरिता के हरे भरे दो किनारो से नायिका के उल्लसित अधरो की मा भी अनुपम है।

विरह की 'स्मति' दशा की उपमा प्रसाद ने 'चपला' से दी है। चपला मे अनुभूति चकाचौंध करने वाला दीप्ति का व तडपन का भाव है

चित्र खीचती थी जब चपला,
नील मेघ पट पर वह विरला
मेरी जीवन स्मृति के जिसमे—
खिल उठते वे रूप मधुर थे।[2]

प्रेम के क्षेत्र मे मिली निराशा ने प्रसाद के प्रेमी को अकर्मण्य नही बनाया है। ांसू मे 'लोक मगल की जो कामना कवि ने की थी, वह लहर' मे फलीभूत हुई-सी ीत होती है—

निधरक तूने ठुकराया तब
मेरी टूटी मधु प्याली को,
उसके सूखे अधर मांगते
तेरे चरणो की लाली को।
जीवन रस के बचे हुए कन,
बिखरे अम्बर मे आंसू बन,
वही दे रहा था सावन घन—
वसुधा की इस हरियाली को।[3]

'मानस की गहराई से वह फिर तर यह कामना करता रहा है—

तेरा विषाद द्रव तरल तरग
मूर्छित न रहे ज्यो पिये गरल

२ श्री जयशकरप्रसाद—लहर, पृष्ठ २७
वही पृष्ठ ४२

सुख-लहर उठा री सरल-सरल
लघु लघु सुन्दर-सुन्दर अविरल,
—तू हँस जीवन की सुधराई।[1]

इतना सब होने पर भी व्यथा को वह भुला नही सका है। प्रकृति का मादक उसके मन म अभाव की वेदना भर देता है। यहाँ अभिव्यक्ति म प्रकृति का रूप उद्दीपन है—

प्यारे भरे श्यामल अम्बर म जब कोयल की कूक अधीर,
नत्य शिथिल बिछली पडती है वहन कर रहा उस समीर
तब तू क्यो अपनी आँखो म जल भरकर उदास होता,
और चाहता इतना सूना—कोई भी न पास होता ?[2]

प्रसाद के काव्य मे लौकिक विरह का मूल स्वर विश्वासघात से उत्पन्न पीडा है। अत उसे विश्वासघात स उत्पन्न अनिश्चित अवधि का सम्बन्ध विच्छेद अथवा करुण विरह कहना चाहिए—

वचित रे ! यह किस अतीत की विकल कल्पना का परिणाम,
किसी नयन की नील निशा मे क्या कर चुका क्षणिक विश्राम ?[3]

लौकिक विरह की यह धारा उनकी रहस्यवादी रचनाओ से बिलकुल असम्पृक्त अपना अलग अस्तित्व रखती है।

महादेवी की विरहानुभूति

जिस तरह मीरा के जोगिया विषयक पदो को पढकर, उनका उपालम्भ और निवेदन गिरिधर नागर के लिए है यह मानने म स देह होन लगता है उसी भाँति मानस कुज उजाडकर परदेश बसाने वाले' महादेवी के प्रियतम की अलौकिकता भी उनके उन पदो म सदिग्ध हो जाती है—

बिखरते स्वप्नों की तस्वीर
अधूरा प्राणा का सन्देश
हृदय की लेकर प्यासी साध
बसाया अब है कौन विदेश ?
रो रहा है चरणा के पास
चाह जिनकी थी उनका प्यार।[4]

---

१ श्री जयशकरप्रसाद—लहर, पृष्ठ ४३
२ वही, पृष्ठ ४४
३ वही, पृष्ठ ४४
४ सुश्री महादेवी वर्मा—यामा, पृष्ठ ३६

तथा—

हुई सोने की प्रतिमा क्षार
साधनाएँ बैठी हैं मौन
हमारा मानस-कुंज उजाड़
दे गया नीरव रोदन कौन ?

'नीहार' की एक अन्य कविता में अतीत का मधुर और वर्तमान का करुण अश्रुमय चित्र कवयित्री ने प्रस्तुत किया है। उसमें वह प्रिय द्वारा की गई अवहेलना की बात कहती हैं। यदि महादेवी की कविता में उनकी विरहानुभूति को केवल निराकार अपार्थिव 'ब्रह्म' के लिए मान लिया जाय तो 'ब्रह्म' रूपी प्रिय की अवहेलना का क्या अर्थ निकलेगा ?

जला जिसमें आशा के दीप
तुम्हारी करती थी मनुहार
हुआ वह उच्छ्वासों का नीड़
रुदन का सूना स्वप्नागार
हृदय पर अंकित कर सुकुमार
तुम्हारी अवहेला की चोट
बिछाती हूँ पथ में करुणेश
छलकती आँखें हँसते ओठ ![1]

इस सम्पूर्ण सृष्टि में केवल वही अकेली विरह से पीड़ित नहीं है, कण-कण में वह व्यथा व्याप्त है—

न रहता भौंरों का आह्वान
नहीं रहता फूलों का राज्य
कोकिला होती अन्तर्धान
चला जाता प्यारा ऋतुराज
असम्भव है चिर सम्मिलन
न भूलो क्षणभंगुर जीवन।[2]

सबकी पीड़ा जैसे उनकी प्रमिका को प्रिय का वियोग सहने की शक्ति दे रही है। विरह वेदना उनके स्वरूप को उज्ज्वलतर बना देगी, ऐसा उनका विश्वास है—

सखे यह है माया का देश
क्षणिक है मेरा तेरा संग
यहाँ मिलता काँटों में बन्धु
सजीला सा फूलों का रंग,

१ श्रीमती महादेवी वर्मा—यामा, पृष्ठ ४०
२ वही, पृष्ठ ४२

तुम्हे करना विच्छेद सहन
न भूला हे प्यारे जीवन ।[1]

ऐसा लगता है कि पार्थिव निराशा को महादेवी ने अपार्थिव अमूर्त प्रियतम के चरणो मे न्योछावर किया है। लौकिक कुंठा से उत्पन्न हुआ अपार्थिव के प्रति उन्मुखी भाव ही उनकी रहस्यवादी कविता का मूल स्रोत प्रतीत होता है। स्वय उनके अपने शब्दो मे—

मैं नीर भर भीने जीवन मे
इच्छाओ के रुदन अपार,
जला वेदनाओ के दीपक
आई उस मन्दिर के द्वार !
क्या देता मेरा सूनापन
उन चरणो का उपहार ?
बेसुध-सी मैं धर आई
उन पर अपने जीवन की हार ![2]

परन्तु 'जीवन की हार' भी अपार्थिव के प्रति उन्मयनित और समर्पित होकर देदीप्यमान हो उठी है—

मधुमाते हो विहँस रहे थे
जो नन्दन कानन के फूल,
हीरक बनकर चमक गई
उनके अंचल मे भरी धूल ![3]

'नीहार' मे ही शुद्ध रहस्यवादी कविताएँ प्राप्त हैं। सासारिक भव्य इच्छाओ का चूर्ण करके साधिका ने व्यक्तित्व का प्याला बनाया है और उस पीडा से अभिषिक्त करके उसमे जीवन का स्पन्दन फूका है। 'शून्य' के तट पर उस अपार्थिव गायक का अलौकिक गायन सुनाई दिया, तभी से उसका मन उद्वेलित हो उठा है और स्व से समर्पित उसका व्यक्तित्व विनष्ट हो गया है—

इन हीरक के तारो को
कर चूर बनाया प्याला,
पीडा का सार मिला कर
प्राणो का आसव ढाला,
मलयानिल के झोंको मे
अपना उपहार लपेटे

१ श्रीमती महादेवी वर्मा—यामा, पृष्ठ ४३
२ वही, पृष्ठ ५६
३ वही पृष्ठ ५६

मैं सूने तट पर आई
बिखरे उद्‌गार समेटे।[1]

तभी—

गायक वह गान तुम्हारा
आ मँडराया पलकों में।

महादेवी की प्रेमी साधिका के प्राण' उस झंकार से 'बेसुध' हो गए थे किन्तु वह सुख स्थायी न था। उनको (प्राणों को) विरह की पीड़ा प्रदान करके वे रातें जाने कहाँ अन्तर्हित हो गई हैं—

हो गईं कहाँ अन्तर्हित
सपने लेकर वे रातें
जिनका पथ आलोकित कर
बुझने जाती हैं आख।[2]

जिस तरह 'नीहार' के धुंधलेपन के गलते-गलते दिवस की 'रश्मि' स्पष्ट हो जाती है, उसी तरह रश्मि तक आते-आते महादेवी के सामने उनका विरहपथ स्पष्ट हो गया है। यहाँ तक आकर मन की अव्यवस्थित स्थिति का धुँधलापन नष्ट हो गया है और अलौकिक प्रिय के प्रणय से उत्पन्न अनेक मिलन विरह के क्षणों का अनुभव होने से मन की चिरप्यास जाग उठी है—

घुल घुल जाता यह हिम दुराव
गा-गा उठते चिर मूक भाव
अलि सिहर सिहर उठता शरीर।[3]

जीवन के शून्य और निराशा के कारण जो विरक्ति उनके मन में घर करने लगी थी, वह प्रकृति का अधिकाधिक सम्पर्क प्राप्त करके उसके निर्माता के प्रति जिज्ञासामयी हो उठी है—

कनक से दिन मोती-सी रात
सुनहली साँझ गुलाबी प्रात
मिटाता रंगता बारम्बार
कौन जग का यह चित्राधार?
रजत प्यालों में निद्रा ढाल
बाँट देती जो रजनी बाल,

---

१ श्रीमती महादेवी वर्मा—यामा, पृष्ठ २२ २३
[illegible] ३

उसे कलियो मे आँसू घोल
चुकाना पड़ता किसका मोल ?[१]

× ×

किन उपकरणो का दीपक
किसका जलता है तेल
किसकी वर्ति, कौन करता
इसका ज्वाला से मेल ?[२]

प्रकृति के कोमल मदु तथा विकराल दोनो रूपो म उन्ह प्रिय के अस्तित्व का पता मिलता है

प्रकृति के कोमल रूप म

अवनि अम्बर की रुपहली सीप मे
तरल मोती सा जलधि जब कापता
तरते घन मृदुल हिम के पुज से
ज्योत्स्ना के रजत पारावार म
सुरभि बन जो थपकिया देता मुझे
नीद के उच्छवास सा वह कौन है ?[३]

विकराल रूप म

शून्य नभ पर उमड जब दुख भार सी
नश तम म, सघन छा जाती घटा
बिखर जाती जुगनुओ की पाँति भी
जब सुनहले आँसुओ के हार सी,
तब चमक जो लोचनो को मूदता
तडित की मुस्कान म वह कौन है ?[४]

प्रकृति, कवयित्री म केवल अलौकिक के प्रति जिज्ञासा भाव का ही जागत नही करती, वह उसे सजन और विनाश के गम्भीर रहस्यो पर चिन्तन करने को भी बाध्य करती है। 'प्रात क सुखद मनोरम वातावरण म सपनो का विनाश क्यो हो जाता है ? सन्ध्याकाल म रवि का पथ दीप पाकर मुखरा बनानेवाली तथा उसके माग प्रदशन के लिए पहला दीप जलानेवाला सध्या के सौभाग्य को तम का अकारा दिन भिन्न क्या कर देता है ?' महादेवी के मन म प्रश्न उठता है—क्या यही जीवन की गति है ? किन्तु मन

१ श्री महादेवी वर्मा—यामा पृष्ठ ७१
२ वही पृष्ठ ७२
३ वही, पृष्ठ ७६
४ वही, पृष्ठ ७६

फिर समाधान करता है कि सुख और दुख के समन्वय का नाम ही जीवन है—

कलि पर अलि का पहला गान
थिरकता जब बन मृदु मुस्कान,
विफल सपनो के हार पिघल
ढुलकते क्यो रहते प्रतिपल ?
गुलालो से रवि का पथ लीप
जला पश्चिम म पहला दीप,
विहँसती सन्ध्या भरी सुहाग
दृगो से झरता स्वर्ण पराग,
उसे तम की बढ एक झकोर
उडा कर ले जाती किस ओर ?
अथक सुषमा का सृजन विनाश
यही क्या जग का श्वासोच्छ्वास ?

× × ×

आदि म छिप जाता अवसान
अन्त मे बनता नव्य विधान
सूत्र ही है क्या यह ससार
गुथे जिसमे सुख दुख जयहार ?[१]

जीवन वीणा पर राग विराग, आसू और स्मिति की लय भर जाने वाले व्यक्तित्व को अपना बना लेने की साध 'रश्मि' म बडी प्रबल है—

मेरे शशव के मधु म घुल,
मेरे यौवन के मद मे ढुल
मेरे आँसू स्मित म हिलमिल
मेरे क्यो न कहाते ?[२]

रहस्यवादी विरही की मनोस्थिति का विश्लेषण महादेवी ने बडे मार्मिक ढग स इस तरह किया है—

धूलि के कण म नभ सी चाह
बिन्दु म दुख का जलधि अथाह,
एक स्पन्दन म स्वप्न अपार
एक पल असफलता का भार।[३]

प्रिय की निरन्तर प्रतीक्षा के असीम सुख म हो महादेवी की प्रेमिका विलय हो

१ श्रीमती महादेवी वर्मा—यामा, पृष्ठ ७२
२ वही, पृष्ठ ७३
३ वही, पृष्ठ ८०

जाना चाहती है। रामनरेश त्रिपाठी के 'विरह प्रेम की जागत गति है' शब्द महादेवी के व्यक्तित्व म साकार होन लगते हैं। स्वय का वह विरह पथिक का धीमा पग बताती हैं जो मजिल पर पहुँचन से पहल ही थककर गिर पडता है—

तुम अगर प्रतीक्षा हो मैं
पग विरह पथिक का धीमा
आते आते मिट जाऊँ
पाऊँ न पथ की सीमा।[1]

विरह से सिक्त, व्यथा का भार उठाये हुए अपन अश्रु आर्द्र जीवन का विश्लेषण उनक प्रमिका रूप न इस तरह किया है—

प्रिय इन नयनों का अश्रु नीर
दुख से आविल सुख स पकिल
बुद्बुद् से स्वप्नों से फनिल
बहता है युग युग से अधीर।[2]

विरह के कष्ट म उनका व्यक्तित्व उज्ज्वल कमल सा प्रस्फुटित हुआ है

इसम उपजा यह नीरज सित
कोमल कोमल लज्जित मीलित
सौरभ स लेकर मधुर पीर।[3]

यह विश्व के आकर्षणों से प्रफुल्ल नहीं होता, केवल प्रिय की करुणा स जीवित है—

इसको न जगाती मधुप भीर।
× × ×
तेरे करुणा कण से विलसित,
हो तेरी चितवन से विकसित
छू तेरी श्वासों का समीर।

कही प्रिय स अनुग्रह की याचना करते करत उनके विरही का स्वाभिमान जाग उठता है और तब अपनी अनन्त 'प्रदान शक्ति' पर गर्व करत हुए अपने 'पपीहे मन' को समझाती हैं—

जिसको अनुराग सा दान दिया
उससे कण माँग लजाता नहीं
अपनापन भूल समाधि लगा,
यह पी का विहाग भुलाता नहीं

---

१ श्रीमती महादेवी वर्मा—यामा, पृष्ठ ७६
२ वही, पृष्ठ १२०
३ वही, पृष्ठ १२१

नभ देख पयोधर श्याम घिरा
मिट क्या उसमे मिल जाता नही
वह कौन सा पी है पपीहा तेरा
जिस बाध हृदय म सुलाता नही।[1]

पतग मीन और चकोर का आदश उनके सम्मुख है—

कभी देख पतग को जो दुख से
निज, दीपशिखा को रुलाता नही,
मिल ले उस मीन से जो जल को,
निठुराई विलाप म गाता नही
कुछ सीख चकोर से जो चुगता
अगार, किसी को सुनाता नही।[2]

अनन्त विरह वेदना झेलते हुए रहस्यवादी विरही के जीवन म कभी कभी मिलन के क्षण भी आते है उस समय उसका अपने हृदय पर वश नही रहता, प्रिय उस पर एकाधिकार कर लेता है और तब उसकी सारी निधिया वह प्रिय, भिक्षुक विश्व के लिए लुटा देता है—

वह उर म बन आता पाहुन,
कहता मन से अब न कृपण बन
मानस की निधिया लेता गिन
दग द्वारा को खोल विश्व भिक्षुक पर हँस
बरसा आता।[3]

प्रिय के आगमन का साम्य उन्होने ग्रीष्म स तप्त 'मानस के लिए 'बादल' के सादृश्य किया है। यह उपमा उस भाव की अभिव्यक्ति के लिए अत्यन्त सशक्त है

रजत रश्मियो की छाया म धूमिल घन सा वह आता,
इस निदाघ से मानस म करुणा का स्रोत बहा जाता।[4]

मिलन की अनुभूति कुछ क्षणो के लिए विरही को हृष विह्वल ता बनाती है किन्तु जब वह समय बीत जाता है तो उसकी स्मृति उसे कचोटती हुई, वेदना को तीव्रतम कर देती है—

अलि अब सपने की बात—
हो गया वह मधु का प्रात।
मिलन इन्दु बुनता जीवन पर,
विस्मृति के तारो से चादर

१ २ सुश्री महादेवी वर्मा—यामा, पृष्ठ ११५

विपुल कल्पनाओ का म थर-
बहता सुरभित वात ।
अब नीरव मानस अलि गुजन
कुसुमित मदु भावो का स्पदन
विरह-वेदना आई है बन—
तम तुषार की रात ।[1]

महादवी और मीरा की प्रणयानुभूतियो म प्राय साम्य स्थापित किया जात
किन्तु इन दानो की अनुभूतियो म तात्विक अ तर है । मीरा का अपार्थिव प्रियतम स
साकार है और महादवी को अपने प्रियतम क चरणा की ज्योति का आभास ता मिल
है, किन्तु प्रत्यक्षता म आने का साहस उनम (उनके प्रियतम म) नही है । उसकी प्रत
क्षता के विषय म कोई उससे पूछ भी नही सकता क्योकि वह स्वय कहती हैं—

मघो म विद्युत सी छवि
उनकी बनकर मिट जाती,
आखो की चित्रपटी म,
जिसम मैं आक न पाऊँ ।[2]

सम्भवत दोनो की परिस्थितियाँ ही इसका कारण हो । मीरा का युग विश्वास का युग था, कृष्ण आदश पुरुष थ मीरा उ ह सब कुछ अपित कर सकी । आज परिस्थिति बदल गई है । छात्रालय के व्यस्त जीवन म अ य ससारियो की भाति रहती हुई महादवी की विरहानुभूति को रहस्यवादिता को ही स न्देह की दष्टि से देखा जाता है वह ब्रह्म की आराधिका होकर, उसके किसी विशिष्ट रूप पर अपना सब कुछ अपित कर चुकी हैं, इस बात पर कौन विश्वास करता ?

अपार्थिव के प्रति उ मुखी भाव म, महादेवी केवल रहस्यवादी नही हैं । वदान्ती तत्ववत्ता की भाँति उ होने जस 'अहम् ब्रह्मोऽस्मि' की स्थिति भी प्राप्त कर ली है—

जाती नवजीवन बरसा
जो करुण घटा कण-कण म,
निस्पद पडी सोती वह
अब मन के लघु ब धन म
मरा अपार वभव ही
मुझसे है आज अपरिचित
हो गया उ मधि जीवन का
सिकता कण म निर्वासित ।[3]

---

१ सुश्री महादेवी वर्मा—यामा, पृष्ठ ८२
२ वही, पृष्ठ १०६
३ वही, पृष्ठ ८६

बिम्बप्रतिबिम्ब भाव और अंश अंशी भाव दोनों उनकी कविता में प्राप्त हैं

मैं तुमसे हूँ एक, एक है
    जैसे रश्मि प्रकाश,
मैं तुमसे हूँ भिन्न, भिन्न ज्यों
    घन से तड़ित विलास
मुझे बाँधने आते हो लघु
    सीमा में चुपचाप
कर पाओगे भिन्न कभी क्या
    ज्वाला से उत्ताप।[१]

तथा—

ऊर्मियों में झूलता राकेश का आभास,
दूर होकर क्या नहीं है इंदु के ही पास?[२]

'नीरजा' में वह प्रिय से एकात्म-सा स्थापित करती हुई प्रतीत होती हैं। प्रेयसी और प्रियतम का अभिनय उन्हें अच्छा नहीं लगता क्योंकि वह उससे भिन्न नहीं है—

चित्रित तू मैं हूँ रेखा क्रम,
मधुर राग तू मैं स्वर संगम,
तू असीम मैं सीमा का भ्रम,
काया छाया में रहस्यमय।
प्रेयसी प्रियतम का अभिनय क्या![३]

यहीं एक नवीन उलझन खड़ी हो गई है। अमूर्त अपार्थिव में महादेवी स्वयं को विलीन कर देना चाहती थीं किन्तु अपने अहं के प्रति सजग व्यक्तित्व के कारण वह ऐसा न कर सकीं। पुरुष के सजग व्यक्तित्व जैसे ही उन्होंने भी 'अहं ब्रह्मास्मि' की स्थिति का तो अनुभव किया किन्तु उनकी नारी की शाश्वत प्यास इससे बुझी नहीं। अहं से प्रेरित अभिमान तथा समर्पण के बीच वह डाँवाडोल होती रही हैं। स्वयं उनके अपने शब्दों में उनकी अव्यवस्थित मन स्थिति का परिचय मिलता है—

चाहा था तुझमें मिटना भर,
दे डाला बनना मिट मिट कर,
यह अभिशाप दिया है या वर,
पहली विरह कथा हूँ या मैं
    चिर विरह कहानी।
बताता जा रे अभिमानी।[४]

१ सुश्री महादेवी वर्मा—यामा—पृष्ठ १०४
२ वही, पृष्ठ ६६
३ वही पृष्ठ १४३

एकोऽहम् के इस अहं को भुलाकर वह समर्पण के पथ को अपनाना चाहती हैं

तू जल जल जितना होता क्षय
वह समीप आता छलनामय
मधुर मिलन में मिट जाना तू
उसकी उज्ज्वल स्मित में घुलमिल।
मदिर मदिर मेरे दीपक जल
प्रियतम का पथ आलोकित कर।[1]

भविष्य में प्रिय से जो चिर मिलन होगा, उसका मधुर स्वप्न भी उनकी पलकों में है। जब वह प्रिय आएगा, तब दिशाएं उत्सुक हो उठेंगी, प्रतीक्षा के पलों में भी कवयित्री उसकी पदचाप का अनुभव कर सकती है

'आता कौन नीड़ तज पूछेगा विहगों का रोर,
दिग्वधुओं के घन घूंघट के चंचल होंगे छोर![2]
पुलक से होंगे सजल कपोल!
हठीले हौले हौले बोल!
प्रिय मेरा निशीथ-नीरवता में आता चुपचाप
मेरे निमिषों से भी नीरव है उसकी पदचाप,
सुभग! यह पल घड़ियाँ अनमोल!
हठीले हौले हौले बोल!
मुखर पिक हौले हौले बोल!'[3]

उपहार रूप में प्रिय को वह अपना निश्वासों से बिंधा-गुथा हृदयहार ही अर्पण कर सकती हैं क्योंकि तारे और कलियाँ तो उसी प्रिय के सौंदर्य का प्रतिभासित रूप है—

जो न हृदय अपना बिंधवाऊँ
निश्वासों के तार बनाऊँ,
तो कह किसका हार बनाऊँ,
तारों ने वह दृष्टि, कली ने
उनकी हँसी चुरा ली।[4]

प्रकृति के सौन्दर्य के विषय में महादेवी, सूफी कवि जायसी के भावों से कितना साम्य रखती हैं! पद्मावती के सौन्दर्य की परछाईं मानसरोवर पर पड़ी तब जायसी कहते हैं—

---

१ सुश्री महादेवी वर्मा—यामा, पृष्ठ १४६
२ वही, पृष्ठ १४७
३ वही, पृष्ठ १४७
४ वही, पृष्ठ १६

नयन जो देखा कँवल भा निर्मल नीर सरीर।
हँसत जो देखा हंस भा दसन जोति नग हीर॥[1]

यहा तारा ने, अलौकिक प्रिय की दृष्टि और कलियो ने, उसकी हँसी को चुरा लिया है।

हृदय पर मस्तिष्क प्रमुख होकर जब कभी सोऽहम की चेतना जगाना चाहता है तब कवयित्री भुलावे के दर्पण म 'द्वैत' की चेतना के मोह को छोडना नही चाहती—

तेरी सुधि बिन क्षण क्षण सूना।
कम्पित कम्पित,
पुलकित पुलकित
परछाइं मेरी से चित्रित,
रहने दो रज का मंजु मुकुर
इस बिन शृंगार सदन सूना
तेरी सुधि बिन क्षण क्षण सूना![2]

चिन्तन के क्षणो मे कभी वह रज का दर्पण टूट जाता है तो उनका हृदय भ्रात क्रन्दन करने लगता है—

किस पर रीझूँ किससे रूठूँ,
भर लूँ किस छवि से अन्तरतम!
टूट गया वह दर्पण निर्मम![3]

अद्वैत के अकेलेपन से उनका मन ऊबने लगता है। वह शृंगार करके प्रिय से अभिसार की इच्छुक हैं मधुर भ्रम को तोड़ना नही चाहती

ओ विभावरी!
चांदनी का अंगराग,
मांग मे सजा पराग,
रश्मि तार बांध मृदुल
चिकुर भार री!
ओ विभावरी!
अनिल घूम देश देश
लाया प्रिय का संदेश,
मोतियो के सुमन-कोष
वार वार री!
ओ विभावरी![4]

[1] जायसी—पद्मावत, मानसरोदक खण्ड
[2] सुश्री महादेवी वर्मा—यामा पृष्ठ १६६
[3] वही, पृष्ठ १६८
[4] वही, पृष्ठ १६६

अरूप प्रिय पर मन को टिका रखने तथा उसका रूप निर्माण करने म स्वय को असमर्थ पाकर, वह जगत के प्रत्यक कण म उसे दखन लगती है और अपनी करुण व्यथा उस पर न्याछावर करने को तत्पर हो जाती है। ब्रह्म का रूप निर्माण करन म असमर्थ, थान्त वदिक ऋषि न भी 'नति नति' करक अत म कहा था — सव खलु इद ब्रह्म और वही उसका अन्तिम समाधान भी था। महादवी भी कहती है—

मर मन सब म प्रिय तुम
किससे व्यापार करूँगी मैं ?
आसू का मोल न लूगी मैं ?
निजल हो जान दो बादल,
मधु स रीत सुमना के दल
करुणा विन जगती का अचल
मधुर व्यथा बिन जीवन क पल
मर दग म अक्षय जल
रहन दो विन्व भरूगी मैं।
आसू का मोल न लूगी मैं ।१

तात्पय यह है कि विश्व को प्रिय का व्यक्त रूप मानकर उसी क प्रति अपनी भावनाओ और हृदय की करुणा अपित करन को वह विकल हो उठी है। जीवन की अव्यवस्था और परिस्थितिया की अराजकता म विश्व क प्रति यह आत्म समपण और लोक कल्याण की भावना आज क कवि की आत्म प्रतिष्ठा क मूल आधार रह है। 'नीहार' और 'रश्मि' स ही इसका लघु आभास महादवी की प्रमिका को रहा है—

तरा आभा का कण नभ को
दता अगणित दीपकदान
दिन को कनक राशि पहनाता
विधु को चाँदी का परिधान,
करुणा का लघु बिन्दु युगा स,
भरता छलकाता नव घन
समा न पाता जग क छोट,
प्याल म उसका जीवन ।२

× × ×

लघु प्राणा क कोन म
खोई असीम पीडा दखो,

१ महादेवी वर्मा—यामा, पृष्ठ १०२
२ पृष्ठ १०२

आओ हे निस्सीम ! आज
इस रजकण की महिमा देखो ![1]

—रश्मि

'नीरजा' में जैसा कि पहले कहा है, यह भाव अत्यन्त स्पष्ट हो गया है—

मेरे दृग में अक्षय जल
रहने दो विश्व भरूँगी मैं।[2]

—नीरजा

'सान्ध्यगीत' व 'दीपशिखा' की अनन्त साधना उसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिए घिर आकुल रही है। एक ओर 'सान्ध्यगीत' और 'दीपशिखा' में उनकी प्रियतमा आत्मा, चिरतन प्रिय के लिए अत्यन्त विकल है—

जाने किस जीवन की सुधि ले
लहराती आती मधु-बयार !
रंजित कर दे यह शिथिल चरण ले नव अशोक के अरुण राग,
मेरे मण्डन को आज मधुर ला रजनीगंधा का पराग
यूथी की मीलित कलियों से
अलि दे मेरी कवरी सँवार ![3]

—सान्ध्यगीत

× × ×

जो न प्रिय पहचान पाती !
दौड़ती क्यों प्रति शिरा में प्यास विद्युत सी तरल बन,
क्यों अचेतन रोम पाते चिर व्यथामय सजग जीवन ?
किस लिए हर साँस तम में
सजल दीपक राग गाती ?[4]

दूसरी ओर वह स्वयं शून्य में प्रिय की प्रतिमा बनकर विश्व के दृगजल का अर्घ्य स्वीकार करना चाहती है—

शून्य मन्दिर में बनूँगी आज मैं प्रतिमा तुम्हारी !
अर्चना हो शूल भोले
क्षार दृगजल अर्घ्य होते,
आज करुणास्नात उजला
दुख हो मेरा पुजारी ![5]

---

१ सुश्री महादेवी वर्मा—यामा, पृष्ठ ११८
२ वही पृष्ठ १७२
३ वही पृष्ठ २०१
४ वही दीपशिखा पृष्ठ ६८
५ वही यामा २१२

विश्व के मधुर ब धन म वह मुक्ति का अनुभव करना चाहती हैं।
प्रत्यक अणु उसम व्यक्त होती हुई प्रिय की रूप-कल्पना स मधुर हो गया है—

आज वर दो मुक्ति आव
ब धनो की कामना ल।
विरह का युग आज दीखा,
मिलन के लघु पल सरीखा,
दुख-सुख म कौन तीखा
मैं न जानी औ न सीखा
मधुर मुझको हो गए सब मधुर प्रिय की भावना ल।[1]

'दीपशिखा' म साधना के दीप का भी यही चिर लक्ष्य रहा है। स्वय वह आल
स्फुलिंग है। प्रतीक्षा की रात्रि म अपनी लघु आलार प्रभा स विश्व के प्राणों को स
रखता हुआ वह प्रिय के चिर आलोक म मिल जाना चाहता है—

पथ न भूले, एक पग भी,
घर न खोए लघु विहग भी,
स्निग्ध लौ की तूलिका म
आक सबकी छाँह उज्ज्वल।[2]

उनके मोती से भरे हुए नयन दीपशिखा म—

क्षार हुए, दुख म मधु भरल
तपे, प्यास का आतप हरले,
इनसे धुलकर धूल भ्रे सपने उजले निखरे।[3]

सप्टि से एकात्म का अनुभव करती हुई वह, उस स एकाकार होने को इच्छुक हैं

छायापथ म अक बिखर जावें इनके जब
फूलो म खिल रूप निरख आवें इनके जब
वर दो तब यह बाँध सकें सीमा म तुमको
मिलन विरह क निमिष-गुथी साँसा का सज लें
यह सपने सुकुमार तुम्हारी स्मित स उजल।[4]

'विरह-वन्ना' न जो दो मुख्य रूप उनकी कविता म प्राप्त किये हैं, उनक विषय म 'यामा' की भूमिका म उन्होने स्वय कहा है

"मुझे दुख क दोनो ही रूप प्रिय हैं। एक वह जो मनुष्य क सवेदनशील ससार के एक अविच्छिन्न बन्धन म बाँध देता है और दूसरा वह जो काल और

---

१ सुमा महादेवी वर्मा—यामा, पृष्ठ २२१
२ वही दीपशिखा, पृष्ठ ६८
३ वही, पृष्ठ ८५
४ वही, पृष्ठ ४८

बंधन म पडे हुए असीम चेतन का क्रन्दन है।

× × ×

"व्यक्तिगत सुख विश्ववेदना म घुलकर जीवन को सार्थकता प्रदान करता है और व्यक्तिगत दुख विश्व के सुख म घुलकर जीवन को अमरत्व ""

प्रत्येक हृदय म व्यक्तिगत आशा निराशा रहती है। 'रहस्यवाद' के मधुर लोक की ओर व्यक्ति को प्रेरित करने का श्रेय भी जीवन के अभाव को ही है। विश्व म, अभाव की पीडा ही व्यक्ति को इतना संवेदनशील बनाती है कि वह 'विराट' को पहचान सके अथवा उसकी पग-ध्वनि सुन सके। महादेवी के काव्य मे लौकिक विरह की अभिव्यक्ति का मूल्य भी हम उतना ही मानते है। यद्यपि स्वय महादेवी ने व्यक्तिगत पीडा और अभाव का अपने शब्दो म विरोध किया है किन्तु उनकी कविता उसके प्रभाव स अछूती नही है।

इतना अवश्य है कि उनकी व्यक्तिगत अथवा सामाजिक निराशा ने कुण्ठा का छोर पकडकर रहना नही सीखा, स्वस्थ साधना के मार्ग की ओर प्रगमन किया है। शून्य निराकार साकार के प्रति प्रणय की घाटियां तय करके 'उसके विराट रूप 'विश्व' को उन्होने पहचाना है। उनका विरह कोने म बैठकर रोने वाली अकर्मण्यता का अग्रदूत न बनकर साकार उज्ज्वल कर्मशीलता का संदेशवाहक बन गया है। सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक अराजकता के युग म साधना का दीपक संजोकर बैठी हुई महादेवी 'प्रभाती' की प्रतीक्षा कर रही है। न जाने कर्मशीलता के आलोक का सदेश लाने वाला प्रभाती का वह युग कब आएगा ?

कभी है दिग्भ्रांत रात की मूर्च्छा गहरी,
आज पुजारी बने, ज्योति का यह लघु प्रहरी,
जब तक लौटे दिन की हलचल
तब तक यह जागेगा प्रतिपल,
रेखाओं म भर आभा जल
दूत साँझ का इसे प्रभाती तक चलने दो ।"

सुमित्रानन्दन पन्त के काव्य में विरहानुभूति

सुमित्रानन्दन पंत की विरहानुभूति का परिचय प्राप्त करने के लिए उनकी विभिन्न रचनाओ को क्रम से देखना होगा। पंतजी की प्रथम कृति 'वीणा' है। यही सबसे पहले इस महान् कवि ने वीणापाणि के चरणो के समीप बैठकर अस्फुट भोले स्वरो मे हृदय के उद्गार प्रकट किए है।

वीणा म कवि ने प्रकृति ... का अत्यन्त निकट साहचर्य प्राप्त किया है। वह एक

---

१ श्रीमती महादेवी वर्मा—... की भूमिका, दीपशिखा, पृष्ठ ६०

... पृष्ठ १२

छोटी बालिका है, प्रकृति का प्रत्येक काय-व्यापार उसके मन को एक अस्फुट जिज्ञासा से भर देता है—

इस पीपल के तरु के नीचे
किसे खोजते हो मधुमान।
जहाँ मलिनता विचर रही है
जहाँ शून्यता का है मौत।[1]

पत के मात विधुर हृदय ने प्रकृति अथवा उसकी नियन्ता शक्ति म माता का सम्बन्ध जोडा है, उसी से अपने सब प्रश्नो के समाधान का आग्रह भी वह करता है। 'रहस्यवाद' म अपार्थिव म मातृ-बुद्धि की यह कल्पना तान्त्रिका की विभूति है। त्रिपुर सुन्दरी रूपी माँ से सृष्टि की उत्पत्ति और उसकी सुखद छाया तथा प्रकृति द्वारा उत्पन्न व्यवधान का वणन भी पत ने किया है। उस व्यवधान का तोडने का आग्रह भी है।[2] (माता पुत्र सम्बन्ध युक्त रहस्यवाद का विवेचन यहाँ अप्रासंगिक है अत उसका विवेचन नहीं किया गया।)

इससे स्वतन्त्र, प्रकृति के कण कण म व्याप्त अपार्थिव प्रिय के आलिंगन की साध भी पत के किशोर हृदय म है—

जिसकी सुन्दर छवि ऊषा है,
नव वसन्त जिसका शृंगार
तारे हार किरीट सूय शशि,
मेघकेश, स्नेहाश्रु तुषार,
मलियानिल मुखवास, जलधि मन
लीला लहरों का ससार
उस स्वरूप को तू भी अपना
मृदु बाँहों मे लिपटा ले
रमा अंग म प्रम पराग।[3]

यह प्रिय उनको क्षण-क्षण आकर्षित करता रहता है और वंचित भी। इसीसे आधार प्राप्त किये हुए 'आहत मह' से पीडित उनकी प्रेमिका उसको उलाहना देती है—

मिल तुम राकापति म आज
पहन मेरे दृगजल का हार,
बना हूँ मैं चकोर इस बार,
बहाता हूँ अविरल जलधार,

१ श्री सुमित्रानन्दन पन्त—वीणा-ग्रन्थि, कविता ७३
२ वही, कविता १३ १४
३ वही, कविता ६२

'वीणा' में 'विराट' के प्रति निवेदन, स्व की सीमा में बँधे 'आत्म' का परमात्मा के प्रति 'आत्म मुक्ति' का निवेदन है जिसकी प्रेरणा कवि ने अध्ययन और मनन से प्राप्त की है। उन्हें वयक्तिक सीमा से सम्बद्ध, प्रेमी का प्रिय के प्रति विरह निवेदन नहीं कहा जा सकता। वैसा कुछ सम्भव हो भी कैसे सकता है? किसी से, मन की भाव ग्रंथि का अनुभव करने का दावा भी तो उसने नहीं भरा है। सरिता के विषय में कही गई पंत की यह उक्ति स्वयं उनके विषय में भी अक्षरशः चरितार्थ सी प्रतीत होती है

एक ग्रंथि भी नहीं पड़ी है
उसके तरल मृदुल उर में।[1]

'वीणा' के उपरान्त ही 'ग्रंथि' की रचना हुई है। सम्भवतः कवि के उर में 'ग्रंथि' पड़ने का यह अनुपम योग उपस्थित हुआ था। 'ग्रंथि' 'स्मृतिकाव्य' है। इसे पंतजी के व्यक्तिगत अनुभव पर आधृत कहा जाता है। 'ग्रंथि' के रचना के विषय में यह मन्तव्य कहा तक सत्य है, यह नहीं कहा जा सकता किन्तु कवि ने इसमें लौकिक विरह की पीड़ा का भाव ही व्यक्त किया है।

डा० नगेन्द्र ने 'ग्रंथि' की रचना के विषय में लिखा है—

"'ग्रंथि' कवि की प्रारम्भिक कृतियों में से है जब तारुण्य का बाल रवि उसके प्राणों को पुलकित कर रहा था, उसी समय उस मधुवेला में भाग्य ने उसके हृदय में एक ग्रंथि डाल दी जिसे वह कदाचित अब तक नहीं खोल सका है। बहुतों से सुना कि 'ग्रंथि' पंतजी के अपने अनुभव पर आधृत है उसमें उन्होंने अपनी प्रणय कहानी लिखी है। वास्तव में इस लेख का लेखक कवि के आन्तरिक जीवन के इतने निकट नहीं है कि इस विषय में कुछ निश्चयपूर्वक कह सके—और न किसी के व्यक्तिगत जीवन की चर्चा श्लाघ्य ही है। हाँ इतना अवश्य प्रतीत होता है कि उनकी उच्छ्वास, आँसू और ग्रंथि ये तीन कविताएँ किसी विशेष प्रेरणा भार से दबकर लिखी हुई है और इनमें आत्म जीवन सम्बन्धी कुछ स्पर्श अवश्य हैं।"[2]

कुछ भी हो 'ग्रंथि' लौकिक प्रणय का काव्य है जो 'स्मृति' रूप में लिखा गया है। इस 'स्मृति काव्य' में प्रथम बार कवि का हृदय निर्व्याज भाव से अपने मन के भार को किसी के हृदय में उडेलने को मचल उठा है। आधुनिक युग में आकर प्रथम बार हिन्दी का कवि बिना किसी राजा रानी अथवा कृष्ण राधा की आड लिए अपने मन की बात कह सका है। न तो उसने नीति का बन्धन स्वीकार किया है (यद्यपि उसके विरोध में आक्रोश अत्यन्त दबी हुई आवाज में है) और न स्वयं को अमूर्त की प्रमिका कहकर आँसू बहाए हैं। रक्त मांस से युक्त व्यक्ति के लिए व्यक्ति की निर्व्याज विरहानुभूति 'ग्रंथि' में प्रथम बार मिलती है, इस दृष्टि से उसका विशेष महत्त्व है।

'ग्रंथि' के प्रारम्भ में कवि कल्पना को 'सुधि' में मग्न होने का आह्वान देता है।

---

[1] श्री सुमित्रानन्दन पंत—वीणा, कविता २८

अत उसको स्मति-काव्य कहना ही रुचिकर होगा। कथा, आत्मकथा के रूप म चलती है। विरही नायक 'स्मृति' के क्षणा म उस समय की याद करता है जब उसकी अपनी प्रियतमा से भट हुइ थी।

एक बार नायक की 'तरणी' किसी सरोवर म डूब गइ थी। जब उसकी आख खुला तब उसन देखा—

> नीच रख मरा मुकोमल जाँघ पर
> शशि कला सी एक बाला व्यग्र हो
> दखती थी म्लान मुख मरा अचन,
> सदय, भीरु, अधीर चिन्तित दष्टि से।[1]

प्रथम दष्टिपात म उत्पन्न हुए प्रियतमा क भावा का विश्लेषण भी कवि ने अत्यन्त कुशलता और सरलता से किया है—

> इन्दु पर, उस इन्दु मुख पर साथ ही
> थे पडे मेरे नयन जो उदय से,
> लाज से रक्तिम हुए थ,—पूव का
> पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूव था।[2]

उस प्रथम-दष्टि म ही प्रेम का सम्बन्ध दढ हो गया था—

> एक पल मरे प्रिया के दग पलक
> थ उठे ऊपर, सहज नीचे गिरे,
> चपलता ने इस विकपित पुलक से
> दृढ किया मानो प्रणय सम्बन्ध था।

यद्यपि कवि की इस नायिका का ग्रन्थि-बन्धन उस मिलन के पश्चात किसी और व्यक्ति से हो गया किन्तु फिर भी स्मति म उसन उसक लिए स्वकीया भाव का बोधक सम्बोधन 'प्रिया' रखा है प्रेयसी नहीं। सम्भवत इसलिए कि मानसिक ग्रन्थि-बन्धन जितना शाश्वत और सत्य है उतना सामाजिक ग्रन्थि-बन्धन नही।

प्रेमानुभूति से मन के पराए हो जाने के भाव को भी पत ने अत्यन्त मर्मस्पर्शी ढग स अभिव्यक्त किया है। "प्रेम के काँटे से बिध कर मन रूपी सुमन स्व के तरु स विच्छिन्न हो जाता है।" पत का नायक अपनी प्रियतमा से अनुनय करता है—

> प्रम कण्टक से अचानक विद्ध हो
> जो सुमन तरु स विलग है हो चुका,
> निज दया स द्रवित उर म स्थान दे
> क्या न सरस विकास दोगी तुम उसे?[3]

---

१ श्री सुमित्रानन्दन पन्त—ग्रन्थि पृष्ठ ९८
२ वही, पृष्ठ ९९
३ वही, पृष्ठ १०१

उत्तर म 'नाथ शब्द के तावीज म प्रियतमा के सम्पूण भाव उसे सूत्र रूप म बधे मिल गए थे

'नाथ' ? कह, अतिशय मधुरता से दब
सरस स्वर म, सुमुखि थी सकुचा गई,
उस अनूठे सूत्र ही म हृदय के
भाव सारे भर दिए ताबीज से।[1]

इसके पश्चात स्वाभाविक रूप से सखियो का हास परिहास कवि ने कराया है

म द चलकर रुक, अचानक अधखुले
चपल-पलको से हृदय प्राणेश का
गुदगुदाया हा नही जिसने कभी
तरुणता का गव क्या उसने किया ?
हास सरिता म सरोजा से खिले
गाल के गहरे गढा को, मधुप से
चुम्बनो से हो नही जिसने भरा,
उस खिली चपाकली ने क्या किया ?[2]

सखियो के इस परिहास के विषय म नगेन्द्रजी ने कहा है, "इसम हँसी नहीं एक मधुर गुदगुदी है जो हृदय म रति की भावनाएँ जाग्रत करती है। इस प्रेम-परिहास म एक मादकता है, एक नशा है जो प्रेम रसिको को पागल बना देता है।"[3]

डा० नगेन्द्र के इस अध्ययन के साथ यदि यह कहा जाय कि उस परिहास म सखियो के आत्म कथन के रूप म, विरह भाव की मार्मिक हृदयस्पर्शी व्यजना भी हुई है तो उसका उचित मूल्यांकन हो सकेगा

पूणता स्मृति हीन है सत्प्रेम की
मूक वाणी एक अनुभव है सही
बिम्ब भी मिलता नही सौ दय का
घाव भी पर हाय मिटता है नही।
यह नही, जल वीचियो मे शशिकला
अलि इन्होने विलसता देखी न हो,
शशि करों से कौमुदी को छीन कर
कुमुदिनी का मार भी यह हैं चुके।
किन्तु जिस मोती मनोहर मूर्ति का
एक दिन देखा इन्होने ये उस

१ श्री सुमित्रानन्दन पत—ग्रन्थि, [illegible] १०३
२ वही, पृष्ठ ११७-११८
३ [illegible] सुमित्रानन्दन पन्त, पृष्ठ १०२

खोजते हैं नित्य तब से अश्रु में,
हास से, उच्छ्वास से, अपनाव से।
× × ×
विरहिणी की कल्पना कर एक दिन
एक पीले पात में अपनी दशा
विविध यत्नों से भुलाकर, मैं उसे
बार बार लगा चुकी हूँ हृदय से।[१]

तत्पश्चात् नायक की अपनी कथा है कि किस प्रकार मातृ पितृ प्रेम से विधुर उसके हृदय में किसी का प्यार पाने की चाह थी। यह प्यार उसे मिला भी, बालिका के स्नेह के रूप में किन्तु वह भी उसका अपना न हो सका, प्रियतमा का किसी अन्य के साथ ग्रंथि बन्धन हो गया—

'अभी पल्लवित हुआ था स्नेह'

किन्तु—

प्रातः-सा जो दृश्य जीवन का नया
था खुला पहले सुनहले स्वप्न से
साँझ के मूर्च्छित प्रभा के पत्र पर
करुणा-उपसंहार, हा उसका मिला!
× × ×
हाय मेरे सामने ही प्रणय का
ग्रंथि बन्धन हो गया वह नव कुसुम
मधुप सा मेरा हृदय लेकर किसी—
अन्य मानस का विभूषण हो गया।[२]

प्रियतमा को अपना बनाने की चाह में पहले अद्भुत उतावली थी—

अह, सुरा का बुलबुला यौवन धवल
चन्द्रिका के अधर पर अटका हुआ
हृदय को किस शून्यता के छोर तक
जलद सा है नहीं ले जाता उड़ा।[३]

इतनी ही वंचित विधुर मन की निराशा भी थी। अपनी एकान्त विरह-पीड़ा में तड़पता हुआ वह सुखी व्यक्तियों के भाग्य की सराहना करने लगा, उसकी अपनी स्थिति अत्यन्त विवश थी—

"नलिनी! जाओ मिलो तुम सिन्धु से
अनिल! आलिंगन करो तुम गगन का,

---

१ श्री सुमित्रानन्दन पन्त—ग्रन्थि, पृष्ठ १११–११२, ११५
२ वही पृष्ठ १२३, १२४
३ वही, पृष्ठ १२०

चन्द्रिके ! चूमा तरगो के अधर,
उडुगणो ! गाम्रो, पवन वीणा बजा।
पर हृदय ! सब भाँति तू कगाल है,
उठ, किसी निर्जन विपिन मे बैठकर
अश्रुओ की बाढ मे अपनी बिकी
भग्न भावी को डुबा दे आज सी ![1]

आधुनिक युग की विषम परिस्थितियो ने व्यक्ति के मानसिक जीवन को भी अस्त-व्यस्त कर दिया है। युवक युवती के सम्पर्क की परिस्थितियो को कुछ सीमा तक उन्मुक्त करके भी उसने उन्हे स्वच्छन्द रूप मे जीवन-साथी के चयन का अवकाश नही दिया है। युवक मे पाश्चात्य विचारो के परिचय से स्वच्छन्द प्रेम के भाव तो जाग रहे हैं किन्तु उनकी स्वस्थ परिणति का मार्ग अवरुद्ध है। युवती के अभिभावक अब भी पर्याप्त सतर्क हैं। इसी विषमता से चोट खाया हुआ पत का युवक हृदय समाज की रीति नीति के प्रति 'ग्रन्थि' मे काफी कटु हो गया है

दग्ध रोता है चकोर इधर, वहा
तरसता है तृषित चातक वारि को,
वह, मधुप बिंध कर तडपता है, यही
नियम है ससार का, रो हृदय, रो !
शिथिल दशन! नान जृम्भा के अलस!
वद्ध अनुभव की सिकोड ! वथा मुझे
सात्वना मत दो, विरस उपदेश के
उपल मत मारो, न बहलाओ हृदय ![2]

भोल भाले प्रेम की, वदना के हाथो मे पडकर और स्थिति ही क्या हो सकती थी ?

और भोले प्रेम क्या तुम हो बने
वेदना के विकल हाथो से ? जहाँ
झूमते गज से विचरते हो वही
आह, है उन्माद है, उत्ताप है ![3]

ग्रन्थि का विरह सम्बन्ध विच्छेद का निराशा से उत्पन्न करुण विरह है। जहाँ इस जीवन मे प्रिय के मिलने की कोई आशा न होने पर भी उसके वियोग मे उत्ताप है, उसकी चाह है। यही मन का उत्ताप पल्लव की कुछ कविताओ मे 'उच्छ्वास' और आँसू बनकर फूट पडा है।

---

१ श्री सुमित्रानन्दन पत—ग्रन्थि, पृष्ठ १२५
२ वही पृष्ठ १२७
३ वही पृष्ठ १२८

'पल्लव' में कवि के युवक हृदय के उद्गार संचित हैं। स्वय उसके शब्दों में—

हृदय के प्रणय कुंज में लीन
मूक कोकिल का मादक गान,
बहा जब तन मन-बन्धन हीन
मधुरता से अपनी अनजान
खिल उठी रोमों सी तत्काल
पल्लवों की यह पुलकित डाल।[1]

कवि हृदय में 'उत्ताप' जब घनीभूत होने लगा था। यदि वह उच्छ्वास अथवा आंसू बनकर निकल जाता तो सताप की मात्रा सम्भवत कुछ कम हो जाती। भवभूति के राम ने कहा है—

तथापि उच्छ्वासो में भवति ननु लाभोहि रदित।

पत का कवि, हृदय के उच्छ्वास से जीवन पर आच्छादित होकर बरसने का आग्रह करता है जिससे उसका सताप दूर हो जाय—

सिसकते अस्थिर मानस से
बाल बादल सा उठकर आज
सरल, अस्फुट उच्छ्वास।
अपने छाया के पखो में
(नीरव घोष भरे पखो में)
मेरे आँसू गूथ, फैल गम्भीर मेघ-सा,
आच्छादित कर ले सारा आकाश।

गरज, गगन के गान! गरज गम्भीर-स्वरो में
भर अपना सदेश उरो में, औ अधरो में
बरस धरा में, बरस सरित गिरि सर, सागर में
हर मेरा सन्ताप पाप जग का क्षणभर में।[2]

'उच्छ्वास' के बादल के घोष के विषय में (नीरव घोष) कहना अभिव्यंजित है। घोष करता हुआ बादल जब तड़प उठता है तब ही देने वाली उच्छ्वास की टीस अत्यन्त मूक और नीरव है।

'उच्छ्वास' की बालिका के विषय में कवि कहता है—

सरलपन ही था उसका मन[3]

1 श्री सुमित्रानन्दन पन्त—पल्लव, पृष्ठ ?
2 वही, पृष्ठ ३
3 वही, पृष्ठ ४

इसी सरलपने पर वह मुग्ध हो गया था—

उसके उस सरलपन से
मैंने था हृदय सजाया
नित मधुर मधुर गीतो से
उसका उर था उकसाया।[१]

किन्तु अब वह बात किसी पुराने अतीत की स्मृति मात्र बनकर रह गई है। यहाँ कवि विरही की उस विवश स्थिति का चित्रण करता है जब वह वेदना को ही जीवन का शाश्वत सत्य मान लेता है और समझौता करके उसमें भी प्रसन्न रहने की चेष्टा करता है। उसकी हँसी वेदनासिक्त रहती है और जीवन का प्रत्येक श्वास उच्छ्वास बन जाता है—

अश्रुओ मे रहता है हास,
हास मे अश्रु कणो का भास
श्वास मे छिपा हुआ उच्छ्वास
और उच्छ्वासो ही मे श्वास।[२]

अश्रु और उच्छ्वास दशाओ का इतना मार्मिक वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है। पहले का विरही आह भर सकता था, रो सकता था किन्तु आज के विरही को अश्रु बहाने का अवकाश नही है, उसे परिस्थिति से समझौता करना है, इसीलिए—

'अश्रुओ मे रहता है हास'

मिलन के समय के सब सुखदायक उपकरण विरही के लिए दुखदायी हो जाते हैं। एक ओर प्रिय का ध्यान उसके हृदय को कचोटता रहता है, दूसरी ओर प्रकृति का सौन्दर्य उसकी अभाव की पीडा को अधिकाधिक तीव्रतर बनाता जाता है। प्रकृति का रूप यहाँ उद्दीपन ही है—

घूमता है सम्मुख वह रूप
सुदर्शन हुए सुदर्शन चक्र।
ढाल-सा रखवाला शशि आज
हो गया है हा! असि सा वक्र॥[३]

'उच्छ्वास' के यह बादल जब आँसू की सरि बनकर फूट पडते हैं तब कवि का विरही मानस कराह उठता है—

हाय किसके उर मे
उतारूँ अपने उर का भार।

---

१ श्री सुमित्रानन्दन पन्त—पल्लव, पृष्ठ ८

२ वही, पृष्ठ ८

३ वही, १० ११

किसे अब दूँ उपहार
गूथ यह अश्रुकणों के हार ।।[1]

जिसके हृदय में प्रेमी 'अपने हृदय का भार उतार सके', उसके अभाव में कसमसाहट होने लगती है हृदय के घाव खुल पडते हैं। हृदय के घावों की उपमा कवि ने नवीन कोमल, अरुण कोपलों से दी है यह सादृश्य अत्यन्त मार्मिक और सशक्त है—

अरुण कलियों से कोमल घाव
कभी खुल पडते हैं असहाय ![2]

अश्रु सिक्त जीवन की उपमा कवि ने पावस ऋतु से की है। अतीत की अनेक रंगीन स्मृतियाँ नेत्रों के सम्मुख मेघों के सदृश छा जाती हैं और हृदय के सुप्त मृदु भाव विहगों की भाँति कूजने लगते हैं। 'पावस' के साथ रूपक में अश्रु दशा का सुन्दर चित्रण हुआ है—

मेरा पावस ऋतु-सा जीवन,
मानस-सा उमड़ा अपार-मन,
गहरे, धुँधले, धुले, साँवले
मेघों से मेरे भरे नयन !
कभी उर में अगणित मृदु भाव
कूजते हैं विहगों से हाय ![3]

प्रकृति में व्याप्त मादकता का उल्लास कवि की आकुलता को अधिक बढ़ा देता है उसकी एकान्त विवशता मन मारकर रह जाती है—

देखता हूँ जब उपवन
पियालों में फूलों के
प्रिये ! भर भर अपना यौवन
पिलाता है मधुकर को,
नवोढ़ा बाल लहर
अचानक उपकूलों के
प्रसूनों के ढिंग रुककर
सरकती है सत्वर,
अकेली आकुलता-सी प्राण
कहीं तब करती मृदु-आघात,
सिहर उठता कृश-गात
ठहर जाते हैं पग अज्ञात।[4]

---

१ श्री सुमित्रानन्दन पंत—पल्लव (आँसू), पृष्ठ १३
२ वही, पृष्ठ १३
३ वही, पृष्ठ १३
४ वही, पृष्ठ ७५

उसकी आत्म रति का ग्रह, मन को समझाने की चेष्टा करने लगता है

बड़ी म दुबलता है थाप
नहीं चल सकते गिरिवर राह,
न रुक सकता है सौरभवाह!
तरल हो उठता उदधि अथाह,
सूर का दुख देता है दाह![1]

किन्तु अब पत म समाज के प्रति 'ग्रंथि' का कटु विद्रोह नहीं रहा है

वद्ध अनुभव की सिकोड़! वथा मुझे
सान्त्वना मत दो, विरस उपदेश के
उपल मत मारो

उसने समझ लिया है कि समाज क कठोर बन्धन को तोड़ना व्यक्ति के लिए सम्भव नहीं है। व्यक्ति के भावों पर कठोर अनुशासन रखने वाले समाज के ठकदारों के समक्ष सिर झुकाता हुआ सा वह कहता है—

कभी तो अब तक पावन प्रेम
नहीं कहलाया पापाचार,
हुई मुझको ही मदिरा आज
हाय! क्या गंगाजल की धार।
हृदय! रो अपने दुख का भार!
हृदय! रो उनको है अधिकार।[2]

हृदय के नैराश्य ने पंत के जीवन म कुण्ठा को व्याप्त नहीं होने दिया, यदि कुण्ठा घर कर लेती तो सम्भवत यह कवि भी बच्चन और परवर्ती सुख दुख क गायकों की भांति 'क्षत शीश होकर सिर धुनता ही रह जाता। किसी स्वस्थ माग की ओर प्रगमन करने की प्रेरणा प्राप्त न कर सकता। किन्तु उसने शीघ्र ही 'बाले के बाल जाल' से मुक्त होने का प्रयत्न किया—

छोड़ द्रुमों की मदु छाया,
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले तेरे बाल जाल म कसे उलझा दूँ लोचन
भूल अभी से इस जग को।
उषा-सस्मित किसलय-दल
सुधा रश्मि से उतरा जल
ना, अधरामत ही के मद म कसे बहला दूँ जीवन
भूल अभी से इस जग को।[3]

---

१ श्री सुमित्रानन्दन पंत—पल्लव (आंसू), पृष्ठ १५
२ वही, पृष्ठ १८
३ वही, पल्लव (मोह), पृष्ठ ३७

प्रकृति से पुन नाता जोड़ने के पश्चात प्रथम बार उसको कटु मधुर परिस्थितियों में कवि को एक ऐसी सत्ता का इंगित और 'मौन निमन्त्रण' मिलता है, जो उसके सुख-दुख का सहचर है। 'मौन निमन्त्रण' को हम रहस्यवाद में अपार्थिव प्रिय के प्रति जिज्ञासा की शुद्ध वैयक्तिक अनुभूति मानते हैं—

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु सा नादान
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान,
न जाने, नक्षत्रों से कौन
निमन्त्रण देता मुझको मौन !

तुमुल-तम में जब एकाकार
ऊँघता एक साथ संसार
भीरु झींगुर-कुल की झनकार
कँपा देती तन्द्रा के तार
न जाने खद्योतों से कौन।
मुझे पथ दिखलाता तब मौन।

अहे सुख दुख के सहचर मौन।
नहीं कह सकती तुम हो कौन।[1]

इससे वह याचना करता है—
बना मधुर मेरा जीवन !
नव-नव सुमनों से चुन-चुनकर
धूलि, सुरभि, मधुरस हिमकण
मेरे उर की मृदु कलिका में
भर दे कर दे विकसित मन।[2]

परिवर्तन ने उसके भाव संसार में शान्ति मचा दी। दुःख समुद्र के आलोडन-मन्थन से समदृष्टि का अनुपम रत्न उसके हाथ लगा—

बिना दुख के सब सुख निस्सार,
बिना आँसू के जीवन भार,
दीन दुर्बल है रे संसार
इसी से दया क्षमा और प्यार

१ श्री सुमित्रानन्दन पन्त—पल्लव (मौन निमन्त्रण) पृष्ठ २०
२ वही, (याचना) पृष्ठ ६३

आज का दुख कल का आह्लाद,
और कल का सुख आज विषाद,
समस्या स्वप्न गूढ़ ससार
पूर्ति जिसकी उस पार।[१]

उसने तपस्या को जीवन का ध्येय बना लिया 'गुजन' म प्रारम्भ म ही 'मन का उन्मन गुजन म' वह मन से विश्व वेदना म तपने का आग्रह करने लगा—

तप रे मधुर मधुर मन!
विश्व वेदना मे तप प्रतिपल
जग जीवन की ज्वाला म गल
बन अकलुष, उज्ज्वल औ कोमल,
तप रे विधुर विधुर मन।[२]

लोक वेदना की प्रचण्ड अग्नि म तपकर अकलुष बना हुआ व्यक्ति ही जीवन के आदर्श रूप का निर्माण कर सकता है। मन की विशाल आद्रता ही जीवन म एकत्व की स्थापना करन म सफल होती है—

अपने सजल स्वर्ण से पावन
रच जीवन की मूर्ति पूर्णतम,
स्थापित कर जग म अपनापन
ढल रे ढल आतुर मन!

'परिवतन' कवि के मानसिक जग के परिवतन का द्योतक है। 'पल्लव' के सुन्दरम का कवि 'गुजन' म शिवम् की ओर बढ़ने का प्रयास करने लगा है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि 'गुजन' की प्रारम्भिक कविताओ म उपलब्ध शिवम् के प्रति आग्रह कवि के मानसिक जगत की क्षणिक विरक्ति के कारण हुआ है वसे अब भी वह सुन्दरम् का उपासक ही है। 'गुजन' म प्राप्त प्रेम-गीत इसके प्रमाण हैं।

'गुजन' के प्रेम-गीतो म अतीत की भूल की विरह व्यथा नही है, भविष्य की आशा अभिलाषा है। ऐसे लगता है जसे कवि 'पुरातन' को छोडकर नवीन म जीवन-प्रेरणा प्राप्त करने का लालायित है। 'भावी पत्नी के प्रति' कविता म 'पूवराग' का नवीन रूप मिलता है। पत के कवि की यह अभिलाषा किसी भी व्यक्ति विशेष के लिए नही है—अत वह परम्परित काव्य शास्त्रीय पूवराग के अनुरूप नही, किन्तु फिर भी वह किसी भी युवक की अपनी भावी किशोरी पत्नी के लिए अभिलाषा है अत पूवराग की-सी स्थिति है—

भूलती उर म आज विचारि
तुम्हारी मधुर मूर्ति छविमान

१ श्री सुमित्रानन्दन पन्त—पल्लव, पृष्ठ १०८
२ वही गुजन, पृष्ठ ११

लाज में लिपटी उषा समान
प्रिय प्राणों की प्राण !
× × ×
अरे वह प्रथम मिलन अज्ञात !
विकम्पित मृदु उर, पुलकित गात
सशंकित ज्योत्स्ना सी चुपचाप,
जड़ित पद, नमित पलक-दृग-पात
पास जब आ न सकोगी प्राण।[1]

'भावी संगिनी' की अभिलाषा में कवि के एकाकी जीवन का प्रत्येक उपकरण किस उत्सुकता से उसकी बाट जोहता है यह भाव एक कविता में अत्यन्त सुन्दर ढंग से व्यक्त हुआ है—

कब से विलोकती तुमको
ऊषा आ वातायन से ?
सन्ध्या उदास फिर जाती
सूने गृह के आँगन से

तुम आओगी आशा में
अपलक हैं निशि के उडगण
आओगी, अभिलाषा से
चंचल, चिर नव, जीवन क्षण।[2]

'गुंजन' में ही रूपतारा नामक नायिका को हृदय की नभतारा बनाने की इच्छा कवि ने व्यक्त की है। यह कविता भी पूर्वराग की अभिलाषा के अन्तर्गत ही आएगी—

रूप तारा तुम पूर्ण प्रकाम,
मृगेक्षिणी ! सार्थक - नाम !

हृदय नभ तारा बन छवि धाम
प्रिय अब सार्थक करो स्वनाम।
प्रथम यौवन भरा मधुमास
मुग्ध उर मधुकर, तुम मधु प्राण।
नयन लोचन, सुधि स्वप्न विलास
मधुर तन्द्रा प्रिय ध्यान,

---

१ श्री सुमित्रानन्दन पन्त—गुंजन, पृष्ठ ४१,४३
२ वही, पृष्ठ ४५

शून्य जीवन निसर्ग आकाश
इन्दुमुख इन्दु समान[१]

किन्तु पंत के काव्य का प्रेमी कभी भी तृप्त नहीं हो सका है। उसके अपने शब्दों में—

ना पीने तारों-सी ही
मेरी कितनी ही बातें
कुम्हला चुपचाप गई हैं
मैं कैसे इन्हें भुलाऊं?[२]

'ग्रन्थि' की किशोर अवस्था की निराशा 'गुंजन' की निराशा से एकरूप सी हो गई है। बार बार आघात करती हुई इस निराशा का कारण सम्भवतः यह है कि कवि जीवन के सरोवर में गहरे डूबने से डरता है। किनारे बैठकर ही जीवन की सुन्दरतम निधि, वह जीवन के सरोवर से प्राप्त करना चाहता है। इसी आशा में वह बैठा है—क्या जाने कब तक बैठा रहेगा?

सुनता हूँ इस निस्तल जल में
रहती मछली मोती वाली
पर मुझे डूबने का भय है
भाती तट की जल माली
आएगी मेरे पुलिनों पर
वह मोती की मछली सुन्दर
मैं लहरों के तट पर बैठा
देखूँगा उसकी छवि जी भर।[३]

सन्ध्या के एकाकी तारे के समान ही एकाकी यह कवि उसमें अपनी भावनाओं का एकरूप देखता है। जीवन को भोगने की प्रबल इच्छा आकांक्षा उसके मन में भी है। परन्तु क्या वह उसको मिला है? एकाकीपन की निराशा के अंधकार और उसके भार से वह दबा जा रहा है—

अविरत इच्छा ही में नर्तन करते अबाध रवि शशि, उडगन,
रे उड्ड क्या जलते प्राण विकल! क्या नीरव नीर नयन सजल!
जीवन निसंग रे व्यर्थ विफल!
एकाकीपन का अंधकार, दुस्सह है इसका मूक भार,
इसके विषाद का रे न पार!

१ श्री सुमित्रानन्दन पंत—गुंजन,
२ वही, पृष्ठ ६८
३ वही, पृष्ठ ७१
४ वही, पृष्ठ ८६

खडित करने का प्रयास किया है। किन्तु बुद्धि से उसने अपने एकाकीपन को खडित करने का प्रयास किया है। एक तारे का रूप अनेक तारो म प्रतिभासित हो रहा है वैसे ही क्या उसका आत्म अन्य प्राणियो म प्रतिबिम्बित नही है ? तब वह अकेला कहा है ?

जगमग जगमग नभ का आगन
लद गया कुद कलियो से घन,
वह आत्म और यह जग दशन।[1]

जगत म जीवन की इसी एकसूत्रता को स्थापित करता हुआ यह कवि मानववादी हो गया है। 'युगान्त' म समाज की जीर्णावशेष रूढियो का उसने विरोध किया है क्योकि उनके कारण जीवन की गति रुद्ध है, हृदयो म कुठा है। जीवन के फल को वह उसके मौलिक रूप मे भोगने का आग्रह करता है। ('युगान्त' कविता १०) उसका विश्वास है—

मेरा स्वर होगा जग का स्वर
मेरे विचार जग के विचार
मेरे मानस का स्वग लोक
उतरेगा भू पर नई बार।[2]

'आत्मरति' मे पूर्ण यह कवि सृष्टि के व्याप्त सौन्दय रहस्य म अपनी छाया देखता है। छाया अस्पश्य है, पकड के बाहर है अत उसकी सत्ता को सत्य न मानकर अपनी सत्ता को सत्य बताता है—युगान्त की 'छाया' शीपक कविता है—

खोलो मुख स घूघट खोलो
हे चिर अवगुठनमयि, बोलो
क्या तुम केवल चिर अवगुठन,
अथवा भीतर जीवन कम्पन ?

मैं हार गया तह छील छील
आखो से प्रिय छबि लील लील,
मैं हूँ या तुम ? यह कसा छल !
या हम दोनों, दोनो के बल ?

तुम कुहुकिनी, जग की मोह निशा,
मैं रहू सत्य, तुम रहो मृषा।[3]

अपने मानव के प्रति अत्यन्त सचेत होकर वह शुद्ध मानववादी हो गया है

---

1 श्री सुमित्रानन्दन पन्त—गुजन पृष्ठ ८६
2 वही, युगान्त, कविता १६
3 वही, कविता १६

प्राचीन रूढ़ियाँ जो मानव के विकास में बाधक हैं, उनका उसने बराबर खंडन किया है। वह जीवित मानव का पुजारी है। उसी मानव के जीवन को कंकाल शेष देखकर कवि का हृदय व्यथा से रो उठा है। आदर्श कहे जाने वाले प्रेम और उसके स्मारकों से कवि का कोई मोह नहीं है, जबकि प्रेम की जीवित मूर्ति मानव मृतप्राय हो रही हो। 'युगान्त' की 'ताज' शीर्षक कविता में जीवन का यह व्यंग्य अत्यन्त कटु हो गया है—

मानव ऐसी भी विरक्ति क्या जीवन के प्रति ?
आत्मा का अपमान, प्रेत और छाया से रति ॥
प्रेम अर्चना यही, करें हम मरण को वरण ?
स्थापित कर कंकाल भरें जीवन का प्रांगण ?
शव को दें हम रूप, रंग आदर मानव का ?
मानव को हम कुत्सित चित्र बना दें शव का ?[1]

प्रेम के क्षेत्र में भारतीय परम्परा ने शरीर की भूख को कभी विशिष्ट पद प्रदान नहीं किया है, यद्यपि भाव के चरम विकास के लिए मन और शरीर दोनों के मिलन को आवश्यक माना है। यह एक विरोधाभास है। 'काम' मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्ति है, उसको उसके प्रकृत रूप में स्वीकार न करने के कारण हमारे जीवन में कुंठा व्याप्त है। पंतजी ने ग्राम्या और युगान्त में उसकी खुली स्वीकृति का आह्वान किया है—

क्या तृषा क्षुधा औ' स्वप्न जागरण सा सुन्दर
है नहीं काम भी नैसर्गिक जीवन द्योतक ?
बन जाता प्रमत न देह गरल छू प्रेम अधर
उज्ज्वल करता न प्रणय सुवर्ण, तन का पावक ?[2]

पंत के प्रेमी हृदय की बराबर यह समस्या रही है—

धिक रे मनुष्य तुम स्वच्छ स्वस्थ, निश्छल चुंबन।
अंकित कर सकते नहीं प्रिया के अधरों पर ?[3]

पुरुष और नारी के परस्पर आकर्षण में यही शाश्वत प्यास है जिसकी तृप्ति रूढ़ियों ने रुद्ध कर रखी है, यही पंत विरह की पीड़ा का अस्तित्व मानते हैं।

नारी मातृत्व का भार वहन करती है। हमारे समाज में वह पुरुष से निराधार मातृत्व का वहन नहीं कर सकती इसी कारण वह अपने प्रेमी के प्रति अनन्त स्नेह रखती हुई भी विवाह-ग्रन्थि के बिना उसे आत्म समर्पण नहीं कर सकती। नारी की यह समस्या उन्होंने स्वर्ण किरण में उठाई है—

बँधकर हृदय मुक्त होते हैं
बँधकर देह यातना सहती

१ श्री सुमित्रानन्दन पंत—युगान्त, पृष्ठ ४५
२ वही ग्राम्या, पृष्ठ ८६
३ वही, पृष्ठ ८६

नारी के प्राणो म ममता
बहती रहती बहती रहती !
नारी का तन मां का तन है
जाति वृद्धि के लिए विनिर्मित
पुरुष प्रणय अधिकार प्रणय है
सुख विलास के हित उत्कठित ?

हृदय तुम्हे देती हूँ प्रियतम
देह नहीं दे सकती,[1]

'स्वण धूलि' म समाज मे पतिता कही जाने वाली स्त्री को हृदय से लगाता हुआ उसका पुरुष, प्रिया को सा त्वना देता है—

मन से होते मनुज कलकित
रज की देह सदा से कलुषित
प्रेम पतित पावन है तुमको
रहने दूंगा मैं न कलकित।[2]

सामाजिक अधविश्वासो को वह मनुष्यता के स्वर स तोडना चाहता है—

आज हम मानव मन को करदा आत्मा के अभिमुख
मनुष्यत्व मे मज्जित करते जीवन के सुख दुख।
पिघला देगी लौह मुष्टि का आत्मा की कोमलता
जन बल से रे कही बडी है मनुष्यत्व की क्षमता।[3]

उनकी 'मनुष्यता का स्वर समाज म प्रतिष्ठित सदाचार और नीति का विरोधी है। 'उत्तरा मे उन्होने स्पष्ट कहा है—

तुम खोलो जीवन बधन
जन मन बधन !
जीण नीति अब रक्त चूसती जन का
सदाचार शोषक मन के निधन का
स्वार्थी पशु वहन
मुख नव मानवपन का
तुम छेडो अब अतर रण
मन ही प्रागण।[4]

---

१ श्री सुमित्रानन्दन पन्त—स्वर्णकिरण, कविता अवगुठिता, पृष्ठ ३८
२ वही, स्वण धूलि, पृष्ठ २
३ वही, पृष्ठ १३
४ वही उत्तरा पृष्ठ ३७

१९५७ में प्रकाशित 'वाणी' में भी पंत ने मानसिक संघर्ष से पीड़ित मानव से, स्वयं अपना हृदय पहचानने का आग्रह किया है। उसी के द्वारा भू पर स्वर्ग का साक्षात्कार, वह कर सकेगा—

मानव के बाहर भीतर चल रहा आज रण,
मन की सीमाओं से पीड़ित गत मूल्यांकन।
आओ, हे, यह नव्यलोक यह पूर्ण जागरण
लो स्वर्णिम मानुष्य, स्वयं जो अपना दर्पण
× × ×
धरा स्वर्ग पर प्राप्त करा है नवजीवन वर।[1]

मनुष्य का ऐसा सुन्दर स्वर्ग पृथ्वी पर अवतरित देखने को पंत का कवि निरंतर इच्छुक है। क्या जाने उसका वह स्वप्न कब सत्य बनेगा?

पंत के विरह काव्य और उसकी उन्नयित दिशा के उपयुक्त विवेचन से स्पष्ट है कि उनमें विरह की पीड़ा का उन्नयन, शुद्ध बुद्ध निश्छल मानवता के स्वप्न के लिए हुआ है, जहाँ कपट और कुण्ठा सामाजिक नीति और सदाचार प्रेम की निश्छल अभिव्यक्ति में बाधक नहीं होगी।

'वाणी' में 'आत्मिका' नामक स्वयं अपने जीवन के संस्मरणों और जीवन-दर्शन विषयक कविता में उन्होंने इस उन्नयन की ओर इंगित भी किया है—

लांछन कल्मष के कांटों में
खिला प्रेम का फूल धरा पर
उसको छूना मोह द्रोह के
भू कर्दम में गिरना दुस्तर

हो न सका चरितार्थ प्रेम का
धरा स्वर्ग नारी उर में स्थित,
हृदय नहीं विकसित शोभा,
देह भाव से मन अवगुंठित
गुंजित उर की करुण प्रतिध्वनि
मधुर ग्रंथि में, ध्वनिमय गुम्फित,
प्रणय सरोवर में नव यौवन
प्रथम हुआ जब पावक मज्जित!
हृदय पुण्य रस का प्रेमी मन,
हृदय उसे न मिला जन भू पर

[1] श्री सुमित्रानन्दन पन्त—वाणी, पृष्ठ १०६

विना हृदय के देह प्राण मन
दारुण वन पशु कानन दुस्कर !
रुको अभी तब कहा मम ने,
मोड लिया मने निमम मन
मानव भावों के स्वप्नोंहित
किया मुग्ध कवि हृदय समपण ![1]

निराला के काव्य में विरहानुभूति

छायावादी काव्य के उदभव की परिस्थितियां पर दृष्टिपात करते समय हमन देखा था कि उस समय पाश्चात्य सस्कृति की रगड स भारतीय जीवन म विच्छखलता आने लगी थी। न तो भारतीय भावुक रूढियां के घिसे घिसाय माग पर चलने का प्रस्तुत था न वह उतना साहस बटोर पाया था कि उनका विरोध कर सक।

एक ओर युवक-युवती के मन म स्वच्छन्द प्रेम क स्वप्न थ दूसरी ओर उन पर कठोर नतिकता का अकुश था। ऐसी स्थिति म कुण्ठा का जीवन म व्याप्त होना स्वाभाविक ही था। ऐहिक प्रम का भावुक न अपार्थिव क प्रति उन्नयित करन का प्रयत्न किया किन्तु समय के सजग बुद्धिवादी मानव न अमूत की कल्पना पर उस अधिक देर टिकन नहा दिया। इसीलिए सब कुछ इस ग्रहा की मनारम अनुभूति म दस साल क कवि के प्रेम की चरम परिणति हुइ। हमन देखा है कि प्रसाद महादवी और पत के रहस्यवाद और लोककल्याण की भावना का यही रहस्य है।

निराला म, जग जीवन म व्याप्त कुण्ठा न रहस्यवाद का रूप बहुत ही कम लिया है। उनकी रहस्य भावना अनामिका म यत्र-तत्र मिलती है और गीतिका तक काफी प्रस्फुटित भी हुइ है किन्तु अधिकाशत तान्त्रिको से प्रभावित हान क कारण वह या तो मातृभाव स पूण है या अद्वतवादी विचारा की वाहिका। प्रम क क्षत्र म तृप्ति के अभाव की पीडा अथवा विरहानुभूति या तो प्रकृति क प्रतीक रूपा स व्यक्त हुई है या सीधे लौकिक प्रियतम अथवा प्रयसी के प्रति। अत निराला के काव्य म विरहानुभूति क तीन स्पष्ट विषय अलग अलग मिल सकत हैं। पार्थिव स्थूल विषयो क प्रति व्यक्त होन वाली निर्व्याज विरहभावना, प्रकृति के प्रतीक रूपो म व्यक्त हुइ मानव की विरहानुभूति और रहस्यवादी विरहभावना।

पार्थिव विरहभावना

निराला का प्रथम काव्य सग्रह 'अनामिका' है। 'अनामिका' की प्रथम कविता प्रेयसी' है। प्रयसी' म एक शिक्षित नवयुवती का पढे लिखे युवक स प्रथम मिलन, मिलन क पश्चात कुल, मान, शील और मान का ध्यान करके प्रियतम को छोडकर चले जाना

1 सुमित्रानन्दन पन्त—वाणी, पृष्ठ १४८ १४६

और फिर उसके व्यंग से प्रताडित होकर उसे सदा के लिए अपना लेने की कथा है।

प्रेयसी और प्रियतम का मिलन प्रथम रूप दर्शन से उत्पन्न पूर्वराग है—

मिले तुम एकाएक
देख मैं रुक गई—
चल पद हुए अचल,
आप ही अपल दृष्टि,
फैला समष्टि मे खिंच स्तब्ध मन हुआ।
दिए नही प्राण जो इच्छा से दूसरे को,
इच्छा से प्राण वे दूसरे के हो गए।[1]

यह अनायास दृष्टिमिलन छायावादी युग की स्वच्छंद जीवन-यापन करने की विकट इच्छा के फलस्वरूप कहा जा सकता है। किन्तु दृष्टिपात की पवित्रता असीम है। प्रसंग के पुरुष पात्र का आत्म प्रेयसी मे अपना ही नारी रूप देख रहा था स्थूल प्रेम को कवि ने अत्यन्त कुशलता से अध्यात्म के सूक्ष्म स्तर तक पहुँचा दिया है—

देखते निमेषहीन नयनों से तुम मुझे
रखने को चिरकाल बाँधकर दृष्टि से
अपना ही नारी रूप, अपनाने के लिए,
मर्त्य मे स्वर्ग सुख पाने के अर्थ, प्रिय
पीने को अमृत अंगों से झरता हुआ।
कैसी निरलस दृष्टि॥[2]

स्थूल को सूक्ष्म रूप में प्रस्तुत करने की प्रवृत्ति छायावादी कवियों की विशेषता है।

कुल और मान की ग्रन्थि सदा से नारी जीवन पर अनुशासन करती रही है। निराला के समय में अर्थात् आधुनिक समय में भी वह समस्या उतनी ही ज्वलंत है। निदान उनकी 'प्रेयसी' को, प्रियतम को हृदय समर्पित करके भी विरह की ज्वाला में जलना पड़ा—

देकर न दिया ध्यान मैंने उस गीत पर
कुल-मान-ग्रन्थि में बँधकर चली गई,
जीते संस्कार वे बद्ध संसार के—
उनकी ही मैं हुई।

बीता कुछ काल,

१ निराला—अनामिका, पृष्ठ ३
२ वही पृष्ठ ५

देह ज्वाल बढने लगी,
नन्दन निकुञ्ज की रति का ज्यों मिला मरु
उतरकर पवत से निर्झरी भूमि पर
पंकिल हुई, सलिल देह कलुषित हुआ।[1]

किन्तु अपनी कविता के प्रारम्भिक युग स ही निराला रूढियो क विद्रोही हैं। इसीलिए उनकी प्रेयसी ने जब एक बार मन म समझ लिया कि—

दोनो हम भिन्न-वण
भिन्न जाति भिन्न रूप
भिन्न धम भाव, पर
केवल अपनाव स प्राणो से एक थे।
किन्तु दिन रात का
जल और पृथ्वी का
भिन्न सौन्दय से बन्धन स्वर्गीय है।।[2]

तो वह जाति कुल के सब बन्धन तोडकर प्रिय म साथ अमिट बन्धन म बध गई—

पहचाना मैंने हाथ बढकर तुमने गहा।
चल दी मैं मुक्त साथ।[3]

रूढियो के इस विरोध का उनकी नायिका को गव है—

गर्वित, गरीयसी अपने म आज मैं।

रूढियो का विरोध करत हुए निर्बाध-स्वच्छन्द मिलन उस युग के कवि की कल्पना का आदश था। पूवराग की मिलन म चिरपरिणति का यह आदश, इसके पहल साहित्य म ऐसा प्राप्त नहीं होता।

'प्रलाप' कविता म निराश प्रेमी युवक की प्रलाप विरह दशा का वणन है। कवि ने अपने भाव को वीणावादिनी वाणी के प्रति निभाने का प्रयत्न किया है किन्तु भाव अस्पष्ट-सा रह गया है। वीणावादिनी सरस्वती की मात कल्पना क स्थान पर प्रेयसी कल्पना के साथ सहृदय पाठक का तादात्म्य नही बठ पाता। सचमुच वह कवि का 'प्रलाप' ही लगती है वह स्थिति जहाँ भावुक को उचित अनुचित का विवक नही रहता।

'अनामिका' की 'रेखा' नामक कविता म, 'स्मृति' रूप म कवि ने अपनी प्रिया क प्रथम मिलन का वणन किया है। यह मिलन कितना उच्च और अतीन्द्रिय था, देखत ही बनता है—

केन्द्र दो आ मिल
एक ही तत्व के,

---

१ निराला—अनामिका, पृष्ठ ६
२ वही, पृष्ठ ८
३ वही पृष्ठ ६

सृष्टि के कारण वे,
कविता के काम बीज ॥[1]

संसार का जड़ और फलतः स्त्री-पुरुष के लौकिक सम्बन्ध को जड़ कहने वाल को कवि ने अच्छी चुनौती दी है—

अस्तु वह प्यार ?—
सब चेतन जो देखता
स्पर्श में अनुभव रोमाच
रूप रूप में परिचय,
विनोद, सुख गन्ध में,
रस में मज्जानन्द,
शब्दों में झंकार,
खींचा उसी ने था हृदय यह
जड़ा में चेतन गति कर्षण मिलता कहाँ ?[2]

'परिमल की जागृति में सुप्ति थी' नामक कविता में प्रणय की मान मनुहार के बाद का मिलन चित्र कवि ने प्रस्तुत किया है। प्रणय रात्रि के अन्त में वियोग की पीड़ा का दृश्य उन्होंने इन पंक्तियों में अत्यन्त मुखर कर दिया है—

लाज में सुहाग का—
मान से प्रगल्भ प्रिय प्रणय निवेदन का
मन्द हास मृदु वह
सजा जागरण-जग
थककर वह चेतना भी लाजमयी
अरुण किरणों में समा गई।
जागृत प्रभात में क्या शान्ति थी!
जागृति में सुप्ति थी
जागरण क्लान्ति थी।[3]

प्रणय मान की मान मनुहार में प्रणय रात्रि व्यतीत करने वाले प्रेमी युग्म की पीड़ा को हम प्रणय मान की व्यथा के अन्तर्गत ही मानते हैं क्योंकि प्रतप्ति का कारण वही था।

'जागा फिर एक बार' नामक कविता में, विरह विदग्धा-वधू का स्वतन्त्र चित्र अपनी मूक व्यथा में अत्यन्त मार्मिक है।

पिउ रव पपीहे प्रिय बोल रहे,
सेज पर विरह विदग्धा वधू

१ निराला—अनामिका, पृष्ठ ७३
२ वही पृष्ठ ७५
३ वही, परिमल पृष्ठ १६४ १६५

याद कर बीती बातें, रातें मन मिलन की
मूद रही पलकें चारु,
नयन जल ढल गए
लघुतर कर व्यथा भार—[1]

'प्रवास' विरह की पीडा अपने सब अंगो उपागो सहित यहा रस दशा के प्रकर्ष को प्राप्त कर रही है। पिय ग्ध उद्दीपन है और स्मति सचारी भाव। 'मूद रही पलकें चारु' में विरह की निद्राविहीन रातो को नायिका थपकी देकर सुलाने का प्रयत्न कर रही है, उसे आश्रय की गति या प्रवत्ति मानना चाहिए। 'नयन जल ढल गए' में आश्रय का सात्विक अनुभाव व्यथा को ममस्पर्शी बना रहा है।

'राम की शक्ति-पूजा' में सीता से प्रथम मिलन तथा धनुभग के प्रसग को स्मति रूप में रखकर कवि ने राम को रावण-जय की नई प्रेरणा-शक्ति दिलवाई है। इस प्रसग में निराला की यह उद्भावना एकदम नवीन है—

कल लडने को हो रहा विकल वह बार बार,
असमथ मानता मन उद्यत हो हार हार।
ऐसे क्षण अधकार घन में जैसे विद्युत
जागी पथ्वी-तनया-कुमारिका छवि अच्युत
देखते हुए निष्पलक, याद आया उपवन
विदेह का—प्रथम स्नेह का लतान्तराल मिलन
नयनो का नयनो से गोपन प्रिय सम्भाषण,—[2]

यहाँ भी स्मृति सचारी से सयुक्त हो प्रवास', विप्रलम्भ की रस दशा तक पहुँच रहा है। उसके सात्विक और कायिक अनुभावो का वणन निराला ने इस तरह किया है—

सिहरा तन, क्षण भर भूला मन लहरा समस्त
हर धनुभग को पुनर्वार ज्यो उठा हस्त
फूटी स्मिति सीता ध्यान लीन राम के अधर
फिर विश्व विजय भावना हृदय में आई भर॥[3]

'भावुकता' के सचारी भाव से राम की विरह व्यथा के तीव्रतर होने की सयोजना भी अत्यन्त सफल है—

खिच गए दृगो में सीता के राममय नयन
फिर सुना—हस रहा अट्टहास रावण खलखल।[4]

---

१ निराला—परिमल, पृष्ठ १६६
२ वही पृष्ठ १५१
३ वही, पृष्ठ १५२
४ वही, पृष्ठ १५२

'अनामिका' की 'प्राप्ति' कविता में कवि ने करुण विप्रलम्भ की 'उन्माद' दशा का सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया है। प्रेमी जड़ 'हवा' को उन्माद में प्रियतमा का रूप मानकर उससे उसकी प्राप्ति के सुख का अनुभव करता है—

तुम्हें खोजता था मैं
पा न सका।
हवा बन बहीं तुम, जब
मैं थका, रुका।
मुझे भर लिया तुमने गोद में,
कितने चुम्बन दिए,
मेरे मानव मनोविनोद में
नैसर्गिकता लिए,[1]

'परिमल' की 'प्रिया के प्रति' कविता आधुनिक हिन्दी कविता के करुण विप्रलम्भ काव्य में अपना सानी नहीं रखती। कवि अपनी मृत प्रियतमा से एक बार फिर पुनर्मिलन की आकांक्षा करता है। काश ! अनल के गर्भ में उसकी प्रियतमा एक बार उसके सम्मुख उपस्थित हो सकती। तब वह अपने हृदय के अगणित व्याकुल भाव उसे अर्पित कर देता।

एक बार भी यदि अजान के
अन्तर से उठ आ जाती तुम,
एक बार भी प्राणों की तम
छाया में आ कह जाती तुम
सत्य हृदय का अपना हाल
कैसा था अतीत वह, अब यह
बीत रहा है कैसा काल
मैं न कभी कुछ कहता,
बस तुम्हें देखता रहता !
चकित थकी चितवन मेरी रह जाती
दग्ध हृदय के अगणित व्याकुल भाव
मौन दृष्टि की हो भाषा कह जाती।
(२)
तप वियोग की चिर ज्वाला से
कितना उज्ज्वल हुआ हृदय यह
पिष्ट कठिन साधना शिला से
कितना पावन हुआ प्रणय यह,

---
[1] निराला—अनामिका, पृष्ठ १४७

मौन दृष्टि सब कहती हाल,
कसा था अतीत मेरा, अब
बीत रहा यह कसा काल ।।[1]

"तुम्हारा काल अज्ञात के गर्भ म कसा बीत रहा है और मरा, ससृति की शृखलाओ म कसा ?" दोनो के साम्य स व्यथा अधिक ममस्पर्शी हो गई है। मत प्रियतमा से जीवित प्रिय का यह साक्षात्कार अनुपम है, उनकी व्यथा की सजीवता म कौन सन्देह कर सकता है?

विरह भावना' की अभिव्यक्ति निराला के काव्य म एक अय माध्यम, प्रकृति के प्रतीक रूपो से भी व्यक्त हुई है। स्वतन्त्र व्यक्तित्व से सयुक्त होते हुए भी निराला अपने समय की भावनाओ से प्रभावित थे। उनकी एकान्त चिन्तनशील प्रवृत्ति ने प्रकृति के चिनित जीवन के सान्निध्य म रहने का उ ह काफी अवसर भी दिया था। तब वह उसके प्रभाव स अछूते कसे रह सकते थे?

प्रकृति के प्रतीक रूप में व्यक्त हुई विरह-भावना

प्रकृति के प्रतीक रूपा के द्वारा मन के भावो की अभिव्यक्ति इस युग की मुख्य विशेषता है। तट पर नहाती हुई तरुणी के सौन्दय पर दृष्टिपात करने का कवि को अधिकार नहीं है। इसी स वह वसन्त बनकर उसके सौ दय को देखता है और अपने हृदय के भाव पुष्प-वृन्त से गिरे हुए पुष्पा के मिस उसे अर्पित करता है—

नव वस त कापा पत्रा म,
दख दगो की कोर।
अग-अग ये नव-यौवन उच्छखल,
किन्तु बँधा लावण्य पाश से
नम्र सहास अचचल।

वायु सेविका-सी आकर
पोंछे युगल उरोज, बाहु मधुराधर।
तरुणी न सब ओर
देख, मन्द हँस, छिपा लिए उन्नत पीन उरोज,
उठाकर शुष्क वसन का छोर।
मूर्छित वस त पत्रा पर,
तरु स वृन्तच्युत कुछ फूल
गिरे उस तरुणी क चरणो पर।[2]

१ निराला—परिमल पृष्ठ ६४ ६५
२ वहा, मना मका पृष्ठ ५० ५१

वसन्त के भाव किसी भी युवक के भाव हो सकते हैं। रूप दर्शन से उत्पन्न हुई पूर्वराग की 'अभिलाषा' के अन्तर्गत ही उन्हें रखा जाएगा।

'जुही की कली' में प्रवासी नायक के विरह की 'स्मृति' दशा तथा उस स्मृति से उसके, प्रियतमा के पास वापस लौट आने की प्रेरणा का वर्णन है। भाव को ध्वनित करने के लिए वह जुही की कली जिसका जीवन चन्द घंटों में गिना जा सकता है, वर्ष भर प्रिय की प्रतीक्षा करती रही और तब भी तरुणी रही।

आई याद बिछुड़न से मिलन की वह मधुर बात,
आई याद चाँदनी की धुली हुई आधी रात,
आई याद कान्ता की कम्पित कमनीय गात,
फिर क्या ? पवन
उपवन सर सरित गहन गिरि कानन
कुंज लता पुंजों को पार कर
पहुँचा जहाँ उसने की केलि
कली खिली साथ।[1]

लौटकर आए हुए समीर और जुही की कली की मिलन गाथा में निराला ने रूपगर्विता मुग्धा और उसके प्रिय का जीवन चित्रित किया है।

'गीतिका' की एक कविता में भी निराला ने शशिप्रभा की प्रोषितपतिका के रूप में कल्पना की है, जो सिन्धु रूपी प्रिय के हेतु अश्रु बहा रही है—

प्राण धन को स्मरण करते
नयन झरते नयन झरते !
स्नेह ओत-प्रोत
सिन्धु दूर, शशिप्रभा दृग
अश्रु ज्योत्स्ना स्रोत।
मेघमाला सजल नयना
सुहृद उपवन को उतरते।[2]

करुण विप्रलम्भ में किसी चिरपरिचित मिलन स्थान के सम्बन्ध से जागृत हुई 'स्मृति दशा' का वर्णन 'ठूँठ' कविता में मिलता है—

ठूँठ यह है आज !
गई इसकी कला,
गया है सकल साज !
अब यह वसन्त से होता नहीं अधीर,
पल्लवित झुकता नहीं अब यह धनुष सा,

१ निराला—परिमल, पृष्ठ १६१ १६२
२ वही, गीतिका, पृष्ठ ६२

झरते नही यहां दो प्रणयियो के नयन नीर,
केवल वद्ध विहग एक वठता कुछ कर याद।[1]

विहग की वद्ध रूप म और उसका 'कुछ याद करके ठूठ पर वठना अदभुत कल्प
है। दो पक्तियो में निराला असीम व्यथा का सागर भरन में समथ हुए हैं।

'गीतिका' में पटऋतु वणन की परम्परा का निर्वाह करता हुआ सा शिशि
ऋतु वणन है। यहा शिशिर का उद्दीपन रूप वर्णित है। वह विरही को कष्ट दता ह
इसी भाव को स्पष्ट करन के लिए निराला ने तीन विभिन्न चित्र प्रस्तुत किए हैं। द
में, प्रकृति के प्रतीक रूप आलम्बन हैं और अतिम चित्र म स्वय कामिनी। तीना चित्र
जितने सक्षिप्त हैं, उतने ही मार्मिक भी। प्रथम चित्र नीलकमल की कलिया का है—

वह चली अव अलि शिशिर समीर।
कांपी भीरु मणाल वृत पर
नील-कमल-कलिकाएँ थर-थर।
प्रात अरुण को करुण अश्रु भर
लखती महा अधीर।[2]

सूय और कमलिनी का प्रेम काव्य का शाश्वत सत्य है किन्तु शिशिर ऋतु के
स्पश से, सूय के वियोग में कमल-कलिया के कांपन की कल्पना निराला की अपनी है।
कल्पना अत्यन्त सुदर है। सूय रूपी प्रिय को प्राप्त करन पर उनके करुणाद्र नेत्रो के अश्रु
और भी मधुर हैं। दूसरा चित्र हरसिंगार क पुष्पा का है। कवि कल्पना करता है कि
वनदेवी के हार के हीरो पर किरणें आसक्त हो गई हैं। प्रेम का अनुराग ही हरसिंगार के
हृदय पर लक्षित हो रहा है—

वन देवी के हृन्य हार से
हीरक झरत हरसिंगार के,
बध गया उर किरण तार के
विरही राग का तीर॥

तीसरा चित्र कामिनी का है। नायिका प्रोषितपतिका है। शिशिर की रात्रि
प्रेमीयुग्म के जीवन म विशेष महत्त्व रखती है। इनक लम्बी होन स सयोग का अवकाश
भी दीघ हो जाता है। अत प्रिय क अभाव म वदना भी--उतनी ही करुण होती है—

विरह परी सो खडी कामिनी
व्यय वह गई शिशिर-यामिनी
प्रियके गह की स्वाभिमानिनी
नयना म भर नीर।

गीतिका के एक अन्य गीत म सरिता स प्रिया का साम्य देखक—

१ निराला—अनामिका, पृष्ठ १३६
२ वही, गीतिका पृष्ठ १०

की स्मृति के जागृत हो आने का वर्णन है।

सरि, धीरे बह रही ?
व्याकुल उर दूर मधुर,
तू निष्ठुर रह री।

भग्न मत री राग प्रबल
गत हासोज्ज्वल निर्मल
मुख-कलकल छवि की छल
चपला चल लहरी।[1]

निराला के काव्य में रहस्यवादी विरह-भावना

प्रकृति के कण कण में व्याप्त, अलौकिक सौन्दर्य सम्पन्न अमूर्त सत्ता के प्रति, आत्मा का उन्मुखी भाव और आत्मनिवेदन ही रहस्यवाद है। यह मूलतः दो प्रकार का माना गया है—दर्शनमूलक रहस्यवाद और प्रणयमूलक रहस्यवाद। स्वामी विवेकानन्द और अद्वैतवादी दर्शन का प्रभाव होने के कारण निराला के काव्य में दार्शनिक रहस्यवादी उक्तियाँ मिलती हैं। 'तुम और मैं' शीर्षक कविता में वह ब्रह्म को विराट अटल सत्ता और आत्मा को उसका गतिमान व्यक्त रूप कहते हैं—

तुम तुंग हिमालय शृंग
और मैं चंचल गति सुर सरिता।

तथा—

तुम मृदु मानस के भाव
और मैं मनोरंजिनी भाषा।[1]

किन्तु आत्मा के परमात्मा के प्रति सहज आत्मनिवेदन का भी अभाव नहीं है। युग युग से निराला की विरहाकुल आत्मा, परमात्मा रूपी प्रिय के लिए तड़प रही है। प्रोषितपतिका सी वह प्रियतम की राह देख रही है—

तुम पथिक दूर के श्रान्त
और मैं बाट जोहती आशा।[2]

वर्षों से बिछुड़ा हुआ प्रिय जैसे इस विरहिणी को भूल गया है। रूपाकृति में अनेक परिवर्तन हो गए हैं, इसी से अतीत के मिलन की याद दिलाती हुई वह उससे कहती है—

तुम वर्षों के बीते वियोग
मैं हूँ पिछली पहचान।।[3]

---

१ निराला—गीतिका, पृष्ठ २१
२ वही, परिमल, पृष्ठ ८८-८५
[illegible] ५
[illegible] ४

कवि की जीवन सरिता, ब्रह्म रूपी समुद्र निधि की ओर बढ़ने में निरन्तर प्रयत्नशील है। उसका आकुल क्रन्दन उसी अपार्थिव विराट के लिए है—

मेरा आकुल क्रन्दन,
व्याकुल वह स्वर-सरित हिलोर
वायु में भरती करुण मरोर
बढ़ती है तेरी ओर ॥[1]

विरह-वेदना से संतप्त उसकी विरहिणी आत्मा कभी दैन्य भरी सी प्रिय से अनुनय भरा प्रश्न करने लगती है—

मुझे स्नेह क्या मिल न सकेगा ?
स्तब्ध, दग्ध मेरे मरु का तरु
क्या करुणाकर खिल न सकेगा ?[2]

वियोग दुःख का भार उसके लिए असह्य होता जा रहा है, प्रतीक्षा के अनन्त मार्ग पर चलते चलते चरण थकने लगे हैं। प्रिय का दर्शन-स्पर्श करके अब इस महान् वेदना से उऋण होने को वह व्याकुल हो रही है—

मेरे दुःख का भार झुक रहा
इसीलिए प्रति चरण रुक रहा,
स्पर्श तुम्हारा मिलने पर, क्या
महाभार यह झिल न सकेगा ?[3]

'अनामिका' की 'क्षमा प्रार्थना' कविता में, आत्मा रूपी, प्रियतमा, परमात्मा रूपी प्रिय से अपनी ओर अनुकूल भाव रखने की विनय करती है जैसे प्रणय में स्खलित प्रियतमा की, रूठे हुए प्रिय से 'मान' की 'मनुहार' हो—

माला में हो सूख गए जो फूल
क्या न पड़ेगी उन पर प्रियतम,
एक दृष्टि अनुकूल।
ताक रहे हो दृष्टि,
जाँच रहे हो या मन ?
क्षमा कर रहे हो अथवा तुम देव
अपने जन के स्खलन और सब पतन ?[4]

रहस्यवाद के क्षेत्र में और दूसरी ओर विरह में 'मान' के क्षेत्र में, एकदम नवीन प्रयोग है। कवि ने स्वयं स्वीकार किया है कि

---

१ निराला—अनामिका पृष्ठ ४५
२ वही, गीतिका, पृष्ठ ४५
३ वही, पृष्ठ ४५
४ वही, पृष्ठ ५२

ठाकुर के भाव से ग्रहण किए हैं। कुछ भी हो, हिन्दी के लिए वे नितान्त नवीन हैं।

बुद्धिवादी युग के सांसारिक कवि को परम्परित सन्तों और वैरागियों की कोटि का आराधक मानना भूल है। जीवन की कुण्ठा और पराजय की भावना को इन्होंने ब्रह्म की मनोरम कल्पना में विस्मृत कर देना चाहा था। जीवन के क्षणिक अवसाद से विषण्ण प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में वैसे क्षण आते हैं। अतः निराला की अनामिका और परिमल की ऐसी रचनाओं को भी क्षणिक विरति के फलस्वरूप समझना चाहिए।

फिर भी अनामिका की 'हताश' कविता के बाद निराला की विचारधारा में एक निश्चित परिवर्तन मिलने लगता है। 'हताश' निराला के हृदय के घोर नैराश्य का द्योतक है—

जीवन चिरकालिक क्रन्दन ।
मेरा अन्तर वज्र कठोर,
देना जी भरसक झकझोर,
मेरे दुख की गहन अंध
तम निशि न कभी हो भोर
क्या होगी इतनी उज्ज्वलता—
इतना वन्दन—अभिनन्दन ?[1]

निराशा उन्हें दार्शनिक और वीतराग बनाती जा रही है। विवेकानन्द के प्रभाव में लिखी गई कविताएँ दार्शनिक हैं। नाच उस पार श्यामा और गाता हूँ मैं गीत तुम्हें ही सुनाने को ऐसी ही कविताएँ हैं। परिमल में कवि जगत और ब्रह्म के बीच में भटकता रहा है। 'जुही की कली' और 'तुम और मैं' कविताएं इसके प्रमाण हैं। किन्तु 'गीतिका' में निश्चित रूप से उसकी विचारधारा का मोड़ जगत और उसके आकर्षणों से दूरातिदूर होता गया है। जगत से विरक्त, उसके अनुरागी हृदय का प्रेमी 'अपार्थिव' के पथ का पथिक बन गया है—

मेरे दुख का भार झुक रहा
इसीलिए प्रति चरण रुक रहा,
स्पर्श तुम्हारा मिलने पर, क्या
महाभार यह भिन्न न सकेगा ?[2]

दर्शन शास्त्रों के अध्ययन मनन से निश्चित रूप से उसने समझ लिया है कि जीवन अंधकारमयी रजनी है। निरन्तर जागरूक निराला यहाँ स्व और पर की सीमा से ऊपर उठ गया है—संसार की अंधकारमयी रात्रि में वह सबको गले लगा लेना चाहता है। 'गीतिका' के एक गीत में प्रातःकाल प्रिय से वियुक्त होती हुई नायिका

---

१ निराला—अनामिका, पृष्ठ ६२

२ देखिए पहले इसी विवेचन में

प्रियतम से कहती हैं—

हुआ प्रात, प्रियतम, तुम जाओगे चले ?
कैसी थी रात, बन्धु, थे गले गले ॥

बाँधो यह गान ।
पार करो बन्धु, विश्व का यह व्यवधान ।
तिमिर में मुदे जग, आओ अलं भले ॥[1]

इस गीत में वियोग व्यथा नहीं है। वियोग की स्थिति दर्शन की अभिव्यंजक बनकर आई है।

अतः 'रहस्यवाद' निराला के लिए अपवाद के क्षणों का क्षणिक विश्राममात्र नहीं रह सका है, वह उनके जीवन का अन्तिम सत्य-सा हो गया है। व्यावहारिक बुद्धिप्रधान मानस पर भावुकता और अध्यात्म विजय प्राप्त कर रहे हैं। इसीलिए उनकी रहस्यवादी उक्तियों में और कवियों की अपेक्षा कल्पना न्यूनतर और निर्व्याज अभिव्यक्ति का आग्रह अधिक है।

गीतिका के एक गीत में वह सिद्धों की भाँति प्रकृति की अधिष्ठात्री दैवी शक्ति का साक्षात्कार करते हैं। उनकी यह कल्पना सिद्धों की योगिनी रूप कल्पना के अत्यधिक निकट है।—

रहा तेरा ध्यान,
जग का गया सब अज्ञान।
गगन घन विटपी, सुमन नक्षत्र ग्रह, नव गान
बीच में तू हँस रही ज्योत्स्ना-वसन परिधान ॥[2]

'आराधना' के आराधक ने तो विश्व मोह बिलकुल छोड़ दिया है—

तुमसे लाग लगी जो मन की
जग की हुई वासना बासी
गंगा की निर्मल धारा की
मिली मुक्ति, मानस की काशी।[3]

'जग की वासना बासी' हो गई है—कितना सुन्दर प्रयोग है।

निराला के 'रहस्यवाद' की परिणति 'भक्ति' में हुई है। प्रणयभाव के स्थान पर क्रमशः दैन्य भाव प्रतिष्ठित होता गया है, सम्भवतः विराट् के सम्मुख अपनी लघुता का अधिकाधिक अनुभव करने के कारण। निकृष्टतम भक्तों की कोटि में अपनी गणना करके

---

१ निराला—गीतिका, पृष्ठ ६६
२ वही, गीतिका, पृष्ठ ६४
३ वही, आराधना, कविता ५०

वह प्रार्थना करते हैं—

कामरूप हरो काम,
जपूं नाम, राम राम
शबरी, गज गणिकादिक,
हुए कृष्ट प्रासारिक,
पाण्कि मैं सांसारिक,
अविधा हा व्यग्यदाम।[1]

आराधना की ही एक और कविता मे तुलसी के 'श्री रघुनाथ कृपालु कृपा तें सत सुभाव गहूंगा' के, निराला अत्यन्त निकट आ जाते हैं—

मेरी सेवा ग्रहण करो हे!
शुद्ध सत्व से क्षण-क्षण यह
काष्ठा से रहित शरीर भरो हे![2]

तुलसी की विनयपत्रिका का सा ऐसा दुख दैन्य निवेदन हिन्दी कविता में और कहीं अन्यत्र दुर्लभ है। निराला कहते हैं—

मन का समाहार
करो विश्वाधार।
गहन कण्टक जटिल
मग चल पग निखिल,
गया है हृदय हिल,
लो थके का भार।[3]

तथा—

चलता नहीं हाथ,
कोई नहीं साथ
उन्नत विनत माथ
दो शरण, दोषरण।[4]

प्रिय की विरहाराधना में निराश विरह वधू की क्या गति हो रही है? उसका वर्णन निराला ने जैसा मार्मिक किया है, उसी का संक्षिप्त परिचय देकर उनकी विरह-भावना सम्बन्धी विवेचना को हम यहीं समाप्त करेंगे—

सूने है साज आज
बिना तुम्हारे विराज।

---

१ निराला—आराधना, कविता १८
२ वही, कविता २४
३ वही, कविता ४६
४ वही, कविता ६२

दिग्वधू निराश, दीन
अम्बर पीवर सुपीन
नारी-नयन-ज्योति क्षीण
भिति पर जमे जहाज।[1]

विरहीसाधक की निराश स्थिति का इससे सजीव वर्णन और क्या हो सकता है? कहने की आवश्यकता नहीं कि विरह के क्षेत्र में निराला के काव्य का स्थान आधुनिक हिंदी काव्य में अद्वितीय है। उनकी पार्थिव विरहानुभूति जितनी उज्ज्वल और सत्य है वैसी ही अपार्थिव के प्रति भी, दोनों में से किसी को भी उन्होंने आच्छादन में कुण्ठित नहीं किया है। हाँ कहीं-कहीं प्रकृति के जीवन में विरह के छायास्पद के सौन्दर्य का साक्षात्कार करके उसके शोभन का आनन्द सत हो लिया है।

चतुर्थ अध्याय

छायावाद-परवर्ती हिन्दी-काव्य मे विरह-भावना

सन् १९३५ के लगभग काव्य के क्षेत्र म छायावाद की रोमानी कल्पना और रूप-विधान के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्पष्ट होने लगी। परिस्थितियाँ लगभग वही थी जो छायावादी युग के प्रारम्भ म थी—राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और मानसिक—सभी क्षेत्रों मे अशान्ति थी। अन्तर केवल इतना था कि भौतिकवादी दृष्टिकोण ने कवि की आध्यात्मिकता को झकझोरकर तहस नहस कर डाला—ईश्वर की कल्पना से वचित होकर वह, अपने अह की रक्षा के लिए अधिक आत्मनिष्ठ होने का प्रयत्न करने लगा। आध्यात्मिकता का बुद्धिवाद की यह चुनौती स्वय छायावादी कवियो की रचनाओ मे ही मिलने लगी थी।

किन्तु फिर भी छायावादी कवि भारतीय आध्यात्मिकता और ईश्वर कल्पना के मोह को पूर्ण रूप से त्याग नही सके थे। इसीलिए उन्होंने भारतीय अद्वैतवाद को भावात्मक सर्ववाद का रूप दिया। उन कवियो की वैयक्तिक पीडा रहस्यवाद का आधार पाकर क्रमश लोककल्याण म परिणत होती गई।

परवर्ती काव्य पर मार्क्स के भौतिकवाद का प्रभाव बहुत गहरा हो गया। किसी काल्पनिक ईश्वर के प्रति आत्म निवेदन करना हास्यास्पद-सा प्रतीत होने लगा। आधुनिक मनोविश्लेषण शास्त्र के परिचय न 'मन के जीवन' के सम्बन्ध मे अनेक रहस्यात्मक तत्त्वो का उद्घाटन किया। मन और शरीर की भूख समन्वित रूप से कवि के मानस के चारो ओर मँडराने लगी। फ्रायड, एडलर और युग नई नई मनग्रन्थियो को उसके स मुख खोल-खोलकर रखने लगे।

इस युग के कवि के सम्मुख, उसकी आत्म-पीडा (वैयक्तिक पीडा) और जग की पीडा दो भिन्न समस्याएँ बनकर आई। परिस्थितियो की अराजकता के संघर्षपूर्ण जीवन म अपने आत्म की रक्षा के लिए अत्यन्त सजग इस कवि न इन दोनो म से किसी भी एक को दूसरे के लिए विलय करना उचित नही समझा। फलत न तो वैयक्तिक पीडा का उन्नयन लोककल्याण म हुआ और न उसकी अभिव्यक्ति के लिए जग स कोई और प्रतीक ढूँढने की आवश्यकता इन कवियो को पडी। काव्य म प्रथम बार दार्शनिक और प्राकृतिक प्रतीकों स रहित आत्मपीडा की अभिव्यक्ति हुई।

इस युग से पूर्व आत्मपीडा अथवा वयक्तिक रति की अभिव्यक्ति को काव्य मे हेय समझा जाता था। डा० नगेन्द्र के शब्दो म, "काव्य-शास्त्रियो ने स्पष्ट कह दिया है कि व्यक्तिगत रति आदि का समाज के सम्मुख व्यक्त करना लज्जास्पद एव रस म बाधक है। इस प्रकार आध्यात्मिक धरातल से नीचे उतरकर भौतिक धरातल पर आत्मपरक कविता लिखना शास्त्रीय दृष्टि से एक प्रकार से वर्जित ही था।"[1] छायावाद के विषय म भी नगेन्द्रजी का यह वक्तव्य ठीक ही है, 'छायावाद ने काव्य परम्पराओ को तो नहीं माना, परन्तु नतिक आदर्शों का आतक उस पर भी गहरा था, इसके अतिरिक्त सीधी अभिव्यक्ति भी उसे ग्राह्य नहीं थी। अतएव उसको भी अपने व्यक्तित्व को प्रच्छन्न रखते हुए, प्रतीको के द्वारा ही अभिव्यक्त करना पडा।'

वयक्तिक-पीडा की स्वछद स्पष्ट अभिव्यक्ति की प्रवत्ति यद्यपि छायावादी कवियो के काव्य म ही यत्र-तत्र प्राप्त होने लगती है, निराला और पत म, किन्तु 'बच्चन' के व्यक्तित्व म प्रथम बार वह स्पष्ट धारा बनकर अभिव्यक्त हुई।

'बच्चन' आधुनिक कवि के 'मानस' के वे भाव स्तम्भ हैं जहा उसने पुरातन के मोह को छोड दिया है किन्तु नवीन को भी वह पूर्णत अपना नहीं बना पाया है। एक ओर सामाजिक, धार्मिक और आध्यात्मिक रूढियाँ उसे प्रिय नहीं, दूसरी ओर जीवन को स्थूल भौतिक रूप म भोगने का साहस भी उसके पास नहीं है। वह एसी निराधार स्थिति म खडा है जहा रात्रि के गहन अधकार से भयभीत व्यक्ति स्वय जोर-जोर से गाकर, जीवन की वास्तविक स्पदना का अनुभव करना चाहता है और स्वय को यह विश्वास दिलाना चाहता है कि वह डरा हुआ नहीं है, निराधार नहीं है। मन की यह अव्यवस्थित विकलता बच्चन के सम्पूर्ण काव्य म लक्षित होती है। धर्म समाज और रूढि का विरोध करते हुए भी वह प्रेम को केवल भौतिक सत्य के रूप म स्वीकार नहीं कर सका है इसी स न तो वह उसको जग की पीडा म उन्मग्न कर सका न उसे 'क्षुधा' और 'काम' का पर्याय बना सका। अत उनकी कविता मन की उन्मत्त व्यथा का अविरल अजस्र स्रोत बन गई जिसके बाँध का कोई उपाय वह अब तक नहीं खोज सका है। स्वय उनके अपने शब्दो म यह भाव इस तरह व्यक्त हुआ—

अपनी ही आग बुझा लेता,
तो जी को धैर्य बँधा देता,
मधु का सागर लहराता था, लघु प्याला भी मैं भर न सका!
मैं जीवन म कुछ कर न सका![2]

यही विवशता इस युग के दो अन्य प्रसिद्ध कवियो म भी प्राप्त होती है भगवती-चरण वर्मा और नरेन्द्र शर्मा विशेष उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त तो न जाने हिन्दी

---

[1] डा नगेन्द्र—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ ६३
[2] बच्चन—एकान्त सगीत, गीत २१, पृष्ठ ३७

के कितने असंख्य नवयुवक कवि, मन की विवशता के गीत प्रतिक्षण गा रहे हैं, कुछ बच्चन के अनुकरण पर सुराही और प्याले की मृगतृष्णा के पीछे आकुल हैं।

'प्रवासी के गीत' की भूमिका में नरेन्द्र शर्मा ने आधुनिक हिन्दी गीतिकाव्य के उत्तरार्द्ध के कवियों के विषय में कुछ और विचारपूर्ण तथ्यों का उल्लेख किया है। उनमें से प्रथम बात है इस युग के कवि की निराशा। निराशा का कारण नरेन्द्र शर्मा यह बताते हैं कि समाज के किसी भी वर्ग से कवि को आज महत्त्व प्राप्त नहीं है। उसके भी कारण हैं—"ब्रिटिश सत्ता के कारण हमारे समाज में वर्गीकरण कुछ ऐसे ढंग से हुआ कि हमारे कवियों और साहित्यिकों को किसी भी वर्ग में उच्च स्थान न मिल सका।" व्यापारी, राजा, ताल्लुकदार, वकील और डाक्टर आदि 'उच्च' कहलाने वाले वर्ग के विषय में नरेन्द्र शर्मा कहते हैं—'इनकी शिक्षा संस्कार और जीवनचर्या इन्हें इस योग्य नहीं रहने देते कि ये हमारे साहित्य की ओर कृपा-कटाक्ष कर सकें।" मध्यवर्ग के लिए उनका कहना है—"मध्यवर्ग जिसमें बेकार शिक्षितों और कवियों और लेखकों की भी गणना होनी चाहिए के अन्तर्गत अदालती अहलकारों की श्रेणी से लेकर उच्चवर्ग की ओर ऊर्ध्वमुख किन्तु अपने सौभाग्य के कारण अशांत स्वयं से तुष्ट सफल सांसारिक आते हैं। स्पष्ट है कि इन छिछले सांसारिक जीवों के बीच साहित्यिकों के लिए कोई स्थान नहीं। हमारे लेखक और कवि भी शोषक वर्ग के ही व्यक्ति हैं। अपने वर्ग में उनके लिए स्थान नहीं है तो इसका यह अर्थ नहीं कि उनके संस्कार उनकी जीवनचर्या तथा मनोवृत्ति वर्गगत नहीं है। जनता के लिए वे दुरूह हैं। जनता उनके अस्तित्व से अनभिज्ञ है। जनता में उनके गुण ग्राहक कहाँ मिलेंगे? ऐसी अवस्था में कवियों का निराशावादी हो जाना स्वाभाविक था।

इस युग के कवि की मनःस्थिति का विश्लेषण नरेन्द्र शर्मा ने इस प्रकार किया है— यह स्वाभाविक है कि जब व्यक्ति को अपनी प्रवृत्तियों के व्यक्तिकरण के साधन बाहर समाज में नहीं मिलते तब वह जैसे बाहर ठोकर खाकर, अपने लिए अपने ही भीतर कामनाजन्य भावनाओं और कल्पनाओं का एक संसार बना लेता है। लेकिन कल्पना उसका कब तक साथ देगी? शाम के रंगीन बादलों-सी यह कल्पना बालू की भीति-सी भी तो नहीं है। उसकी आत्म चेतना उसके व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की विषमताओं से टकरा कर गतिरुद्ध हो जाती है और उसके अन्तर में धुएँ की तरह घुमड़ने लगती है। जैसे जैसे वह 'आज मुझसे दूर दुनिया' का अनुभव करता है उसका अहंभाव और भी तीव्र गति से जागृत होता जाता है।'

कवि की मानसिक और सामाजिक अशांति का समाधान नरेन्द्र शर्मा ने भी घूम फिरकर लोक के साथ तादात्म्य में ही माना है—'यह निश्चित है कि जब तक वह व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन की विषमताओं और उनसे प्रोत्साहन पाकर पैदा होने वाले कायर के अविश्वास (भाग्यवाद) और दुःखवाद के दोनों विषधरों को तोड़ न डालेगा तब तक अपने भव रोग का उपचार न कर सकेगा। उसे अपनी रक्षा के लिए

सामाजिक और राजनीतिक प्रगति के साथ चलना होगा, दोनों क्षेत्रों में क्रान्ति उपस्थित करने के लिए पूरा सहयोग देना होगा। एकाकी बने रहकर वह अपनी रक्षा न कर सकेगा।"

स्वयं अपने लिए उन्होंने स्वीकार किया है—'प्रवासी के गीत' का कवि आज भी 'मरघट का पीपल तरु है' वह मुक्ति का मार्ग जानता है लेकिन फिर भी अपनी बेबसी का गुलाम है। यह उसकी परवशता की चरम सीमा है।[1]

फ्रायड के 'यौन सम्बन्धी विश्लेषण' का आधुनिक कवि की भावधारा पर गहरा प्रभाव पड़ा है। वैसे तो भारतीय काव्यशास्त्र के अनुसार शृंगार का मूल भाव रति है ही, युग्म के शरीर व मन दोनों के मिलन में वह चरम उत्कर्ष प्राप्त करती है। किन्तु भारतीय विचार-परम्परा ने सदा 'रति' के भौतिक पक्ष की अपेक्षा मानसिक पक्ष को ही उच्चतर स्थान और महत्त्व दिया है। मानसिक मिलन, शारीरिक मिलन का प्रेरक भी है और साध्य भी। किन्तु फ्रायड ने एक व्यक्ति के दूसरे के प्रति उन्मुखी भाव पर से आध्यात्मिकता (आत्मा की आत्मा के प्रति भूख) का आवरण अपेक्षाकृत हटा दिया है। उन्होंने इस प्रकार के भाव की प्रेरणा यौन भूख (Sex urge) में ढूंढने का प्रयत्न किया है।

इसके प्रभाव से जो प्रेम काव्य हिन्दी में लिखा गया और लिखा जा रहा है, वह परम्परित संयोग और वियोग की व्याख्याओं से सम्बन्धित नहीं कहा जा सकता। 'विरह' की भावना ही बदल गई है। कवि किसी अभीष्ट के मन को अपना बनाने की चाह में आँसू नहीं बहाता, वह उसके भौतिक अस्तित्व के लिए भी उतना ही प्रत्युत अधिक व्याकुल है। भौतिक अस्तित्व के लिए पहला विरही भी व्याकुल होता था परन्तु गौण रूप से। अब वह भी प्रमुख ध्येय है। इस काव्य में यह 'चाह' कवि की सजग प्रेरणा बनकर आई है। ल, सुमन, अज्ञेय, गिरिजाकुमार, धर्मवीर भारती तथा अन्य अनेक कवियों के काव्य में सजग भाव से उसका ध्यान रखा गया है।

यह प्रवृत्ति भी सामाजिक परिस्थिति और युवक की मानसिक परिस्थिति में असन्तुलन के कारण उत्पन्न हुई है। एक ओर प्रेमी प्रियतमा से दूर रहने को बाध्य है, दूसरी ओर नवीन विचार उसके अन्तर्मन को उभार रहे हैं, खोद रहे हैं। युवक युवती के मिलन में क्षण भर की 'चाह' और उसकी तृप्ति को भी विरह की चाह कहा गया। विरह की परम्परित व्यथा इस व्यथा से मलीन होने लगती है। वह विरह जिसकी तृप्ति जीवन पर्यन्त नहीं होती केवल शारीरिक भूख नहीं हो सकता। किन्तु इस काव्य की क्षणिक तृप्ति में भी जीवन पर्यन्त की व्यथा निहित है यही इसकी मर्मस्पर्शिता का कारण है। कहीं-कहीं स्वस्थ मानसिक क्षणों में इन्होंने मन की उज्ज्वल व्यथा को भी मुखर किया है।

परिस्थिति के इस अराजक युग में भी यदि कवि अपना मानसिक सन्तुलन न खो बैठा तब तो जीवन के परिष्कृत मूल्यों, प्रेम और विरह के अमर गीतों का इतिहास

---

१ श्री नरेन्द्र शर्मा—प्रवासी के गीत (भूमिका), पृष्ठ २६

जीवित रहेगा। अन्यथा कौन कह सकता है कि 'सजग विरह व्यथा' क्या नवीन मार्ग अपनाएगी ?

छायावादोत्तर काल की विरह भावना का परिचय प्राप्त करने के लिए इस अध्याय के आगामी पृष्ठों में बच्चन, नरेन्द्र शर्मा, भगवतीचरण वर्मा, शिवमंगलसिंह 'सुमन', अंचल, अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर और धर्मवीर भारती के काव्य में विरह भावना का अध्ययन करने का प्रयत्न किया गया है।

बच्चन

यद्यपि बच्चन छायावादी काव्य की प्रतिक्रिया के प्रथम कवि हैं किन्तु उनकी प्राथमिक रचनाओं पर उस काव्य का कम प्रभाव नहीं है। छायावादी चित्रों के अनुरूप प्रकृति का आलम्बन रूप में वर्णन तथा छायावादी रहस्यात्मकता, दोनों उनके काव्य में उपलब्ध हो जाती है। प्रकृति को आलम्बन रूप में प्रस्तुत करते हुए कहते हैं—

बदल अब प्रकृति पुराना ठाट
करेगी नया नया शृंगार,
सजाकर निज तन विविध प्रकार,
देखेगी ऋतुपति प्रियतम के शुभागमन की बाट।[1]

ऐसे ही आत्मा के परमात्मा के प्रति प्रणय निवेदन के भाव को भी उन्होंने इस प्रकार मुखर किया है—

घर से यह सोच उठी थी
उपहार उन्हें मैं दूँगी
करके प्रसन्न मन उनका
उनके शुभ आशिष लूँगी।
पर जब उनकी वह प्रतिमा
नयनों से देखी जाकर,
तब छिपा लिया अंचल में
उपहार-हार सकुचाकर।
मन कपड़ों के भीतर
वह फूल जिसने पहचाने,
वह हार छिपाया मेरा
रहता कब तक अनजाने।[2]

उपर्युक्त कविता कबीर की 'दुलहनिया' की याद दिलाने लगती है। ईश्वर के प्रति आस्तिक भाव यहाँ स्पष्ट है। बच्चन की यह भोली आराधिका मुग्धा के मनोभाव से

१ बच्चन—प्रारंभिक रचनाएँ, प्रथम भाग पृष्ठ २६
२ वही, पृष्ठ ११

होती-सी जा रही है, साथ ही प्रभु के महत्त्व और अपने लघुत्व की सजग अनुभूति भी उसमें है।

किन्तु शीघ्र ही काल्पनिक ईश्वरता पर से कवि का विश्वास डिगने लगता है। नैराश्य उसके व्यक्तित्व को अभिभूत करने लगता है आशा उसे जगा-जगाकर हार जाती है—

मुझे न उठता देख मुझे है
बार-बार भ्रम होता—
क्या मैं कोई मृत शरीर का
समझ रही हूँ सोता।[1]

'कीर के जीवन' में, समाज की रूढ़ियों में बंधे कवि के जीवन की प्रति ध्वनि स्पष्ट सुनाई पड़ती है—

तीलियों पर पर मार
हार बैठा लाचार,
पिंजड़े के तारों से निकली मानो वह झंकार
कहाँ बन-बन स्वच्छन्द विहार।[1]

वैयक्तिक विवशता के अतिरिक्त सामाजिक वैषम्य, भूख और प्यास की समस्या के प्रति भी बच्चन अत्यन्त जागरूक हैं। इस समस्या की प्रताड़ना का अनुभव करते हुए वह ऐसे मधुर-लोक की कल्पना करते हैं जहाँ—

और नींद में स्वप्न अनेक
देखेंगे ऐसे है लोक
एक नहीं है जिसमें शोक

भूख जहाँ पर नहीं सताती,
प्यास नहीं है तपने पाती,
जहाँ न मरण जन्म का नाम,
जहाँ नहीं जीवन संग्राम।।[2]

कोमल की कूक कवि को अधिक समय कल्पना के लोक में भ्रमित नहीं करा सकती। उसकी आवाज में वह अपने नग्न बुभुक्षित देश के लिए कोई मनोहर संदेश पाने की आशा करने लगता है—

कोकिल, पर यह तेरा राग
हमारे नग्न बुभुक्षित देश

---

१ २ बच्चन—प्रारम्भिक रचनाएँ, (प्रथम भाग), पृष्ठ २२
३ वही, पृष्ठ ३१

के लिए लाया क्या संदेश ?
साथ प्रकृति के बदलेगा इस दीन देश का भाग।[1]

पूँजीवादी समाज में जन की व्यथा से तड़पता हुआ बच्चन का कवि क्रन्दन कर उठता है—

देखा जाता जगत् अजीब
एक रहे ऊपर सौ गड़ते
बसता एक, हज़ार उजड़ते,
लघु झोपड़ियाँ दबतीं लाखों एक
महल की नीव।[2]

यदि बच्चन की विचारधारा का क्रम उसी दिशा में बहता रहता तो सम्भवतः वह अपने युग के अग्रगण्य जन कवि होते। किन्तु ऐसा न हुआ। प्रारम्भिक रचनाओं में ही अनायास हम उन्हें देशभक्ति और जन के प्रति सजग उदारता से विमुख होता हुआ अनुभव करते हैं। कुण्ठा उन्हें अधिकाधिक अन्तर्मुखी बनाती जा रही है। वह समाज निरपेक्ष होकर स्व के सुख-दुख में उलझने लगे हैं।

'प्रातःकाल कमल की कली खिलकर मधु लोभी भ्रमर को आकर्षित करती है। कुछ समय राग रंग में व्यतीत होता है किन्तु अन्त में कमल में बन्द होकर भ्रमर को तड़प तड़पकर मर जाना पड़ता है। इस दृश्य को देखकर कवि के मन में स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि विश्व के आकर्षण, क्या उसको फँसाने के लिए तो नहीं हैं ?—

इसीलिए सौन्दर्य देखकर
शंका यह उठती तत्काल—
कहीं फँसाने को तो मेरे
नहीं बिछाया जाता जाल ?[3]

किन्तु उसका समाधान भी तुरन्त ही वह ढूँढ़ लेता है—

ऐसी शंकाओं में फँसता
है क्या ? बतला मानव मंद।
हर सुन्दरता में तुझको
अनुभव करना था परमानन्द।
सुख-दुख क्या है ? हृदय भावना
जिसने है जैसा माना,
मधुकर ने अपने मरने को
था अनन्त सुखमय जाना।

१ बच्चन—प्रारम्भिक रचनाएँ (प्रथम भाग), पृष्ठ २६
२ वही पृष्ठ ७१
३ वही पृष्ठ १८

प्रत्येक सौन्दय म आनन्द अनुभव करने तथा सुख और दुख को हृदय की भावना हकर, सुख को भोगने की प्रवृत्ति भी कवि मे यही से प्रारम्भ हुई है। 'दुख मे' शीपक कविता म कवि का यही दशन प्रबलतर हो गया है।

पडी दुखो की तुझ पर मार ?
दुखो म सुख भरा जान तू,
रो रोकर मुख न कर म्लान तू,
हस, हँस, हलका हो जाएगा तेरे दुख का भार।[1]

वयक्तिक भूमि पर कवि विरह को (प्रिय के लिए तडपते रहने को) जीवन का अन्तिम लक्ष्य मानता है—

प्यार किसी को करना, लेकिन—
कहकर उसे बताना क्या ?
अपने को अपण करना पर—
औरो को अपनाना क्या ?

तथा—

देकर हृदय हृदय पाने की
आशा व्यथ लगाना क्या ?[2]

कवि के हृदय की यह कसक 'अपने का अपण करना पर, औरो को अपनाना क्या ?' तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियों का सहज प्रतिफलन थी। आधुनिक युग की नवीन और प्राचीन सस्कृतियो की विषमता म कवि का नवयुवक हृदय और सोच ही क्या सकता था ? युवक और युवती सहशिक्षा के मनोहर वातावरण म मधुर स्वप्न जगा सकते थे किन्तु उनके यथाथ रूप म परिणत होने की भावभूमि पर जातीयता और अध-विश्वास के राक्षस दात लगाये हुए थे। फलत एकातिक एकपक्षीय प्रेम के काल्पनिक आदश के इस सहज भुलावे के अतिरिक्त दूसरा उपाय ही क्या था ?

भक्तिकाल और रीतिकाल की परकीया अविवाहिताएँ, लुक छुप कर प्रिय से अभिसार करने की क्षमता रख सकती थी। कुछ तो आध्यात्मिकता के आवरण के साथ गवार या और कुछ चतुर नागरियो को दूतो की सहायता प्राप्त थी। परन्तु आधुनिक युग की अभिजात्य नवयुवती अविवाहिता की दशा विचित्र थी। एक ओर वह अपने सामाजिक उत्तरदायित्वो के प्रति सजग थी दूसरी ओर अपने प्रियतम से मिलने को स्वतत्र भी। परिस्थिति की विषमता म, हृदय अर्पित करके भी, प्रणय की सचेष्ट अभिव्यक्ति से वह दूर ही रहना चाहती थी। नवयुवक के विकल मन म प्रियतमा के इस 'दर्द' से एक अभूत-पूर्व टीस का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। विरह की यह अनुपम व्यथा बच्चन के इन शब्दो म मुखर हुई है—

१ २ बच्चन—प्रारम्भिक रचनाएँ, प्रथम भाग, पृष्ठ २९
३ वही, पृष्ठ ४२

प्रेम का यह अनुपम व्यवहार—
पास न मेरे हैं वे आते,
मुझे न अपने पास बुलाते,
दूर दूर से कहते हैं, करता हूँ तुमको प्यार।
आपदा के ऐसे आगार—
जहाँ किसी का हम छू देते,
घेर उसे दुख संकट लेते,
मिलकर तुमसे क्यों तुम पर भी डालूँ दुख का भार।[1]

किन्तु बच्चन का प्रेमी युवक, प्रियतमा के भौतिक अस्तित्व का विरह दुख झेलता हुआ भी मन से उससे सयुक्त है—

'तू है सुखी'—यही तो मेरे जीवन का आधार।
प्रेम का ही ताडूया तार—

इस युग के युवक में प्राप्ति की तीव्र इच्छा तो थी किन्तु समाज से विद्रोह करने का साहस नहीं था। अत वह जीवनभर भी विरही रहने में संतोष करना चाहता था। यही स्थिति किसी न किसी रूप में अब तक बनी हुई है। इस विरह वेदना को 'पूर्वराग' कहे या करुण विप्रलम्भ कुछ समझ में नहीं आता। पूर्वराग की अभिलाषा और करुण विप्रलम्भ की वियोग मिश्रित व्यथा दोनों ही इस भाव के अन्तर्हित विद्यमान रहती हैं फिर भी यह करुण विप्रलम्भ की अनन्त वेदना के ही अधिक समीप है।

विरह की इस इस व्यथा की दो स्वाभाविक प्रतिक्रियाएं कवि के मानस में हुई। एक ओर तो वह केवल एक दिवस के लिए अपनी प्रियतमा निशारानी से बिछुड़े हुए चन्द्रमा का मलिन मुख देखकर उदास हो जाता है।

निशारानी का विरह विषाद ?
शोक प्रकट क्या इतना करते,
छिपन जाते आह भरते,
मिलन प्रणयिनी से तो निश्चित एक दिवस के बाद।[2]

दूसरी ओर अपने मन के विरह में वह क्षणिक सुख को ही जीवन का सत्य समझ लेता है। 'यौवन सम्पन्न किसी मुग्ध क्षण के लिए ही सही हृदय का द्वार तो बनी।' क्या क्षणिक जीवन में इतना अटल सत्य कम महत्त्वपूर्ण है ?[3]

अनुभव की रगड़ से कवि का इष्टदेव 'स्वीकृति' का 'तण्डुल स्वीकार करने-वाला' भगवान् न रहकर प्रेम हो गया है—

'सब कहते भगवान प्रेम—प्रेम हम भगवान।[4]

१ बच्चन—प्रारम्भिक रचनाएँ, प्रथम भाग, पृष्ठ ४४ ४५
२ वही पृष्ठ ४७
३ वही, पृष्ठ ४६ ८७
४ वही, पृष्ठ ५१

उसमें भी प्रेम का आलम्बन, प्रियतमा, अंतिम दृष्ट—

नयन करो मत नीचे, प्राण।
शक्ति तुम्हीं हो मुझको देती,
तुम्हीं तेरी जीवन की खेती,
तुम्हीं जीव हो, प्राण हमारी—और तुम्हीं भगवान।[1]

प्रियपात्र का सब सुख-दुख अपना बना लेने की साध कवि की 'मधुर इच्छा मात्र' (wishful thinking) रह गई है क्योंकि समाज की रूढ़ियों का विरोध करने का साहस उसके पास नहीं है—

इच्छा थी तेरा दुख भार
मैं अपने ही ऊपर ले लूँ
सुख अपने सब तुमको दे दूँ,
पर तेरा दुख अल्प हटाने में भी हूँ लाचार।[2]

प्रेमियों की प्राचीन कहानियाँ जब वे एक-दूसरे के लिए मरते थे, उसके लिए सचमुच कहानियाँ हो गई। उनकी सत्यता पर उसे सन्देह होने लगता है—

सुन प्रेमियों के आख्यान—
घाव एक तन में लग जाता
रक्त धार दूसरा बहाता—
सच थे वे, थे या कवियों के बस काल्पनिक उड़ान?[3]

प्रेमी का यह वक्तव्य सुनकर उसका प्रियपात्र फूट फूटकर रो पड़ता है। उसके रोने में भी कुण्ठाजनित व्यथा की ध्वनि ही मिलती है जो स्वच्छन्द स्वाभाविक जीवन यापन में सामाजिक बाधा के कारण उत्पन्न हुई है—

हृदय हमारी सुन फटकार
फूट-फूटकर हो तुम रोने,
कहने को तो हो कुछ हाव
पर क्या रुक जाते? मैं सुनने को तो हूँ तैयार।[4]

बच्चन ने पीड़ा को इतने निकट से अनुभव करने का प्रयत्न किया है कि वह रात रात उन्मादी-सा हँसी हँसने लगा है।

आज के युग के तरुण प्रणयी की केवल एक मधुर इच्छा है जो पूर्वराग की अभिलाषा से बहुत भिन्न नहीं है। परम्परानिष्ठ रूप में वह विवाह में परिणित न होकर जीवन की अनन्त विरह-व्यथा बन जाती है—

---

१ बच्चन—प्रारम्भिक रचनाएँ, प्रथम भाग पृष्ठ ५१
२ वही, पृष्ठ ५७
३ वही, पृष्ठ ५८
४ वही, पृष्ठ ५६

मेरी शीतल छाया में
क्षण भर को ही तुम आती
मेरी डाली सी बाँहों
पर पल भर तुम झुक जाती।
बस एक सुमन ही मेरा
निज चरणों में रख लेती
बस एक बार ही मेरे
सिर हाथ फेर तुम देती।
हो बाग बाग मैं जाता,
सुख लाख लाख मैं पाता,
तुम बूँद मुझे दे देती
मुझको सागर हो जाता।[1]

प्रणय लालसा जब क्षण के मिलन के पश्चात् अनन्त वियोग बन जाती है तब केवल सुधियाँ मात्र शेष रह जाती हैं। वियोगी उन्हें याद करके उच्छवास भरा करता है किन्तु आशा नहीं छोड़ता। 'स्मृति', 'अभिलाषा' तथा 'आँसू' के भावों के आविर्भाव का 'बच्चन' ने सुन्दर वर्णन किया है—

प्रणय वृक्ष की मिलन डाल में
अनुपम और निराला
सुधियों के सुकुमार तार का
मैंने झूला डाला।
चिर वियोग का डाल पालना
उस पर इसे सुलाया,
उच्छ्वासों की पेंगें भर-भर
उसको नित्य झुलाया।
स्वप्निल आशाओं की लोरी
इसको नित्य सुनाई
हिचकी की दे देकर थपकी
इसकी नींद बुलाई।[2]

'प्रसाद' की भाँति 'बच्चन' का प्रणय भिखारी भी जग से कुछ पाने की आशा में निकला है किन्तु जीवन से प्राप्त निराशा का प्रभाव दोनों पर भिन्न भिन्न प्रकार का हुआ है। 'प्रसाद' के कवि ने भिखारी को समझाया था 'पागल रे वह मिलता है कब, उसको तो देते ही हैं सब।' किन्तु बच्चन का कवि व्यक्ति के प्रति इस कुत्सित संसार

१ बच्चन—'प्रारम्भिक रचनायें', भाग २ पृष्ठ ८६
२ वही पृष्ठ १०१

की अवहेलना के भाव का ध्यान उसे दिलाता है। जग से कुछ माँगने से तो अच्छा है कि वह स्वयं को ही मिटा दे—

भिखारी, कैसे तेरे गान ?
कौन क्षुधा ने तुझे सताया,
कौन पिपासा ने तड़पाया,
जो इस जग बस्ती में आया लेने भिक्षा दान ?

जगती क्या ले इन्हें करेगी
कहाँ पात्र जो इन्हें धरेगी
रचे गए हैं नहीं इन्हें सुनने वाले कान।

यहाँ क्या पाएगा नादान,
शान्त क्षुधा पर तेरी होगी
मान कहा यदि मेरा योगी
दे अपने को मिटा लुटाकर अपना जीवन-गान।[1]

छायावादियों के तथा निशा निमन्त्रण के कवि के जीवन-दर्शन में यही अन्तर है। एक अध्यात्म की सूक्ष्म कल्पना से जीवन-सम्बल प्राप्त करके जीने की प्रेरणा पाता है, दूसरा भौतिकता के भँवरों में ऊबता डूबता रहता है। निराशा के आधिक्य में विधाता के प्रति (यदि वह है तो) बच्चन का आक्रोश अत्यन्त कटु हो गया है—

हे जीवन उपवन के माली।
लगा इसे फिर कभी न माना
पितृ स्नेह न कभी न सींचा
मेरी आँखों में तू नीचा,
व्यर्थ पिता की पदवी पा ली।[2]

इन प्रारम्भिक रचनाओं के पश्चात कवि ने उमरखय्याम की रुबाइयों का अनुवाद किया। इसी के प्रभाव से उसके मन के नैराश्य को एक नवीन दिशा का मोड़ प्राप्त हुआ। एक ओर वह जैसा था है उसे वैसे ही स्वीकार करके 'अनन्त नशा' और 'क्षणिक तृप्ति' में आनन्द पाने की चेष्टा करने लगा—मधुशाला की भूमिका में बच्चन कहते हैं—'भूलना चाहिए सिन्धु की तृष्णा और बिन्दु से सन्ताप।'[3] दूसरी ओर दुनिया की भाँति अपने व्यक्तित्व के प्यार को प्रियतम की हाला से साकार करने का प्रयत्न करने लगा। ईश्वरीय प्रियतम स्वयं अपनी हाला ज्वार के माध्यम से पीकर मस्त हो रहा है—

---

१ बच्चन—'आरम्भिक रचनाएँ', भाग २, पृष्ठ ११६ १२०
२ वही
३ वही, मधुशाला, पृष्ठ १३

प्रियतम, तू मेरी हाला है,
मैं तेरा प्यासा प्याला,
अपने को मुझमें भरकर तू
बनता है पीने वाला,
मैं तुझको छक छलका करता
मस्त मुझे पी तू होता,
एक-दूसरे को हम दोनों
आज परस्पर मधुशाला।[1]

अनन्त अतृप्ति की प्यास को होठों में छिपाए धार्मिक आडम्बर और अंधविश्वासों से विरक्त व्यक्ति ही उस चरम सुख तक पहुँच सकता है जिसका संदेश 'बच्चन' की मधुशाला दे रही है—

अधरों की आतुरता में ही
जब आभासित हो प्याला,
बने ध्यान ही करते करते
जब साकी साकार, सखे
रहे न हाला, प्याला साकी
तुझे मिलेगी मधुशाला।[2]

...

धर्म ग्रंथ सब जला चुकी है
जिसके अंतर की ज्वाला,
मंदिर मस्जिद गिरजे सबको
तोड़ चुका जो मतवाला,
पंडित मोमिन, पादरियों के
फंदे को जो काट चुका,
कर सकती है आज उसी का
स्वागत मेरी मधुशाला।[3]

सूफियों की मधुशाला से बच्चन की मधुशाला तात्विक रूप में भिन्न है। सूफियों के दर्शन में भक्त स्वयं अपने अपार्थिव प्रिय की मधुशाला बन जाता है। यहाँ (बच्चन में) प्रारम्भ उसी रूप से होकर बाद में अन्तर हो गया है। व्यक्ति स्वयं, ईश्वर रूप पीने वाला होकर (यदि कोई ईश्वर है तो) जीवन की मधुशाला के उपयोग करने का आह्वान करता है—

१ बच्चन—मधुशाला, रुबाई ३
२ वही, रुबाई, ६ १७
३ वही, रुबाई १७

लालायित अधरों से जिसने
हाय, नहीं चूमी हाला,
हर्ष विकम्पित कर से जिसने
हा, न छुआ मधु का प्याला,
हाथ पकड़ लज्जित साकी का
पास नहीं जिसने खींचा
व्यर्थ सुखा डाली जीवन की
उसने मधुमय मधुशाला।[1]

वैयक्तिक सुख और तृप्ति इस युग के कवि के लिए दूर से प्रलोभित करती हुई पहेली रही है। वही बच्चन की मधुशाला बनकर उन्हें ललचा रही है, प्राप्त नहीं होती। कवि मरु-तृष्णा से विकल मृग-सा भटक रहा है—

जिस साकी के पीछे मैं था
दीवाना, न मिला साकी,
जिसके पीछे था मैं पागल
हा, न मिली वह मधुशाला।[2]

× ×

प्राप्य नहीं है, यदि तो क्या यह
लुप्त न हो जाती हाला,
प्राप्य नहीं है यदि तो क्यों यह
लुप्त न हो जाता प्याला,
दूर न इतनी हिम्मत हारूँ
पास न इतनी पा जाऊँ
व्यर्थ मुझे दौड़ाती मरु में
मृगजल बनकर मधुशाला।[3]

जीवन की गति को देखकर वह इसी निश्चय पर पहुँचा है कि भाग्य अत्यन्त प्रबल है। उसके सम्मुख व्यक्ति का कोई वश नहीं चलता—

मानव-बल के आगे निर्बल
भाग्य, सुना विद्यालय में,
भाग्य प्रबल, मानव निर्बल का
पाठ पढ़ाती मधुशाला।[1]

मानव की दुर्बलता और भाग्य की प्रबलता के सुघात से उत्पन्न हुई निराशा से,

१ बच्चन—मधुशाला, रुबाई १८
२ वही, रुबाई ६०-६५
३ वही, रुबाई ६७

बच्चन का 'मधुशाला' के बाद का सम्पूर्ण काव्य ओत प्रोत है। यद्यपि यह कहकर कवि स्वयं को भुलावे में डाले रखना चाहता है, कि—

उस प्याले से प्यार मुझे जो
दूर हथेली से प्याला।[1]

किन्तु सत्य यह है—

हाय, हमारी पीड़ा से है
क्रीडा करती मधुशाला ?[2]

'मधुशाला' के अन्त में कवि ने कहा भी है कि मधुशाला की साध उसने छोड़ दी है। इसीलिए वह अब उसके पीछे पीछे घूमती है किन्तु क्या वस्तुतः उसे वह 'तृप्ति' प्राप्त हुई है ? यदि यही सत्य था तो 'निशा निमन्त्रण' के घोर विषाद की क्या आवश्यकता थी ?

निशा के आगमन से पूर्व, संध्या जब समस्त वातावरण में सिंदूर लुटा रही था, तब कवि के कपोल पर ढुलके 'अश्रु' शोणित के सदृश लगने लगे—

उपहार हम भी मिलता है,
शृंगार हम भी मिलता है
आँसू की बूंद कपोलों पर शोणित की सी बन जाती है
संध्या सिंदूर लुटाती है।[3]

कवि का आतुर हृदय पक्षी शून्याकाश में व्यर्थ भटकता रहता है, नीड़ का पथ वह भूल गया है। वह नीड़ जिसमें प्राणी अनन्त सुख और शान्ति का अनुभव करता है—

अंतरिक्ष में आकुल आतुर
कभी इधर उड़, कभी उधर उड़
पथ नीड़ का खोज रहा है पिछड़ा पक्षी एक अकेला
बीत चली संध्या की वेला।[4]

जीवन शव' की सी जड़ता का अनुभव करने लगा है। प्रिय की प्रतीक्षा की वह पुरानी स्मृति अनन्त वेदना बन गई है—

आज पड़ा हूं मैं बनकर शव,
जीवन में जड़ता का अनुभव,
किसी प्रतीक्षा की स्मृति से ये पागल आंखें हैं पथराई
दीप अभी जलने दे भाई।

१ बच्चन—मधुशाला, रुबाई ९९
२ वही, रुबाई १०१,
३ वही निशा निमन्त्रण, कविता ४
४ वही, कविता ५

मन के सुख-दुख को जीवन के सत्य के रूप म वह स्वभावत ग्रहण करने लगा है, उसके निराकरण की भी कोई आवश्यकता नही समझता। 'दुबल मानव' कहलान म वह पूण सन्तुष्ट है—

सोचा करता बठ अकेले
गत जीवन के सुख-दुख झल
दशनकारी स्मतिया से मैं उर के छाल सहलाता हूँ
एस मैं मन बहलाता हूँ।
× ×
आह निकल मुख से जाती है
मानव की ही तो छाती है,
लाज नही मुझको दवा म यदि मैं दुबल कहलाता हूँ
एसे मैं मन बहलाता हूँ।[1]

कुण्ठित व्यथित व्यक्ति के जीवन की मरण दशा का वणन भी बच्चन न इस किया है—

शूय प्रतीक्षा म है मरी
गिनती के क्षण की है दरी,
अधकार म समा जाएगा समति का सब खेल तमाशा
फिर भी जीवन की अभिलाषा।[2]

'फिर भी जीवन का अभिलाषा' ही एसा तत्व है जो बच्चन की निराशा म प्राण फूकता हुआ भी उस अधिक वदनामय बना दता है। 'निशा निमन्त्रण' के बाद की रचनाओं 'एकान्त सगीत', 'आकुल अन्तर' और 'सतरगिनी' के गीता म आशा निराशा की यही आंख मिचौनी चलती रही है। विधाता के प्रति दन्द मोर्चे का भाव अब भी पहले जसा ही ज्यो का त्यो बना हुआ है—

फिर भी बल सचित करता हूँ,
मन म दम-साहस भरता हूँ
जिसम न आह निकल मुख से जब हो तरा अन्तिम प्रहार।
अब क्या होगा मरा सुधार।[3]

सक्षेप म बच्चन की विरहानुभूति क स्वाभाविक विकास की रूपरेखा इस प्रकार बनाई जा सकती है। कवि प्राचीन और नवीन की सीमा रेखा पर खड़ा था। पुरातन के रूढ़ि धम और अधविश्वास उसे प्रिय न थे किन्तु दूसरी ओर भौतिकता ने शा— होता हुआ भी वह उसे जीवन के सहज सत्य के रूप मे स्वीकार कर पा—

1 बच्चन—निशा निमन्त्रण, कविता ६८
2 वही, कविता ८६
3 वही, एकान्त सगीत, गीत ८३

पुरातन और नवीन किसी का भी आधार उसे प्राप्त न होने से उसके जीवन में कुण्ठा स्वाभाविक थी। वैयक्तिक स्तर पर प्रियतमा से स्वच्छन्द मिलन और उसको अपना बनाने की करुण लालसा उसमें भी थी किन्तु परिस्थिति की प्रतिकूलता से वह भी उसे अप्राप्य थी। 'खाओ पियो और मग्न रहो' की पुकार में उसने इस समस्या का निदान ढूंढने का प्रयत्न किया किन्तु असफल रहा क्योंकि भौतिक सत्य से ऊपर के सूक्ष्म जीवन मूल्यों को उसने पूरी तरह त्यागा नहीं था अतः 'मग्न रहो' की पुकार भी 'दग्ध उर' की पुकार ही रही और अब तक उसी स्थिति में है।

नरेन्द्र शर्मा

आधुनिक युग की सामाजिक परिस्थिति का विश्लेषण करते हुए हमने देखा है कि इस युग में प्रेमी की व्यथा का मूल कारण हैं समाज की रूढ़ियाँ। शिक्षित समाज के स्वच्छन्द वातावरण में युवक युवतियों के मध्य सुनहले स्वप्न जगाने के उपकरण तो हैं किन्तु उस स्वप्न को यथार्थ में परिणत करने के स्वस्थ परिवेशन का अभाव है। इस परिस्थिति से प्रेमी युग्म युवक और युवती दोनों के जीवन में नई विषमता व्याप्त हो गई है। एक ओर युवती के अभिभावकों ने उसको सजग कर करके बताया है कि 'रूप रस के लोभी मित्र युवक, भ्रमर हैं, सच्चे संगी-साथी नहीं' अतः वह सच्ची भक्ति को भी ठुकरा देती है। भक्ति को अर्पित करने वाला युवक मन मारकर रह जाता है।' नरेन्द्र के शब्दों में—

दी मैंने उसको भक्ति और वह काँप गई !
जब दिया अमित विश्वास थकी सी हाँफ गई ?
क्या भार वहन के श्रम से ?—ना।
मन में यह भय सच्चा भय था—
मैं क्षुद्रपात्र, खिलवाड़ बनूँगी अब कैसे औरों की ?
खिलवाड़ बनूँगी उच्छृंखल, रस लोभी भौंरों की ?
मैं गया पास विनयानत, वह हट दूर गई।
सर्वस्व दिया तो कहा—'नहीं यह रीति नई।'[१]

बातचीत की इस शैली से नरेन्द्र शर्मा ने उस परिस्थिति को अत्यन्त सजीव बना दिया है। प्रणय की याचना के इस प्रकार अस्वीकृत हो जाने में युवक प्रेमी के मन में अपूर्व क्षोभ का उत्पन्न होना स्वाभाविक ही है।

इसी के समकक्ष एक दूसरी परिस्थिति है जब कोई युवती अल्हड़पन में याचक प्रेमी युवक का आत्म समर्पण कर देती है। यदि दुर्भाग्य से वह किसी ग़लत युवक का चुनाव करती है जो उपभोग तो करना चाहता था किन्तु उत्तरदायित्व सम्भालना नहीं तो परिस्थिति अत्यन्त कठिन हो जाती है। आज के जागृत, बुद्धिवादी युग में जब नैतिकता और धर्म

[१] श्री नरेन्द्र शर्मा—मिट्टी और फूल, गान भक्तिभात, पृष्ठ ४६

सकता है 'मैने तो तुम्हे
का न काई भय है, न मूल्य पुरुष। वडो सरलता से स्त्री से कह
निकटतम मित्र ही समझा था।' तब उस स्त्री के जीवन मे 'मधुहार' के अतिरिक्त और
क्या अवशेष रह जाता है? नरेन्द्र शर्मा ने इस भाव को अत्यत व्यग्यपूर्ण शब्दो म इस
तरह व्यक्त किया है—

हो एक, एक क्षण को केवल
थे मिले, प्रणय के चपल श्वास,
भोली हो समझ लिया तुमने
सब दिन को अब गुथ गए पाश
स्वच्छद सदा मैं मारुत सा, वश म तुम व स कर लोगी?

जीवन भर कभी न भूलूगा
उपहार तुम्हारे वे मधुमय
वह प्रथम मिलन का प्रिय चुम्बन
यह मधुहार अब विदा समय।
तुम भी बोला क्या दूं रानी! सुधि जागी या सपने लोगी?[1]

यदि प्रेम उभय-पक्षी है तब भी माग म रूढियां बाधक है। दोनो विरहियो के साथ
भाव-तादात्म्य और समवेदना व्यक्त करने वाले उपकरण भी कवि ने अभूतपूर्व प्रस्तुत
किए हैं—

आज की भीषण दुपहरी मे सहम कर
सो रहा होगा सकल ससार, कवल
जागती होगी तुम्ही या बाहर फैला
विकल होगा सामने का वक्ष पीपल।
देख चलदल के चमकते पत्र कम्पित,
व्यथ भर लाना न लोचन।

फिर धधक बुझ जाय जब दिन की चिता भी,
अस्थि फूलो से खिल जब शून्य नभ म दु-तारक,
देख पाओगी कदाचित् तब, किसी आतुर हृदय सा,
अश्रु कम्पित सा नयन म, व्योम म उल्का न चुपक
ध्यान कर तब किसी मिलनातुर पथिक का व्यथ
भर लाना न लोचन।[2]

—एक प्रेमी हृदय हो विरह की म

स्त्री

१२, पृष्ठ १४

१ श्री नरेन्द्र शर्मा
२ वही, गज ५, पृष्ठ

जीवन पर्यन्त जिन प्रेमियों का कभी न मिलने का अभिशाप समाज के दुर्वासा से प्राप्त हुआ हो, उनकी वियोग व्यथा का विरह की किस श्रेणी में रखा जाएगा ? क्या करुण विप्रलम्भ में नहीं जहाँ जन्मान्तर में भी विरही, प्रिय से सशरीर मिलने को आतुर रहता है ? नरेन्द्र के युवक कवि पुरुष ने उसी विरह वेदना के अगणित गीत गाए हैं, उसकी विविध परिस्थितियों में मन की विवशता का अंकन किया है। मन की आशा निराशा, में डूबते डूबते रहकर भी उसका उन्होंने ढाढस बंधाने का प्रयत्न किया है, प्रियतमा मिलन की साध बराबर हृदय में विद्यमान है और उसकी आतुरता मन को निरन्तर कचोटती रही है। निरवधि विरह की चिर वेदना को भी विरही इसीलिए सहर्ष झेलता रहता है क्योंकि उसके साथ प्रियपात्र की सुधि विद्यमान रहती है। विरह की जलन प्रिय की सुधि से मधुर हो जाती है।—

क्यों न जाने प्रश्न प्रतिक्षण
पूछता है हृदय रह रह,
'जल रहे हैं प्राण तेरे
या प्रिया की मधुर सुधि यह ?
किन्तु अपनी आग को मैं सुधि समझ कर जल रहा हूँ !'[1]

सन्ध्या काल में शशि के म्लान मुख को देखकर प्रियतमा के उदास चेहरे की याद आ जाना स्वाभाविक ही है। किन्तु उसके साथ प्रेमी मन पर जो उदासी छा जाती है उसका निरूपण इन शब्दों में 'अस्त रवि सी हो गई क्या थान्त म्लान विलुप्त आशा' करके नरेन्द्र शर्मा ने उस भाव की मार्मिकता को बहुत गाढ़ा कर दिया।

अस्त रवि सी हो गई क्या थान्त म्लान विलुप्त आशा ?
क्या अभी से साथ कल की नींद कम मन में निराशा ?
क्या उदित शशि म्लान मुख का देख मन छाई उदासी ?
विरह विधुरा शशिप्रिया की याद आई क्या प्रवासी ?[2]

ऐसे ही एक और सन्ध्या में, जब लजीली माधवी, घूंघट खोलकर थान्त जग को सुलाती है तब व्याकुल विरही को अपनी शालीन प्रियतमा की याद सताने लगती है। नभ के अगणित दीपों को लेकर वह निशा के एकाकीपन में अपनी प्रियतमा को ढूँढने लगता है—

खोल घूंघट साँझ होते ही लजीली माधवी जब
थान्त जग को सुला देती है पिला निज श्वास सौरभ,
उमड़ती है सुधि तुम्हारी, प्राण तब मेरे हृदय में,
मिलविधा में मधु में, निश्वास में, फिर गीत लय में

---

१ श्री नरेन्द्र शर्मा—प्रवासी के गीत (चतुर्थ संस्करण), गीत ११, पृष्ठ ३०
२ वही गीत १ पृष्ठ १३

> खोजता हूँ तुम्हें नभ के दीप ले निशि जागरण में।
> आह! कैसे कर सकूँगा, प्रिय तुम्हारा विस्मरण मैं?[1]

'स्मृति' संचारी से सिसकी, अश्रु, उच्छ्वास और गीतलय के अनुभावों का क्रमशः उदय होना अत्यन्त सुन्दर है।

चाँदनी रात्रि 'विरह की सुधि' में उद्दीपनकारी समझी जाती है। उद्दीपन का यह भाव परम्परागत ही है किन्तु इसी भाव को नरेन्द्र शर्मा ने नवीन रूप में प्रस्तुत किया है, उनके भावरूपी 'खग' चाँदनी को दिन समझकर जाग जाते हैं—

> आज उज्ज्वल चाँदनी का दिन समझ कर
> सो नहीं पाते विकल खग।
> प्राण जैसे स्वप्न को ही सच समझकर
> नींद से हूँ मैं गया जग।[2]

व्याकुल भावों की विकल खगों के रूप में कल्पना अभूतपूर्व है। प्रातःकाल के उदय पर खगों के समन्वित रूप से अस्पष्ट चहचहाने का भाव, हृदय के गहनतम गह्वर से अनायास उठकर कुलबुलाने वाले भावों से कितना मिलता जुलता है। रूपक अत्यन्त सजीव है।

उस विवश अवस्था में विरही स्वयं को अत्यंत असहाय अनुभव करने लगता है। मन प्रियपात्र को अपने समीप पाने को आकुल हो उठता है—

> आज ऐसी चाँदनी में प्राण यदि तुम साथ होती
> जड़ धरा पर शशि-कलाएँ रिल सहज साकार होती।
> आह! होती साथ यदि तुम चाँद या सिर पर न चढ़ना,
> शून्य की सोलह कलाएँ दासियों बन पास होती।[3]

यहाँ सिर पर चढ़ना मुहावरा बहुत सुन्दर रूप में प्रयुक्त हुआ है। चाँद के विषय में नरेन्द्र के विरही की यह एकदम नवीन कल्पना है।

आधुनिक परिस्थितियों ने प्रेमी युग्म को आजीवन एक-दूसरे के लिए तड़पने को बाध्य किया है। चिर प्रतीक्षा ही विरही का एकमात्र सहारा रह जाती है—

> प्रिय जाने कब आओगी तुम?
> निशि दिन नित बाट जोह व्याकुल, हो जाएँ न जीवन से निराश,
> सुन पाएँ न यदि लघु चरण-चाप, मुरझा न जायँ होकर हताश—
> ये मेरे कोमल भाव कुसुम
> प्रिय जाने कब आओगी तुम?[4]

---

१ श्री नरेन्द्र शर्मा—प्रवासी के गीत, गीत ७ पृष्ठ २४
२ वही, गीत ८ पृष्ठ २६
३ वही, गीत १८ पृष्ठ ४२
४ वही, गीत २२, पृष्ठ ४

जाने कब आओगे में प्रतीक्षा की अनन्त व्यथा का भाव निहित है। विरह-ज्वलन से जलते हुए मस्तक और जर्जर रुग्ण-व्यथा को प्रियतम केवल एक बार अपने हाथों से सहला जाय यही मधुर कामना विरही की रहती है—

वह कितना सुन्दर सपना हो!
जो आकर मेरे सिरहाने
तुम जलता मस्तक सहला दो
घण्टों बैठो यों पास, प्राण
फिर ज्वर से जब सहसा कराह,
तुमको पुकार आंख भर लूं
व्रीडा से आनत मुख, आंचल
से अश्रु पोंछ पीड़ा हर लो
वह कितना सुन्दर सपना हो।[1]

'व्रीडा से झुके हुए मुख पर बहते हुए अश्रुओं से दूसरे पक्ष की व्यथा की सूचना भी मिलती है। इन दोनों के मध्य वियोग की पीड़ा का कारण हैं रूढ़ियां। सामाजिक रूढ़ियों को नरेन्द्र शर्मा ने 'पत्थर की दीवारें' कहा है। सामाजिक नीतिपाश में बंधा हुआ यह विरही मर भी नहीं सकता क्योंकि बुद्धि ने उसे बताया है कि आत्महत्या पाप है, 'श्वासें हथकड़ियां बन जाती हैं और रातें कारागार के सदृश भयावह'—

रानी याद तुम्हारी आई,
आई याद प्यार की बातें
सांसें बनी विषम हथकड़ियां
कारागार बन गई रातें।

दो फूलों के बीच खिंची हैं
पत्थर की दीवारें रानी।
सहनी पड़ती है प्राणी को
बधिर बधिक विधि की मनमानी।[2]

विधाता के प्रति विद्रोह का भाव अत्यन्त कटु रूप में 'बधिर बधिक' शब्दों में मुखर हुआ है। विधाता सशक्त है अतः उसका सामना तो नहीं किया जा सकता किन्तु उसकी योजना में बलपूर्वक सघर्ष करके उसको नीचा तो दिखाया ही जा सकता है—

किन्तु नहीं स्वीकार पराजय
यदि समय है सब सह लेगा

१ आ नरे न्द्र…—प्रवासी के गीत गीत २६ पृष्ठ ५०
२ वही गीत १२, पृष्ठ ३२

वह अपना स्वामी, मधु अभय,
सुधि को ता विधि छीन न लगा।[1]

कभी-कभी उसे लगता है कि नीतिपाश में बँधे हुए भावुक के हृदय के सब बाँध टूट पड़ेंगे और तब समाज की सब रीति-नीतियाँ उस प्रलय में ढह जाएँगी—

रोको अपनी अश्रुधार अब
अब टूटे सब बाँध हृदय के
रुद्र रूप धर उमड़ पड़ेंगे
फिर न रुकेंगे सिन्धु प्रलय के
क्या समस्त संसार डुबाने भर भर लाता हो युग लोचन ?[2]

किन्तु आज का भावुक युवक उन रूढ़ियों का वास्तव में विरोध करने में समर्थ नहीं है, यह केवल उसकी इच्छा मात्र है। तभी तो नरेन्द्र का विवश विरही फूट पड़ता है—

आज मैं गति रुद्ध हूँ।
मिला सीमाहीन अन्तर खिंची सौ मरजाद बाहर।
कठघरे में बन्द क्रोधी से पिटा है हृदय नाहर॥
पर्वतों से मथ फेनिल सिन्धु सा विक्षुब्ध हूँ,
धँस रहा हूँ रसातल में, फँसा बाड़व की भँवर में।
और आहत अहं अहि सा पैठता गहर विवर में॥[3]

जाग्रत 'अहं' में सन्निविष्ट और रूढ़ियों के बीच बन्दी युवक की वेदना का, पर्वतों से मथित क्षुब्ध सागर से साम्य बहुत सुन्दर बन पड़ा है।

इस युग से पूर्व कवि ने पार्थिव का अपार्थिव के रूप में उन्नयन करके अपनी पीड़ा पर अलौकिकता का आवरण डाला था। किन्तु इस युग में, प्रियपात्र की पार्थिवता को पूर्णरूप से सुरक्षित करते हुए उसमें ही अतीन्द्रिय अलौकिक गुणों का समावेश कराया गया है और इस तरह पार्थिव को ही उज्ज्वलता प्रदान की गई है—

इन्द्रियों के ज्ञान से, अन्तःकरण के ध्यान से भी
हो परे तुम कल्पना के व्योम से, अनुमान से भी,
देवि, यद्यपि दृश्य हो तुम, देह भी धारण किए हो,
नाम, गुण औ रूप से सम्बन्ध बन्धन से परे हो॥[4]

विरही 'उद्विग्न' अवस्था में जीवन के सभी सुखों से पराङ्मुख होकर केवल प्रिय का दर्शन करना चाहता है केवल उन्हीं की बात सुनना चाहता है। गुण श्रवण'

१ श्री नरेन्द्र शर्मा—प्रवासी के गीत, गीत १२, पृष्ठ ३२
२ वही, गीत ६, पृष्ठ २७
३ वही, मिट्टी और फूल, गीत १६, पृष्ठ ५२
४ वही, प्रवासी के गीत, गीत २४, पृष्ठ २४

की अभिलाषा से सयुक्त उद्वग' दशा का वणन नरेन्द्र ने इस तरह किया है—

चाहता हूँ चित्र प्रिय का सदा सम्मुख ही रहे।
बैठ कोई पास मर प्रेम की गाथा कहे।
चाहता हू हर घडी हर साँस मे प्रिय नाम लू
ध्यान म अपनी प्रिया के मैं सदा डूबा रहूँ।[1]

युग युग से विरही की यही चाह रही है किन्तु आज के बुद्धियुक्त वियोगी का हृदय, अपने आश्रय के पागलपन का मजाक उडाता है, उपहास करता है—

पर हृदय उपहास कर कहता, 'यही क्या साधना ?'

इस विरही के प्राणों के व्याकुल चातक दृग्जल पीकर जीवित रहते हैं। प्राण और दृगजल का यह सम्बन्ध कवि की नई सूझ है। विरही की 'अश्रु' दशा को वह अधिक मार्मिकता प्रदान कर रही है—

उर म बसी व्यथा धधकती
जिसे बुझाने नयन बरसते
व क्या प्राणों के आकुल चातक
दृगजल बिन दिन रन तरसते
कसी प्यास ! बुझाने जिसको भर भर लाती हो लोचन।[2]

उन्मादी होकर विरही वायु स शान्ति का पता पूछने लगता है—

क्या जगत म भ्रान्ति ही है ?
एक दिन पूछा विचरती वायु से मैंने, कहो क्या
शान्ति भी है ?"

उन्मादी वियोगी का प्रश्न जितना मर्मस्पर्शी है वायु का उत्तर भी उससे कम हृदयहारी नहीं। वायु स्वय शान्ति की खोज म भटकती घूम रही है ससार के सब प्राणी घूम रहे हैं, वह बचारी क्या बताती ?

गीत भरा सुन, स्वयम् सगीतमय हो वायु कहती,
'है न जान कौन-सा कोना जहाँ, कवि शान्ति रहती ?
किन्तु जाऊ देख आऊँ
क्या कहीं कुछ शान्ति भी है ?
क्या जगत म भ्रान्ति ही है ?'

'किन्तु जाऊ देख आऊँ जसी मुहबोली सी रचना ही व्यथित को मिलती है। कोई भी ससार म उसकी व्यथा का दूर करने म समर्थ नहीं है, सब स्वय जो व्यथित हैं।

---

१ श्री नरेन्द्र शर्मा—प्रवासी के गीत गीत ३०, पृष्ठ ५४
२ वही, गीत ६, पृष्ठ २०
३ वही, गीत ३३, पृष्ठ ...

विरह व्यथा म 'जडता के भाव का वणन नरेन्द्र शर्मा ने इस तरह किया है—

जग वही है किन्तु मैं ही
क्या न जान हो गया हू ?
हाँ कदाचित खो किसी को
मैं स्वय भी खो गया हूँ।
क्या इसी स वेदना भा उमड उर म अब न पहला ज्वार लाती ?[१]

यह जडता, देह की जडता नहीं हृदय की जडता है। हृदय की इस विवशता म उन्मादी होकर हँसने का भाव वियोगी की व्यथा को तीव्रता प्रदान करता है। 'दुवल हृदय' से सयुक्त आज के 'मानवीय कवि की उन्मुक्त हमी के रहस्य को नरेन्द्र का विरही ऐसे व्यक्त करता है—

जानता हूँ, जो रहा हूँ
द न जग इसका उलाहना,
हस रहा हूँ भूलकर अब
मौन हो चुपचाप सहना
यदि न हसता, किस तरह उसको भुलाता और
विस्मृति भी न आती ?[२]

इस कविता म मिलन की आशा के मिटने के साथ, आज तो सबकी तरह हँस बालकर ' कहकर जो भाव नरेन्द्रजी न व्यक्त किया है वह अनुपम है—

हो मिलन की आश जिसको
वह विरह का वश धारे,
किन्तु मरी आश के सग
मिट गए हैं क्लेश सारे !
आज तो सबकी तरह हस-बोलकर दिन काटता हूँ,
सुधि न आती ।।[३]

यदि मिलन की 'आश मिट गई थी तो 'आज तो की मार्मिक व्यथा के व्यक्तिकरण की क्या आवश्यकता थी ? 'तो की प्रत्यय ध्वनि म हृदय की सम्पूर्ण वेदना कवि ने निहित कर दी है।

विरह की इस निस्सीम अवधि म जब प्रिय की प्राप्ति का कोई आभास होने लगता है तो वह अपने मन को समझाता है—

पागल ! क्या फिर से जोड रहे
हो आशा छलना म नाता ?

---

१ श्री नरेन्द्र शर्मा—प्रवासी के गीत, गीत १३, पृष्ठ ३३
२ वही, गीत १३, पृष्ठ ३३
३ वही, पृष्ठ ३४

यदि यह सपना भी सच न हुआ
फिर भी तो जीना होगा ही।[1]

सब प्रकार से हताश होकर भी आज का विरही जीने को बाध्य है। वह बुद्धि-सम्पन्न है अत मन को सब तरह से हारा हुआ जानकर भी 'आत्म हत्या' नहीं कर सकता। क्योंकि वह जानता है कि मन का जीवन ही सम्पूर्ण जीवन नहीं है। मन और बुद्धि के इस सघर्षण ने अत्यन्त कटु नैराश्य से उसके व्यक्तित्व को अभिभूत कर लिया है। मन से वह कहता है—

तुम पर, अपने पर ही न हुआ
तो होगा मेरा किस पर वश ?
क्या होगा यदि हूँ भी हताश ?
क्या हू सांसो से भी न विवश ?
यदि मौत न आई अब के भी,
फिर भी तो जीना होगा ही।[2]
× × ×
आज शान्ति से मरने का भी
क्या मेरा अधिकार छिन गया ?
मेरी अनुमति लिए बिना विधि
किस विधि मेरे श्वास गिन गया ?
मैं न बुलाता जिन्हें, बुलाये बिना श्वास
आते जाते क्यो ?[3]

कवि उस जन्म मे प्रियतमा से मिलन होगा, इस साध को हृदय मे सजोये हुए है। देशकाल की सीमा को लाँघकर जब प्रेमी युग्म मिलेंगे तब वह इस जीवन की लोक-लज्जा के आवरण को उठाकर फेंक देंगे। विरही की आशा कितनी पवित्र और लगन कितनी दृढ़ है—

मिल गए उस जन्म मे सयोगवश यदि
क्या मुझे पहचान लोगी ?
× × ×
कहो क्या इस जन्म की सब लोक लज्जा
प्राण मेरे हित वहाँ तुम त्याग दोगी ?
जब विरह के युग बिता युग प्रेमियो के उर मिलेंगे
कौन जाने कल्प कितने बाहु-बधन मे बँधेंगे ?
× × ×

१ श्री नरेन्द्र शर्मा—प्रवासी के गीत, गीत १६
२ वही, गीत १६
३ वही, गीत ४१

प्रलय होगी, सिन्धु उमड़ेंगे हृदय में
चेत होगा फिर नई जब सृष्टि होगी।[1]

इस जीवन में भी नरेन्द्र शर्मा का विरही निराशा और दुख का अन्तिम सोपान बनाना नहीं चाहता। प्रियपात्र से वह कहता है—

यदि करना ही विषपान मुझे
कल्याण रूप हूँ शिव समान—
दो प्राण यही वरदान मुझे।

किन्तु जैसा कि उसने स्वयं इस पुस्तिका की भूमिका में कहा है 'प्रवासी के गीत' का कवि आज भी मरघट का पीपल तरु है। उसके जीवन की गति आज भी 'हृदय की कायरता और मन की छलना के सहारे चलती है। वह मुक्ति का मार्ग जानता है लेकिन फिर भी अपनी बेबसी का गुलाम है।'[3] वह आशा निराशा की छलना में बहता रहा है। 'मरण' के समय प्रियपात्र उसके समीप आ जाय यही अभिलाषा उसके मन में है—

यदि उधर आना हुआ तो देख लोगी।
स्नेह इसका चुक चुकेगा और दीपक बुझ चुकेगा।
× × ×
तुम्हीं सोचो क्या तुम्हारे लौटने तक
धुएँ के दो चार धब्बों के सिवा कुछ भी बचेगा?[4]

नरेन्द्र शर्मा का यह भाव महाकवि ग़ालिब के भावों की प्रतिध्वनि-सा लगता है, 'ख़ाक हो जाएँगे हम उनको ख़बर होने तक।'

'पलाशवन' के प्रारम्भ में नरेन्द्र शर्मा, 'प्रवासी के गीत' की भाँति एकान्त निराशावादी प्रेमी नहीं हैं। कवि धीरे धीरे लोक जीवन के अधिक समीप आने की चेष्टा कर रहा है। वसन्त के प्रफुल्लित पलाशवन के मादक वातावरण में एक प्रवासी प्रियतम अपनी प्रियतमा की कल्पना करता है—

कौन देश से आवेंगे पिय?
हम हँस कहती होंगी सखियाँ
घर तुम्हें आँगन में बैठी
आमी चोर उछाल बिजलियाँ
तुम्हें खीझ फिर क्यों हँसी बरबस आ जाती होगी।[5]

---

१ श्री नरेन्द्र शर्मा—प्रवासी के गीत, गीत १०
२ वही, गीत ३२
३ वही, प्रवासी के गीत की भूमिका पृष्ठ ६
४ वही, प्रवासी के गीत, गीत ५०
५ वही, पलाशवन (नदी खंड), पृष्ठ ३

यह गीत लोक जीवन के अत्यंत निकट है।

पलाशवन की 'आत्मपरिचय' शीर्षक कविता में 'ममता' के परिचय के मिस, कवि ने विरही के 'पूर्वराग' की 'अभिलाषा' को अंकित किया है। प्रियतमा के हित वह 'निशिगंधा के पुष्प' और 'शूल' से लेकर 'पथ की रज तक' बन जाने को आकुल है—

ये भ्रमरावलि सी वेणी में बँध जाने को लालायित जो
सुरभित मेरा ही स्नेह, सुमुखि, निशिगंधा के उन फूलों में,
साड़ी का पल्ला थाम तुम्हें जो बरबस खींच लिया करते,
मेरी ही तो उर आकांक्षा हो उठी छोट उन शूलों में।
× × ×
मैं निशिगंधा का फूल नहीं, हँसमुख गुलाब का शूल नहीं,
पद पंकज का परिमल बनती जो पथ की रज,
मैं वह ममता।[1]

'चाँदनी में भ्रम' कविता में कवि चाँदनी का प्रिया से साम्य, प्रणय के उन्माद व्यापार और उसकी मान-मनुहार का मनोरम चित्र प्रस्तुत करता है—

बात वह करती न, सोने भी न देती
मुसकराते मौन वाली चाँदनी
× × ×
पास से जाती, न मन से दूर जाती,
है न क्या मेरी प्रिया सी चाँदनी?
विकल जल सा रात भर मुझको जगाकर
पास आ पागल बनाती चाँदनी।[2]

चाँदनी रात विरही के लिए परम्परा से उद्दीपनकारी समझी जाती है। उपर्युक्त कविता उसी उद्दीपन के निरूपण का मौलिक ढंग है।

'आत्म समर्पण' कविता में प्रेमी के आत्म समर्पण को व्यक्त करने के लिए कवि ने नवीन उपमानों की संयोजना की है—

सौ टूक हो गया चाँद
टूट लहरों पर,
हो गया हृदय जैसे
तुम पर न्योछावर।
जस जुगनू बनता चन्द्रहास
ज्यों जल पर,

१ श्री नरेन्द्र शर्मा—पलाशवन (आत्म परिचय), पृष्ठ ६
२ वही, पलाशवन (चाँदनी में भ्रम) पृष्ठ ८

उड़ गया प्राण सो भावी
मैं मम अन्तर।[1]

प्रियतमा की भाव-लहरियों पर हृदय के चाँद का सुध बुध खोकर उनसे एक रूप हो जाना सचमुच बहुत सुन्दर कल्पना है। 'चन्द्रहास' के 'जल-जुगनू' बनाने के भाव में भी उज्ज्वलता और निर्मलता के साथ आर्द्रता का भाव निहित है।

यदि नरेन्द्र की भाव धारा उसी क्षेत्र में बहती रहती जिसमें पलाशवन के प्रारम्भ में वह रही थी तो सम्भवतः विरही के भावों को व्यक्त करने के बड़े सुन्दर नवीन उपमान काव्य के क्षेत्र में आते। किन्तु पलाशवन की 'माया दीपक' कविता में नरेन्द्र के विरही का झुकाव फिर से अत्यन्त व्यक्तिनिष्ठ और हृदयगत होने लगा। हृदय की उस गम्भीर वेदना के अतल में कल्पना के नवीन उपमान धीरे धीरे लुप्त होने लगे। साथी में चन्द्रमा के उद्दीपनकारी प्रभाव को व्यक्त करते हुए कवि कहता है—

पीले गुलाब सा लगता था
हलके रंग का हल्दिया चाँद।
साथी था, फिर भी मन न हुआ
हलका हो गया भार दूना।
वह भी बेचारा एकाकी
उसका भी जीवन पथ सूना।
क्या कहते, दोनों ही चुप थे,
अपनी अपनी चुप सहते थे।।[2]

वह कहता है कि पतझड़ में उजड़े हुए नीम पर पुनः वसन्त आ गया और कोकिला ने अपने राग से उसमें जीवन की स्पन्दना भी फूंक दी, किन्तु उसके एकाकी जीवन का वसन्त एक बार जाकर फिर कभी न लौटा—

देखता हूँ दूर बैठा
नीम की मंजरित डाली,
वायु जिससे खेलती, पिक ने
जिसे अपनी बना ली,
तू अकेला है अकेला कहा सुबह हर सुबह हर शाम ने।[3]

अपने 'व्यक्ति' पर निराशा के इस अंधकार को घिरता देखकर कवि उसे आशा दिलाने का प्रयत्न करता है—

ऐसा क्या हो गया तुम्हें जो
सोया भाग न फिर से जागे?

---

१ श्री नरेन्द्र शर्मा—पलाशवन (अपनी सलवटें), पृष्ठ १०
२ वही, पलाशवन (साथी), पृष्ठ १५
३ वही, पलाशवन (आँगन का नीम), पृष्ठ १७

ऐसा क्या खो गया तुम्हारा
सब जग सूना जिसके आगे ?[1]

मन को समझाते हुए वह कहता है विराट जीवन के अनन्त सुख-दुख में, व्यक्ति का दुख ऐसा ही है जैसे चींटी की आँखों से जलकण में महाप्रलय को देखना। वैयक्तिक दुख की क्षुद्रता की यह व्यंजना अत्यन्त मार्मिक और सजीव है। 'अहं' की सीमित परिधि में घिरे हुए मनुष्य का अपने सुख दुख को बढ़ाकर देखना क्या इससे कुछ भिन्न है ?—

जब इतना तक सहता चलता
मृत्युग्रास बनने तक जीवन,
तो इतने से दुख के कारण
काँप उठे तुम क्यों मेरे मन ?
चींटी की आँखों से देखी
तुमने महाप्रलय जलकण में,
की अनन्त की विशद कल्पना
तुमने अचिर क्षुद्रतम क्षण में।[2]

सम्भवतः 'प्रवासी के गीत' के पश्चात नरेन्द्र के विरही के जीवन में कोई नवीन स्वप्न आया था जो पहले स्वप्न की तरह ही छिन्न भिन्न हो गया। उसका संकेत 'पलाशवन' की इन पंक्तियों में मिलता है—

दुर्दिन न अकेले आते हैं—
आया फिर मन में स्वप्न नया,
वह भी टूटा तृणवत छूटा
मुझसे मेरा विश्वास गया।[3]

वह मीत जो उसे मिला था, वह दो दिन में ऐसा हो गया जैसे जान पहचान ही न हो—

दो दिन में बन गए निपट अजान, मीत तुम।[4]

एक नश्वर विषाद उसके व्यक्तित्व को पुनः अभिभूत करने लगा है—

मृग को भी मिलती कस्तूरी
हुआ न तेरा ही कोई[5]

---

1 श्री नरेन्द्र शर्मा—पलाशवन (मन समझाने की बात), पृष्ठ २६
2 वही पृष्ठ ४०
3 वही पलाशवन (आश्वासन) पृष्ठ ४३
4 वही पलाशवन (मीत तुम) पृष्ठ ४८
5 वही, पलाशवन (हुआ न तेरा ही कोई) पृष्ठ ५०

अच्छा ही हुआ दूर हो तुम
टुकडे टुकडे हो जाता दिल—
अब दख मुझे इतना उदास।[1]

सम्बन्ध विच्छेद के इस करुण विप्रलम्भ म भी हृदय-समपण की स्वच्छता बराबर विद्यमान है—

कौन कह सुन पायेग भी मरे सकरुण गान मीत तुम,
तुम पर मरा स्नेह वही था स्वाभाविक है जो अपना पर,
जिसम पाना इष्ट नही है दना ही जिसम श्रेयस्कर।
सीपी के मोती को ममता सौंपा करता ज्यो रत्नाकर,
घन विद्युत को शशि को सूरज या ज्यो ताराग्रो को अम्बर,
मैंने दी ममता, मरे थ कुछ कुछ इसी समान मीत तुम।[2]

'मेरा मन' कविता म कवि कोरा भाग्यवादी सा हो गया है, विधि की विडम्बना के सम्मुख वह शीश झुकाने लगा है परन्तु उसका बुद्धिवादी मन बार-बार इस पराजय की स्वीकृति क लिए उस ललकारता है—

मैं हूँ विशेष मैं हूँ विशिष्ट,
कहता विधि स या वह अशिष्ट,
भ्रम वश चलता खुश-खुश हसकर
चल जरा दूर ठोकर खाता।
मैंने बहुतेरा समझाया,
मन अब तक समझ नही पाया—
वह भी मिट्टी स ही निकला
फिर भी मिट्टी ही म मिल जाता।[3]

वीतरागियो की भाँति, वह अपने आत्म को उपदेश देने लगता है—

जब तक तन है आधि व्याधि है,
जब तक मन, सुख-दुख हैं घरे,
तू निबल वो जीव नश्य है
तू चाहे, य तेरे चेर!

सुख दुख धूप छाँह का परदा
जिसक पर सत्य का घर है।[4]

---

१ श्री नरेन्द्र शर्मा—पलाशवन (अच्छा ही हुआ), पृष्ठ ४५
२ वही पलाशवन (मीत तुम), ४८
३ वही, पलाशवन (मेरा मन), पृष्ठ ५१
४ वही, पलाशवन (सुख-दुख, एक टुक) पृष्ठ ५४ ५५

जगत् से ममता की आशा छोड़कर वह अधिकाधिक आत्मनिष्ठ बनने का प्रयत्न करने लगा है। आत्मनिष्ठा के फलस्वरूप वह एकपक्षीय प्रेम का मन में सँजाता है। ध्यान में प्रेयसी की आदर्श मूर्ति की कल्पना करके, वह उसकी पलकों पर स्वयं के सपना बनकर आने के दिवास्वप्न देखता है। किन्तु यथार्थ की वास्तविकता उसके स्वप्न को यदि कभी चूर कर देती है तो विरही की दशा अपने कारुण्य में असीम और विचित्र हो जाती है—

सुन पलकों की पखुड़ियों पर मैं चुम्बन बन खो जाता हूँ,
घनश्याम पुतलियों की रजनी में सपना बन सो जाता हूँ,
बस साँसें आती जाती हैं

तोड़ो मत मेरा दिवास्वप्न, फेंको मत मेरा हृदय रत्न
मत समझो उसका मोल नहीं, मिल जाय स्नेह जो बिना यत्न
सीपी मोती भर लाती हैं।

झुक रही रात, पंछी घायल, है कोई अपना नीड़ नहीं,
मन भी भर आता नहीं, मिले जो बूंद, बूंद दो नीर कहीं,
सूखे दृग नद बरसाती हैं॥[1]

विरही के मन में केवल एक चाह अवशिष्ट रह जाती है, वह यह कि प्रियपात्र के जीवन में उसका चाहे और कोई महत्त्व शेष न रहे किन्तु वह उसकी स्मृति न भूल जाए—

'फिर भी न मुझे देना बिसार'[2]

स्वयं भी वह यही आकांक्षा करता है कि उसके साथ प्रिय पात्र की स्मृति सदा रहे। इसके बल पर जीवन के सब विघ्न वह सरलता से झेल लेगा—

सुनो तुम्हारे श्रीपदतल नत कोई भी मस्तक गौरवमय,
तुम मेरे न हो सके, फिर भी आज तुम्हारे बल पर निर्भय
मैं जीवन-पथ पर बढ़ता, शत बाधाएं स्वीकार करूँ।[3]

निवास की कम्पनशीलता विरही को कार्यव्यस्त रखती है। रात्रि में कोई काम नहीं होता अतः समय काटना दूभर हो जाता है। 'सुबह कब होगी' इस प्रतीक्षा को नशे में सजाए विरही रात काट देता है, यह भाव परम्परा से विरह-काव्य में उपलब्ध होता रहा है। नरेन्द्र शर्मा के काव्य में इसकी सुन्दर अभिव्यक्ति इस प्रकार हुई है—

---

१ श्री नरेन्द्र शर्मा—मिट्टी और फूल (स्वप्न अंत), पृष्ठ ५
२ वही, मिट्टी और फूल (विदा गीत), पृष्ठ ६
३ वही, मिट्टी और फूल (किसलिए), पृष्ठ २६

स्वप्न-चोर द्वार-द्वार,
जीवन-क्षण हुए भार
झाँक झाँक खिड़की से
दस दस तिमिर तोम,
झाँक-झाँक खिड़की से
दस घिरा घिरा व्योम,
बन्द यहाँ
जलता मैं मन्द मन्द प्राण में
होगी ही (कब होगी) दिवस की निकासी।[1]

'होगी ही' की पुनरावृत्ति में (कब होगी) रचना से भाव की मार्मिकता और विह्वलता बढ़ गई है।

विरही और उसके विडम्बना भरे जीवन की करुण कहानी नरेन्द्र शर्मा ने 'अन्योक्ति' में इस तरह प्रस्तुत की है—

कहीं सरिता के किनारे खिला था बनफूल एक
अचक उसके पास आई लहर ज्यों मात्रालिक
वायु डोली, लहर उभरी, फूल झूला मिल आठ
फूल भूला चेत लहर गई कर मथरामिपक।
बहुत-सी आईं-गईं लहरें न आई वही एक—
ले गई जो फूल की मुस्कान अन्तर का विवेक।
उलाहना देता रहा बनफूल—तुम आई नहीं
गीत गाता रहा देती रही मर्मर वायु टेक।।

एक दिन बोली नदी—मैं तो समय की धार हूँ
मैं विरह का अश्रु हूँ, मधुमिलन लोचन चार हूँ
लहर मेरा अंश, ओ बनफूल! मत वह भूल भूल—
छू गया संकेत जिसका, मैं वही मँझधार हूँ।[2]

हिरना हिरनी की एक और अन्योक्ति में कवि ने प्रेमी युग्म, समाज और उसके द्वारा उनके बिछोह तथा मृत्यु में उनको ज्वलन की मधुर शान्ति का मार्मिक वर्णन किया है—

एक था हिरना, एक थी हिरनी।
हिरना था वह प्रेमी पागल
फिरता था नित जंगल जंगल,

१ श्री नरेन्द्र शर्मा—मिट्टी और फूल (मानस के बाद रात), पृष्ठ)
२ वही, मिट्टी और फूल (बनफूल), पृष्ठ ५६-५७

बतलाऊँ हिरनी कैसी थी?
बड़ी खिलाड़िन नटखट चंचल।

—प्रेमी-युग्म

× × ×

आया एक सामने दलदल
फँसी जहां जा हिरनी चंचल
दुख से, प्यारी आँखें छलछल।
हिरना प्यारा, दुख का मारा,
दूर पड़ा था, गिर मुँह के बल!

—समाज

× × ×

देख शेर के मन में आया
मैंने इनको खूब मिलाया,
बहुत मर्गी ने खेल खिलाया,
(जिए दूर मिल गए मौत में)
हिरने ने हिरनी को पाया! —मृत्यु में चिरमिलन[1]

इतना विकल वेदना होने पर भी नरेन्द्र का विरही, अपने मन को बराबर ... और प्रोत्साहन देता रहा है—

तू नहीं वह चीज जो जर-ख्वार हो जाए
नित्य निखरेगा मनुज जितना जलेगा तू।

'हंसमाला' में नरेन्द्र का कवि वैयक्तिकता की सीमा से ऊपर उठने लगा है। वह ...... के समान जग और प्रवि के पारस्परिक सम्बन्ध को समझना तौलता है। उसके पथ में यह मोड़ 'मिट्टी के फूल' की कविता 'एक नारी के प्रति' से ही प्रारम्भ हो गया था। यहाँ वह स्पष्ट कहता है।

'कामिनी की कामना? वह कर चुका हूँ पार मंजिल'

और—

स्वप्न की सम्प्राप्ति खोइ, दिवा अब नवरूप जागी—
नया मनहर रूप निखरा आ रहा स्वर्णाभ सा खिल![2]

किन्तु 'हंसमाला' में भी हृदय के सूनेपन ने कवि को छोड़ा नहीं है। बार बार उसका प्रश्न उसे प्रताड़ित करता रहता है और तब उसे ऐसा लगता है जैसे उसके आदर्श में गर्म सपने घुन गए हैं—

---

१ श्री नरेन्द्र शर्मा—मिट्टी और फूल (हिरना हिरनी), पृष्ठ ६४–६५
२ वही मिट्टी और फूल (एक नारी के प्रति), पृष्ठ ८३

आदर्श और अरमानों के जो चित्र बनाए सुन्दर
क्या उन्हें धो गया आहत अभिमानों का श्याम समुन्दर ?
क्या निर्मित नहीं समाज आज मुझसे ही लाचारों से ?[1]

एक ओर वह दार्शनिक के समान कहता है—
नियति का यह प्रयोजन है कि कवि का हो विशद अनुभव।
मिले सिद्धान्त जग को, किन्तु कवि को सिद्धि ही सम्भव।

मिला संसार को संसार, कवि को
निज अभावों में विनिर्मित सृष्टि।[2]

अपने देश में फैली हुई भूख की महामारी की समस्या से वह तड़प उठता है—
भूख भूख, सब ओर भूख की लपट, ईंधन तन दुर्बल
किसे आज सहने की क्षमता और किसे सुनने का बल।[3]

दूसरी ओर हृदय की भूख को भी वह भुला नहीं सका है—
स्वप्न बनने और ढहने जा रहे सुन्दर सुहाने—
प्यार पाना चाहता मन, प्यार करने के बहाने

हम मना करते रहे, पर मन न वह जो बात माने।[4]

कभी सामाजिक रूढ़ियों के कारण कभी अपनी न होने वाली प्रियतमा को सम्बोधित करके कहता है—
इन आँखों ने दुलराई है तेरी लघु रेखा प्रतिरेखा
बस कह दूँ प्यार नहीं था जो तेरी आँखों में देखा।[5]

और कभी फिर, क्षुद्र स्वार्थ से परे, महान बनने की चेष्टा करने लगता है—
अहंकार तज अभिलाषाएँ जीने का अधिकार चाहतीं।

अथवा—

फिर महान बन मनुष्य
फिर महान बन।
मन मिला अपार प्रेम से भरा तुझे
इसीलिए कि प्यास जीवमात्र की बुझे,

---

१ डॉ. नरेन्द्र शर्मा—हंसमाला, पृष्ठ ८६
२ वही, पृष्ठ २६
३ वही, पृष्ठ ८३
४ वही, पृष्ठ ५१
५ वही, पृष्ठ ५६

विश्व है तृषित मनुष्य, अब न कृपण।
फिर महान बन।[1]

'अग्निशस्य' में भी जन और आत्म के मध्य, कवि के हृदय के संघर्ष की यही स्थिति चलती रही है। प्रियतमा के प्रति नरेन्द्र के विरही का एक 'उलाहना' अत्यन्त मार्मिक है—

सुख सपनों की सौगात लिए आया जब चाँद गगन में,
तुम सुधि की मधुर मुरलिका बन आई तब मेरे मन में।
इन बातों को दिन बीत गए, शशि आए गए अनेकों
तुम सुधि बनकर भी पाँव नहीं धरती मेरे आँगन में।[2]

प्रियतमा का 'सुधि बनकर भी पाँव न धरना' विरह की अवधि के अनन्त होने का द्योतक है।

इस तरह नरेन्द्र शर्मा के काव्य में विरह-व्यथा की विविध अनुभूतियाँ प्राप्त हैं जिनमें अधिकांश समाज की रूढ़ियों के कारण उत्पन्न हुई हैं। नरेन्द्र के विरही ने वैयक्तिकता की संकुचित पीड़ा से उठकर समाज की पीड़ा में अपने दुख का विलय करने का प्रयत्न तो किया है परन्तु अन्तर्द्वन्द्व अन्त तक शान्त नहीं हुआ है।

भगवतीचरण वर्मा

जीवन को क्षणभंगुर और अस्थायी माननेवाले लब्धप्रतिष्ठ कवियों में भगवतीचरण वर्मा का नाम भी उल्लेखनीय है। आज के कवि का 'अहम्' जहाँ एक ओर जग से अपनापन पाने की प्रबल आकांक्षा करता है वहाँ दूसरी ओर अत्यन्त व्यक्तितत्त्व से पूर्ण है। अतः स्वयं को वह जगभावना में विलय नहीं कर सकता। मानव के अहं की भावना अत्यन्त दयनीय अवस्था में है।

अहं से प्रताड़ित कवि के मानस को ऐसा लगता है जैसे जग से अपनापन पाने की आकांक्षा मधुर भ्रम है। भगवतीचरण वर्मा कहते हैं—

सागर का प्रशान्त मधुवन।
अपनापन है जग का भ्रम—
कलुष भरा यह काला भ्रम
बिखरे दुःख कितनी करुणा से
घिरा हुआ है दुःख अहम्।[3]

जग से अपनापन मिलना मधुर भ्रम है यह जानते हुए भी मन उसके पीछे दौड़ता है तभी तो 'अहम्' आहत होता है। 'पागल जग के अंधकारपूर्ण जीवन' में यह

१ श्री नरेन्द्र शर्मा—हंसमाला, पृष्ठ ६७, ७२
२ वही अग्निशस्य, पृष्ठ १२२
३ श्री भगवतीचरण वर्मा—मधुकण, पृष्ठ १

कवि अपने जीवन के मधुकण अर्पित करने का आग्रह करता है—

अंधकारमय पागल जग है,
अंधकारमय वही मरण
उसके जीवन म तुम भर दो
अपने जीवन का मधुकण
सत्य शिव सुन्दर मधुकण ।[1]

यदि कवि अपनी वेदना के मधुकणो को विश्व वेदना म सचमुच विलीन कर सकता तो दुविधा ही क्या थी । एक ओर निर्लिप्त स्थितप्रज्ञ की भांति वह यह दावा करता है कि सुख-दुख स उसे प्रीति नही है, अतीत और भविष्य का मोह छोड़कर वह वर्तमान स संघर्ष करता रहता है ।

क्या भविष्य है नही जानता
मुझको ज्ञात अतीत नही
सुख स मुझको प्रीति नही है
दुख स मैं भयभीत नही
लडता ही रहता हूँ प्रतिपल
बाधाओ का पार नहीं
कालचक्र क महासमर म
हार नही है जीत नही ।[2]

दूसरी ओर, उसकी सुख स प्रीति की इच्छा इन शब्दो स स्पष्ट हो जाती है—

यह न समझना दवि ! कि मुझको
निज ममत्व का ज्ञान नही
इस विस्मृति के विषम वक्ष म
रुदन नही मुस्कान नही ।[3]

अथवा—

घर अंधर क इस प्रदेश म
पतन नही, उत्थान नही ।[4]

'कुण्ठा' जिस तरह भयंकर अग्नि को हृदय म उद्दीप्त कर रही है, इसका एक सांगरूपक वर्माजी न इन शब्दो म प्रस्तुत किया है—

निज उर की वेदी पर मैंने महायज्ञ का किया विधान,
समिधि बनाकर ला रखे हैं चुन चुन कर अपने अरमान ।

---

१ श्री भगवतीचरण वर्मा—मधुकण, पृष्ठ २
२ वही, पृष्ठ ४
३ वही, पृष्ठ ३
४ वही, पृष्ठ ३

अभिलाषाओं की आहुतियाँ ले आया हूँ आज महान
और चढाने को आया हूँ अपनी आशा का बलिदान,
अभिमन्त्रित करता हूँ उसको इन आहों का भरव राग
जल उठ! जल उठ! अरी धधक उठ महानाश सी मेरी आग।[१]

अनुराग के अश्रु उसमें घृत का काम कर रहे हैं—

आज आँसुओं का घृत लेकर आया मैं अनुराग
जल उठ! जल उठ! अरी धधक उठ महानाश सी मेरी आग।[२]

उनका कुण्ठित (फ्रस्ट्रेटिड) युवक अपनी विरहाग्नि को विराटता प्रदान करते हुए, यौवनान्मत्त प्रेयसी को उलाहना देता है—कि जिस रूप के बल पर वह उसके प्रणय को चुनौती दे रही है वह अत्यन्त अस्थायी तत्त्व है, उसके सम्मुख अन्य तुच्छ है—

रूप राशि से भरा हुआ है यह समस्त संसार,
रूप राशि पर मत इतराना, रूप राशि है हार!
तुम्हारा मद से उन्मत भाल!

इसके बल पर महाप्रलय से करने आयी प्यार।
जल जाओगी, रूप राशि ही है यौवन की हार।
क्या हूँ? इस अनन्त में कण हूँ मेरा कितना मोल
पर अनन्त पाओगी मुझ में अपनी आँखें खोल
यहाँ न्खोगी रूप विराट![३]

रूढ़ियों से उत्पन्न हुई जीवन की विवशता को भगवतीचरण वर्मा ने इस तरह स्पष्ट किया है—

यहाँ प्रकृति है पाप पुण्य आत्मा का पूर्ण दमन है
स्वच्छा है भ्रम पाश यहाँ पर मुक्ति नियम-बन्धन है।

किन्तु इन नैसर्गिक मार्मिक भावों के साथ स्थान स्थान पर उनका मान्य दार्शनिक सिद्धान्तों को दोहराना टूटी कड़ी-सी लगता है, भाव की मार्मिकता के स्थान पर अव्यवस्था सी लगने लगती—

यहीं मिलेगी आग, यहीं पर तुम्हें मिलेगा पानी,
अरे मिलगी स्वर्ग नरक की तुमको यहीं निशानी,

---

१ श्री भगवती चरण वर्मा—मधुकण, पृष्ठ ६
२ वही, पृष्ठ १०
३ वही, पृष्ठ ११ १३
४ वही, पृष्ठ १६

इतना रखना याद यदपि है बात पुरानी
'रह जाते हैं कूल वहीं पर बह जाते हैं पानी।'[1]

भगवतीचरण वर्मा में प्रणय भाव के प्रति भौतिक दृष्टि का मोह तो है किन्तु वह उसको स्थूल रूप में प्रस्तुत करने से हिचकते रहे हैं। छायावादोत्तर कवियों की भांति उनके सूक्ष्मीकरण का उन्हें आग्रह रहा है—

आज मेरे जीवन का प्यार—
देवि—मेरे जीवन का प्यार
युगों का छिपा हुआ अज्ञात
अरी छाया सा मधुर दुलार
कनक सा कोमल दुख सा मौन
विस्मरण सा भूला उद्गार
बन गया उर का विचलित भार
देवि! मेरे जीवन का प्यार।[2]

दूसरी ओर उनकी प्यास शुद्ध शारीरिक रूप मोह की प्यास (desire) है जो वर्तमान की तृप्ति चाहती है भविष्य के स्थायित्व से उसका सम्बन्ध नहीं है—

है आज उमंगों का युग—
तेरी मादक मधुशाला।
पीने दे जी भर रूपसि
अपने पराग की हाला।

मत याद दिलाना कल की,
कल है कल आने वाला।[3]

एक ओर, रूप मोह का प्रबल उफान और दूसरी ओर दुराव की प्रवृत्ति इस युग के युवक की दमित इच्छाओं के फलस्वरूप कही जा सकती है। इस दृष्टि को स्वस्थ दृष्टि नहीं कहा जा सकता। कुण्ठा की यही घुमड़न आज के प्रणय की मुख्य समस्या है।

मधुर हास्य में अनन्त वेदना छिपाए और 'चाह' का नशा में लिए हुए, कवि का यह उन्माद उसे किस दिशा में ले जाएगा यह वह स्वयं भी नहीं जानता। 'किस ओर?' शीर्षक कविता में—

कहाँ? स्वयं ही नहीं जानता है यह पथ अनजान।
इस भविष्य के अंधकार का कहो किसे है ज्ञान?[4]

---

१ श्री भगवतीचरण वर्मा—मधुकण पृष्ठ २६
२ वही, पृष्ठ २४
३ वही पृष्ठ २५
४ वही, पृष्ठ २७

किन्तु उसके सम्मुख इतना स्पष्ट है कि प्यार की एक बूँद पर जीवन का सम्पूर्ण ममत्व वह न्योछावर कर सकता है—

एक बूँद पर ही कर दूँगा मैं ममत्व का दान[1]

ममत्व का यह दान भी स्वार्थ रहित नहीं है—

एक बार फिर और करूँगा उस मदिरा का पान,
कहाँ ? जहाँ होता है प्रतिपल विस्मृति का आह्वान।

क्षणवाद का पुजारी वह भविष्य का आराधक नहीं है। प्रियतमा के समीप वह प्रणय सम्बन्ध में उत्पन्न क्षणिक प्यास की स्थूल तृप्ति का आकांक्षी है। उसका विरह भाव शुद्ध स्थूल रूप मोह है उसमें अतीन्द्रिय, जन्म-जन्म के गठबन्धन की बात सोचने का यहाँ प्रश्न ही नहीं उठता—

आया हूँ फिर से भड़का कर अपनी प्यास पुरानी,
सूखे होठों पर आया की लेकर एक कहानी।
चंचल गति से नाच रही है बिछुड़ी हुई जवानी,
लौट पड़ी मेरी मंजिल बन अभिलाषा अभिमानी॥[2]

उसकी प्रियतमा भी उन दोनों के क्षणिक मिलन में 'लाज' बाधा बन गई इसी विरह की ज्वाला से तड़पती है। लाज को उपालम्भ देती हुई वह कहती है—

अलि सम पुलकित नवकलिका पर से बसन्त सुख साज
प्रियतम अपनी प्यास बुझाने घर आये जब आज
बैरिनि बनी निगोड़ी लाज![3]

'लाज' के इस उपालम्भ का रीतिकाल की रूप ज्वाला से अत्यन्त निकट का सम्बन्ध प्रतीत होने लगता है।

अपने असफल जीवन की भाँति, भगवतीचरण वर्मा के प्रेमी भावुक को समस्त संसार का जीवन असफल दृष्टिगोचर होता है। भूधर आकाश की ओर निर्निमेष देखते हुए निश्वास भरा करते हैं—

भरे युगों का भार लिये हिम आवृत सिर पर,
असफलता पर अश्रु बहाते हुए निरन्तर
देख देख अनिमिष दृगों से ऊँचा अम्बर
यहाँ मौन निश्वास भरा करते हैं भूधर।[4]

जीवन का सब सुख-दुख उसे, सागर की छाती पर उत्पन्न, पानी के बुलबुले की भाँति क्षणभंगुर लगता है—

---

१ श्री भगवतीचरण वर्मा—मधुकण पृष्ठ २७
२ वही, पृष्ठ २८
३ वही, पृष्ठ २६
४ वही पृष्ठ १२

उदधि के वक्षस्थल में व्याप्त
बुलबुले का यह क्षणिक उभार ।[1]

संक्षेप में भगवतीचरण वर्मा के विषय में यह कहा जा सकता है कि वे घोर क्षणवादी हैं। समन्दर मनीषी की भांति यद्यपि 'मधुकण' में उन्होंने स्थान-स्थान पर जीवन का गम्भीर दार्शनिक दृष्टि से दर्शन का प्रयत्न किया है। किन्तु वे केवल शब्द मात्र हैं। जीवन और उसके सुख का नश्वर मोह और उसकी प्राप्ति के अभाव में अनन्त वेदना ही उनके काव्य में मिलती है। क्षणवाद के प्रभाव से प्रणय के प्रति शाश्वत गहन-दृष्टि का भी उनमें अभाव है। उनका काव्य मन का क्षण रुदन मात्र रह गया है, प्रणय के प्रति स्वस्थ दृष्टिकोण अथवा उन्नयन भी उसमें उपलब्ध नहीं होता। बच्चन और नरेन्द्र शर्मा की भांति उनके विरह की तड़प मन की प्यास नहीं है।

शिवमंगलसिंह 'सुमन'

शिवमंगलसिंह सुमन प्रगतिशील कवि हैं। समाजवादी भावना, जनता की जलन और शोषकों के अत्याचार ही उनकी वाणी के मुख्य स्वर हैं। किन्तु अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में सुमन भी वैयक्तिक सुख-दुख के गायक हैं। 'पर आँखें नहीं भरी' नामक कविता-संग्रह का पूर्वार्द्ध मिलन की अभिलाषाओं और उसकी अभाव-वेदनाओं से ही परिपूर्ण है। विरह कविता के इस संग्रह में, विशिष्टता यह है कि नैराश्य और कुण्ठा की घुमड़न ने उसके कवि को कभी हताश और पंगु नहीं बनाया है। विरहानुभूतियों के कोमल माधुर्य के साथ विरही का सहज विश्वास और कभी विलुप्त न होने वाली आशा भी उसमें प्राप्त होती है।

'पर आँखें नहीं भरी' की प्रथम कविता 'मैं तुम्हें पहचानता हूँ' है। इस कविता में, 'प्रथम दृष्टिपात' में ही कैसे दो प्राणी एक-दूसरे की ओर आकर्षित हो जाते हैं, इसका वर्णन है। मनोवैज्ञानिकों ने इस प्रकार के अनायास आकर्षण का कारण, यह बताया है कि आकर्षित हुआ व्यक्ति अपने विषय में अपने 'अहं' के प्रतिरूप को पाने के कारण आकृष्ट होता है (It is an I seeking another I)[2] प्रसिद्ध काव्यशास्त्री महाराज भोज ने भी स्वयं अपने अहं के साक्षात्कार को ही आकर्षण का कारण माना है।[3] अहं या यह कि अवचेतन में स्थित भाव ही अनुकूल व्यक्ति के प्राप्त होते ही चेतना में सजग करता है। इसी भाव को सुमन इस तरह व्यक्त करते हैं—

पूर्व परिचय भी नहीं था
आज भी हम हैं अपरिचित

१ भगवतीचरण वर्मा—मधुकण पृष्ठ ३८
२ देखिए, प्र... ...न विरह का मनोवैज्ञानिक विवेचन
३ देखिए प्रबन्ध ... 'शृंगार भाव का ... शृंगार रस की

ये अछूते अधर अपनी
मूकता में हो प्रकम्पित
किंतु जब देखा तुम्हें
तो चेतना ने यह बताया
हाय खोई वस्तु , मैं
कितने दिनों में खोज पाया,
तुम न मानो जग न माने
किंतु मन तो कह रहा है
'मैं तुम्हें पहचानता हूँ'।[1]

'सुमन' 'वासना' के कवि नहीं है। प्रेम और विरह को वह 'मन की प्यास' मानते हैं और दो प्राणियों के सयोग को, मन का सयोग। उसके अनुसार मिलन की अभिलाषा और प्रयत्न पर प्रेमी का अपना अधिकार नहीं होता, कोई अभूतपूर्व प्रेरणा उसे ऐसा करने को प्रेरित करती है—

गति मिली, मैं चल पड़ा
पथ पर कहीं रुकना मना था

तन न आया माँगने अभिसार,
मन ही जुड़ गया था।
मैं नहीं आया तुम्हारे द्वार,
पथ ही मुड़ गया था।[2]

'अभिलाषा' के क्षणों की निराशा को 'सुमन' का कवि प्रेम मार्ग की सहज गति के रूप में स्वीकार करता है—

क्या एक तुम्हारा ही बनने में इतना भ्रम ?
मृगतृष्णा की छलना क्या सचमुच सत्य परम ?
या प्रेय प्राप्ति पथ पर सपनों का निश्चित क्रम ?
पर व्यर्थ नहीं जाते संघर्ष-साधना श्रम।[3]

प्रेम-पात्र से प्राप्त, प्रेम का क्षणिक आदान भी कवि को, विरह वेदना को तृप्त करने का साहस दे सकता है। सुमन' कहते हैं—

एक ही मुस्कान से जब भर दिया तुमने हृदय का रिक्त कोना,
याद क्या होगा तुम्हें वह दिन सलोना ?
मैं उषा मुस्कान की आभा चुराकर

१ श्री शिवमंगलसिंह सुमन —पर आँखें नहीं भरीं, पृष्ठ ३
२ वही, पृष्ठ ४ ५
३ वही, पृष्ठ ६

दिग्दिगता म लुटाने जा रहा हूँ

ढाल जब अनजान म तुमन न्यि इन शुष्क अधरो म अमृत कण
याद तो होगा तुम्हे वह मधुमिलन क्षण
मैं उन्ही दो चार बूँदा क सहारे
विश्व ज्यापक विष बुझान जा रहा हू।[1]

सम्बन्ध विच्छेद से उत्पन्न निराशा भी विरही सुमन के अस्तित्व का कुण्ठित नहीं कर सकती, अधिक प्रयत्न स जीवन-संघष की प्ररणा न्ता है—

पा जिस तू जी सका, खोकर उस तू मर नही।[2]

कभी अतीत की स्मृतियाँ उनके विरही को तडपाती हैं सब कुछ सूना सा लगता है, एसा लगता है कि हृदय के सहज विश्वास को किसी न ठग लिया। अत वन्ना ता स्वाभाविक ही है—

जा भी आया था जीवन म
यदि चला गया तो रोना क्या?
ढलती दुनिया क दाना म
सुधिया का तार पिरोना क्या?

कुछ खाली-खाली हागा ही
जिसम विश्वास समाया था
उसस ही सारा झगडा है
जिसन विश्वास चुराया था।[3]

जीवन म एक शून्यता छा गई है। किन्तु उसी क बीच उलझकर गतिरोध हो जान से तो समस्या हल नही हो सकती, इसी स सुमन का प्रमी कहता है—

जा भी अभाव भरना हागा
चलत-चलत भर जाएगा
पथ म गुनन बठूगा तो
जीना दूभर हो जाएगा।[4]

एक गीत में, स्वय को दीपक के प्रतीक रूप म रखकर 'सुमन', अपनी प्रणयिनी से स्नेह की अभ्यर्थना करते हैं। प्रियतमा यदि स्नेह का प्रदान करती रहे ता रूढ़ियों व कारण उत्पन्न सम्बन्ध विच्छेद म विरह की जलन का भी वह सत्कार करन स नही

१ श्री शिवमगलसिंह 'सुमन'—पर आँखे नही भरी, पृष्ठ १८
२ वही, पृष्ठ २२
३ वही, ५२ ५३
४ वही

घबराते। स्नेह से वंचित होने पर जीवन दीप का रूप विकृत न हो जाय यही आशंका है। प्रेम पात्र से वह प्रार्थना करते हैं—

स्नेह की बूंदें चुवाओ
　　　　जी करे जितना जलाओ
हाथ उर पर धर बताओ
　　　　क्या मिलेगा देख मेरा
धूम्र कालिख वेष।[१]

प्रेमी की नम्र प्रार्थनाओं और प्रेम के सहज विश्वासों पर पहले कुठाराघात करके बाद में यदि प्रेयसी इससे प्यार पाने की आकांक्षा करती है तो एक अभूतपूर्व वेदना से हृदय तड़प उठता है। परिस्थितियों ने इसे फूंक फूंक कर कदम रखने सिखा दिए हैं—

तुम लुटा रहे हो आज प्यार के मोती
मैं सिहर रहा हूँ, देख स्नेह के धागे।

उस दिन तुम मुझको हँसकर टाल रहे थे
मैं प्यासा, तुम औरों को ढाल रहे थे

उस दिन की जलन मुझे चौंका देती है
मट्ठे को भी जो फूंक फूंक पीती है॥[२]

'मट्ठे को फूंक फूंक कर पीना' मुहावरे का प्रयोग बड़ा मार्मिक है। कहने का तात्पर्य यह है कि मन नई किसी की भोली प्रार्थनाओं पर सहज विश्वास नहीं करता। उभय-पक्षी प्रेम में सम्बन्ध विच्छेद की पीड़ा को कवि ने चार पंक्तियों में ऐसे व्यक्त किया है—

ठीक है दो क्षण हमारे कट गए, लेकिन—
तार मुधिया के हमारे बट गए, लेकिन—
हर क्षणिक तूफान की छाया सँवारती है,
दो घड़ी की भेंट बरसों तक अखरती है।[१]

सम्बन्ध विच्छेद की विरह-व्यथा का एक रूपक टूटी पतंग की डोर के रूप में बहुत मार्मिक है। टूटी डोर के लूटने वाला के रूप में समाज की मनोवृत्ति का विश्लेषण भी कवि ने बहुत सुन्दर किया है। डोर लूटने वालों को इससे मतलब नहीं होता कि पतंग किसकी कटी है? बस हो सम्बन्ध विच्छेद की परिस्थिति से लाभ उठाने का प्रयत्न करने वालों की कोई समवेदना प्रेमी युग्म के साथ नहीं होती। अपनी उदास प्रियतमा को देखकर कवि कहता है—

१ श्री शिवमंगलसिंह 'सुमन'—पर आँखें नहीं भरीं, पृष्ठ ५०
२ वही पृष्ठ ५५

प्रखर वायु में (सामाजिक विरोध में)
डोर साधना कठिन, कठिनतर
दाव फँसाना
पेंच काटना
धूल धूसरित, गहन नीलिमामय
सभ्रम भीड़ का ध्य म
टूटी डोर लूटने वाले यहाँ बहुत हैं,
भीड़ खड़ी है,
लम्बे-लम्बे बाँस हाथ में
जल्दी टूटे
यही मनाते साँस-साँस में,
कौन उड़ाने वाले
इससे उनको क्या है लेना देना।

कई दिनों से देख रहा हूँ तुम उदास हो
आँखें सजल विनत सहमी-सी।[1]

'पर आँखें नहीं भरीं' में ही कवि की वैयक्तिक विरह-वेदना विश्व की तड़पन के रूप में परिवर्तित होने लगती है। अपने जीवन की 'बाती' का 'जन-स्नेह' से प्रात प्रान करके वह रूढ़ियों के हिमगिरि को पिघलाना चाहता है—

लेकिन मुझसे इसलिए न रूठो साथी,
मैं लुटने दूँगा नहीं तुम्हारी थाती
बट लेने दो यह रूखी, सूखी बाती
इसमें फिर से जन-मन का स्नेह ढलेगा
अवरोधों का हिमगिरि तप कर पिघलेगा
युग की गंगा का मुक्त प्रवाह बहेगा।[2]

जहाँ तक आधुनिक परिस्थितियों से उत्पन्न सम्बन्ध विच्छेद के रूप में विरह का प्रश्न है यह स्पष्ट है कि सुमन निराशावादी नहीं है। उन्होंने युग की बाधाओं को व्यथा ही स्वीकार करके अपनी वैयक्तिक भावनाओं की बलि दे दी है, वैयक्तिक व्यथा को सामाजिक व्यथा में विलय कर दिया है। इसलिए आज वह केवल अपने हृदय की विरहता के गायक न होकर मनुष्य हृदयों की विरहता के गायक बन गए हैं।

कितना अन्तहीन हृदयों में उठती जो निरंतर
कवि ने यदि न हृदय से उसे दी व्यथा वाणी की मिला वर

1 डा॰ शिवमंगलसिंह 'सुमन'—पर आँखें नहीं भरीं—पृष्ठ ३५
2 वही, पृष्ठ ८४

इसलिए ही मूक हृदयों में घुमड़ती विवशता को—
मैं सुनाता जा रहा हूँ
पर तुम्हें भूला नहीं हूँ।[1]

इसके अतिरिक्त, विरह के अन्य परम्परित और नवीन रूप भी 'सुमन' के काव्य में उपलब्ध हैं। यह दृश्य अधिकांशतः 'प्रवास' के हैं। 'प्रवास' के परम्परित वर्णन में, ऋतु वर्णन की पद्धति के अनुरूप 'सुमन' ने 'पावस', शरद और ग्रीष्म ऋतुओं के वर्णन किए हैं।

'पावस' का उद्दीपनकारी रूप स्पष्ट करने के लिए, वर्षा के बादलों को 'सुमन' 'विरहिन के ताप' और 'काम के नाप' कहते हैं—

ये विरहिन के ताप, काम के नाप
गरज, इतराए।[2]

'गरज कर इतराना' प्रयोग विरही के दृष्टिकोण से अत्यन्त सफल है। विरही को ऐसा प्रतीत होता है जैसे ये बादल उसकी दयनीय स्थिति का उपहास कर रहे हों और उसे डराने, त्रास देने का प्रयत्न कर रहे हों। वातावरण के मादक प्रभाव में, अभाव की पीड़ा का मुखर हो जाना स्वाभाविक ही है। पावस की बौछार, प्रिय की याद दिलाती हुई आती है और तब विरही के नेत्रों से अनायास आँसुओं की झड़ी लग जाती है। 'विप्रलम्भ' के समस्त उपकरणों से समृद्ध यह चित्र 'रस' के चरमोत्कर्ष तक पहुँच रहा है—

खिड़की से भीनी भीनी
फुहार बिखरती आई,
अनायास ही किसी निठुर की—
याद दृगों में आई
पानी बरसा नहीं किसी की बही आँख का काजल
आज रात भर बरसे बादल।[3]

पावस' के एक दूसरे चित्र में कवि ने, प्रिय की प्रतीक्षा करती हुई एक नायिका का अत्यन्त सुन्दर चित्र उपस्थित किया है। एक तो प्रिय आने वाले हैं अतः प्रतीक्षा के क्षण यम ही अस्थिर बना देते हैं और दूसरे साँझ में ही घटा भी घिर आई—

आज अटारी पे छाई घटा
गई साँझ लगी अनटूटी झरी
आज की रात को राम ही मालिक
लाली नता पे गाज गिरी
छान की बान टपाटप चू रही

---

1 डा॰ शिवमंगलसिंह 'सुमन'—विश्वास बढ़ता ही गया, पृष्ठ ८
2 वही, पर आँखें नहीं भरीं, पृष्ठ २५
3 वही, पृष्ठ २६

बीजु की कौंध डरावनी री,
आज की साँझ सलोनी बडी मनभावनी री।[1]

वर्षा के होने से एक ओर उद्दीपन और दूसरी ओर (प्रिय न आए, तो) 'पाशता' नचारी की व्यंजना है। इसीलिए नायिका को एक ओर 'साँझ सलोनी' लगती है दूसरी ओर उन पर गाज गिरती है। 'पावस' का यह चित्र, लोक जीवन के अत्यन्त [illegible] है, उनकी अभिव्यंजना भी बहुत समय हुई है।

चाँदनी के उद्दीपक प्रभाव को स्पष्ट करता हुआ यह चित्र भी बहुत सुन्दर है—

आज तक पथ का अकेलापन कभी अखरा न इतना
जागती आस संजोती मधुर सपना,
लुट गई छिन में जनम भर की कमाई
चाँदनी आई किसी की याद आई।[2]

कोई अभी बरबस अपनी भावनाओं के उद्दाम वेग को थाम हुए था [illegible] प्रभाव से संयम का बाँध टूट गया। 'लुट गई छिन में जनम भर की कमाई' [illegible] प्रयोग भी बहुत सुन्दर है।

'ग्रीष्म' रात्रि का प्रभंजन' नामक कविता में कवि ने एक विरहिणी [illegible] किया है जो ग्रीष्म की आँधी से चौंककर जाग उठती है। [illegible] प्रोषितपतिका [illegible] पूर्वराग का अनुभव करती हुई मुग्धा का यह स्पष्ट नहीं होता—

बाला अभी बैठी है ज्यों की त्यों
कभी-कभी केवल जम्हाई सुन पड़ती है
टूट गई सम्भवत
मीठी नींद
पहली नींद,
पूछता मन
देवि! दुःस्वप्न देखती थी क्या?
या युग युग के स्तर में [illegible]
किसी [illegible]
आकुल प्रतीक्षा [illegible]
सजग [illegible]
अरुण नयनों की [illegible]
अथवा [illegible]
आतुर [illegible]

---

[1] [illegible] —पर [illegible]
[2] वही, [illegible]

समय की छलनी में छानने को उद्यत है
जीवन के मूल्य नव ।[1]

'प्रवास' में 'स्मृति' का नवीन रूप सुमन ने इस कविता में प्रस्तुत किया है।

आज तुमसे दूर, कितनी दूर
मैं बैठा हूँ अनमना सा
कुतरता नाखून, तन मन चूर
स्वयं के ही प्रति खिंचा कुछ कुछ तना सा।[2]

'स्मृति' में यह अनमना भाव और उसके साथ 'कुतरता नाखून' एकदम नवीन अनुभाव हैं। यह स्मृति किसी एकान्त में नहीं आती, स्टेशन का वेटिंग रूम है—

भूल मत करना, नहीं मैं सिंधु तट पर
अस्थिरमन सा रेलवे का एक वेटिंग रूम
मुँहजली चिर मनचली इस कल्पना का क्या कहूँ
एक क्षण में जुह आई घूम।[3]

अस्थिर मन की उपमा कवि ने रेलवे के वेटिंग रूम से की है। आधुनिक समय की व्यस्तता के अनुकूल ही उपमान कवि ने ढूंढे हैं।

सुमन विरहभाव के सफल कवि हैं। मार्मिक अनुभूतियों के साथ स्वस्थ जीवन दृष्टि ने उनके काव्य को निरा नैराश्यवादी और कुण्ठा से युक्त नहीं रहने दिया है।

अचल

जीवन और उससे सम्बद्ध अनेक मानसिक स्थितियों को शुद्ध 'भौतिक वास्तविकता' के रूप में स्वीकार करने वाले कवियों में 'अचल' का नाम अग्रगण्य है। आधुनिक परिस्थितियों से उत्पन्न युवक युवती के क्षणिक मिलन और उसके पश्चात् जीवन पर्यन्त उन्हें पीड़ित करने वाले विरह की गाथा ही इनकी कविता का भी मुख्य स्वर है। विरह-वेदना भी कुण्ठा जनित नैराश्य से ही परिपूर्ण है।

माना क्षण भर में ही सब कुछ शेष हुई थी एक कहानी,
फिर भी भूल न पाता उसको जैसे कल की बात पुरानी।
याद बहुत आती है उसकी जो पर उम्मीदों से खाली,
जब खामोश निशा के तारे भरते एक उमस मतवाली।
एक शिथिल अवसन्न उदासी यह जीवन व्यापी अंधियारा,
तीखी तीखी प्यास न पूछो कैसी बचनी का मारा।।[4]

एक शिथिल अवसन्न 'उदासी', जीवन व्यापी अंधियारा और 'तीखी तीखी

१ श्री शिवमंगलसिंह 'सुमन'—विश्वास बढ़ता ही गया, पृष्ठ २३
२ वही, पृष्ठ २३
३ वही, पृष्ठ ७४
४ अचल—अपराजिता, पृष्ठ ११

प्यास' यही तीन बातें कुण्ठा जनित विरह की विशेषताएँ हैं। मिलन की अभिला
पहले भी विरह का मुख्य अग मानी जाती थी किन्तु अब उसके वासना जन्य पक्ष
स्पष्ट स्वीकृति मिलने लगी। रूढ़ियों के बन्धन म इस ताजी प्यास की तृप्ति का अवका
रुद्ध है अत वह मन म घुमड़कर एक अभूतपूर्व वेदना का घुमड़न का जन्म देती है
इसी भाव की अभिव्यक्ति अचल ने इस प्रकार की है—

जीवन की कितनी आकांक्षा साध ! न किन्तु कहा उड़ जाती
चढ़ती मादा की गंगा सी तृष्णा उर म ही रह जाती।[1]

कवि का विरही न केवल अपनी स्थिति पर दुखी है वह प्रियतमा के विषय म
सोचता है—

और कहा अब आ पहुँचा मैं उठ उठकर
गिरता इस मग पर
जब चुपचाप चली जाती होगी वह न जीवन
का उमर।[2]

मनोविश्लेषण शास्त्र विशा न मन के जिन चेतन और अचेतन जगत के रहस्या
का उद्घाटन किया है उसका प्रभाव आधुनिक हिन्दी कविता पर भी लक्षित होता है।
अचल की कविता म भी वह प्राप्त है।

अचेतन म दब हुए भाव अनुकूल वातावरण का उपलब्धि करत ही जाग उठत
हैं। चेतन-जगत म प्रवेश करके वे, रूढ़िया स घिरे मानस को विद्रोह करन के लिए
सान लगत हैं। अचल ने इस भाव का इस तरह व्यक्त किया है—

हो उठा किस गध स व्याकुल अचेतन स्वप्न दश म
बावली सी घूम जाती गल व अनबद्ध पग म
मुक्त श्रावण जल भिगाता था किसी का गात उन्मन
और वतस बालिका-सी म सिहरती थी सजल तन
आज फिर बिछुड़ी तरी पर दूर का हिल्लोल छाया—
कौन सीमाहीन तृष्णा क सुरा म तुम लगाते।[3]

अपराजिता म, शरीर की भूख ही विरह व्यथा का मूल बन गई है। कवि यागी
शिव और अपर्णा पार्वती के प्रेम का नायक-नायिका के प्रतीक रूप म नवीन रूप प्रस्तुत
करता है।

बरस पड़ी सब भूख सुमचित मर चिर कुमार तन म,
आज अपर्ण ! जागी माया बड़ी पिपासा स मन

१ अचल—अपराजिता, पृष्ठ १२
२ वही, पृष्ठ १२
३ वही, पृष्ठ २६

स्वप्न सखी ओ शल मल्लिक ! आज सजल श्यामल कर दो
गीली निविड इन्द्रधनुषी अंगुलिया में मूर्छित भर लो।[1]

शरीर की भूख का यही भाव एक अन्य स्थान पर इस तरह व्यक्त हुआ है—

रति की दोपहरी में साजन ! हूँ बात बता अपने मन की
आ गाल जगा जाती ही है वह बीती प्यास तपे तन की।[2]

विरह के इन गीतों की खुली शारीरिक अभिव्यक्ति, भारतीय-साहित्य के लिए कोई नवीन वस्तु नहीं है। संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश और हिंदी की भी लोक साहित्य परम्परा में उनके बीज मिलते हैं। प्राकृत, अपभ्रंश और प्रारम्भिक हिन्दी की गाथाओं में उनके पर्याप्त संकेत हैं। परन्तु फिर भी यह कहना पड़ेगा कि उन गाथा परम्पराओं में विरह व्यथा का मानसिक पक्ष भी उतना ही प्रबल था जितना शारीरिक पक्ष। किन्तु आधुनिक भौतिक जीवन दृष्टि से प्रेरित कवि में कुण्ठा की घुमड़न कभी कभी इतनी बढ़ गई है कि उसने मानसिक पक्ष की शाश्वतता को व्यर्थ समझ लिया है और वहाँ शारीरिक पक्ष ही मुख्य रूप से उभर आया है।

प्रियतम से वियुक्त होती हुई एक प्रियतमा का चित्र कवि इस तरह खींचता है—

पास बैठी थी लिये चिर शून्य आंधी सी पिपासा
उड़ प्रखर परिमल रहा था कुन्तलों से लालसा सा
मुक्त यौवन में रमा सी जल रही थी रूप खोले
आज जीवन ज्वार में कितने निविड़ तूफान बोले
आह ! वासन्ती सजल सन्ध्या सघन घुल घुल
तुम्हारा प्राण ! कहना
भूलना मुझको न प्रियतम।[3]

इस विशिष्ट स्थिति में कवि ने दो भावों को मुख्यता दी है—नायिका का यौवन और उसकी अदम्य तृष्णा। 'रमा' और 'वासन्ती सजल सन्ध्या' से नायिका के रूपज्वाल और यौवन तथा आंधी सी पिपासा और प्रखर परिमल सदृश लालसा से, यौवन की भूख अथवा तृष्णा की व्यंजना कवि ने की है। प्रियतमा का यह कहना—'भूलना मुझको न प्रियतम', युवक प्रेमी के जीवन की थाती बन गया है—

भूलना मुझको न प्रियतम है यही जीवन मरण में
आज रजकण गूँजता मा प्रति तृषा के सम्वरण में

१ मधुपर्व—मरीचिका, पृष्ठ ५३
२ वही, पृष्ठ ८३
३ वही, पृष्ठ २६

मैं वहन करता चलूँ पथ भ्रान्त होकर भी
तुम्हारी वह्नि जाती
भूलना मुझको न प्रियतम ।[1]

विरह के प्रति गहन भौतिक, स्थूल दृष्टि होने पर भी अंचल के काव्य में उस व्यथा के स्वाभाविक क्षणों और उसकी मधुर अनुभूतियों का अभाव नहीं है। रात्रि के एकान्तक्षण में, कल्पना में प्रिया का साक्षात्कार कैसे पहले सत्य सा प्रतीत होता है किन्तु कुछ क्षण पश्चात् भ्रम में परिवर्तित हो जाता है—इसका चित्रण उन्होंने इस प्रकार किया है—

कुछ जान न पाता कैसे तुम नजदीक तड़ित के ज्यों आती
कुछ रात गये, कुछ रात रहे जब सहसा नींद उचट जाती
कुछ सूखी कुछ गीली पलक अपने आप यहीं ना भरियाती
एस ही दूर प्रतीची में कुछ दिन ढलते भीगी लाली
पर दय कहाँ एकाकी को यह एक अनोखा सुख विस्मय
नव ऋतु सी आते प्राण हो तुम सहसा बन जाती संशय ।[2]

कल्पना का यह साक्षात्कार किस तरह विरही की दशा को करुणापूर्ण बना देता है और वातावरण का यौवन विलास कैसे उसकी मार्मिकता की वृद्धि करता है इस भाव को अंचल इस तरह प्रस्तुत करते हैं—

सम्मुख शेफाली के नीचे फूलों से भर जाती धरती
शशि किरणें चूम चली जाती कुछ हँसती कुछ आहें भरती
चिर तृप्ति कहाँ? कहता जैसे मन में स्वर उन्मन पवन
चीत्कार कपालों का वन में अन्त करता रजनी निर्जन ।[3]

मन की उद्वेग दशा का वर्णन अंचल ऐसे करते हैं—

सह्य नहीं होता क्या अनय उमगी आई हैं
लाज भरी वह सूनी चितवन किस घर में अकुलाई है
तड़ित शिखा में जलते किस कुंभ कंठ की उठी पुकार
सूनेपन में आज बुलाया किसने मुझे कविन का प्यार।[4]

वियोग व्यथा में पीड़ित होकर मरण की सी वेदना अनुभव करने लगता अंचल की कुछ कविताओं में स्थूल वस्तुओं का चित्रण नहीं होता भाव की सूक्ष्म मार्मिकता ... करने लगता है—

—मधूलिका, पृष्ठ २२
पृष्ठ १०३
...ठ ११६
...ठ २०

किन सतृष्ण मधुकरियों ने यह आज विदाई दी विष की
आज मरण-पीड़ा में भी है मुखर बकुल वन की वंशी।[1]

विरह-व्यथा के चिर-परिचित माधुर्य के विषय में अचल कहते हैं—

तृप्ति नहीं, फिर भी मीठी है बड़ी व्यथा यह मतवाली।[2]

करुण विरह-व्यथा को मुखरित करती हुई 'अपराजिता' की एक कविता अपनी अनुभूति में अत्यन्त मार्मिक है। कविता में नायक को एक माँझी उसी तट पर ले जाता है जहाँ खोई हुई प्रियतमा के साथ अनेक क्षण बीते हैं। अनुकूल वातावरण में प्रियतमा की चिर परिचित स्मृति उभर आती है। नायक माँझी से कहता है—

दूर ले चल मैं न आऊँगा तरी इस तट विजन में
आज जीवन की सभी भूलें स्मरण कर प्राण रोते
अन्ध चिर अनुराग में सूने विकल दिन रात होते
शून्य सगोहीन अन्तर फूलता निष्फल तृषा सा
आज भी जलती चिता के धूम सी अन्तर्दुराशा।[3]

'आज भी प्राण, अपनी उस प्रियतमा के लिए रोता है आशाएँ दम तोड़ती हैं इसी से हृदय में चिता के धुएँ सा धुँआ घुमड़ता रहता है। सदा के लिए बिछुड़ी हुई प्रियतमा की स्मृति को हृदय में सँजोकर तड़पने वाले अचल के विरही की व्यथा को 'क्षण की भौतिक वासना' नहीं कहा जा सकता। एक और कविता में भी जन्म-मरण की सीमाओं का अतिक्रमण करने वाले प्यार की अभिव्यक्ति हुई है—

जीवन के अवरुद्ध पटों का दीन हताश अतिथि भरमाया
किस अतीत से फिर एकान्त क्षणों में अवित होने आया
उस रसवन्ती मायाविन को प्यार किए बिन रहा न जाता
मानो जन्म मरण के भी उस पार बनेगा उसका नाता।[4]

प्यार की खोज में अपनी प्रियतमा को वह 'रसवन्ती मायाविन' कहता है।

अपनी युवक वासना को अचल ने कभी छिपाने का प्रयत्न नहीं किया है। उसका अस्तित्व होते हुए भी अचल के विरह की गम्भीरता इसमें है कि अपने आलम्बन के अभाव में कोई और आलम्बन उसे अपेक्षित नहीं है। जग उसे सूना लगता है।

जीवन की दुरन्त तीखी दोपहरी में पल भर कल्याणी
क्या पाकर चिर प्यास बुझाऊँ मैं सपनों का चिर सन्धानी।[5]

सम्बन्ध विच्छेद से उत्पन्न टीस, विरही को जन्म जन्म के लिए किस तरह साल

---

१ अचल—अपराजिता, पृष्ठ २३
२ वही, पृष्ठ ६८
३ वही पृष्ठ १५
४ वही, पृष्ठ १८
५ वही, पृष्ठ १६

जाती है इसका मार्मिक वर्णन 'वर्षान्त के बादल' की 'बँटवारा' नामक कविता में हुआ है—

व्यक्त करूँ शब्दों में तुमको, पास नहीं ऐसी भाषा,
प्यार करूँ कितना भी तुमको मिट न सकेगी अभिलाषा।
जितना जान गया हूँ उससे और अधिक क्या जानूँगा।
जब जब मानव जन्म मिलेगा, मैं तुमको पहचानूँगा।
कजली के मर्मी तुम्हारे, जुगनू की ममता मेरी।
मन के सारे स्वप्न तुम्हारे, मन की परवशता मेरी।[1]

प्रकृति के समस्त मादक उपकरण उसे अपनी व्यथा से सिक्त दिखाई पड़ते हैं—

पावस की श्यामल पलकों में, तुमको पवन पुकार रहा
दोनों व्याकुल बाँह बढ़ाकर हो जैसे साकार रहा।
भीगे वनफूलों के चंचल, प्राण तुम्हें ढूँढा करते
नभ पर खींच हृदय की आशा, विरही मन क्रन्दन करते।
झूले का शृंगार तुम्हारा, सूनी विरह निशा मेरी
काले-काले मेघ तुम्हारे, जलन भरी तृष्णा मेरी।[2]

'भीख' नामक कविता में, अंचल के विरह का आलम्बन, सूफी साधकों के आलम्बन की सी विराटता प्राप्त करने लगता है—

जिसकी सुन्दरता से दीपित हो उठते रवि शशि-तारे
जिसकी मधुता से नत मधुदिन चलते विकल गंध धारे
जिस स्वरूप रानी को छू कर हूक सुलगाता मलय पवन
जिसकी एक सहज मुस्कान में तृष्णा से भर जाता जीवन
अरे खोल दो मेरी आँखें जी भर उन्हें निहार सकूँ।[3]

उपर्युक्त पंक्तियों को पढ़कर कोई यह तो कह नहीं सकता कि अंचल जैसे इस संसार के जीव ने ब्रह्म का साक्षात्कार करने का प्रयत्न किया होगा, यही समझा जा सकता है कि उन्होंने अपने भौतिक आलम्बन को भी उतना महान् माना। इसी तरह अपनी भौतिक प्यास को भी उन्होंने महानता प्रदान की है—

प्यास न पूछो बिना पिये ही मतवाले मिटते प्राण
इस अतृप्ति से भरे विश्व में एक यही सुख पहिचानें।[4]

ऋतु का वर्णन भी विरह-काव्य का एक आवश्यक अंग है। अंचल में उद्दीपन और आलम्बन दोनों रूप उपलब्ध हैं। पावस-समीर में ... की कल्पना करता है—

१ अंचल—वर्षान्त के बादल, पृष्ठ १७
२ वही, पृष्ठ १७
३ वही, मधूलिका, पृष्ठ ३८-३९
४. वही, पृष्ठ २१

यह शिथिल गंध गुंजित कोकिल सी
किस मधुपति से गई छली
किस दरस परस से विकल तरल
मधु निर्भर सी मन्द मन्द चली
पावस समीर वह चली अली।[1]

प्रकृति के उद्दीपक रूप का वर्णन वह ऐसे करता है—

वसन्त

अनमने फागुन दिवस ये हो रहे हैं प्राण बस
आज संध्या से प्रथम ही भर चला उर लालसा से
आज आँखों सा प्रखर आलेप पिक की काकली में
एक अगूरी पिपासा मुक्त अंगों की गली में
आज तो मधुमास रे मन।[2]

फागुन के दिवसों का विशेषण 'अनमना' अत्यन्त उपयुक्त है, वह 'वसन्त' की उदभ्रान्त मादकता की युक्त व्यंजना करने में समर्थ है।

पावस

क्या न नमी से भारी हो उठती होगी मुस्कान तुम्हारी
एक चमक सी आती जो गहरी कर मानस की अंधियारी।[3]

उपर्युक्त वर्णन में पावस के उल्लास नमीपूर्ण वातावरण, बिजली की चमक और उसके अन्धकार के अधिक गाढ़ा होने में नायिका की मानसिक स्थिति का साम्य अद्भुत है। विरह की अनुभूति में अभूतपूर्व माधुर्य और कसक का एक साथ उदय तथा स्मृतियों की स्थिति में चमक सी टीस का अस्तित्व और उसके कारण उत्पन्न हुई मन की उदासी की यहाँ पूर्ण और समर्थ व्यंजना हुई है।

इसके अतिरिक्त भी वह कहता है—

भाल चूमते होंगे पुरवया के झोंके आ जाल से
सिंचित करते होंगे तृष्णा की बातें सिहरन के जल से।

दूसरे पक्ष के विषय में विरही की यह कल्पनाएं वास्तव में उसके स्वयं के भावों की प्रतिध्वनि होती है। 'यह उसके मन का क्रन्दन है क्या जाने दूसरा पक्ष उसके विषय में ऐसा सोचता होगा भी या नहीं?' यह विचार विरही के चेतन में उभरकर उसकी पीड़ा को तीव्रतर कर देता है। अंचल कहते हैं—

क्रन्दन करता मेरा तन मन अपने ही चीत्कारों से घिर'

---

१ मधूलिका—भारतीमित्र पृष्ठ ७२
२ वही पृष्ठ ७२
३ वही, वर्षान्त के बादल पृष्ठ ७८

शरद

शरद निशा में तेरी बड़ी याद आती है
कर सोलह सिंगार चांदनी उतर पड़ी है नभ से भू पर
भर मोती से मांग शरद की राका लगती कितनी सुन्दर।
सौरभ भीनी पवन बही जाती है कह कर बात तुम्हारी
लहरों के कम्पित अंगों पर झलमल होती लाज तुम्हारी

× × ×

सांसों की झंकार तुम्हारी,
विरह गीत सी गूंज-गूंज कर,
प्राणों में खोई खोई सी मँडराती है
शरद निशा में तेरी बड़ी याद आती है।[1]

ऋतु वर्णन, काव्य में परम्परा से चला आता है, विरह काव्य में उसका विशिष्ट स्थान है। षट्ऋतुओं में से अंचल ने तीन विशिष्ट उद्दीपक ऋतुओं—वसन्त पावस और शरद का वर्णन किया है। परम्परागत ऋतु-वर्णन और इस वर्णन में भेद यही है कि कवि ने यहाँ केवल ऋतुओं के मादक प्रभाव पर ही बल नहीं दिया है प्रत्युत विरही की मानसिक स्थितियों और ऋतु के उपकरणों में भी एक साम्यता को लक्षित किया है। यही अंचल की इस विषय में विशेष मौलिकता भी है।

अंचल के उपर्युक्त विरह सम्बन्धी विवेचन से यह स्पष्ट है कि उनके काव्य का सूक्ष्म दृष्टि से पठन के उपरान्त उन्हें केवल 'तृषा' का कवि कहना भूल होगी। इस कवि का विरह स्थूल क्षणिक प्यास नहीं है उसमें इस भावना की मार्मिक मनोवैज्ञानिक अनुभूतियों के शाश्वत स्थल भरे पड़े हैं। विरह की निराशा ने उसके व्यक्तित्व को नैराश्यपूर्ण तथा कुंठित न बनाकर उसे इस भावना का एकान्त साधक बना दिया है, यद्यपि उसके स्थूल भौतिक-पक्ष का भी उसने बहिष्कार नहीं किया।

अज्ञेय

विरह भावना के तत्त्व और उसके आलम्बन की दृष्टि से अज्ञेय की कविता को दो स्पष्ट विभागों में विभाजित किया जा सकता है। एक के अन्तर्गत उनकी रहस्यवादी कृतियाँ हैं और दूसरे में लौकिक विरह भावना की कविताएँ। अज्ञेय शुद्ध भौतिकवादी कवि माने जाते हैं अतः उनकी कविता में रहस्यानुभूति से युक्त विरह के क्षण पाकर कुछ आश्चर्य सा होने लगता है। किन्तु वस्तुतः प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में, चाहे वह घोर भौतिकवादी ही क्यों न हो कुछ क्षण ऐसे आते हैं जब वह स्वयं को किसी अपार्थिव सत्ता के प्रति उन्मुख पाता है। अज्ञेय की काव्य रचनाओं में प्राप्त ये रहस्यवादी कविताएँ सम्भवतः इसी तथ्य को सिद्ध करती हैं।

१ अंचल—वर्षान्त के बादल, पृष्ठ २०

इत्यलम में 'असीम प्रणय की तृष्णा' ऐसा ही गीत है। जीवन और जगत् से निराशा के क्षणों में विरक्त एकाकी कवि, जब प्रकृति के सौंदर्य और सान्निध्य का लाभ करता है तब—

लघुता की सत्ता का सागर उमड उमड आता है—
तुम, केवल तुम—दिव्य दीप्ति से
भर जाते हो शिरा शिरा में
तुम ही तन में तुम ही मन में
व्याप्त हुए ज्यों दामिनि घन में,
तुम, ज्यों धमनी में जीवन रस—तुम,
ज्यों किरणों में आलोक[1]

'मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ' भी रहस्यवादी गीत है। इस गीत में कवि ने अनुभूति और ज्ञान दोनों के माध्यम को स्वीकार करते हुए चिरप्रिय से साक्षात्कार का वर्णन किया है।

अनुभूति

प्रिय मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!
वह गया जग मुग्ध सरि सा मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ
प्रिय मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ!
तुम विमुख हो, किंतु मैंने
कब कहा उन्मुख रहो तुम?
साधना है सहस नयना—
बस कहीं सम्मुख रहो तुम
लीन हूँ मैं तत्त्वमय हूँ
अचिर चिर निर्माण मैं हूँ
मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ[2]

ज्ञान—देह में युक्त आत्म चिर पुरुष का रूप होते हुए भी मृत्यु की सीमा में बंधकर स्वयं को विवश सा अनुभव करने लगता है। जब वह अपने अमृत रूप का साक्षात्कार करने के लिए प्रयत्नशील होता है तब उसे मृत्यु का भय नहीं रहता—

क्या डरूँ मैं मृत्यु से या
क्षुद्रता के शाप से भी?

---

१ अज्ञेय—इत्यलम् (प्रथमावृत्ति), पृष्ठ २३
२ वही, पृष्ठ १११

क्या डरूँ मैं क्षीण-पुण्या
अवनि के संताप से भी?
व्यर्थ जिसको मापने में
हैं विधाता की भुजाएँ—
वह पुरुष, मैं मर्त्य हूँ पर
अमरता के मान में हूँ।
मैं तुम्हारे ध्यान में हूँ।[1]

चिर प्रकाश का साक्षात्कार करता हुआ साधक माया के अंधकार की ओर ध्यान नहीं देता—

रात आती है मुझे क्या
मैं नयन मूँदे हुए हूँ,
आज अपने हृदय में मैं
अंशुमाली को लिये हूँ।[2]

अनहद नाद के में स्वर्गीय संगीत की अनुभूति करता हुआ वह प्रिय से चिर मिलन प्राप्त करता है—

मूक संसृति आज है पर
गूँजते हैं कान मेरे—
बुझ गया आलोक जग में
धमकते हैं प्राण मेरे—
मौन या एकांत या
विच्छेद क्या मुझको सताए?[3]

'चरण पर धर चरण' में कवि किसी अलौकिक प्रियतम का अनुसरण करता हुआ निरन्तर आगे बढ़ता प्रतीत होता है। स्वयं को वह उस परमतत्त्व शतदल की एक पखुड़ी मानता है—

चरण पर धर—
सिहरते-से चरण।
पादव - मेरा—
किन्तु इससे क्या कि मेरे साथ चलता कौन है
जब कि यह है साथ मेरी यंत्र चालित देह के
और मैं—मेरा परमतम तत्त्व वलयित
साथ तेरे प्राण के—
जबकि आत्मा यह अनाहत और अक्षत

१ अज्ञेय—इत्यलम्, पृष्ठ ११२
२ वही, पृष्ठ ११२
३ वही, पृष्ठ ११२

चरण तल की छाप के उस कनक शत दल
कमल से बिछुड़ी अकेली दोल पखुड़ी में चमकती
लोल जल की बूँद-सा पर ज्योति गुम्फित
तद्गत और अतिशय मौन है।[१]

अपार्थिव के प्रति प्रणयानुभूतियों के ये गीत अज्ञेय के काव्य में यद्यपि उपलब्ध हैं किन्तु यत्र-तत्र वहीं अलौकिक सत्ता के लिए घोर आक्रोश भाव भी प्राप्त होता है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे कवि के मन में आस्तिकता के प्रति तथा उसके विरुद्ध घोर संघर्ष चल रहा हो—

खड़ा रहूँगा तेरे आगे
क्षण भर मैं चुपका सा
लख कर मेरे कुसुम जगेगी
तेरे उर में आशा,
देव आऊँगा तेरे द्वार!
किन्तु नहीं तेरे चरणों में दूँगा कुछ उपहार!
तोड़ मरोड़ फूल अपने मैं
पथ में बिखराऊँगा,
धरा से फिर कुचल उन्हें मैं
पलट चला जाऊँगा
देव! आऊँगा तेरे द्वार!
किन्तु नहीं तेरे चरणों में दूँगा वह उपहार!
क्या? मैंने भी तेरे हाथों
सदा यही पाया है—
सब मुझे जो प्रिय था उसको
तूने ठुकराया है!
देव आऊँगा तेरे द्वार
किन्तु नहीं तेरे चरणों में दूँगा वह उपहार।[२]

इसीलिए अज्ञेय के इन रहस्यवादी गीतों को निराशा व क्षणिक अवसाद के फल-स्वरूप समझना चाहिए, साधना की चरम अनुभूति नहीं। इतना अवश्य है कि अनुभूति के उन क्षणों में वह सत्य है और उस रूप में भारतीय काव्य में रहस्यवादी विरहानुभूति की पूर्व परम्परा को गुम्फित किए हुए हैं।

अज्ञेय के काव्य में विरहानुभूति का दूसरा और वृहत् पक्ष लौकिक विरहानुभूति है। यहाँ भी पूर्वराग, मान प्रवास और करुण विरह की विविध स्थितियाँ और अनुभूतियाँ

१ अज्ञेय—इत्यलम्, पृष्ठ १८३
२ वही पृ० ८६

म, करुण विरह की नवीन परिस्थिति सम्बन्ध विच्छेद का ही सबसे अधिक प्रश्रय है। 'पूर्वराग', मान और 'प्रवास' सम्बन्धी उक्तिया का सक्षिप्त अध्ययन कर पश्चात यहाँ हम करुण विरह की विभिन्न स्थितियों का विस्तृत परिचय प्राप्त करेंगे।

पूर्वराग की अभिलाषा से प्रेरित होकर कोई विरही कहता है—

हा, कि म सो जा सकूं।
हा कि उसके भाल पर अवतंस-पद म पा सकूं—
हा, कि उसके हृदय पर एकाधिकार जमा सकूं।
टूटकर उसके करो चिर ज्योति म सो जा सकूं—
हा कि उसके चरण छूकर आत्मभान भुला सकूं।'

कवि की प्रिया जिसके हृदय पर वह 'एकाधिकार जमाना चाहता है, लौकिक है अथवा अलौकिक, समझ म नहीं आता यहाँ यह भाव सर्वथा उलझा हुआ और अस्पष्ट है। एक ओर वह प्रेयसी केवल ज्योति रूप है (टूटकर उसके करो चिर ज्योति म सो जा सकूं), अन्तिम पंक्ति से उसके प्रति पूज्य भाव भी प्रकट होता है दूसरी ओर 'एकाधिकार' का भाव उपासक और उपास्य सम्बन्ध के विरुद्ध है। कवि प्रेयसी के अस्तित्व पर अतीन्द्रियता का आवरण चढ़ाए रखना चाहता है।

'प्रणयमान म मनुहार का एक चित्र छायावाद की प्रतीक शैली का आश्रय लेकर अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है—

प्रिय तनिक ठहर तो आओ तुम्ह सान्ध्य-तारा दिखलाऊं।
रूठ प्रतीची के दीवट पर करुण प्रणय का दीप जला है—
लिय अलक्षित अनुनय अजलि किसे मनाने आज चला है?
प्रिय इधर तो देखो तुमसे इसका उत्तर पाऊं
तुम्ह साध्य-तारा दिखलाऊं'[1]

नायिका के अबाध रोष और उसम नायक की एकाकी मनुहार के विषय म कवि का विरही कहता है—

अरुण सकल आकाश किन्तु उसम है तारा-दीप्त अरुणा।
अनमिष भरी भी मनुहार यदि तुम मूर्तिमती अनहला।
अपलक-नयन इसी विस्मय म कैसे तुम्हे मनाऊं।

विरही, प्रतीची और तारक आदि के विषय म सोचता है और अ... भी एक बार साध्य तारा रूप मनुहार जब समाप्त हो जाएगी तो ... तारा की मनुहारों से परिपूरित हो जाएगा, दूसरी ... उसकी प्रार्थना भी प्रमाणित गीता के रूप म ...

---

1 अज्ञेय—चिन्ता, विश्वप्रिया पृष्ठ ७१
2 वही पृष्ठ १५

नभ का रोष बुझाकर तत्क्षण डूब जाएगा संध्या तारा।
जाते पर अपने प्रतिबिम्बों से भर जाएगा नभ सारा।

तुम अनुकूलो तो मैं तत्क्षण चरणों में से शीश हटाऊँ—
सम्मुख होकर अगणित गीतों की मालाएँ तुम्हें पिन्हाऊँ।[1]

मनुहार की यह शैली हिन्दी के विरह-काव्य के लिए एकदम नई चीज है। मनुहार तथा चरणों पर शीश धरने की प्रक्रिया पुरानी होने पर भी नई-सी प्रतीत होती है। संध्या में उस तारे का मनुहार के साथ साम्य, सुन्दर और सटीक रूपक में बाँधा गया है। संध्याकाश की अरुणिमा नायिका के रोषपूर्ण मुख की सुन्दर व्यंजना कर रही है।

अपनी तड़पन और पुकार को पावस की तड़पन में देखता हुआ कोई विरही प्रणयिनी से रोष त्यागने की याचना करता है। इसको भी 'प्रणयमान' की मनुहार मानना चाहिए—

विद्युद्गति में सुप्तविकलता खोई सी बहती है,
घन की तड़पन में पुकार सी कुछ उलझी रहती है,
उस प्रवाह से एक कली ही चुन तो लो
देवी सुन तो लो, यह पावस रजनी क्या कहती है—
क्षण भर रुककर सुन तो लो।[2]

कहीं 'क्वार की बयार' किसी मानिनी नायिका का मान भंग करती हुई दृष्टि-गोचर होती है। यह भी 'प्रणयमान' का चित्र है। नायक नायिका की मनुहार करते-करते स्वयं रूठ गया है, तब—

इतराया यह मौर ज्वार का
क्वार की बयार चली
शशि गगन पार हँसे न हँसे
शेफाली आँसू ढार चली।[3]

'मान के कारण रूठा प्रिय (शशि) हँसता नहीं, शेफाली को रोना आ रहा है। नायक का मान और नायिका की विवशता 'अप्रस्तुत' में यहाँ अत्यन्त सुन्दरता से व्यंजित हुए हैं।

अपनी बाजी हारने का वर्णन नायिका इस प्रकार करती है—

नभ में रवहीन दीन
बगुलों की डार चली
मन की सब मनकही रही
पर मैं बात हार चली।[4]

---

[1] ...देव—चित्रा, पृष्ठ ३४
[2] ...रा, पृष्ठ ३७

अन्य सम्भोग दुखिता' नायिका की ईर्ष्या संयुक्त स्वोक्ति अज्ञेय ने बत्ती और शिखा को प्रतीक रूप में रखकर प्रस्तुत की है—

मेरे हृदय रक्त की लाली
इसके तन में छाई है
किन्तु मुझे तज दीपशिखा ने
पर से प्रीति लगाई है।
इस पर मरने दग्ध पतंग
नहीं चने में पाती हूँ—
अपना भी परकीय हुआ,
यह दग्ध जली मैं जाती हूँ।[1]

बत्ती और शिखा दोनों स्त्रीलिंग वाची शब्द हैं। अतः रूपक की सटीकता में अवरोध पड़ता है।

पानी बरसा नामक गीत में प्रकृति का उद्दीपक रूप प्रस्तुत करके कवि ने प्रोषितपतिका नायिका की अभिलाषा' का वर्णन किया है—

ओ पिया पानी बरसा!
ओ पिया पानी बरसा!
घास हरी हुलसानी
मानिक के झूमर सी
झूमी मधु मालती
•
खड़खड़ कर उठे पात
फड़क उठे गात।
देखने को आँखें
घेरने को बाँहें
पुरानी कहानी?
आठ का आठ, बरस का बरस
ओ पिया, पानी।
मेरा हिया तरसा।
ओ पिया, पानी बरसा।[2]

यह गीत ग्रामीण गीतों के अत्यन्त समीप है। प्रकृति के उद्दीपक रूप की पृष्ठभूमि में कवि ने मिलन की तम्न चाह' को अभिव्यक्त किया है। ओ पिया पानी में तृष्णा की आकुलता अभिव्यंजित हो रही है।

---

[1] अज्ञेय—इत्यलम्, पृष्ठ ११
[2] वही, पृष्ठ २०४ २०५

वसन्त के आगमन पर आम्रबौर के विकास से विरह भावना की उद्दीप्ति का वर्णन स्थान-स्थान पर कवियों ने किया है परन्तु अज्ञेय की नायिका कहती है—

सखि आ गये नीम को बौर !
हुआ चित्रकर्मा वसन्त अवनीतल पर सिरमौर।
आज नीम की कटुता से भी लगा टपकने मादक मधु रस !
क्या न फड़क फिर उठे तड़पती विह्वलता से मेरी नस नस !
सखि आ गये नीम को बौर !¹

नीम के बौर का वर्णन करने में ध्वनि यह है कि नीम जैसी कड़वी वस्तु पर भी ऋतु का मादक प्रभाव है, तब अन्य प्राणियों का तो कहना क्या ?

एक ओर विरहिणी मधु ऋतु के सुन्दर वातावरण को कोसती है—

मधु मंजरि, अलि, पिक रव, सुमन, समीर—
मत्त वसंत, क्या जाने मेरी पीर !
प्रियतम क्या भाते हैं मधु को फूल,
जब तेरे बिन मेरा जीवन धूल ?²

प्रवास में कोई नायक प्रियतमा के चित्र को देखकर सान्निध्य का अनुभव करता है—

मुझे देखकर नयन तुम्हारे
मानो किंचित खिल जाते हैं,
मौन अनुग्रह से भर कर वे
अधर तनिक से हिल जाते हैं
तुम हो बहुत दूर, मेरा तन
अपने काम लगा रहता है—
फिर भी अनजाने में सहसा
मन दोनों के मिल जाते हैं।³

विरह की उन्माद दशा में विरही को जड़ और चेतन का बोध नहीं रहता। इस दशा में चित्र के दर्शन और आलिंगन का वर्णन संस्कृत काव्यों व नाटकों में मिलता है। यहाँ उन्माद में आलिंगन के लिए प्रयत्नशील होकर भी विरही विवेक नहीं खो सकता क्योंकि उसमें बुद्धि प्रधान है—

घूम जाते हैं हाथ चौखट पर
यद्यपि यह पागलपन है,
रोम पुलक उठते हैं, यद्यपि
झूठी यह तन की सिहरन है

¹ अज्ञेय—चिन्ता, पृष्ठ १११
² वही पृष्ठ ११३
³ इत्यलम्, पृष्ठ १२५

'छाया का चौखट पर घुट कर रह जाना' बिलकुल नवीन अनुभाव है जिसका उद्भव, भावना और विवशता के संघर्ष से हुआ है।

करुण विरह के शास्त्रीय रूप तथा नवीन रूप 'सम्बन्ध विच्छेद', दोनों की अभिव्यक्ति अज्ञेय की कविताओं में मिलती है। शास्त्रीय करुण विप्रलम्भ की एक नवीन परिस्थिति 'इत्यलम्' की 'द्वितीया' नामक कविता में प्राप्त होती है। चित्र एक ऐसे व्यक्ति का है जो द्वितीय विवाह हो जाने पर भी अपनी प्रथम मृत पत्नी को भुला नहीं सका है। द्वितीय पत्नी के प्रति मधुर सम्भाषण करता हुआ भी वह जानता है कि यह सम्भाषण उसके लिए नहीं है। वह पत्नी से कहता भी है—

मेरे सारे शब्द प्यार के
किसी दूर विगता के जूठे

मैं तुमको सम्बोधन कर
मीठी मीठी बातें करता हूँ
किन्तु हृदय के भीतर किसकी
छोभी चोट सहा करता हूँ
बातें सच्ची हैं यद्यपि वे
नहीं तुम्हारी हो सकती हैं—
तुमसे झूठ कहूँ क्यों जब
उसके प्रति सच्चा रहना हूँ।[1]

इसको हम 'उद्वेग' की दशा मानते हैं। 'उद्वेग' दशा में विरही को प्रिय के ध्यान के अतिरिक्त कुछ अच्छा नहीं लगता, मन बेचैन रहता है।

करुण विप्रलम्भ में यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य यह है कि नायक अपने प्रणय में दोष स्वीकार करते हुए द्वितीय पत्नी के प्रति मनुहार भी प्रस्तुत करता है—

नहीं भग्न खोकर लकड़ी पर
हृदय अथाहित का थमता है
किन्तु उसी पर धीरे धीरे
पुनः यम उसका जमता है
उर उसको धारे है फिर भी
तेरे लिए खुला जाता है—
उतना आतुर प्यार न हो पर
उतनी ही कोमल ममता है।
शायद वह भी थाती
तब तुम

१ अज्ञेय—इत्यलम्, पृष्ठ १३२

एक तुम्हीं को दे देता हूँ
उससे बच जाता है जितना।[१]

मान और मनुहार के इस उपयुक्त भाव को भी 'प्रणयमान' की स्वतंत्र विरहानुभूति न मानकर, करुण विरह का संचारी भाव ही मानना चाहिए क्योंकि कवि का लक्ष्य नायक की विवशता का वर्णन करके मृत प्रियतमा के प्रति उसकी अनन्त अनुरागमयी विरह-वेदना को व्यक्त करना ही है। शास्त्रीय करुण विप्रलम्भ का यह परिस्थिति पूर्ण रूप से मौलिक है।

करुण विरह का दूसरा रूप 'सम्बन्ध विच्छेद' की विभिन्न परिस्थितियों और फलस्वरूप प्राप्त विरहानुभूतियों के विविध चित्रण में प्राप्त होता है। एक परिस्थिति तो यह है जब नायक-नायिका दोनों परस्पर अनुरक्त हैं किन्तु सामाजिक स्थिति के कारण दोनों का चिरमिलन सम्भव नहीं है। ऐसे समय में वियोग की घड़ी जब उपस्थित होती है तब भावी पीड़ा की आशंका से कोई नायक कह उठता है—

उखड़ा सा दिन, उजड़ा सा नभ
उचटे से हमसी बादल—
क्या इसी शून्य में खोएगा
अपने दुलार का अंतिम पल ?[२]

मन की अव्यवस्थित स्थिति के साथ, 'उखड़ा सा दिन, उजड़ा सा नभ' आदि प्राकृतिक परिस्थिति से साम्य व्यथा की व्यंजना को तीव्रतर कर रहा है। दूसरी परिस्थिति यह है जब एक पक्ष की उदासीनता के कारण मिलन सम्भव नहीं होता। परन्तु दूसरा पक्ष प्रतिदान के अभाव में भी अपने हृदय के प्रेम को जीवित रखने का प्रयास करता है, अपने हृदय के रक्त से वह अपनी पीड़ा को सींच सींच कर बनाया करता है। शास्त्रीय दृष्टि से यह मन के काल्पनिक आदर्श का एकपक्षीय प्रेम कहलाएगा और मनोविज्ञान की दृष्टि से आत्मपीड़न में सुखानुभूति की स्थिति। प्रियतम की अवहेलना को सहता हुआ कोई विरही कहता है—

लड़ना ही मेरा गौरव, मैं रण में विजयासक्त नहीं,
अपने को देने आया मैं वर का भूखा भक्त नहीं।
नहीं पसीजो, अवहेला में भी पनपेगा मेरा प्यार
क्या घुटघुट कर मरने वालों के उर होते आरक्त नहीं ?[३]

प्रतिदान के अभाव में, विरही की निराशा कभी-कभी इतनी बढ़ जाती है कि यदि उसे कुछ समय पश्चात् प्रिय के प्रेम का आभास मिलता भी है तो भी वह उसे स्वीकार नहीं करता—

१ अज्ञेय—इत्यलम्, पृष्ठ १३८
२ वही, चिन्ता, पृष्ठ ६२
३ वही, पृष्ठ ५२

क्षण भर पहले ही आ जाते।
प्राण सुधा को क्या तुम तब ऐसी बिखरी ही पाते
भरी भरी आंखों के प्यासे प्यासे सूने आंसू—
नहीं तुम्हारे ही चरणों क्या लोट-लोट लुट जाते।
× × ×
आज लग रहा क्षण क्षण युग सा, पर यदि यदि कुछ होता
इस क्षण में ही कितने युग युग हाय क्षणिक हो जाते ॥[1]

भरी भरी आंखों के प्यासे प्यासे सूने आंसू प्रयोग बहुत सुन्दर है, व्यथा के साथ अतृप्ति का भाव उसमें निहित है। विरह में एक क्षण का युग के समान बीतना और यदि मिलन होता तो युग का भी क्षण के समान बीत जाना बहुत सुन्दर अभिव्यक्तियाँ हैं।

विरह को अपने जीवन के चरम सत्य के रूप में स्वीकार करता हुआ यह विरही कहता है कि समय बीत जाने पर प्रतिदान का कोई लाभ नहीं—

देखे हैं क्या कभी शिशिर के सूखे पत्ते—
मधु में मधु के एक घूंट के लिए तरसते ?
विफल प्रतीक्षा में ही उनके सुभग रहे होते हैं प्राण
क्षण भर फिर एकाएकी हो जाता उनका जीवन त्राण।
फिर यदि झोंका आया—क्या आया।
मलय समीरण लाया—क्या लाया ?[2]

यह विरही प्रिय के प्रति उदासीनता का आवरण यद्यपि अपने व्यक्तित्व पर आच्छादित रखता है किन्तु उसके हृदय के गहनतम गह्वर में मिलन की आशा बराबर विद्यमान रहती है। वह स्वयं ही कहता है—

भूल प्रेम अब भुला चुके हो,
आकर्षण को भुला चुके हो,
फिर क्या प्रणयी विजन स्थलों में
उसत मिलन को हो व्याकुल ?[3]

विरह का दुख ही उसके लिए सुख बन जाता है।

एक कीर युग्म को साथ साथ अप्रतिहत गति से उड़ता हुआ देखकर विरही को अपनी खोई हुई प्रियतमा की याद आ जाती है। अस्तित्व के बन्धन में बँधा हुआ होकर भी वह 'स्मृति' के पथ से अपनी प्रियतमा का सामीप्य अनुभव करता है—

देखकर वे दो उड़ते कीर—
भर उठा अन्तस्तल विद्राह।
× ×

---

१ अज्ञेय—चिन्ता, पृष्ठ ६२
२ वही, पृष्ठ ६२
३ वही, पृष्ठ ७१

मुझे बाँधे है यह अस्तित्व
मूक तुम, किस पर्दे के पार
किन्तु खाकर आस्था की चोट—
खुल गए वन्दीगृह के द्वार!
यही है मिलन मार्ग का सेतु
हृदय की यह स्मृति प्यार पुकार
इसी में, रह कर भी विच्छिन्न
हमारा है अनन्त अभिसार।[1]

केकी के शब्द से विरही को अचानक अपनी प्रियतमा का उदास मुख याद आ जाता है। वह पुकार अंधकार को बेधती हुई विरही के व्रण को हरा करके लुप्त हो गई मानो मौन से व्रण को ढक लेना चाहती हो किन्तु स्निग्ध सस्पर्श युक्त तारे सी मधुर स्मृति जो उदय हुई वह क्या ऐसे ही विलीन हो जाती?

एक क्षण! केकी की पुकार से फटा हुआ
रात का रहस्यगर्भ स्पंदित तिमिर फिर
व्रण निज ढक कर फलकर मिल गया
जैसे पाई निराकार चेतना
जीवन की अल्पतम
अनुभव लहर की चोट सोख लेती है
और मानो चोट खाए स्थल को
देने का विदेप कोई स्निग्ध-स्पर्श सान्त्वना—
रात के घुहाम में से एक छोटा तारा फूट निकला।[1]

यहाँ कवि की शैली अत्यन्त व्यक्तिपरक और उलझी हुई हो गई है। स्थूल रूप से केकी के शब्द हृदय के व्रण और तारे में कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता। किन्तु वस्तुतः केकी का रव उद्दीपन है और तारे-सी स्मृति आशा का प्रतीक। इसीसे प्रियतमा के मुख की स्मृति का तारा कहा है।

हरी घास पर क्षण भर में विरह सम्बन्धी कुछ संक्षिप्त उक्तियाँ अत्यन्त मार्मिक बन गई हैं। एक स्थान पर कवि प्रिया की स्मृति के सम्मुख अपने अहं की पराजय को स्वीकार करता है—

भोर बना—नदी तट की घंटियों का नाद।
चोट खाकर जग उठा सोया हुआ अवसाद।
नहीं मुझको नहीं अपने दर्द का अभिमान—
मानता हूँ मैं पराजय है तुम्हारी याद।[2]

---

[1] अरी ओ करुणा प्रभामय—इत्यलम्, पृष्ठ १०७
[2] वही, पृष्ठ १८१ १८२
[3] हरी घास पर क्षण भर, पृष्ठ १७

प्रभात काल म घटी के शब्द स उद्दीपन का होना बिलकुल नवीन कल्पना है। प्रकृति क उपकरण विरही क हतु उद्दीपक ता होत ही हैं साथ ही वह उनम अपनी भावनाओ का रूप भी दखता है—

कली री पलास की।
टिमटिमाती ज्याति मरी आस की
या कि शिखा ऊध्वमुखी मरी दीप्त प्यास की।
वासना सी मुखरा वदना सी प्रखरा
दिग त म।[1]

ऋतु का मादक प्रभाव प्रियतमा पर भी पडगा इसी आशा ने विरही कह उठता—

प्रान्तर म प्रान्त म
खिल उठ, झूम जा, मस्त हा
फल जा वनान्त म—
माग मरे प्रणय का प्रशस्त हो।[2]

स्मृति के अतिरिक्त स्वप्न और मधु दशाओ क भी सुन्दर वणन अज्ञय क काव्य मे उपलब्ध होत है। व दा म अनुभूति, स्वप्न दशा की अत्यन्त सुन्दर कविता है—

उस तम घिरत नभ क तट पर
स्वप्न किरण रखाओ स
बठ झरोखे म बुनता था
जाल मिलन के प्रिय। तर।[3]

स्वप्न म प्रिय क साक्षात्कार क साथ उसक लुप्त हा जान की आशक। विरही क मन म रहती है। उसका वणन कवीर क ओज म है—

वाला हृदय कीडकर दखो—
प्रतिमा ता मत जाए कही।
किन्तु कही वह स्वप्न न निकल
इतन साहस हुआ नहा।[4]
(आस न खानू डरपता मत सपना ह्व जाय)

अश्रु का धाला द बह जाना विरह की वदना का वणन करता है। भवभूति न ...द्र क महत्व का वणन उत्तर रामचरित म किया है।[5] अज्ञय का विरही भी कहता है—

नई प—स्वप्नम्, पृष्ठ १८५
...ही, पृष्ठ १८६
...ी पृष्ठ १०५
..., पृष्ठ १०५
...दे—भारतीय का य मे विरह भावना भवभूति, द्वितीय अध्याय

प्रियतम आज बहुत दिन बाद !
आँखों में आँसू बन चमकी तेरी कसक भरी सी याद

रो लेने दो मुझको जी भर
यही आज सुख सबसे बढ़कर।
मुझे न रोको आज कि मुझ पर छाया है
उत्कट उन्माद।[1]

विरह का ताप और वेदना की आर्द्रता मिलकर विश्वास के बादल का सृजन करती हैं। विरही के अनन्य विश्वास के विषय में अज्ञेय की यह नई सूझ है—

रो उठेगी जागकर जब वेदना
बहेगी लूह विरह की उन्मना
उमड़ क्या आया करेगा हृदय में
सवदा विश्वास का वारिद घना ?[2]

आशा और भाव राशि, दो ही निधियाँ विरही के पास ऐसी होती हैं जो उसकी मौन वेदना के स्पर्श को प्रिय तक पहुँचाती हैं उनको अज्ञेय धूप की दो बत्तियाँ कहते हैं, जो मौन होकर भी प्रिय का संस्पर्श करती हैं—

ये तुम्हारे नाम की दो बत्तियाँ हैं धूप की।
डोरियाँ दो गन्ध की
जो न बोलें
किन्तु तुमको छू सकें
जो
विदेही स्निग्ध बाहों से तुम्हें
वलयित किये रह जाएँ।
क्या है और मेरे पास ?
हाँ आस
मैं स्वयं तुम तक पहुँच सकता नहीं
पर भाव के कितने न जाने सेतु
अनुक्षण बाँधता हूँ।[3]

'धूप की बत्ती' का प्रतीक रूप में रखने में स्वयं को क्षार करके गन्ध के सृजन की ध्वनि भी निकलती है।

---

१ अज्ञेय—चिन्ता, पृष्ठ १६८
२ वही, हरी घास पर क्षण भर, पृष्ठ २३
३ वही, इन्द्रधनु रौंदे हुए ये, पृष्ठ ७८

'किसने देखा चाँद' नामक कविता में चाँद, विरही के नैन का अनजरा आँसू बन जाता है। चन्द्रमा के विषय में यह कवि की एकदम मौलिक कल्पना है—

किसने देखा चाँद
जिसने
उसे न चीन्हा एक अकेली आँख
अकेला एक अनझरा आँसू
जीवन के इकलौते अपने दुख का
बँधा चिरंतन आयासों से,
खुली अजाने अनायास
सीपी के भीतर का अनगढ़ मोती ?[१]

प्रणय के विरहो में सम्बन्ध विच्छेद से उत्पन्न कुण्ठा के स्थान पर एक नई आशावादिता मिलती है। 'अरमानों की भूल' ज्ञात पर भी वह उसे प्रणय का अनुभव की निधि के रूप में स्वीकार करता है। विरह के प्रति यह दृष्टिकोण सर्वथा बौद्धिक प्रभाव के कारण उत्पन्न कहा जा सकता है। कोई नायक सम्बन्ध विच्छेद की घड़ी में प्रेयसी को सान्त्वना दे रहा है—

कैसे कहूँ 'भुला देना' कैसे कह दो 'मत जाना भूल'
कैसे कहूँ 'फूल मत होना' कैसे कहूँ कि 'होना शूल'।
थकित मन जो मैं कहता हूँ, थकित मन ही तुम सुन लो
नहीं तुम्हारी हो, यह है मेरे ही अरमानों की भूल॥

तथा—

जीवन के गहरे अनुभव या नहीं कभी भूले जाते।

और—

राह राह के राही सहसा जब पथ पर मिल जाते हैं
चौराहे पर आकर क्या वे अलग नहीं हो जाते हैं ?
प्रणयपात होता है क्या तब जब उस घनिष्ठता के बाद
आशापूर्ण हँसी हँसते वे तमसा में खो जाते हैं ?[२]

सम्बन्ध विच्छेद के बाद पर्याप्त समय के बीत जाने पर कोई नायक विरह वेदना से तड़पता हुआ, अपने अपराध की स्वीकृति करता है और प्रियतमा से क्षमा याचना भी।

आह—
भूल मुझसे हुई—मेरा जानता है मान,
किन्तु यह जो गाँठ है साझी हमारी,

१ अज्ञेय—इत्यलम्, पृष्ठ २१४
२ वही, चिन्ता, पृष्ठ ८३-८३

खोल सकता हूँ अकेला
कौन से अभिमान के बल पर ?
—हो तुम्हारे चेतना तल पर
तर आए अगर मेरा ध्यान
और हो अम्लान
(चेतना के सलिल से धुल कर)
तो वही हो क्षमा की वेला[1]

विरह की इस व्यथा को 'आत्म ग्लानि' की स्थिति कहा जा सकता है।

विरह का एक और नवीन रूप भी अज्ञेय के काव्य में उपलब्ध होता है। वह है दो अपरिचित व्यक्तियों का एक रात का मिलन और चिर वियोग। आधुनिक परिस्थिति की अराजकता से उत्पन्न इस स्थिति को यद्यपि प्रेम नहीं कहा जा सकता, वह वासना की क्षणिक तृप्ति ही है। परन्तु उस वासना के धुएँ में अज्ञेय ने कुछ उज्ज्वल कोमल भावों को जन्म दिया है। 'नाम तेरा' नामक कविता में कवि का नायक अपनी एक रात की साथी प्रियतमा से कहता है—

पूछ लूँ मैं नाम तेरा
सोच मत, 'यह प्रश्न क्या जब
अलग ही हैं मार्ग अपने ?'
सच नहीं होते इसी से
भूलता है कौन सपने ?
मोह हमको है नहीं पर
द्वार आशा का खुला है—
क्या पता फिर सामना हो
जाय तेरा और मेरा !
पूछ लूँ मैं नाम तेरा[2]

यदि वासना ही लक्ष्य था तो नाम पूछने की क्या आवश्यकता थी ? किंतु यहीं 'भूख उतना हूँ रहा मैं अन्त से अभिराम अपना होने पर भी इतना नहीं है भाग्य मेरा' में व्यथा की ध्वनि है। नायक के यह शब्द उसके अन्तर्द्वन्द्व को स्पष्ट करते हैं।

और होगा मूर्ख जिसने
चिरमिलन की आस पाली—
पा चुका—अपना चुका है
कौन इतना भाग्यशाली ?

---

१ अज्ञेय—हरी घास पर क्षण भर, पृष्ठ ३८
२ वही, इत्यलम्, पृष्ठ १०८

इस तड़ित का चाव लेना
देख तू नैन न लागा—
ढूँढ इतना है नहीं
इतना नहीं है भाग मेरा।
डूब न मैं नाम तेरा।[1]

आज भी न आधुनिक परिस्थिति पर आ... रचे हैं जहाँ आर्थिक कठिनाइयों के कारण पुरुष स्वयं को विवाह के उत्तरदायित्व में बाँधना नहीं चाहता और स्त्री पुरुष 'मान' न करने पर वचन का वाच्य होता है।

इस तरह अज्ञेय के काव्य में विप्रलम्भ के अनेक रूप और विरह-वेदना की अनेक परिस्थितियाँ मिलती हैं। काव्य के परम्परित रूपों में जहाँ एक ओर अनेक नवीन उद्भावनाएँ प्राप्त हैं वहाँ दूसरी ओर आधुनिक परिस्थिति से उत्पन्न नई विचारों की परिस्थितियों और व्यथाओं का अंकन भी है।

गिरिजाकुमार माथुर

गिरिजाकुमार माथुर वस्तुतः मन और विरह के कवि न होकर मन की व्यथा के कवि हैं। उन्होंने विरह भावना से सम्बद्ध कुछ अधिक नहीं लिखा किन्तु जो कुछ भी लिखा है, वह अवहेलना के योग्य नहीं।

इस विषय में सबसे मुख्य बात जो इनकी कविता में प्राप्त हुई वह यह है कि इन कवि ने विरह को जीवन से अनुस्यूत एकाकी आँसू बहाते नहीं देखा है। उस अपच्छा व्यथा को भार होते हुए भी जीवन-धारा में डूबा पाया है। गिरिजाकुमार माथुर प्रेम और विरह के लम्बे-लम्बे उच्छ्वासों और मधुर कल्पनाओं के पीछे केवल एक सत्य मानते हैं और वह है 'शरीर का सुख'। उनके अनुसार दैनिक-जीवन की भट्टी में काल्पनिक आदर्शों के यह खोटे सिक्के गल जाते हैं। 'धूप के धान' की 'रोमान' नामक कविता में कवि कहता है—

पर मुझको है पता
कि बिछुड़न की इन तीखी पीड़ाओं में
ऊँचे-ऊँचे आदर्शों की इन बातों में
छिपा हुआ है भेद कौन-सा
तन-मन जीवन का निचोड़ जिसको कहते हो
वह सारा वसन्त पनपा
काव्य कला की मधुर कल्पना
केवल शारीरिक है
आज नहीं मानोगे तुम मेरी बातों को

१ अज्ञेय—इत्यलम्, पृ० १२६

नीरस सीख कहोगे जिनको
पर अपनी खिल्ली कल तुम्ही उडाओगे
जब दैनिक जीवन की भट्टी मे
गल जाएँगे खोटे सिक्के सारे मन के[१]

कवि का तात्पर्य यह कदापि नही है कि वियोग-व्यथा होती नही अथवा प्रिय का अभाव खटकता नही है किन्तु वह यह अवश्य जानता है कि संघर्षमय जीवन मे एसे रोने धोने का कोई लाभ नही, वह व्यक्तित्व को अकर्मण्य बनाकर खोखला कर देता है

कवि के अनुसार सच्चा विरही वही है जो प्रिय की सुधि को मन मे रखकर संघर्षों से खेलता है। 'प्रौढ रोमास' मे उन्होंने गार्हस्थिक विरह का वर्णन किया है—

हमको भी है भान विरह का
और मिलन का
यह मत समझो वरफ बन गया हृदय हमारा

पर वह तुमसे बहुत भिन्न है
हम मन मे सुधि रखकर भी
है कर्मशील
है संघर्षों मे डूब भूले

आज हमारे सम्मुख और समस्याएं है
प्रश्न दूसरे
घर के, बाहर के, समाज के

अब हमको सुधि की पीडा है नही सताती
केवल ध्यान यही आता है
आज न बच्चे घर मे हैं कूडा करने को
खूब सफाई है आँगन, छत पर, कमरो मे
पर कुछ खाली खाली सो है
आज नही अच्छी लगती यह
पहुम इस कूडे-करकट मे
मन मे झुँझलाहट होती थी
आज वही बच्चो का कूडा याद आ रहा।[२]

'सुधि की पीडा' का यह रूप विरह भावना के क्षेत्र मे कवि की एकदम मौलिक

१ [illegible] गिरिजाकुमार माथुर—धूप के धान (प्रथम संस्करण), पृष्ठ २३
२ वही, पृष्ठ २४–२५

उद्भावना है। पत्नी की विरह-वेदना को कवि केवल ध्वनि रूप में इस प्रकार प्रस्तुत करता है—

यह एकांत मकान
और उजला बाहा सी यह दीवारें
नहीं समेट पा रहीं मुझको
और न दिन भर की थकान को मिटा रही हैं।[1]

आधुनिक युग में पहले विरह भावना जीवन की बहुमुखी अभिव्यंजना से दूर थी किन्तु अब वह उनके अत्यंत अनाद आ गई है। पत्नी के वियोग के साथ बच्चों के अभाव की अनुभूति विरह-वेदना का यथार्थ रूप अंकन कर रही है। वात्सल्य का भाव सचारी बनकर विरहानुभूति को तीव्रतर कर रहा है। विरही की इस व्यथा में उदासी नहीं है क्योंकि वह काम के सौन्दर्य में संयुक्त है। कवि कहता है—

पर इनमें मन बोझिल आज नहीं होता है
और न मुंह पर छांह उदासी की आती है

क्योंकि बड़ी भोली मिठास की सुधियां हैं ये
जीवन के मासूम सुखों की
तन के मन के स्वस्थ चैन की।[2]

काल्पनिक प्रेम के आदर्श को कवि ने सादा सिक्का इसलिए कहा है क्योंकि जीवन की वास्तविकता से वह स्थिर सत्य नहीं है—

और हृदय की कलियां खिलती देखी
सपनों की पूना में
और प्यार के चांद बुझ गए
जीवन की सन्ध्या पर आकर।[3]

इस तरह हम देखते हैं कि आधुनिकतम यथार्थवादी काव्य में विरह भावना के परम्परागत मूल्य बदल रहे हैं। वह जीवन के ठोस सत्य में अपनी भाव सामग्री ग्रहण करने का प्रयत्न कर रही है इसीलिए जीवन के अधिक समीप है।

गार्हस्थिक विरह की नवीन उद्भावना के अतिरिक्त गिरिजाकुमार माथुर की कविता में प्रवास के दो-टान और सुन्दर चित्र भी उपलब्ध हैं। इनमें पहला चित्र न्यूयार्क की शाम' नामक कविता है। नायक को सुदूर देश में अपना घर-बार याद आता है—

दुनिया एक मिट गई टूट
नया खिलौना ज्यों मिट्टी का

1 गिरिजाकुमार माथुर—धूप के धान पृष्ठ २५
2 वही पृष्ठ २६
वही, पृष्ठ ८

ग्रासू की सी बूंद बन गया
मोती का संसार सलोनो

सभी पराया सभी अचीन्हा
रंग हजारों पर मन सूना
नभ भवनों में याद आ रहे
वे कच्चे घर द्वार सलोनी।'

'कच्चे घर द्वारों में बसा हुआ मोती का संसार प्रवास में केवल आँखों का अश्रु कर रह गया है' प्रयोग बहुत सुन्दर है।

अन्य दो चित्र ऋतु के उद्दीपक प्रभाव के हैं। इनमें पहला चित्र 'बसन्त' का और रा 'पावस' का है। पहले में बसन्त से उद्दीप्त व्यथा को झेलती हुई कोई नायिका ती है।

आज फूल रही कचनार
श्याम नहीं महलों में
सखी साजें बसन्ती सिंगार
सेंदुर भरे अलकों में
याद के संग हँस
बात कहते रुके
बांह छोड़ें कसें

बीती जाय बसंती विहार
रैन बीते पलकों में
आज फूल रही कचनार
श्याम नहीं महलों में'

यह गीत लोकगीतों के अत्यन्त समीप है और सन्देश रासक' में दी गई विरह गाथाओं की परम्परा को सुरक्षित किए हुए है।

दूसरे चित्र में पावस के सौन्दर्य में कोई नायक अपनी प्रियतमा का रूप देखता है। ता 'स्मृति' की है—

घन घुमडन भुज बंधन के उन्माद सी
बढ़ती आती रात तुम्हारी याद सी

रात रमीली बूंदा वाली

श्री गिरिजाकुमार माथुर—धूप के धान, पृष्ठ ६२
वही, पृष्ठ ८५, ८६

जैसे देह रसाल
यहाँ महक उठती मेंहदी की
वहाँ हाथ हैं लाल
विद्युत् दीपन नयन की चमकार सी
अधर छुवन की सिहरन मद फुहार सी
घन मतवाल काजल काले
जब लम्ब बाल

संक्षेप में कहा जा सकता है कि गिरिजाकुमार माथुर[१] के काव्य में प्राप्त विरह भावना के विरल चित्र भी अपनी अनुभूति में अनुपम हैं। उनमें परम्परित विरह-व्यथा जितनी मार्मिक है उतनी ही उसकी नवीन उद्भावना भी। गार्हस्थिक विरह की नवीन उद्भावना जीवन के अधिक समीप होने से अत्यन्त हृदयस्पर्शी हो गयी है। इतना अवश्य है काल्पनिक आदर्श से प्रेरित एकान्तिक विरह व्यथा को केवल 'शारीरिक भूख' और 'खोटा सिक्का' कहकर उपमित नहीं किया जा सकता। वह केवल शरीर की भूख न होकर 'मन की भूख' भी है यह दूसरी बात है कि सामाजिक परिस्थिति उसे आश्रय न देती हो परन्तु वह सदा अर्थ पर आश्रित नहीं है। भौतिकता की कसौटियाँ चाहे उसको झूठा प्रमाणित करती हों किन्तु इससे मानव मन की वह चिरन्तन 'भूख' काल्पनिक नहीं हो जाती। व्यक्ति जीवन के साथ उस 'भूख' का समझौता करके स्वस्थ रूप में उसे दे सकें यह दूसरी बात है।

धर्मवीर भारती

धर्मवीर भारती के काव्य का मुख्य स्वर रूढ़ियों के प्रति आक्रोश और प्रेमियों के सम्बन्ध विच्छेद की विरह व्यथा है। 'ठंडा लोहा' संग्रह की प्रथम कविता 'ठंडा लोहा' समाज की जीर्ण रूढ़ियों का प्रतीक है। रूढ़ियों के बन्धनों के विषय में कवि कहता है कि यह मनुष्य के रक्त की उष्णता और जीवन की स्पन्दना सबको ठंडा कर देते हैं।

ठंडा लोहा। ठंडा लोहा। ठंडा लोहा।
मेरी दुखती हुई रगों पर ठंडा लोहा।
मेरी स्वप्न भरी पलकों पर
मेरे गीत भरे होठों पर
मेरी दर्द भरी आत्मा पर
स्वप्न नहीं अब
गीत नहीं अब
दर्द नहीं अब

१ श्री गिरिजाकुमार माथुर—धूप के धान, पृष्ठ १०१

एक पत ठंडे लोहे की।
मैं जम कर लोहा बन जाऊँ—
हार मान लूँ—
यही शर्त ठंडे लोहे की।[1]

प्रेम और मर्यादा (सामाजिक बन्धन) का मानव-जीवन में सदा से संघर्ष चला आ रहा है। रूढ़ि के बन्धन के कारण अपनी प्रियतमा को खोकर कोई प्रेमी कल्पना में उससे निवेदन करता है, चित्र ग्रामीण जीवन का है—

अगर डोला कभी इस राह से गुजरे कुवेला
यहाँ अम्बवा तरे रुक
एक पल विश्राम लेना
मिलो जब गाँव भर से बात कहना बात सुनना
भूल कर मेरा
न हर्गिज नाम लेना,
अगर कोई सखी कुछ जिक्र मेरा छेड़ बैठे
हँसी में टाल देना बात
आँसू थाम लेना

नींद में खो जाय जब
खामोश डाली आम की
तड़पती पगडण्डियों से पूछना मेरा पता—
तुमको बताएँगी कथा मेरी
व्यथा हर शाम की

राह में पाकर तले
सुनसान पाकर
प्रीत ही सब कुछ नहीं है, लोक की मरजाद है सबसे बड़ी
यातना ढँपते पल से—
'ले चलो! जल्दी चलो! पी के नगर।'[2]

'सम्बन्ध विच्छेद' की करुण व्यथा ही उभरा कहा जा सकता है।

'सम्बन्ध विच्छेद' के पश्चात् यदि भूल से प्रियपात्र कोई पत्र प्रेमी को लिख देता है तो वह उस विरही की व्यथा को उद्दीप्त ही करता है। एक एक पत्र के उत्तर में दिए

---

१ धर्मवीर भारती—ठण्डा लोहा पृष्ठ ६
२ वही, पृष्ठ १८-१९

गए पत्र का विवरण धर्मवीर भारती ने दिया है। उत्तर में दिये गए पत्र का प्रारम्भ इस तरह है—

तुम्हारी पाती मिली अजीब, तुम्हारी पाती मिली अजान
तुम्हारी पाती मिली अजान कि जैसे मृदु नवजीवन दान
कि जैसे दो पानी की बूँद, धधकता भीषण रेगिस्तान
कि जैसे घिरी घटा के बीच, चपल बिजली की मृदु मुस्कान[1]

यह पत्र विरही को व्यथा को 'नवजीवन दान' तो देता है किन्तु 'धधकते रेगिस्तान में मिली पानी की दो बूँद' जैसे अतृप्ति की भड़कती प्यास को और भी तीव्रतर कर देती है वैसे ही वेदना को उकसाती भी है—

लिखा तुमने भेजूँ पत्र मगर मेरे अन्तर अनजान
फिसल जाते हैं सुमन दूर, सहम चुप हो जाते अरमान
फड़क उठते हैं मेरे होंठ होंठ में घुट रह जाते गान

× × ×

ये माना जब थी मेरे पास, तृप्त था तन सुख था मन,
गुदगुदाता था कलियों को कभी हँस हँस कर मलय पवन
और अब, मैं अब मानो एक अकेला दुर्बल बाहु पसार
जरा बचपन की करता याद मार पड़ते उल्टे पतवार

स्थिति की इस विवशता को विरही जीवन के ठोस सत्य के रूप में स्वीकार करता हुआ कहता है—

मगर यह सूनापन तो नहीं यही तो है जीवन की राह
मिलन में मादकता हो मगर विरह में भी तो कितनी चाह

असह्य व्यथा झेलकर भी विरही प्रेम पात्र के सम्मुख हल्का पड़ना नहीं चाहता। भारती का विरही कहता है—

न सुनना आशा रखना प्राण कि मैं गूथूँगा आँसू हार
कि मैं लेकर दो मुरझे फूल, करूँ मृत जीवन का शृंगार

× × ×

तुम्हारा चाह तुम्हारी अड़ करूँ उनको रोकर स्वीकार?
नहीं इतने दुर्बल हैं प्राण नहीं इतना दुर्बल है प्यार!

अन्तिम पंक्तियों में व्यंग्य अत्यन्त कटु हो गया है। व्यंग्य की कटुता आगे और बढ़ गई है—

मेरे पर जाने पर क्या क्या, भूल निकल गया तुम्हारे पास
मुदुर तुम किसलय सी अनमोल, न यह पामोगी मेरा ह्रास

---

१ ठंडा लोहा, पृष्ठ ३७

रहो तुम आँसू से संतुष्ट करो तुम पीडा पर विश्वास
तुम्हारी खातिर कह दूँ प्राण कि जीवन सूना हृदय उदास

'बातचीत का एक टुकडा' नामक कविता म कवि ने 'सम्बन्ध विच्छेद' की पीडा बडे करुण स्वरो मे मुखरित किया है। विछोह के बहुत दिन बाद दो प्रेमी मिले हैं। क विरही अपनी विरह व्यथा को दिग्दर्शित करने के लिए दुख का रोना नही रोता त अपनी दिनचर्या के विषय म कुछ परिचय देता है—

देखा !
अब मैं पहले से कितना बेहतर हूँ—
तुम मेरी लापरवाही पर सिर धुनती थी
अब रहन सहन म कितनी स्वच्छ व्यवस्था है।
तरतीबवार दस ओर किताबें सजी हुई
यह एलबम है

न अब अपनी शाम बरबाद नहीं करता
कुछ काम-काज म हरदम खोया रहता हू'

जीवन को सुव्यवस्थित बनाने का यह प्रयत्न वैसा ही है जसे अधरे से डरा हुआ ई व्यक्ति अपने आप को भुलावा देता हुआ कहे कि वह डरा हुआ नही है, मन की यवस्थित दशा को वह अधिक सूचित करता है। उद्वेग दशा की यह अभिव्यक्ति धुनिक हिन्दी काव्य की ही निधि है। उससे पहले उसका यह रूप प्राप्त नहीं होता।

प्रत्युत्तर मे नायिका का केवल चुपचाप रोना उसके हृदय की मार्मिक व्यथा का दर अभिव्यजक है। उभयपक्षी व्यथा का परस्पर विनियम चाय के प्याले पर होने से सकी ध्वनि तीव्रतर हो जाती है—

पर यह क्या पागल !
मैं बहतर हूँ सुख से हूँ,
पर इसम एसी कौन बात है रोने की ?
जाने दो—
लो यह चाय पियो !

धर्मवीर भारती के काव्य म 'सम्बन्ध विच्छेद' की विरह व्यथा का कारण दयासपात न होकर रूढ़ियाँ हैं जो प्रेमियो को एकता के सूत्र म बधने नही देती।

करुण विरह की उपर्युक्त अभिव्यजना के अतिरिक्त पूर्वराग और मान मनुहार : दो एक सुदर चित्र भी भारती के काव्य म उपलब्ध हैं।

'पूर्वराग म धर्मवीर भारती ने एसी नायिका का वणन किया है जो नदी के नारे घाट पर नायक से मुठभेड कर चुकी है। नायक की ओर से प्रम की प्रथम अभि-

धर्मवीर भारती—ठडा लोहा पृष्ठ ७७

ा होने के पश्चात नायिका के मन की जो 'उद्विग्न स्थिति' होती है, उसका ब्योरा
—

अब तो नींद निगोड़ी सपना सपना भटकी डोले
कभी कभी तो बड़े सकारे कोयल ऐसे बोले
ज्यों सोते में किसी विषेला नागिन ने हो काटा
मेरे संग संग अक्सर चौंक चौंक उठता सन्नाटा
पर फिर भी कुछ कभी न जाहिर करती हूं इस डर से
कहीं न कोई कह दे कुछ, ये ऋतु इतनी बदनाम है!
ये फागुन की शाम है।[1]

ये गीत लोकगीतों की शैली का ही है। मनभूमि में कुछ विशिष्टता न होने पर कोयल के बोल का नागिन की तरह काटना और नायिका के साथ सन्नाटे के चौंक' के प्रयोग बहुत सुन्दर हैं। नायिका को सदा यह भय रहता है कि उसके हृदयगत कहीं अभिव्यक्त न हो जाएँ।

लज्जा से सकुची हुई किसी नवोढ़ा को मनाता हुआ कोई नायक कहता है—

फूलों के कंधों पर सिर धर
सो रहीं तितलियाँ अलसा कर
कुछ चुपके से समझा जाता यह मस्त फिजाँ का सूनापन
अम्बर से बरस रहे रिमझिम,
मनहरन निमंत्रण आलिंगन, मीठी मनुहारें विष चुम्बन
यह नहीं लाज की बेला प्रिय।[2]

दृश्य, लज्जा से उत्पन्न प्रणयमान की मनुहार का है।

विरह-व्यथा में ऋतु के उद्दीपक प्रभाव को व्यक्त करता हुआ कोई विरही कहता
—

श्रोत में भीगी हुई अमराइयों को चूमता
झूमता आता मलय का एक झोंका सद
काँपती मन की मुँदी मासूम कलियाँ काँपती
और खुशबू सा बिखर जाता हृदय का दर्द।[3]

मलय पवन से मन की मुँदी कलियों (स्मृतियों) के काँप कर खुल जाने पर दर्द ो सुगन्ध के बिखर जाने की कल्पना बहुत सुन्दर है। मुक्तक की चित्रमयता का इस रूप में पूर्ण निर्वाह हुआ है।

---

[1] धर्मवीर भारती—ठंडा लोहा, पृष्ठ २१
[2] वही, पृष्ठ २७
[3] वही

इस तरह धर्मवीर भारती के काव्य में विरह व्यथा के विविध रूप प्राप्त हैं। 'सम्बन्ध विच्छेद' की विरह-व्यथा के मूल कारण रूढ़ियों के प्रति इस कवि में असन्तोष तो है किन्तु विद्रोह का भाव नहीं। धर्मवीर भारती का विरही रूढ़ियों के अंकुश को चुपचाप स्वीकार करता हुआ, उससे त्रस्त, बिलबिलाया रोया करता है। किन्तु रोने में वह संयम की मर्यादा को भंग नहीं करता, आधुनिक बौद्धिकता से उसे आश्वासन दिया करता है।

उपसंहार

ऐतिहासिक दृष्टि से आधुनिक काल का प्रारम्भ १८५७ ई० की क्रान्ति से माना जाता है। १८५७ ई० के अनन्तर भूभाग में भी सामन्ती व्यवस्था के जो अवशेष बच रहे थे उनका आश्रय लेकर इस युग की शृंगारी कविता चलती रही इसी से नवीनता उसे स्पर्श करके उज्ज्वल न बना सकी। भारतेन्दुकालीन शृंगारी कवि अपनी विषय सामग्री का आधार कहीं कहीं भक्तिकाव्य और अधिकांशतः रीतिसाहित्य से ग्रहण करता रहा। यदि वह चाहता तो युग चेतना के अनुकूल अपनी संस्कृति और इतिहास से शृंगार कल्पना का चयन करके उसकी नवीन व्याख्या प्रस्तुत कर सकता था, वह उसकी सामाजिक परिस्थितियों के अधिक अनुरूप होता। अतः जो कुछ उसने लिखा वह परम्परा का पिष्टपेषण मात्र रह गया। कला पक्ष में अवश्य कजरी बिरहा आदि नवीन छन्दों की उद्भावनाएँ हुई। भारतेन्दुकालीन कविता के विषय में श्रीयुत विनयमोहन शर्मा जी का मन्तव्य उपयुक्त ही है—

"हमारे साहित्य में वर्षों से भोग 'शृंगार' (जिसमें काम शास्त्र की ही पचपच विवेचना है) की जो लहर बह रही थी, वह हरिश्चन्द्र काल में एकदम कैसे रुक सकती थी? हाँ उसमें एक परिवर्तन अवश्य हुआ कि जहाँ रीतिकालीन कवि 'नारी' के शरीर तक ही अपनी दृष्टि दौड़ा सके, वहाँ भारतेन्दु काल के कवियों ने उसके अतिरिक्त जैसा कि ऊपर कहा गया है, अपने चारों ओर भावों का प्रसार किया।"[१]

शृंगार अन्तर्गत विरह भावना के क्षेत्र में भी भारतेन्दु युग में पूर्व … समक्ष कोई मौलिक परिवर्तन उपस्थित नहीं हुआ। विरह में पूर्वराग, मान और प्रवास परम्परागत रूप में ही मिलते हैं। रीतिकाल में 'मान' का वर्णन … था किन्तु भारतेन्दु युग में बहुत कम मिलता है। अधिकांश विरह-वर्णन … हैं जिनमें प्रोषितपतिका नायिका के अनुभावों की विविध अनुभूतियों … धारि के प्रकार गुप्त रूप से व्यक्त हुआ है। परन्तु बारहमासा … इस काव्य में प्राप्त है। परम्परागत विप्रलम्भ शृंगार परम्परागत … विदग्धवादी विरह के अति मांसल रूप … के रूप में प्राप्त

दृष्टि … की उदासीनता से उत्पन्न सम्बन्ध … है। … तथा … सम्बन्ध …

१ आधि … में शृंगार …

विरह भावना म कोई मूलगत अन्तर नही है। यह ठीक है कि शास्त्रीय करुण विप्रलम्भ के समान यहा प्रिय का स्थूल अनिष्ट नही होता किन्तु फिर भी प्रेमी के लिए उसे इस जीवन मे प्राप्त करना दूभर हो जाता है। प्रिय का अस्तित्व उसके लिए हुआ न हुआ बराबर है। केवल काल्पनिक मूर्ति को हृदय म सँजोए ही वह जन्म जन्मान्तर मे भी उससे मिलने की कामना करता है, आशा का परित्याग नही करता। करुण विप्रलम्भ म 'सम्बन्ध विच्छेद' की जिस ममस्पर्शी विरहानुभूति का इस युग म सकेत मात्र मिलता है वह आगे चलकर आधुनिक युग की विरह भावना की एक प्रमुख प्रवृत्ति बन गई। यह प्रवृत्ति आधुनिक युग से पहले के हिन्दी काव्य म भी यद्यपि उपलब्ध है किन्तु वहाँ धार्मिकता का गहरा आवरण उस पर चढा हुआ है। यह आवरण आधुनिक युग म हट गया।

बीसवी शताब्दी का प्रारम्भ होते होते परिस्थिति बदल चुकी थी। अग्रेजी सत्ता के दृढ पाँव भारत भूमि पर जम चुके थे। राजनीतिक दासता के साथ सामाजिक और नैतिक पतन से देश की व्यवस्था विशृखल हो गई थी। सगठन के अभाव म विदेशी सत्ता के खुले विरोध की इनी गिनी आवाजो का कोई मूल्य न था। (खुले विद्रोह का अर्थ उस समय कारागार था) अत इस समय के मनीषियो ने भारत के सास्कृतिक जागरण का सन्देश देकर, भारतीयो की पराधीनता की बेडियो म कसी हुई सुप्त आत्मा को जगाकर स्वतन्त्रता के माग को प्रशस्त करने का काय किया।

सास्कृतिक जागरण के लिए उन्होने भारतीय इतिहास और पुराण के उन महत्त्वपूर्ण व्यक्तियो के जीवन चरितो को चुना जिनका सम्बन्ध भारतीयता के गौरव से अविच्छिन्न था। द्विवेदी युग मे सास्कृतिक प्रबन्ध-काव्यो की एक बाढ आई जिनकी परम्परा उन्ही के उद्देश्यो को आदश बनाकर आज तक चली आ रही है। कही-कही इनम पात्र काल्पनिक भी हैं।

प्रबन्ध काव्यो म शृगार तथा विरह भावना की अभिव्यक्ति और विकास को नवीन अवसर प्राप्त हुआ। विरह भावना किसी निजन एकान्त म बैठे विरही की करुण गाथा न रही प्रत्युत जीवन की स्पन्दना से गति प्राप्त करने लगी वह गति जो जीवन की अनेक रूपिणी परिस्थितियो की अनुकूलता प्रतिकूलता म परिवर्तित होती रहती है। विरही का सयम और स्वार्थ-बलिदान लोकादर्शों का सम्बल प्रदान करने लगा। सीता, यशोधरा, उर्मिला, माण्डवी, राधा, श्रद्धा और धन्यमालिनी (रावण की स्त्री) के चरित्रो की नई व्याख्याए प्रकाश म आई। युग्बो जस उपेक्षित पात्र के हृदय की धडकन भी इस युग म कवि ने सुनी। पौराणिक कथाओ के पुन कथन म विस्मृत चरित्र फिर से जीवित हो गए—राजकुमारी मिन्द्राचिन्दा, नूरजहाँ, अनारकली आदि। पौराणिक कथाओ की पुनर्व्याख्या म आधुनिक कवि ने बहुत-से ऐसे चरित्रो का उद्धार भी किया है जो आज तक दुष्ट समझे जाते रहे हैं। ऐसा एक चरित्र विप्मर्दिता का है। कुणाल की विमाता अर हान व काव्यशास्त्री की नैतिक दृष्टि म उसके हृदय का सहज उच्छ्वसन, उष्ण रक्त की

भार रूप बन गई है। 'गुदड़ी रतन' की विपरीत स्थिति में वह 'रसखान' है किन्तु मनोविज्ञान से परिचित आज के कवि ने उनके प्रेम और विरह की पवित्रता का पोषित करते हुए नव रस की कोटि में ला बैठाया है। अनिराग में कुण्ठा की आतें निकलवाना भी विरह भावना की परपीड़न वृत्ति का सहज परिणाम था।

विरह-वर्णन में यथास्थान उनके मार्मिक विरहानुभूतियों का उद्रेक होता रहा। परम्परागत बारहमासा, ऋतुवर्णन आदि भी विरह की उद्दीप्ति में स्थान पाते रहे किन्तु उनका वर्णन कवि का लक्ष्य न था। मेघदूत की पद्धति के विरह-सन्देश पवनदूति मनोदूति और चन्द्रदूत आदि के द्वारा भेजे जाते रहे। विरह को जीवन की महान प्रेरणा शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया।

एक ओर जहाँ प्रबन्ध काव्यों में जीवन से सम्पृक्त विरह भावना की विविध अभिव्यक्ति का अवकाश था वहाँ दूसरी ओर गीति-काव्य की वैयक्तिक अभिव्यक्ति में प्रेम और विरह से सम्बद्ध भावों के व्यक्तिकरण को हेय समझा जाता था। द्विवेदी युग के कगार प्रभुत्व में रहनेवाले युवक के अनुरूप हृदय के राग-द्वेष की अभिव्यक्ति के सब मार्ग अवरुद्ध थे। एक ओर पश्चिम की संस्कृति और अंग्रेजी ढंग की सहशिक्षा का प्रचार रोमानी स्वच्छन्द प्रेम के स्वप्न जगा रहे थे दूसरी ओर मध्ययुग की जर्जर सामन्ती रूढ़ियाँ अपने बन्धन ढीले करने को तैयार न थीं। निदान उस काल का भावुक विचित्र अन्तर्द्वन्द्व में डावाँडोल हो रहा था।

मन के भावों की स्पष्ट अभिव्यक्ति में अवरोध होने से कवियों का अन्तर्मुखी हो जाना स्वाभाविक ही था। ऐसी स्थिति में विरह के तत्त्व की प्रत्यक्ष अनुभूति को भावुक ने अन्तर्मुखी करके धीरे धीरे सूक्ष्म रूप देने का प्रयत्न किया और प्रकृति के प्रतीक रूपों में उसकी अभिव्यक्ति का माध्यम ढूँढ़ लिया। यही प्रवृत्ति छायावादी विरह भावना की मूल प्रेरक प्रवृत्ति थी। छायावाद के चारों महास्तम्भों—प्रसाद महादेवी पन्त निराला—में लौकिक विरह भावना की यह प्रवृत्ति अविच्छिन्न भाव से मिलती है किन्तु मानसीकरण के कारण वह सूक्ष्म और अतीन्द्रिय होते होते छायात्मक बन गई और कवि की वैयक्तिक व्यथा-कथा न रहकर प्रकृति के कण-कण में व्याप्त व्यथा का आभास देने लगी। प्रसाद में 'झरना' से लेकर 'लहर' तक उसकी अविच्छिन्न धारा मिलती है। पन्त का समस्त काव्य उससे ओतप्रोत है यद्यपि प्रारम्भिक कृतियों में इस विषय में उनका स्वर अत्यन्त स्पष्ट रहा है। महादेवी जो स्वयं बुद्धिवादी युग की मीरा कहलाती हैं वह भी इसके प्रभाव से मुक्त व अछूती नहीं कही जा सकतीं, चाहे वह भावुकता का कितना ही गहरा आवरण अपनी समस्त विरहानुभूतियों पर चढ़ाने का प्रयास क्यों न करें। उनके प्रियतम के प्रति विश्वासघात और अवहेलना के उपालम्भ अमूर्त ब्रह्म के प्रति नहीं हो सकते। यह दूसरी बात है कि उन्होंने अपनी वैयक्तिक व्यथा को अप्रत्यक्ष परमात्मा के प्रति उन्नमित करने का प्रयत्न किया है क्योंकि निराशा के घोर क्षणों में कोई भी मनस्वी भावुक ऐसा कर सकता है। पर निराला ही इन सबमें ऐसा निराला है जिसने हाड़-मांस के मनुष्य की

सुख दुखानुभूति, आशा निराशा, मिलन और विरह को आरम्भ से ही निर्व्याज रूप में व्यक्त किया और यथास्थान अपने समय की जीर्ण रूढ़ियों का भी खुला विरोध किया।

छायावादी कवियों की विरहानुभूति का एक दूसरा मोड़ अपार्थिव के प्रति प्रणय अर्थात् रहस्यवादी विरहानुभूति के रूप में व्यक्त हुआ। वास्तव में काव्यशास्त्र की 'देव विषयादि रति' ही रहस्यवादी विरहानुभूति का मूल प्रेरक तत्त्व है। 'देवविषयादि रति' को काव्यशास्त्रियों ने 'रसाभास' माना है किन्तु अपार्थिव के गोचर रूप का आलम्बन प्राप्त करती हुई माधुर्य भक्ति और अगोचर रूप का सम्बल ग्रहण करने वाली रहस्यानुभूति इसका प्रमाण है कि वह रस है, रसाभास नहीं। आधुनिक युग की रहस्यानुभूति भावना से अधिक विचार तथा अनुभूति से अधिक मनन और अध्ययन पर आश्रित है। इसी से आज के कवि को उसकी अभिव्यक्ति के लिए शब्दों के वृहद ताने बाने बुनने पड़े हैं। अपनी वैयक्तिक पीड़ा को ब्रह्म के प्रति उन्नयनित करने के लिए भावुक को वेद उपनिषदों की देववाणी का दृढ़ आधार मिल गया (यथा प्रियया भार्यया सम्परिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम् —बृहदारण्यक) और उसकी अजस्र धारा बह निकली। मध्ययुगीन रहस्यवादी प्रणय साधना में कष्टसाध्य साधना का कठोर आधार था, आधुनिक कवि ने केवल उसके मधुर पक्ष को ग्रहण किया। फिर भी आधुनिक कवि की विरह भावना अमूर्त की कल्पना में अधिक देर तक नहीं टिक सकी और उसने उसके व्यक्त रूप जगत के प्रति अपने हृदय का सम्पूर्ण स्नेह अर्पित कर दिया। वैयक्तिक विरहानुभूति का लोककल्याण के रूप में यह उन्नयन अत्यन्त स्वस्थ परिणति है स्नेह के लिए भूखी मानवता के लिए यह वरदान है।

सन् १६३५ ई० के आसपास काव्य के क्षेत्र में छायावाद की रोमानी कल्पना और रूप विधान के विरुद्ध प्रतिक्रिया स्पष्ट होने लगी। छायावादी कवि भारतीय आध्यात्मिकता और ईश्वर कल्पना के मोह को नहीं त्याग सके थे। इसी से भारतीय अद्वैतवाद उनकी पीड़ा का सम्बल पाकर 'भावात्मक सर्ववाद' के रूप में परिणत हो सका। किन्तु परवर्ती साहित्य पर भौतिकवादी दृष्टिकोण का प्रभाव गहरा होता गया। किसी काल्पनिक ईश्वर के प्रति आत्मनिवेदन हास्यास्पद समझा जाने लगा।

ईश्वर की कल्पना से वंचित होकर भौतिकवादी कवि अधिक आत्मनिष्ठ भाव से अहं की रक्षा करने के लिए तत्पर हो गया। आधुनिक मनोविश्लेषण शास्त्र ने मन के 'जीवन' के सम्बन्ध में अनेक रहस्यपूर्ण तथ्यों का उद्घाटन किया। उसके प्रभाव से मन के साथ शरीर की भूख की स्पष्ट स्वीकृति सम्भव हो सकी। इस युग से पूर्व आत्मपीड़ा अथवा वैयक्तिक रति की अभिव्यक्ति को काव्य में हेय समझा जाता था। डा० नगेन्द्र के शब्दों में "आध्यात्मिक धरातल से नीचे उतरकर लौकिक धरातल पर आत्मपरक कविता जितनी शास्त्रीय दृष्टि में एक प्रकार से वर्जित ही था।"[1]

वैयक्तिक पीड़ा और विरह भावना की स्वच्छन्द स्पष्ट अभिव्यक्ति की प्रवृत्ति

---

१ डा० नगेन्द्र—आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियाँ, पृष्ठ ६३

यद्यपि छायावादी कवियों के काव्य में ही यत्र-तत्र प्राप्त होने लगती है, किन्तु बच्चन के काव्य में प्रथम बार वह स्पष्ट धारा बनकर अभिव्यक्त हुई। बच्चन आधुनिक कवि के 'मानस' के वह भावस्तम्भ हैं जहां पुरातन के मोह को त्याग कर भी वह नवीन को पूर्णत नहीं अपना पाया है। धर्म, समाज और रूढ़ि का विरोध करते हुए भी वह प्रेम को केवल भौतिक सत्य के रूप में स्वीकार करने का साहस नहीं जुटा सका है। इसी से वह छायावादियों की भांति उस को ब्रह्म की सत्ता का विराट रूप मानकर उसमें आत्मा की पीड़ा का विलय न कर सका न प्रेम को शुद्ध क्षुधा और काम के रूप में स्वीकार कर सका। मन की इसी घुमड़न ने उनके काव्य में विरह भावना को एक क्षणिक रंगीनवाद' का रूप दिया जिसका बाह्य रूप हीन होते हुए भी अन्तर व्यथा में प्रधान प्राण है।

परवर्ती कवियों ने मन की घुमड़न के उस रूप का जो बच्चन की रचनाओं में प्राप्त है घोर विरोध किया। नरेन्द्र शर्मा में बढ़कर अंचल सुमन अज्ञेय गिरिजाकुमार माथुर धर्मवीर भारती सब ने मन के साथ शरीर की भूख को विरह का सहज स्वाभाविक वृत्ति के रूप में स्वीकार किया है। फलत जो प्रेम और विरह काव्य हिन्दी में इस युग में लिखा गया है वह पूर्ववर्ती विरह-काव्य के सम्मुख अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है। परम्परित विरह व्यथा इस व्यथा में मलिन-सा प्रतीत होने लगती है। परम्परा प्रेमी इस बात को कभी स्वीकार न कर सकेगा कि युवक-युवती के क्षण भर के मिलन की चाह और वियोग वेदना भी विरह की उज्ज्वल भावना हो सकती है। किन्तु यह ध्यान रखना होगा कि सामाजिक परिस्थितिजन्य विवशता होने पर भी इन काव्यों की क्षणिक तृप्ति और मिलन में सम्पूर्ण जीवन की कसक और वेदना व्याप्त है। अत इसको विरह की उज्ज्वल गाथाओं से असम्पृक्त नहीं कहा जा सकता। एकाध कवि का आडंबर इस युग का भौतिक न भौतिकवादी कवि भी मिलन की चाह को केवल क्षणिक तृप्ति नहीं बना सका है। कसक को हृदय में रखकर जीवन में संघर्ष करने का आग्रह इन सब कवियों का है। अत उनकी विरह भावना निराशा से उद्भूत होकर भी एकान्त में बैठकर रोने वाली नहीं है जीवन प्रवृत्ति की प्रेरक है। हृदय की अनमिल की अग्नि में जीवन पर्यन्त सुलगने वाली आधुनिक कवि की विरह-गाथा को प्रस्तुत प्रबन्ध में करुण विप्रलम्भ का एक विशद ही मान लिया गया है। इसके अतिरिक्त पूर्वराग प्रवास और मान के हृदयस्पर्शी वर्णन भी यथास्थान प्राप्त होते रहते हैं। शास्त्रीय करुण विप्रलम्भ की अन्य नवीन मनोवैज्ञानिक स्थितियाँ भी इस काव्य में प्राप्त हैं। ऋतुवर्णन भी पहले की अपेक्षा मानवीय भावना के अधिक समीप है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि विरह भावना आधुनिक हिन्दी काव्य का एक प्रमुख प्रवृत्ति है। आलोच्य काल से पूर्व वह या तो राजा रानियों की वन्दना गाथा थी या अपार्थिव के प्रति प्राय निवेदन। निजी एकाकी विरही के रोने धोने के रूप में भी वह कहीं-कहीं प्राप्त हो जाता है किन्तु जीवन की गति से असम्पृक्त थी।

आधुनिक युग की गति में विरह भावना जीवन के प्रवाह से अविच्छिन्न रूप में

गुथ गई। साधारण जन को काव्य में उसकी आत्माभिव्यक्ति का अवकाश तो मिला ही, साथ में उसे जीवन और संस्कृति की महान् प्रेरणा शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया। भौतिकता के स्थूल वस्तुवादी युग में विरह भावना हृदय के मूल्यों को सुरक्षित रख सकी, यह भी सौभाग्य की ही बात है। भविष्य का कवि उन मूल्यों को कहाँ तक प्रश्रय देगा, यह अज्ञात के गर्भ में है।

ग्रन्थानुक्रमणिका

संस्कृत पुस्तकें

ऋग्वेद	अथर्ववेद	ईशोपनिषद्	कठोपनिषद्
केनोपनिषद	मुण्डकोपनिषद	बृहदारण्यक	महाभारत
मनुस्मृति	शतपथ ब्राह्मण	सूक्ति मुक्तावली	सुभाषितावली
हाल सतसई			

अभिनवगुप्त	अभिनव भारती
	ध्वन्यालोकलोचन
अमरचन्द्र	काव्यकल्पलतावृत्ति
अमरुक	अमरुक शतक
आनन्दवर्धन	ध्वन्यालोक
उद्भट	काव्यालंकार-सार-संग्रह
कुन्तक	वक्रोक्ति जीवित
कुलपति	रस रहस्य
कालिदास	कुमारसम्भव
	रघुवंश
	शाकुन्तलम्
	विक्रमोर्वशीयम्
	मेघदूत
गदाधर भट्ट	रसिक जीवन
जगन्नाथ पण्डितराज	रसगंगाधर (निर्णय सागर प्रेस बम्बई)
जयदेव	चन्द्रालोक (जयकिशन दास हरिदास गुप्ता)
जयदेव	गीत गोविन्द
दण्डी	काव्यादर्श
दिङ्नाग	कुन्दमाला
भरत	नाट्यशास्त्र (काशी संस्कृत सीरीज)
भर्तृहरि	शृंगार शतक

भामह	काव्यालकार
भानुदत्त	रस मजरी
भोजराज	शृगार प्रकाश
	सरस्वती कठाभरण
मम्मट	काव्यप्रकाश
महिमभट्ट	व्यक्ति विवेक
राजशेखर	साहित्य मीमासा
रुद्रट	काव्यालकार
रूप गोस्वामी	उज्ज्वल नीलमणि
वाग्भट्ट प्रथम	वाग्भट्टालकार
वाग्भट्ट द्वितीय	काव्यानुशासन
वामन	काव्यालकार सूत्र वृत्ति
विद्याधर	एकावली (बम्बई संस्कृत सीरीज)
विद्यानाथ	प्रतापरुद्र-यशोभूषण
विश्वनाथ	साहित्यदर्पण
शारदातनय	भावप्रकाश
हेमचन्द्र	काव्यानुशासन
क्षेमेन्द्र	औचित्य विचार चर्चा

हिन्दी पुस्तकें

अचल	अपराजिता
	वर्षान्त के बादल
अब्दुलरहमान	सन्देश रासक
अज्ञेय	इत्यलम
	चिन्ता
	हरी घास पर क्षण भर
	इन्द्रधनु रौंदे हुए ये
उमाकान्त गोयल	मैथिलीशरण गुप्त (कवि और भारतीय संस्कृति के आख्याता)
उमाशंकर शुक्ल	सेनापति कृत कवित्त रत्नाकर
कन्हैयालाल	साकेत के नवम् सर्ग का काव्याख्यान
कन्हैयालाल सहल	साकेत के नवम् सर्ग का काव्य वैभव
किशोरीलाल गुप्त	भारतेन्दु और अन्य सहयोगी कवि
	प्रसाद का विकासात्मक अध्ययन

नगेन्द्र	विचार और विश्लेपण
	विचार और अनुभूति
	रीति शृगार
	सुमित्रानन्दन पत
	साकेत एक अध्ययन
	हिन्दी ध्वन्यालोक
नददास	रुक्मिणी मगल
नददुलारे वाजपेयी	जयशकर प्रसाद
निराला	पत और पल्लव
	अनामिका
	परिमल
	गीतिका
	आराधना
	तुलसीदास
नरेन्द्र शर्मा	मिटटी और फूल
	प्रवासी के गीत
	पलाशवन
	हसमाला
	अग्निशस्य
नागरी प्रचारिणी सभा	ढोला मारूरा दूहा
	भारतेन्दु ग्र थावली
पत	वीणा
	ग्रन्थि
	पल्लव
	गुजन
	युगवाणी
	युगान्त
	ग्राम्या
	स्वर्णकिरण
	स्वर्णधूलि
	उत्तरा
	वाणी
परमानन्द सुहाने द्वारा सगृहीत	परमानद् दृआरा

ग्रन्थानुक्रमणिका

परशुराम चतुर्वेदी	मध्यकालीन शृंगारिक प्रवृत्तियाँ
	मध्यकालीन प्रेम प्रवाह
पुरुषोत्तम शर्मा	हिन्दी रस गंगाधर
बलदेवप्रसाद मिश्र	साकेत संत
भगवानदीन	बिहारी बोधिनी
भगवतीचरण वर्मा	मधुकण
भागीरथ दीक्षित	महादेवी काव्य परिशीलन
महादेवी वर्मा	यामा
	दीपशिखा
मैथिलीशरण गुप्त	साकेत
	यशोधरा
	जयद्रथ वध
	शकुन्तला
	द्वापर
	जयभारत
	विष्णुप्रिया
	हिडिम्बा
रामचन्द्र शुक्ल	रस मीमांसा
	हिन्दी साहित्य का इतिहास
	जायसी ग्रन्थावली
	तुलसीदास
	तुलसी ग्रन्थावली
रामनाथ 'सुमन'	कवि प्रसाद की काव्य-साधना
रामनरेश त्रिपाठी	स्वप्न
	पथिक
रामानन्द तिवारी शास्त्री	पावनी
रामवृक्ष बेनीपुरी	विद्यापति की पदावली
रामविलास शर्मा	निराला
रामलालसिंह	कामायनी अनुशीलन
रामरतन भटनागर	प्रसाद साहित्य और समीक्षा
रामेश्वरलाल खंडेलवाल	आधुनिक हिन्दी कविता में प्रेम और सौन्दर्य
राहुल सांकृत्यायन	रूप गोस्वामी
लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय	आधुनिक हिन्दी साहित्य (१८५० १९००)

लक्ष्मीनारायण टंडन	महादेवी वर्मा और नीरजा
	कवि प्रसाद और आँसू
विनयमोहन शर्मा	कवि प्रसाद 'आँसू' तथा अन्य कृतियाँ
विपिनबिहारी त्रिवेदी	चन्द वरदाई और उनका काव्य
विशम्भर 'मानव'	महादेवी की रहस्य साधना
	सुमित्रानन्दन पंत
विश्वम्भरनाथ	पंतजी का नूतन काव्य व दर्शन
श्यामसुन्दर दास	कबीर ग्रन्थावली
शम्भूनाथ पाण्डेय	आधुनिक हिन्दी काव्य में निराशावाद
शम्भूप्रसाद बहुगुना	घनानन्द
	विरहिया की प्रेम भावना
शचीरानी गुर्टू	महादेवी वर्मा काव्य-कला
शिवकुमार मिश्र	कामायनी और प्रसाद की कविता गंगा
शिवमंगलसिंह 'सुमन'	पर आँखें नहीं भरीं
	विश्वास बढ़ता ही गया
	महादेवी की काव्य साधना
शिवचन्द्र नागर	महादेवी विचार और व्यक्तित्व
स्नातक सहल	कामायनी दर्शन
सावित्री सिन्हा	मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ
सूर्यकरण पारीक व रामसिंह	वेली क्रिसन रुकमणी री राठौर राज प्रिथी राज री कही
एस० एल० सिन्हा	महादेवी वर्मा
सत्यजीवन वर्मा	बीसलदेव रासो
सोहनलाल द्विवेदी	कुणाल
	उर्मी
श्री कृष्णलाल	आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास
हरदयालुसिंह	रावण महाकाव्य
हरिऔध (अयोध्यासिंह उपाध्याय)	प्रिय प्रवास
	वैदेही वनवास
	रस कलस
हरिशंकर शर्मा	रस रत्नाकर
हरिहरनाथ टंडन	बदलती समय
हरिवंशराय बच्चन	आकुल अंतर
	मिलन यामिनी

हरिवशराय 'बच्चन'
हलाहल
सतरगिणी
एका त सगीत
निशा निम त्रण
मधुकलश
मधुशाला
मधुबाला
खय्याम की मधुशाला
प्रारम्भिक रचनाएँ भाग १, २
. ब्रज कोषड
हफीजुल्लाह खाँ
अपभ्रश काव्य
हजारीप्रसाद द्विवेदी व नामवरसिंह
हजारा भाग १, २
सक्षिप्त पृथ्वीराज रासो

अग्रेजी पुस्तकें

1	A H Burlton allen	A Study in the Psychology of Human Actions'
2	Adler	'Individual Psychology
3	Allen S	Pleasure and Instincts'
4	Altekar	Position of Women in Hindu Society'
5	Butcher	Poetry & Fine Arts' (Tragedy Aristotle)
6	Balwin	Dictionary of Philosophy & Psychology'
7	Claude A Claremont	Innumerable Instincts of Man'
8	D N Bose and Hiralal	Tantras-their philosophy and occult secrets'
9	Freud s	Three Essays on Theory of Sexuality' translated by James Strachy
10	Helene Deutsch M D	Psychology of Women'
11	Havelock Ellis	Psychology of Sex'
12.	Jung	Personality and Problems of Adjustment'
13	J C Hugel	'Men and their Motives'
14	Keith	'Religion and Philosophy of Vedas'
15	Martin Baber	I and Thou'
16	Mac Dougall	Outlines of Psychology'
17	P Phillippe	De La Santa Trinite in Etudes Carneli taines, April, 1936' (La Recherche de la Personce)

18 Rob rt Barton — Edited by Rev A R Shillot 'Anat of Melancholy'
19 Sushil Kumar De — 'Treatment of Love' (1929)
20 Van de Velder — 'Ideal Marriage'
21 Kinsay — 'Kinsay Report'
22 V Raghvan — Number of Rasas'
23 Weinenger — Sex and Character'
24 J W Davis and J Estlin Carpenter — Deegh nikaya'



बुद्धि से सोच समझकर होने वाला प्रवास हेमचन्द्र के 'कार्यवश' से कुछ भिन्न नहीं है। सम्भ्रम के तात्पर्य को शारदातनय ने अवश्य स्पष्ट किया है—सहसा उत्पन्न होने वाले दैवी अथवा मानुषी विप्लव को सम्भ्रम कहते हैं।[१]

साहित्यदर्पण में प्रवास का लक्षण इस प्रकार दिया गया है—'कार्यवश, शाप वश अथवा सम्भ्रम (भय) वश नायक के अन्य देश में चले जाने को प्रवास कहते हैं। उसमें नायिका के शरीर और वस्त्रों में मलीनता, सिर में एक वेणी एवं निश्वास, उच्छवास, रोदन और भूमिपतन आदि का वर्णन किया जाता है। अंगों में असौष्ठव, सन्ताप, पाण्डुता और दुर्बलता, अरुचि और अधीरता आदि इसके लक्षण हैं।[२]

संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रवास वह विप्रलम्भ शृंगार है जिसमें कार्यवश, शापवश अथवा सम्भ्रम नायक के अन्य देश में चले जाने से नायिका अत्यन्त दुखी होती है। मलीन वस्त्र धारण करके एक वेणी रखती है, नायक के वियोग में अत्यन्त अधीर रहती है, अत्यन्त दुर्बल हो जाती है, किसी वस्तु से उसे रुचि नहीं रहती और सन्ताप सहती हुई वह (कभी-कभी) मूर्च्छित हो जाती है।

४ करुण विप्रलम्भ

करुण विप्रलम्भ का सर्वप्रथम उल्लेख हमें भरत मुनि के नाट्यशास्त्र में ही मिल जाता है। 'रस विकल्प' नामक अध्याय में शृंगार रस का विवेचन करते हुए भरत ने शृंगार रस के एक अंग करुण विप्रलम्भ और करुण रस का अन्तर स्पष्ट किया है। भरत मुनि का कहना है कि यद्यपि करुण विप्रलम्भ और करुण एवं करुणरस एक ही जैसी परिस्थितियों में उत्पन्न होते हैं (अर्थात् स्वजन के नाश से) किन्तु दोनों की प्रकृति में मौलिक अन्तर है। करुण रस में पूर्ण निरपेक्ष भाव अर्थात् नैराश्य की अवस्था रहती है और करुण विप्रलम्भ में (रति स्थायी होने से) सापेक्ष भाव रहता है अर्थात् अभिलाषा बराबर बना रहता है।[३]

---

१ सम्भ्रमः सहसोत्पन्नो दिव्य मानुष विप्लवः ।

—भावप्रकाश, शारदातनय, चतुर्थाधिकार, पृष्ठ ८६, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज।

२ प्रवासो भिन्नदेशत्वं कार्याच्छापाच्च सम्भ्रमात्।
तत्राङ्गचेलमालिन्यमेकवेणीधरं शिरः ॥ २०४ ॥
निःश्वासोच्छ्वासरुदितभूमिपातादि जायते।
अङ्गेष्वसौष्ठवं तापः पाण्डुता कृशताऽरुचिः ॥ २०५ ॥

—साहित्यदर्पण, विश्वनाथ, तृतीय परिच्छेद।

३ करुणस्तु शापक्लेशविनिपातेष्टजनविभवनाशवधबन्धनसमुत्थो निरपेक्ष भावः। औत्सुक्यचिन्तासमुत्थः सापेक्षभावो विप्रलम्भकृतः। एवमन्यः करुणोऽन्यश्च विप्रलम्भ इति।

—नाट्यशास्त्र, षष्ठ अध्याय, पृष्ठ ७०, काशी संस्कृत सीरीज।

नाटयशास्त्र म वर्णित इस तथ्य की ग्रोर रुद्रट न सम्भवत ध्यान नही दिया है। रुद्रट द्वारा दी गई करुण विप्रलम्भ की परिभाषा करुण रस की परिभाषा ही हो गई ह। करुण विप्रलम्भ की परिभाषा रुद्रट इस प्रकार करत है—

"नायक ग्रथवा नायिका म स किसी की मत्यु हो जाए ग्रथवा कोई मृतकल्प हो तो उसस उत्पन्न प्रलाप को करुण कहत हैं। (नायक ग्रौर नायिका म इन दोनो ग्रव-स्थाग्रो म होन स) करुण विप्रलम्भ चार प्रकार है।"[1]

करुण विप्रलम्भ का लक्षण सरस्वती कण्ठाभरण म दते हुए भोज कहत हैं—"प्रिय युवक के दूसर लोक म चले जान पर जब दीना युवती निरन्तर दुखी होती है वहा करुण विप्रलम्भ होता है।[2]

भोज का यह लक्षण भी करुण रस म कुछ भिन्न नहीं है। दीना युवती के निर न्तर दुखी होन का स्थायी भाव शोक ही माना जाएगा। शारदातनय न भावप्रकाश म कहा है—

'कुछ लोगो का मत है कि वियोग का एक भेद मरण है परन्तु यह ठीक नही, क्योंकि मर जान पर जो प्रलाप होता है वह शोक ही है।[3]

भरत क परवर्ती इन सभी ग्राचार्यो की दृष्टि करुण विप्रलम्भ के विषय म स्पष्ट नही थी। सभी करुण विप्रलम्भ को करुण रस स मिलाकर देख रह थ। उनक सम्मुख करुण रस ग्रौर करुण विप्रलम्भ का ग्रन्तर स्पष्ट नही था। यदि प्रिय युवक क परलोक चले जाने पर दीना युवती का निरन्तर विलाप करुण विप्रलम्भ ह तो करुण रस कहाँ होगा? यह प्रश्न इन ग्राचार्यों से पूछा जाता तो सम्भवत यह लोग परेशानी म पड जात ग्रथवा उनका उत्तर य यह देत कि पति-पत्नी सम्बन्ध म मत्यु के बाद होन वाला शोक करुण विप्रलम्भ है ग्रौर माता-पुत्र सम्बन्ध म होन वाला शोक करुण रस। किन्तु क्या उनका यह उत्तर ठीक होता? निश्चय रूप स नही क्योंकि शोक के स्थायी भाव हो जाने पर करुण रस होगा करुण विप्रलम्भ नहीं। विप्रलम्भ वही होगा जहा स्थायी भाव रति विद्य-मान होगा। रति प्रवत्तिमूलक है ग्रौर शोक निवृत्तिमूलक।

---

१ करुण स विप्रलम्भो यत्रान्यतरो म्रियेत नायकयो।
यदि वा मृतकल्प स्यात्तत्रान्यस्तद्गत प्रलपेत् ॥३४॥
—काव्यालकार, रुद्रट, अध्याय १४, चौखम्बा सस्करण।

२ लोकान्तरगत यूनि वल्लभे वल्लभा यदा।
भृश दु खायत दीना करुण स तदोच्यते ॥५०॥
—सरस्वती कण्ठाभरण, पचम परिच्छेद।

३ वियोगभेदो मरणमिति केचिन्न तद्भवेत्तु।
मृत तस्मिन यतोऽन्य प्रलपेच्छोक एव स ॥
—भावप्रकाश शारदातनय, चतुर्थाधिकार पृष्ठ ८६।
गायकवाड ग्रोरिएन्टल सीरीज।

शोक और रति के जिस अन्तर को भरत इतने पहले स्पष्ट कर गए थे, उसकी ओर इन सज्जनों ने ध्यान नहीं दिया, इसी कारण यह उलझन हुई है। रति प्रवृत्तिमूलक है अतः विप्रलम्भ में मृत्यु के पश्चात् भी मिलने की आशा बँधी रहेगी। किन्तु शोक निवृत्तिमूलक है, इसलिए करुण रस में पूर्ण नैराश्य की अवस्था होगी। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि पति पत्नी सम्बन्ध में भी जहाँ पूर्ण नैराश्य का वर्णन होगा, पुनर्मिलन की आशा नहीं होगी वहाँ करुण रस ही होगा करुण विप्रलम्भ नहीं।

भरत के करुण विप्रलम्भ में पुनर्मिलन की आशा के तथ्य को साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने समझा। किन्तु उन्होंने करुण विप्रलम्भ की उपस्थिति के लिए एक प्रतिबन्ध और लगा दिया—

"नायक नायिका में से एक के मर जाने पर दूसरा जो दुखी होता है तो उस अवस्था को करुण विप्रलम्भ कहते हैं। परन्तु यह तभी होता है जब परलोकगत व्यक्ति के मिलन की आशा हो। यदि फिर मिलने की आशा टूट जाए अथवा जन्मान्तर में मिलने की आशा हो तो करुण रस होगा।"[1]

जन्मान्तर में मिलन की आशा को विश्वनाथ करुण रस मानते हैं किन्तु विचार करके देखा जाए तो वह भी करुण विप्रलम्भ ही ठहरती है। जन्मान्तर में भी स्थिर मिलन की आशा रति के स्थायित्व की सूचना देती है, अतः वहाँ भी करुण विप्रलम्भ ही होगा।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि शोक प्रकृति से युक्त होने पर भी करुण विप्रलम्भ का (विरह) में अन्तर्भाव हो जाता है क्योंकि उसके मूल में रति ही स्थायी भाव के रूप में स्थित रहती है। यदि ऐसा न होता तो वह करुण रस ही हो जाती। वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि युवक और युवती में से जब एक की मृत्यु हो तो जीवित व्यक्ति खिन्न मन रहता है, वहाँ करुण विप्रलम्भ होता है। इसका विश्वनाथ के लक्षण की आवृत्ति करते हैं। ध्यान से मूर्छित नायक को लेकर भी करुण विप्रलम्भ होता है, जैसे कादम्बरी में पुण्डरीक और महाश्वेता का वृत्तान्त है। करुण विप्रलम्भ में शोक व्यभिचारी भाव है, इसलिए संगम की प्रत्याशा से युक्त यह अवस्था करुण विप्रलम्भ ही कहलाएगी।

राजा हरिपाल का विप्रलम्भ सम्बन्धी दृष्टिकोण

राजा हरिपाल संभोग और विप्रलम्भ को शृंगार के दो भेद न मानकर शृंगार के अतिरिक्त दो स्वतन्त्र रस मानते हैं। उनका कहना है—

"पहले आचार्यों ने इस वासना के संभोग और विप्रलम्भ के नाम से शृंगार के दो भेद बताए हैं यह उचित नहीं है। क्योंकि शृंगार कहीं-कहीं दिखाई पड़ता है, इ

१ यूनोरेकतरस्मिन्गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत्करुणविप्रलम्भाख्यः ॥२०६॥
... त्वन्यथा तु करुणाख्य एव रसः।

—साहित्यदर्पण विश्वनाथ, तृतीय परिच्छेद।

लिए यह अनित्य है, पशु पक्षिया म यह (शृगार) नही मिलता। सभोग सभी प्राणिया म दिखाई पडता है, अत नित्य है, इसलिए हम सभोग को शृगार से पथक एक स्वतन्त्र रस मानते हैं।'[१]

राजा हरिपाल का सम्भोग सम्बन्धी उपयुक्त विवचन ठीक नही है। अपने शृगार रस सम्बन्धी विवेचना म हम इस तथ्य पर पहुच चुके हैं कि शृगार नित्य है, वह पशु पक्षिया म भी मिलता है। उस अवस्था म सम्भोग को शृगार स पथक अन्य रस मानने के मत स सहमत नही हुआ जा सकता।

राजा हरिपाल विप्रलम्भ को भी शृगार स पथक अन्य रस मानत है और उसका स्थायी भाव आर्ति बतलात हैं। विप्रलम्भ के सम्बन्ध म हरिपाल का कहना है—

'शृगार रस उज्ज्वल, शुचि और हृषवधक होता है और विप्रलम्भ मलिन, दु ख-कारी और अप्रिय। अत विप्रलम्भ, शृगार स भिन्न है। यह प्रश्न हो सकता है कि जन्य विप्रलम्भ जनक सम्भोग म भिन्न कसे है ता इसका उत्तर यह है कि जस जन्य भयानक जनक वीर से भिन्न हाता है (उसी प्रकार विप्रलम्भ भी सम्भाग स भिन्न है)।'[२]

विप्रलम्भ विषयक उपयुक्त दृष्टिकाण उसी व्यक्ति का हा सकता है जिसने विप्रलम्भ के ऊपरी रूप का ही केवल देखा हा। विप्रलम्भ ऊपर से मलिन और दु खकारी अवश्य प्रतीत होता है किन्तु उसको वसा समझ लना भूल होगी। वास्तव म तो विप्रलम्भ शृगार का अत्यन्त उत्कृष्ट और उज्ज्वल रूप है। प्रेम की निस्वार्थता वियोग की विरह वेदना से ही निखरकर सामन आती है। विप्रलम्भ म (अभीष्ट की अप्राप्ति) केवल औपचारिक रूप म है वास्तविक स्थिति तो यह ह कि वियोग के दु ख म भावनाओं का अवनयन नही हाता प्रत्युत अभिलाषा की स्फूर्ति मिलती ह। विप्रलम्भ म आर्ति आती

---

१ सम्भोगो विप्रलम्भश्च सहस्यन्ति अथो रसा।
 अतिरिक्ता उत्पन्न हरिपालमहाभुजा॥
 तनैव वामना (?) पूर्व सभोगो विप्रलम्भक।
 शृगारस्यैव भगौ द्वौ कथितौ—तत्साम्प्रतम्॥
 अनित्यस्तत्र शृगार क्व (क्वा) चित्को दृश्यते यत।
 पशुपक्षिमृगाद्येषु सतस्य न विलोक्यत॥
 सवजन्तुषु दश्यत्वात् सभोगस्यास्ति नित्यता।
 अतोऽन्यथापि सभोगो रस शृगारक (त) पृथक॥

—सम्वर आफ रसाज, राघवन पृ० १४४।

२ उज्ज्वल शुचिरित्युक्त शृगारो हृषवधन।
 मलिनो दु खकारी च विप्रलम्भोऽप्रियावह॥
 अत शृगारतो भिन्नो विप्रलम्भो उदाहृत।
 भयानकस्य वीरस्य जन्यस्य जनकस्य च।
 यो भेदो विप्रलम्भस्यसभोगस्य च स स्मत॥

—वही

अवश्य है किन्तु केवल व्यभिचारी के रूप में, अन्यथा तो विरही प्रवृत्तिमूलक रति को ही अपने हृदय में धारण किए दुःखदायक परिस्थिति के आघात को भी सुखमय मानकर उसका आह्वान करता है। दुःख उसकी रति को पुष्ट करता है हनन नहीं। अतः दुःख उसका स्थायी भाव नहीं हो सकता, वह रति की पुष्टि करने वाला व्यभिचारी भाव है। अतः यह निश्चित हो है कि अपने वास्तविक रूप में विप्रलम्भ, शृंगार का पुष्टिकर्ता और उसका उत्स्फर्ता आवश्यक अंग ही है।

काम-दशाएँ

नाट्यशास्त्र के सामान्याभिनय नामक अध्याय में भरत ने कहा है—'दस अवस्थाओं से युक्त काम नाना भावों में प्रकाशित होता है। सर्वप्रथम अभिलाषा उत्पन्न होती है फिर चिन्तन, स्मृति तृतीय दशा है। उसके बाद गुण कीर्तन और उद्वेग होता है, विलाप छठी स्थिति है। सातवीं दशा उन्माद के नाम से अभिहित है व्याधि आठवीं है नवीं को जड़ता कहते हैं दसवीं दशा मरण है। पुरुष और स्त्री में यह प्रेम की अवस्थाएँ हैं।"[1]

आगे इनके लक्षण उन्होंने इस प्रकार दिए हैं—

"(प्रिय व्यक्ति के लिए) इच्छा और आकांक्षा से उत्पन्न होकर जो उनके समागम का उपाय करती है उसे अभिलाषा कहते हैं।"[2]

दूती से कहे गए इन वचनों के द्वारा चिन्ता का निर्देश होना चाहिए—प्रिय से समागम कब और क्योंकर सम्भव होगा।[3]

प्रिय व्यक्ति के विषय में गम्भीर चिन्तन करते हुए तथा अन्य कार्यों में अरुचि प्रकट करते हुए बार-बार दीर्घ निःश्वास लेने को स्मृति कहते हैं।[4]

अंग प्रत्यंगों की स्वाभाविक चेष्टाओं स्मृति और दृष्टि से यह सूचित करना

१
दशावस्थागतः कामो नानाभावैः प्रकाशयेत् ॥१६९॥
प्रथमे त्वभिलाषः स्याद् द्वितीये चिन्तनं भवेत्।
अनुस्मृतिस्तृतीये तु चतुर्थे गुणकीर्तनम् ॥१७०॥
उद्वेगः पञ्चमे प्रोक्तो विलापः षष्ठ उच्यते।
उन्मादः सप्तमे ज्ञेयो भवेद् व्याधिस्तथाष्टमे ॥१७१॥
नवमे जडता प्रोक्ता दशमे मरणं भवेत्
स्त्रीपुंसयोरिदं प्रोक्तं विविधं लक्षणं च निबोधत ॥१७२॥

२ व्यवसायात् समारब्धः सङ्कल्पेच्छासमुद्भवः।
समागमोपायकृतः सोऽभिलाषः प्रकीर्तितः ॥१७३॥

३ केनोपायेन सम्प्राप्तः कथं वा स भवेन्मम।
दूतीनिवेदितैर्वाक्यैः चिन्तां विनिर्दिशेत् ॥१७५॥

४ ... मुहुर्मुहुर्निःश्वसितैर्मनोरथविचिन्तनैः।
... स्मृतिः ॥१७७॥

—नाट्यशास्त्र, भरत।

कि उसके (प्रिय व्यक्ति) के सदृश और कोई नहीं है, गुणकथन कहलाता है।"[1]

"आसन शयन में जब न क्रोध होता है, न हर्ष किन्तु निरन्तर (मिलन की) उत्सुकता बनी रहती है तो उसे उद्वेग कहते हैं।"[2]

"यहाँ वह (प्रिय) बैठा था, यहाँ खड़ा था, यहाँ वह मेरे समीप आया था। इस प्रकार विलाप करने को (दुखपूर्ण वाक्यों के कहने को) विलाप कहते हैं।"[3]

"जब नायिका केवल उस (प्रिय व्यक्ति) के विषय में बात करने में संलग्न रहती है तथा अन्य पुरुषों से घृणा करती है तो उसे उन्माद कहते हैं।"[4]

"प्रेम के समस्त सुखों से वंचित पूर्ण निराशा की अवस्था में व्याधि होता है।"[5]

"पूछने पर जब कुछ बोला नहीं जाता (विरही) न कुछ देखता है न सुनता है। उस स्मृतिशून्य अवस्था को जड़ता कहते हैं।"[6]

"सब उपायों के करने पर भी जब समागम नहीं होता तो कामाग्नि में पड़ा हुआ विरही मरण को प्राप्त होता है।"[7]

भरत के पश्चात् संस्कृत काव्यशास्त्र का दूसरा सर्वमान्य ग्रन्थ विश्वनाथ का साहित्यदर्पण है। साहित्यदर्पण में काम-दशाओं का विवेचन विश्वनाथ ने विप्रलम्भ के सम्बन्ध में किया है वस्तुतः काव्य में काम दशाओं की अभिव्यक्ति विरह के सम्बन्ध में ही होती है।

विप्रलम्भ के विषय में इतना बताने के बाद कि 'वह पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण चार प्रकार का होता है' विश्वनाथ पूर्वराग की काम-दशाओं का वर्णन इस प्रकार करते हैं—

'अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता

---

१ अंगप्रत्यंगलीलाभिर्वाक्चेष्टाहसितेक्षितैः ।
नास्त्यन्यः सदृशस्तेनेत्यसौ स्याद्गुणकीर्तनम् ॥१७६॥
—नाट्यशास्त्र, भरत, अध्याय २२

२ आसने शयने चापि न तुष्यति न हृष्यति ।
नित्यमेवोत्सुका यस्मादुद्वेगस्थानमेव तु ॥१८१॥ —वही

३ इह स्थित इहासीन इहचोपगतो मया ।
इति तैस्तैर्विलापैश्च तैर्विलापं प्रयोजयेत् ॥१८४॥ —वही

४ प्रद्वेष्टि चापरान् पुंसो यत्रोन्माद स उच्यते ॥१८५॥ —वही

५ सामदानार्थ (?) सम्भोगैः काम्यैः सप्रेषणैरपि ।
सर्वं निराकृते पश्चाद्व्याधिः समुपजायते ॥१८७॥ —वही

६ पृष्टा न किंचिद्ब्रूते तु न शृणोति न पश्यति ।
हा कष्टवाक्यानुध्याता तूष्णीका गतस्मृतिः ॥१८६॥ —वही

७ सर्वैः कृतैः प्रकारैर्यद् नास्ति समागमः ।
कामाग्निना प्रदीप्ताया जायते मरणं ततः ॥१९१॥ —वही

और मति (मरण) ये दस काम दशाएँ वियोग में होती हैं। अब इनके विशेष लक्षण कहते हैं। इच्छा का नाम अभिलाष है। प्राप्ति के उपायादि का नाम चिन्ता है। जड़ चेतन का बोध न रहना उन्माद कहलाता है। चित्त के बहकने से उत्पन्न अटपटी बातों को प्रलाप कहते हैं। दीर्घ श्वास, पाण्डुता, दुर्बलता आदि व्याधि है। अंगों तथा मन की चेष्टाशून्य होने का नाम जड़ता है और मरण को मति कहते हैं।[1]

इनके अतिरिक्त विश्वनाथ ने प्रवास के सम्बन्ध में काम दशाओं का एक और पृथक विवेचन किया है

'अंगों में असौष्ठव, संताप, पाण्डुता, दुर्बलता, अरुचि, अधीरता, अस्थिरता, तन्मयता, उन्माद, मूर्च्छा और मरण ये दस काम दशाएँ प्रवास में नायक नायिकाओं में होती हैं। इसमें मलीनता का नाम असौष्ठव है, विरह ज्वर को संताप कहते हैं। सब वस्तुओं से वैराग्य हो जाने को अरुचि कहते हैं। कहीं जी न लगने का नाम अधृति है। मन की शून्यता अनालम्बनता कहलाता है। भीतर बाहर प्रियतम के ही दीख पड़ने को तन्मयता कहते हैं। शेष सब स्पष्ट ही है।'[2]

विश्वनाथ के उपर्युक्त काम-दशा सम्बन्धी विवेचन से यह स्पष्ट है कि उन्होंने भरत द्वारा उल्लिखित की गई काम-दशाओं के अतिरिक्त और दशाओं के नाम भी गिनाए हैं—असौष्ठव, संताप आदि। देखना यह है कि क्या भरत के शृंगार विवेचन में दी गई काम दशाओं से इनका अलग अस्तित्व हो सकता है अथवा ये उनमें ही आत्मसात की जा सकती हैं? इसके अतिरिक्त भरत और विश्वनाथ की उन्माद, चिन्ता, अभिलाषा

---

१ स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकश्चतुर्धा स्यात् ॥१८९॥
अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसंप्रलापाश्च।
उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः ॥१९०॥
अभिलाषः स्पृहा, चिन्ता, प्राप्त्युपायादिचिन्तनम्।
उन्मादश्चापरिच्छेदश्चेतनाचेतनेष्वपि ॥१९१॥
अलक्ष्यवाक्प्रलापः स्याच्चेतसो भ्रमणाद्भृशम्।
व्याधिस्तु दीर्घनिःश्वासपाण्डुताकृशतादयः ॥१९२॥
जडता हीनचेष्टत्वमङ्गानां मनसस्तथा।

—साहित्यदर्पण विश्वनाथ तृतीय परिच्छेद

२ अङ्गेष्वसौष्ठवं तापः पाण्डुता कृशतारुचिः ॥२०५॥
अधृतिः स्यादनालम्बस्तन्मयोन्मादमूर्छनाः।
मृतिश्चेति क्रमाज्ज्ञेया दश स्मरदशा इह ॥२०६॥
असौष्ठवं मलापत्तिस्तापस्तु विरहज्वरः।
अरुचिर्वस्तुवैराग्यं सर्वत्रारागिताधृतिः ॥२०७॥
अनालम्बनता चापि शून्यता मनसः स्मृता।
तन्मयं तत्प्रकाशो हि बाह्याभ्यन्तरतस्तथा ॥२०८॥

—वही

आदि काम-दशाओं का तुलनात्मक अध्ययन भी यहाँ अनुपयुक्त न होगा।

अभिलाषा के विषय में साहित्यदर्पण में इतना ही कहा गया है कि 'इच्छा का नाम अभिलाषा है'। भरत का विवेचन इस विषय में अधिक स्पष्ट है 'वह इच्छा जो समागम के उपाय की प्रेरणा करती है, वही अभिलाषा है'। दर्पणकार ने नाट्यशास्त्र के 'कब और क्या कर होगा' का समाधान 'प्राप्ति के उपायादि का नाम चिन्ता है' कह कर किया। दूती तक समागम की इच्छा को बात पहुँचाना ही भरत के अनुसार प्राप्ति का उपाय है। भरत चिन्ता का अन्य व्यक्ति के प्रति अभिव्यक्त करने के भाव पर अधिक महत्त्व देते हैं और विश्वनाथ आश्रय की मनोवैज्ञानिक अवस्था पर। आश्रय मन ही मन भी प्राप्ति का उपाय सोच सकता है, उसे वह दूती के सम्मुख प्रकट कर भी सकता है किन्तु वह आवश्यक नहीं है। क्या भरत मानसिक पक्ष के इस महत्त्व को नहीं जानते थे? नहीं जानते थे, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। उन्होंने उसके बाह्य पक्ष का ही प्रमुखता सम्भवतः इसलिए दी क्योंकि वह उसका विवेचन 'सामान्याभिनय' नामक अध्याय में कर रहे थे, जहाँ अभिनयात्मक पक्ष ही अधिक अपेक्षित था, दूती से मन के भाव का कथन उसको अधिक स्पष्टता प्रदान कर सकता था।

भरत कहते हैं कि उन्माद में नायिका प्रिय के अतिरिक्त अन्य व्यक्तियों से घृणा करती है, प्रिय की ही बात करती है। साहित्यदर्पणकार के अनुसार इस (उन्माद) में जड़-चेतन का बोध नहीं रहता। उन्माद की इन दोनों परिभाषाओं में विश्वनाथ का कथन अधिक प्रौढ़ और सशक्त है। उन्माद मन की वह स्थिति है जिसमें पूर्ण मानसिक असन्तुलन की अवस्था है, जो बात और व्यवहार दोनों में प्रकट होती है। विशिष्ट व्यक्ति पर ध्यान केन्द्रित हो जाने के कारण उसी में सम्बन्धित बातों में रुचि और अन्य विषयों में घृणा हो जाना इसमें स्वाभाविक ही है। विरही भाव की अतिशयता में जड़ और चेतन का भेद नहीं कर पाता, जड़ को चेतना सन्निविष्ट मानकर उससे अपने दुख का साझा करना चाहता है। पुरूरवा और राम समझदार होने पर भी प्रिया वियुक्तावस्था में वन-लतादि को सम्बोधित करते हुए देखे गए हैं।

काम-दशाओं के नाम गणन में यद्यपि साहित्यदर्पण में प्रलाप का क्रम वही है जो भरत के नाट्यशास्त्र में है। किन्तु विवेचन में प्रलाप को उन्होंने उन्माद के बाद रखा है यहाँ क्रम बदल गया है। भरत के अनुसार विलाप (प्रलाप) उद्वेग के बाद आता है। स्मृति के आधिक्य और प्रेम के प्रत्यावर्तन के भाव में मन जब उत्पन्न वचन हो उठता है तो उसे विलाप के रूप में फूट पड़ता है— वह प्रिय मेरे साथ यहाँ बैठा था यहाँ खड़ा था, यहाँ मेरे समीप आया था।'

साहित्यदर्पणकार प्रलाप को उन्माद की ही विकसित (विकृत) अवस्था मानते हैं—' चित्त के बहकने से उत्पन्न अटपटी बातों के कहने को ही प्रलाप कहते हैं। दूसरे शब्दों में उनके अनुसार प्रलाप, पागलपन की उस अवस्था की अनर्गल बातचीत है। यहीं एक बात और विशेष ध्यान देने की यह है कि भरत को विलाप में मिलती

जुरती काम-दशा साहित्यदपणकार का 'प्रलाप' है। नाम के साम्य से इन्हें कुछ एक सा समझा जा सकता है और साधारणतः समझा जाता भी है किन्तु भरत का विलाप दपणकार के प्रलाप से निश्चित रूप से भिन्न है। विलाप केवल भावना के आधिक्य से फूट-फूटकर रोना है और प्रलाप मानसिक संतुलन से पूर्ण विरहित एक दूसरी अवस्था।

परवर्ती संस्कृत काव्यशास्त्रियों ने काम दशाओं में क्रम भरत का स्वीकार करते हुए भी प्रलाप का नामकरण दपणकार का किया है। यह सम्मिश्रण विभिन्नता अवश्य है किन्तु अनायास ही मनोवैज्ञानिक अधिक हो गया है। उद्वेग की मानसिक अव्यवस्था प्रलाप के रूप में प्रकट होने पर अधिकाधिक पीडित हो उन्माद का रूप धारण कर लेती है। व्यक्ति पागल हो जाता है पूर्ण विस्मृत।

साहित्यदपणकार के प्रलाप सम्बन्धी विवेचन में स्मृति को स्थान प्राप्त नहीं है क्योंकि वह उसका विवेचन पूवराग के सम्बन्ध में कर रहे थे। पूवराग में तो मिलन की अभिलाषा का मार्ग ही अवरुद्ध होने पर उन्मादी होता हुआ प्रलाप कर बैठता है। स्मृति और उद्वेग के मानसिक द्वन्द्व का वहां अभाव रहता है। पूवराग में अभिलाषा की एक निष्ठता और तन्मयता अवश्य होती है किन्तु प्रिय सान्निध्य का सुख अनुभव किये हुए यथित व्यक्ति की उसमें और उसकी सी पीड़ा नहीं।

दपणकार के प्रवास सम्बन्धी विवेचन में वर्णित अरुचि अधीरता और अस्थिरता आदि काम दशाओं को हम भरत के उद्वेग में ही अंतर्निहित कर सकते हैं। उद्वेग का लक्षण देते हुए भरत कहते हैं— आसन शयन में जब न शांत होता है न सुख किन्तु निरन्तर मिलन की उत्सुकता बनी रहती है तो उसे उद्वेग कहते हैं। जाध और सुख का न होना मन की बचैन अवस्था का परिचायक है। यही इस ओर भी इंगित करता है कि विरही की अन्य विषयों के प्रति अरुचि है। मिलन की उत्सुकता होने पर भी उसका मार्ग कुण्ठित होने से अधीरता विरही के सम्पूर्ण अस्तित्व को आत्मसात करने लगती है और इन दोनों का द्वन्द्व उसे अस्थिर बना देता है। यह अस्थिरता जब तक बहुत मुखर नहीं हो जाती तब तक यह उद्वेग है मुखर होने पर विरही उन्मादी हो ही जाता है।

विरहताप की अकौत्तम और सन्ताप आदि काम दशाएँ चिन्ता से उत्पन्न निराशा का ही अभिव्यक्त रूप हैं। मिलन कब और क्योंकर होगा, मन के इस भाव का जब कोई मार्ग नहीं सूझता तो अनिवार्य निराशा और दुख से विरही का मलीन हो जाना स्वाभाविक ही है।

पाण्डुता और दुबलता व्याधि के अतिरिक्त और कुछ नहीं। स्वयं दपणकार ने प्रवास दशा में 'व्याधि' नाम, पाण्डुता और दुबलता व्याधि है (पूवराग सम्बन्धी विवेचन)। अतः इन्हें अलग काम दशाएँ मानकर इनका स्वतन्त्र विवेचन और विश्लेषण करने की आवश्यकता नहीं।

विरहताप के प्रवास सम्बन्धी विवेचन में तन्मयता नामक काम-दशा का वर्णन मिलता है। इस तन्मयता को हम भरत की स्मृति का ही एक अंग मान सकते हैं

तन्मयता का लक्षण विश्वनाथ इस प्रकार करते हैं—"भीतर-बाहर प्रिय के ही दीख पड़ने को तन्मयता कहते हैं।" और स्मृति का लक्षण भरत के अनुसार यह है—"प्रिय व्यक्ति के विषय में गम्भीर चिंतन करते हुए तथा अन्य कर्मों में अरुचि प्रकट करते हुए बार बार दीर्घ निःश्वास लेने को 'स्मृति' कहते हैं।" अतः तन्मयता स्मृति का वह अंग कही जा सकती है जहाँ प्रिय के विषय में गम्भीर चिन्तन करता हुआ विरही बाहर भीतर उसी को देखने लगता है। यह भी विरही के जीवन का यह भी कटु सत्य है कि तन्मयता के ये कुछ सुखद क्षण चिरस्थायी नहीं। 'प्रिय दूर हैं, मैं उनसे वियुक्त हूँ,' यह यथार्थ जब तन्मयता को अनायास ही झकझोर कर तहस नहस कर डालता है तो वह स्मृति अमृत न होकर गरल बन जाती है, विरही अन्य कर्मों में अरुचि प्रकट करता हुआ बार बार दीर्घ निःश्वास लेने लगता है। निःश्वास उसकी विवशता का द्योतक है।

पूर्वराग सम्बन्धी विवेचन में विश्वनाथ ने यद्यपि उद्वेग नामक काम-दशा की गणना की है तथापि उसका लक्षण उन्होंने कहीं नहीं दिया। प्रवास सम्बन्धी विवेचन में 'अनालम्बनता' नामक काम दशा का जो लक्षण दर्पणकार ने किया है वह भरत की उद्वेग दशा के लक्षण में समानता रखता है। 'मन की शून्यता अनालम्बनता कहलाती है।" (विश्वनाथ) 'आसन शयन में जब न बोध होता है न हर्ष किन्तु मिलन की उत्सुकता बनी रहती है तो उसे उद्वेग कहते हैं।" (भरत) हर्ष और शोक का न होना तो मन की शून्यता है ही, साथ में मिलन की उत्सुकता होते हुए भी उसकी सिद्धि में व्यवधान जब मन को व्याकुल करता है तो उसका अधिक शून्य हो जाना स्वाभाविक है। मन की यह जड़ता जब अंगों पर भी अधिकार कर लेती है तो 'जड़ता' की दशा आती है। 'अंगों तथा मन के चेष्टाशून्य होने का नाम जड़ता है।" (विश्वनाथ) 'पूछने पर जब कुछ बोला नहीं जाता (विरही) न कुछ देखता है न सुनता है तो उस स्मृतिशून्य अवस्था को जड़ता कहते हैं।' (भरत) विश्वनाथ के अनुसार मरण का नाम मृति है। भरत ने मरण का लक्षण इस प्रकार किया है—'सब उपायों के करने पर भी जब समागम नहीं होता तो कामाग्नि में पड़ा हुआ विरही मरण को प्राप्त होता है।' रति भाव में मरण दशा का वर्णन प्रायः कवि नहीं करते क्योंकि शोक की उपस्थिति से रति के चरम उत्कर्ष में बाधा उपस्थित होती है। अतः दीर्घकालीन जड़ता को ही मरण मान लिया जाता है।

संक्षेप में काम दशाओं के विषय में यह निष्कर्ष दिया जा सकता है कि विरह की अनेक मनःस्थितियाँ ही काम-दशाएँ हैं। ये उत्कट इच्छा के अतिरिक्त कुछ नहीं हैं। इनका अन्तिम लक्ष्य मिलन की इच्छा आतुरता ही है।

काव्यशास्त्रियों ने काम-दशाएँ दस मानी हैं—१ अभिलाषा, २ चिन्ता, ३ स्मृति, ४ गुणकथन ५ उद्वेग, ६ प्रलाप, [redacted] उन्माद, ८ व्याधि ९ जड़ता और १० मरण।

अभिलाषा—मिलन की इच्छा का नाम ही अभिलाषा है। इसमें प्रेमी प्रिय विषयक अनेक कल्पनाएँ करने में तल्लीन रहता है।

चि ता—मिलन किस प्रकार हो सकता है । माग की कौन-कौन सी बाधाएँ हैं, उन सब पर किन किन उपाया म विजय प्राप्त की जा सकती है, इन सब समस्याओ पर चिन्तन करने को चिन्ता कहते हैं। प्रवास म प्रिय के कुशल क्षेम की चिता भी हो सकती है।

स्मति—मिलन की अभिलाषा का पथ अवरुद्ध होन पर जब प्रेम का उन्मुखी भाव कुण्ठित हो जाता है तो विरही मन आगे बढने के स्थान पर पीछे लौटने लगता है। अतीत की ओर प्रत्यावतन करके वह मिलन को ध्यान म पान का प्रयत्न करता है और इस तरह चिन्तन म अपन प्रत्यक्ष के अभाव की क्षतिपूर्ति करता है। इसको स्मति कहते हैं।

गुणकथन—स्मति म प्रिय का सान्निध्य जब इतना मूत और साकार हो जाता है कि प्रत्यक्ष सा आभास होने लगता है तो प्रेमी उस सुखद अनुभूति को केवल अपने म बाँध नहीं पाता और वाणी म फूट पडते हैं। प्रिय के प्रति पक्षपात रखता हुआ प्रेमी अपनी सुखद अनुभूतियो को मुखर करता हुआ प्रिय का गुणकथन करता है। अभिलाषा म भी गुणकथन का समावेश रह सकता है।

उद्वेग, उन्माद और प्रलाप—विरह म अतीत की स्मतियाँ मिलन की इच्छा को अत्यन्त उत्कट बना देती है। वियुक्तावस्था के उस वतमान यथाथ और विवशता म स्मतियो और इच्छाओ का द्वन्द्व चलता है और मन चचल हो उठता है। उत्कट इच्छा और परिस्थितिजन्य विवशता के सघष से मन के अव्यवस्थित हो जाने को ही उद्वेग कहते है। मन का यह असन्तुलन जब वाणी और व्यवहार म प्रकट होने लगता है तो क्रमश प्रलाप और उन्माद कहलाता है।

व्याधि जडता—जसे अत्यधिक श्रम और उत्तजना के पश्चात शरीर जड हो जाता है वसे ही प्रकार उन्माद म अव्यवस्थित भावनाओ के आरोह अवरोह और उनसे प्रेरित अनियमित अटपटी चेष्टाओ मे विरही का मन और शरीर भी थक जाते हैं। शरीर की थकान म अनेक प्रकार के रोग विरही पर अपना अधिकार जमा सकते है और मन की क्लान्ति उसकी चेतना को धुधला करती जाती है। यही जडता के रूप म अभिव्यक्ति होती है। अतिशय क्लान्ति म निष्क्रियता का भाव ही जडता की स्थिति है।

मरण—जडता के विलम्बित रूप को मरण कहते है। यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके है कि विप्रलम्भ म मरण (मत्यु) का वणन प्राय कवि नही करते। क्योकि वहाँ शार भार प्रमुख हो जाने के कारण रति के उत्कष म त्रुटि उपस्थित होती है। अत विरह का मरण अवस्था का मरणासन्न अवस्था ही समझना चाहिए, वह दीघकालीन जडता ही है।

विरह का मनोवज्ञानिक विवेचन

मनोविश्लेषण शास्त्र म साहित्य के 'विरह भाव' का कोई स्वतत्र विवेचन नही

मिलता। साहित्य का विरह भाव' वस्तुत एक अनुपम मानसिक अवस्था है जिसम मन की विविध परिस्थितिया और अनुभवो का मन्थेपण रहता है। विरह म अह के आहत होने मे उत्पन्न पीडा के एक अथवा अनक रूप उपस्थित रह सकते है।

मनोविश्लेषण शास्त्रियों ने स्त्री-पुरुष के सम्बन्ध म अह की आहत अवस्था की जिन विविधताओ का विश्लेषण किया है, उन्ही म साहित्य के विरह भाव को खोजने का प्रयत्न प्रस्तुत अध्याय म किया गया है।

व्यक्ति की समस्त मानसिक प्रक्रियाओ के मूल म स्थित जीवनेच्छा विषय को फ्रायडियन भाषा म Libido कहते हैं। इसी का Ego libido (अह की जीवनेच्छा) भी कहा जाता है। इस Ego libido का अध्ययन और विश्लेषण तब अधिक सुगम हो जाता है जब यह अपना कोई विषय चुनकर उसम व्याप्त और आच्छादित होती है। तब यह Object libido (विषयगत जीवनेच्छा) कहलाती है। उस स्थिति म हम इसे विषयो पर एकाग्रचित होते, कभी किसी विषय को अपनाते और किसी को त्यागते हुए पाते हैं। यह ग्रहण और त्याग विषयी की यौन-सम्बन्धी चेष्टाओ से प्रेरित होकर उन अनेक स्थितियो म से होकर गुजरता है जो अन्त म जीवनेच्छा की सतुष्टि का मार्ग प्रशस्त करती हुई सतुष्टि के रूप म ही परिणत होती हैं।[१] अर्थात जीवनेच्छा पहले विषयी म रहती है तब इसका रूप अप्रकट होता है, प्रकट तभी होता है जब वह किसी विषय के प्रति क्रियाशील होकर उसम अपनी सतुष्टि प्राप्त करती है। इसी को विषयगत जीवनेच्छा कहते है।

इस जीवनेच्छा (कामेच्छा) के अस्तित्व से ही सृष्टि का सुन्दर क्रम चल रहा है, यह फ्रायड प्रभृति मनोविश्लेषण विदो का मत है। 'निर्विवाद रूप से यह विषय चयन विपरीत लिंगों म होना चाहिए।'[२] अर्थात जीवनेच्छा (काम) अपनी सतुष्टि का विषय विपरीत लिंगो म एक दूसरे के प्रति खोजती है। यही स्त्री-पुरुष के मध्य आकर्षण का रहस्य है।

---

१ The Libido Theory the energy which must be supposed to under lie mental processes in general

The ego libido is however, only conveniently accessible to analytic study when it has been put to use of cathecting sexual objects, that is when it has become object libido We can then perceive it concentrating upon objects becoming fixated upon them abandoning them, moving from one object to another and from these situations directing the subjects sexual activity which leads to the satisfaction

—Freud's *Three Essays on the theory of Sexuality* ' Translated by James Strachey *pp* 94 95

२ One of the tasks implicit in object-choice is that it should find its way to the opposite sex *Ibid*, *p* 106

उपर्युक्त विवेचन में फ्रायड ने एक महत्त्वपूर्ण तथ्य का उद्घाटन किया है। वह तथ्य यह है कि किसी एक विषय में अपनी सन्तुष्टि न पाकर जीवनेच्छा 'काम' उसी विषय पर स्थिर नहीं रह सकती क्योंकि उसका मुख्य लक्ष्य स्वयं की सन्तुष्टि है। वह ग्रहण और त्याग करता है। यदि किसी कारण अपने विशिष्ट विषय के प्रति मोह को न भी छोड़ सके तो भी उस विरह परिस्थिति में भी अपनी सन्तुष्टि का कोई रूप निकाल लेती है। जब तक नहीं निकाल पाती तब तक पीड़ा का अनुभव करती है और जब उसे उसका कोई उपाय मिल जाता है तो किसी-न किसी मात्रा में सन्तुष्टि के सुख का अवश्य अनुभव करती है।

जीवनेच्छा की सन्तुष्टि का विषय वस्तु नहीं होती, व्यक्ति होता है। वह आत्म का आत्म के प्रति समर्पण है। अपने आत्म का साक्षात्कार ही हम दूसरे आत्म में करना चाहते हैं। विषयी और विषय दोनों चेतन होने के कारण एक दूसरे के विषयी और विषय बन जाते हैं क्योंकि जिस प्रकार पहला 'मैं' (आत्म) दूसरे 'मैं' (आत्म) को अपनी सन्तुष्टि का विषय चुनता है उसी प्रकार यह दूसरा 'मैं' भी। दोनों का हित इस प्रक्रिया में सम्मिलित होता है। दोनों में से किसी की भी मान हानि होने से अथवा किसी और बाह्य व्यवधान के कारण, हित का मार्ग कुण्ठित होने से जो स्थिति उत्पन्न होती है उसमें या तो जीवनेच्छा अतृप्त रहती है या तृप्ति के लिए व्याकुल। व्याकुलता की पीड़ा को तथा वह पीड़ा जिन भाव स्थितियों को जन्म देती है उसी को साहित्य में विरह कहते हैं।[1]

कहने का तात्पर्य यह है कि मनोविश्लेषण शास्त्र में विरह-जैसा कोई स्वतन्त्र भाव नहीं मिलता। वहाँ विरह भाव न होकर प्रेमियों के विलग होने से उत्पन्न वह परिस्थिति विशेष है जिसमें जीवनेच्छा का सन्तुष्टि का मार्ग किसी कारणवश रुद्ध हो जाता है। तुष्टि में सहायक सिद्ध होने वाली हृदय की उन भावनाओं के दमन से अनेक अनुभूत्यात्मक भावस्थितियों का जन्म होता है। ये सब अनुभूत्यात्मक भावस्थितियाँ विरह की विभिन्न अवस्थाओं के अन्तर्गत आ जाती हैं। ये स्थितियाँ हैं—नैराश्य, उदासीनता, आत्मपीड़न, मान, ईर्ष्या, परपीड़न और उलझन।

नैराश्य (Frustration)—परिस्थितिवश जीवनेच्छा 'काम' जब अपनी सन्तुष्टि अपने विषय में पाने में असमर्थ रह जाती है, तब सन्तुष्टि के अभाव में भावनाओं के बरबस दमन से जो नैराश्य स्थिति उत्पन्न होती है, उसमें वेदनामयी पीड़ा का जन्म होता है। मनोविश्लेषण शास्त्र में इस (कामेच्छा के दमन से) नैराश्य का उत्पन्न होना कहा जाता है। इस नैराश्य के कारण ही विरह में पीड़ा का अस्तित्व है।

1 Hence it is the relation of an I to a thou is quite different from the relation of an I to an object or a thing—and true love is always an I a thou relation Love does not cling to the I in such a way as to have the thou only for its 'Content its object, but love is between I and thou The man who does not know this, does not know love

—*I and Thou* by Martin Baber

उदासीनता—कामेच्छा, असन्तुष्टि की स्थिति में टिकी नहीं रह सकती यह बात पहले ही स्पष्ट की जा चुकी है। अत निराशा की स्थिति में जो व्यक्ति की 'अह चेतना' अपने असन्ताप को भुलाने का-सा प्रयत्न करके स्वय को यह जताना चाहती है कि मैं असन्तुष्ट नहीं हूँ, दुखी नहीं हूँ। इस स्थिति में वह स्वय का यह विश्वास दिलाना चाहती है कि उसे उस 'विषय' से, जिसमें कि वह पहले तृप्ति की खोज करने का प्रयत्न कर रही थी, कोई मतलब ही नहीं है, कोई आसक्ति ही नहीं है। किन्तु यह भुलावा चेतन अपने का दे सकता है, अवचेतन को नहीं। अत अवचेतन की अतृप्त अभिलाषा उसे फिर भी कचोटती ही रहती है। यही विरह में उदासीनता (Indifference) की स्थिति है। 'उदासीनता' अपने आपको भुलावा देने का प्रयत्न है। उसमें व्यक्ति सन्ताप का-सा अनुभव करना तो चाहता है, कुछ मात्रा में वह करता भी है, किन्तु वस्तुत तृप्ति के वास्तविक सन्ताप का वहाँ फिर भी अभाव रहता है। विरह की पीडा विरही को सालती ही रहती है।

आत्मपीडन (Masochism)—पीडा के इस निरन्तर अनुभव में अपने को सुखी मानने के लिए लालायित 'अह चेतना' उस पीडा में ही सुख का अनुभव करने का प्रयत्न करने लगती है। वह अपने को अधिकाधिक कष्ट देकर उन सब भावनाओं को भूल जाना चाहती है जो उसके मूल पीडा का कारण थी। 'आत्मपीडन' का यह सुख विरही की विवशता का द्योतक ही होता है। यदि भावनाओं को खुला अवकाश उनकी सतुष्टि में मिल जाता तो आत्मपीडन का प्रश्न ही नहीं उठता। आत्मपीडन में सुख अनुभव करने की स्थिति को मनोविश्लेषण विद Masochism कहते है।

मान ईर्ष्या (Jealously)—आहत अह के कारण मान और ईर्ष्या का जन्म होता है। मनोविश्लेषण शास्त्र के दूसरे प्रकाण्ड आचार्य 'एडलर' के अनुसार अह चेतना का प्रथम नैसर्गिक गुण है स्वेतर प्राणियों पर आधिपत्य की आकांक्षा (Love for Power)।

यह हम पहले ही स्पष्ट कर चुके है कि प्रेम के क्षेत्र में 'विषयी' और 'विषय' दोनों चेतन होते हैं। विषयी का 'विषय' वस्तु नहीं होता, जो एक बार अपनी हो जाने पर सदा के लिए अपनी ही हो जाए, चेतना से सन्निविष्ट व्यक्ति होता है। अत 'विषय' स्वय 'विषयी' होकर पहले 'विषयी' को तो अपना 'विषय' बनाता ही है, उसके अतिरिक्त वह स्वय भी किसी दूसरे विषय के प्रति भी विषयी हो सकता है। जब तक वह पहले विषयी को ही अपना विषय बनाता है अर्थात् यह दोनों एक-दूसरे के प्रति विषय विषयी होते हैं तब तक तो 'तुल्यानुराग' रहता ही है, मान और ईर्ष्या का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु इससे भिन्न दूसरी दशा में जब यह (प्रेमपात्र) स्वय विषयी बनकर (प्रेमी से भिन्न) अपना विषय कोई और तीसरा व्यक्ति बना लेता है चाहे वह अल्प समय के लिए ही क्यों न हो, तब उस 'पहले विषय' की अह चेतना आहत होती है। इसका कारण मनोविश्लेषणशास्त्रियों के अनुसार यह है—उस दशा में 'पहले विषय' (प्रेमी) को यह अनुभव होता है कि अपने विषय पर उसका एक शासन, एकाधिपत्य नहीं है। इस स्थिति में उसकी अह चेतना 'हीन

भाव (Inferiority Complex) से पीडित होती हुई उस हीनता के विरुद्ध विद्रोह कर उठती है। यही प्रम क क्षत्र म मान और ईर्ष्या की स्थिति का जन्म होता है।

प्रमपात्र पर किसी दूसरे का अधिकार है किन्तु वह मेरे अधिकार के सम्मुख नगण्य है, मेरा सन्तुष्टि म वह कुछ बडे अग नष्ट घातक नहीं है, यह चेतना जब प्रेमी को होती है तो इर्ष्या की मात्रा बहुत अशा म कम हो जाता है।[1] इसका कारण यह है कि यद्यपि अधिकार कुछ अशा म दूसरे क द्वारा बटाया जा रहा है इस दुखात्मक अनुभूति म ईर्ष्या तो रहती है किन्तु मेरे अधिकार का प्रभाव अक्षुण्ण है उसके माग म कोई बाधा नही, यह बात प्रमी को सतुष्टि प्रदान करती रहती है। ईर्ष्या का प्रलय की ज्वाला सा आवेग तब ही फूटता है जब मेरे अधिकार को कोई दूसरा छीनना चाहता है अथवा छीन लेता है।

परपीडन (Sadism)—ईर्ष्या म आहत हुआ ग्रह जब प्रम पात्र को दुख देकर, कष्ट पहुचाकर स्वय को सतुष्ट करने का प्रयत्न करता है तब विरह म परपीडन की स्थिति का जन्म होता है। इस मनोविश्लेषणशास्त्री Sadism कहते हैं। खण्डिताओं की उक्तियों और आचरण म इसकी बहुत अभिव्यक्ति हमारे काव्य म हुई है। परपीडन की इस स्थिति म आत्मपीडन और परपीडन दोनो का अपूर्व सामजस्य रहता है। ग्रह के आहत होने म दुख होता है परन्तु उस दुख को बना चढाकर तीव्रतर किया जाता है। प्रिय को कष्ट देकर प्रमी एक काल्पनिक सुख म अपने हृदय की ज्वाला को शीतल करता है। अपने को और दूसरे को भी अधिकाधिक दुख देकर सुख का अनुभव इस स्थिति की विशेषता है।

खण्डिता जहाँ एक प्रकार स्वय दुखी होकर आँसू बहाती है और आसू बहान म ही सुख का अनुभव करती है वहाँ प्रमपात्र को दुखी करके अपने सुख के अनुभव की अधिकाधिक वृद्धि भी करती है।[2]

१ The person who has learnt to recognize his real needs and limitations, and who has sufficient confidence in their own ability to ensure their satisfaction when required would suffer comparatively little from the pangs of jealousy

— *Men and Their Motives* by J C Flugel, *p* 116

२ But the most remarkable feature of this perversion is that its active and passive forms are habitually found to occur together in the same individual A person who feels pleasure in producing pain in some one else during a sexual connection is also capable of enjoying as pleasure any pain which he may himself derive from sexual relations A Sadist is always at the same time a Masochist although the active or the passive aspect of the perversion may be more strongly developed in him and may represent his predominent sexual activity

—Freud : *Three Essay son the Theory of Sexuality*, *p* 38

उन्नयन (Sublimation)—'विषय' में प्रतिहत 'विषयी' की प्राणशक्ति को या तो कुण्ठित करके नैराश्य में डाल देती है या आत्मपीडन और परपीडन जैसी अस्वस्थ दिशाओं की ओर ले जाती है। आत्मपीडन और परपीडन के अतिरिक्त और अनेक अस्वस्थ दिशाएँ हैं जो अनेक मानसिक रोगों को जन्म देती हैं किन्तु इनका विवेचन हमारा विषय नहीं। अतः इसका इतना-सा ही संकेत करके, अपने मुख्य उद्देश्य पर आते हुए प्रस्तुत प्रसंग में यह कहना है कि इन अस्वस्थ अवस्थाओं के अतिरिक्त अहं की संतुष्टि का इस दशा में एक उपाय मनोविज्ञ और बतलाते हैं और वह है भावनाओं का उन्नयन। उन्नयन का तात्पर्य है अपनी भावनाओं की अत्यधिक कार्यशीलता में युक्त जीवन के अन्य क्षेत्रों में व्यय रखकर अपनी भावधारा का प्रवाह इस ढंग से मोड देना जो व्यक्ति और समाज दोनों के लिए हितकर हो।

'उन्नयन उस प्रक्रिया को कहते हैं जिसमें नैसर्गिक वृत्तियों को उनके मूल लक्ष्य से हटाकर ऐसे उद्देश्यों में लगा दिया जाता है जो व्यक्ति और समाज दोनों के लिए हितकर हों। नैसर्गिक प्रवृत्तियों का दिशा मोड तो 'न्यूरोसिज' (एक प्रकार का मानसिक रोग) जैसी अस्वस्थ दिशाओं में भी होता है किन्तु उन्नयन में वह समाज के लिए स्वस्थ दिशा में होता है।'[1]

विरह की जिन भाव स्थितियों का अध्ययन हमने उपर्युक्त विवेचन में मनोविश्लेषण शास्त्र के अनुसार करने का प्रयत्न किया है, प्रायः वे सभी हिन्दी काव्य में मुखरित हुई हैं। नैराश्य और उदासीनता ने तो हमारी वैयक्तिक सुख-दुख की कविता को पूर्ण रूप से आच्छादित कर ही रखा है, आत्मपीडन और आत्मपीडा का उन्नयन महादेवी की कविता का प्रधान अंग है। मान ईर्ष्या और परपीडन के उदाहरण भी आधुनिक युग की स्फुट और प्रबन्ध दोनों प्रकार की रचनाओं में न्यून नहीं। उन्नयन की अभिव्यक्ति भी पर्याप्त मात्रा में हुई है। विरह के लगभग सब मनोवैज्ञानिक रूप हमें हिन्दी के आधुनिक काल में मिल जाते हैं।

---

१ Sublimation is the process by which instinctive emotions are diverted from their original ends and redirected to purposes satisfying to the individual and of value to the community.

Instincts are in fact, redirected to other then their natural ends in morbid conditions. In neurosis instincts are attached to morbid objects, in sublimation to healthy ones. Any kind of activity may serve as sublimation.

— *A Study in The Psychology of Human actions* by A. H. Burlton Allen, *Ed.* 1930

द्वितीय अध्याय

भारतीय साहित्य में शृंगार और विरह-भावना

वैदिक, बौद्ध और पौराणिक साहित्य में शृंगार की अवस्थिति और विरह

वैदिक साहित्य

विरह भावना की प्राचीनतम अभिव्यक्ति ऋग्वेद के दशम्‌मण्डल में मिलती है जिसमें वर्णित समय के नोरगीन संकलित है। दैविक शाप के कारण उर्वशी राजा पुरूरवा को छोड़कर जाने के लिए बाध्य होती है। इस परिस्थिति ने पुरूरवा को अत्यन्त अस्थिर बना दिया। वह पुरूरवा जिनके स्नेह का उर्वशी पर एकमात्र अधिकार था, स्वयं उसके शयन कक्ष में जिनके आलिंगन पाश में वह दिन रात अवर्णनीय सुख का अनुभव करती थी[1] आज उर्वशी से लौट आने की विनय कर रहे थे और वह उस करुण स्निग्ध प्रार्थना की उपेक्षा करके जाने के लिए प्रस्तुत थी। स्वर्ग की उस स्वेच्छाचारिणी देववारांगना को वह बेचारा मानव कितने दिन बांध सकता था।

उर्वशी प्रिय विछोह की वेदना से पीडित नहीं थी, यह नहीं कहा जा सकता। वह देवांगना भले ही हो फिर भी नारी थी। कर्त्तव्य और हृदय की भावना के संघर्ष में निकले उर्वशी के ये शब्द कितने मार्मिक हैं—

मुझ पर तुम्हारे कहने का क्या प्रभाव होगा? वह मैं, जो तुम्हारे जीवन से प्रत्यूष की प्रथम किरण सी विलीन हो गई। पुरूरवा घर लौट जाओ मुझे पाना उतना ही दुःसाध्य है जितना पवन को बांधकर रखना।[2]

यहाँ विवशता इन शब्दों में और भी करुण हो गई है —

नहीं नहीं पुरूरवा तुम मरना नहीं,
अमंगलकारी वृक तुम्हें अपनी क्षुधा का ग्रास न बना सकें,

---

१ त्रिः स्म माह्नः श्नथयो वैतसेन।

—ऋग्वेद संहिता, मण्डल १०, अध्याय ८, सूक्त ९५।४

२ किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रमिषमुषसामग्रियेव। पुरूरव_

स्त्री के साथ शाश्वत मत्री नहीं हो सकती,
क्योंकि स्त्री का हृदय वन्य तरक्ष के समान है।"[1]

उर्वशी और पुरूरवा की इस वियोग व्यथा को 'करुण विप्रलम्भ' की भावना के अन्तर्गत माना जा सकता है। साधारणत 'मरण' के पश्चात् भी जब प्रेमी का प्रिय से मिलन की आशा बँधी रहती है तब 'करुण विप्रलम्भ' होता है किन्तु दविक शाप आदि के कारण विरह की अवधि जहा अनन्त हो जाती है वहाँ भी करुण विरह मान लेना ही अनुचित नही होता। दुष्यन्त शकुन्तला का विरह भी इसी प्रकार का था।

ऋग्वेद के दशम मण्डल म हो पिता गृह म स्थित कुमारी कन्या के किसी प्रिय अथवा पति का अभिलाषा करने के लिए सकेत मिलते ह। ऐसा एक उदाहरण घोषा का है।[2]

वदिक युग म बहुविवाह, उपपति आदि का अस्तित्व भी मिलता है। 'वरुण प्राग्हास' नामक कम म यज्ञ करनेवाले व्यक्ति की पत्नी म उसके गुप्त उपपतियो के विषय म प्रश्न करन की प्रथा थी। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि विवाहित दम्पत्ति के अतिरिक्त भी स्त्री-पुरुष के परस्पर उन्मुक्त भाव का इस युग म अवकाश था। अथववेद के कुछ 'कौशिक सूत्रो' म प्रिय पर प्रभाव डालने और उसको वश म करने के हेतु प्रयुक्त

पुनरस्त परेहि दुरापना वात इवाहमस्मि।
—ऋग्वेद संहिता मण्डल १०, अध्याय ८, सूक्त ९५।२

१ पुरूरवो मा मथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उक्षन्। न वै
स्त्रैणानि सख्यानि सन्ति सालावृकाणा हृदयान्येता।
—वही, सूक्त ९५।१५

२ जीव रुदन्ति वि मयन्ते अध्वरे दीर्घामनु प्रसिति दीधियुनर।
वाम पितृभ्यो य इद समेरिरे मय पतिभ्यो जनय परिष्वजे ॥१०॥
न तस्य विद्म तदु षु प्र वोचत युवा ह यद्युवत्या क्षेति योनिषु।
प्रियोस्त्रियस्य वृषभस्य रतिनो गृह गमेमाश्विना तदुश्मसि ॥११॥
आ वामगन्त्सुमतिर्वाजिनीवसू न्यश्विना हृत्सु कामा अयसत।
अभूत गोपा मिथुना शुभस्पती प्रिया अर्यम्णो दुर्या अशीमहि ॥१२॥
—ऋग्वेद संहिता मण्डल १०, अध्याय ३, मत्र ४० प्रकाशक अजमेरिय वदिक यन्त्रालय

अनेक कर्मों का उल्लेख है।

प्रियतमा की स्नेहपूर्ण चितवन का आकांक्षी एक प्रेमी प्रेम के देवता का आह्वान करता है। अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को मधुमय बनाकर मानो वह काम के लक्ष्य को रिझा लेगा—

मेरे जिह्वाग्र पर मधु की स्थिति हो। मधु के माधुर्य से मेरी वाणी आप्लावित हो जाए जिससे मेरा प्रिय मेरे प्रभाव में आ जाए मेरी प्रियतमा मेरे अनुकूल हो जाए।[1]

जैसे वायु पृथ्वी पर के तिनके को उड़ाकर ले जाती है वैसे ही तुम्हारी आत्मा मेरी अभिलाषा के साधन हो जाय और तब हे भद्रे! तुम मुझे अपना प्यार दोगी मुझसे विमुख नहीं रह सकोगी।[2]

वैदिक साहित्य के शृंगारिक कथोपकथन उसके स्वाभाविक अंग नहीं हैं, जनसाधारण में प्रचलित प्रेम कथाओं के अवशिष्ट रूप हैं। पूर्व-वैदिक ग्रन्थों में प्राप्त ये अवलेप वैदिककाल के उत्तर युग में उपलब्ध नहीं होते।

ब्राह्मण ग्रन्थों के समय तक समाज में स्त्री का पद संहिताकाल की अपेक्षा हीनतर हो गया था। इस काल के ग्रन्थों में प्रेम व शृंगार भावना को ढूँढना व्यर्थ है। यद्यपि शतपथ ब्राह्मण में पुरूरवा और उर्वशी की कथा के संकेत हैं किन्तु इनके शृंगार के रामर प र म उसका लगाव अनभिज्ञ है। ब्राह्मण ग्रन्थों के कुछ कर्मों में शृंगार का स्थान अवश्य मिलता है किन्तु धर्म सिद्धान्तों की प्रमुखता के सम्मुख वह भी लगभग न्यून-सा ही है।

ब्राह्मण तथा बौद्ध साहित्य में शृंगार का विशिष्ट महत्त्व नहीं मिलता। धर्म और दर्शन के जटिल प्रश्नों और समस्याओं को सुलझाने में ही उस युग के मनस्वी व्यक्तियों का ध्यान केन्द्रित था किन्तु फिर भी जन जीवन में कोमल भावनाओं का अभाव हो गया था ऐसा नहीं कहा जा सकता। पाली का वह प्रारम्भिक साहित्य तथा प्रारम्भिक पौराणिक आख्यान दुर्भाग्य से अब प्राप्त नहीं किन्तु संस्कृत प्राकृत की हाल व अमरुक की परम्परा की जन्मदात्री के रूप में वे अवश्य ही रही होंगी।

---

1 जिह्वा या अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥

—अथर्ववेद प्रथम काण्ड पञ्चम अनुवाक द्वितीय मन्त्र (कौशिक सूत्र)

2 यथेदं भूम्या अधि तृणं वातो मथायति।
एवा मथ्नामि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः॥

—अथर्ववेद, द्वितीय काण्ड, षष्ठ अनुवाक, प्रथम मन्त्र (कौशिक सूत्र)

बौद्ध साहित्य

'दीघ निकाय' नामक बौद्ध ग्रन्थ मे 'एव प्रश्न (एव पह्न सुत) के अन्तगत सौभाग्य से प्राप्त यह प्रणयगीत प्रेमी की अनन्यता और प्रिय प्राप्ति के लिए उनकी विकलता का प्रतीक बन गया है—

"जैसे शाक्य मुनि हृष विह्वलता से मुग्ध, ध्यानावस्थित, स्वय मे खोये हुए से, जीवन की अमरत्व प्राप्ति की खोज मे निमग्न रहते है और मनन करते है, वैसे ही ओ! सूय की विभा! मैं तुम्हारी खोज मे मलग्न हूँ।[1]

'यदि दवयोग से ३३ देवताओ के स्वामी भगवान शाक्य मुझे कभी वरदान देगे, तो मैं उनसे तुम्हे माँग लूगा। ओ भद्रे! तुम्हारे लिए मेरा प्रेम इतना सघन और समथ है।"[2]

तिम्बारून नामक गन्धव की कन्या सूयवक्सा के प्रति मातलीन सचारनाथ के पुत्र सिखद्धि की यह अनन्य अभिलाषा, विरह भावना मे पूवराग के अन्तगत मानी जाएगी। बौद्ध साहित्य की थेरी गाथाओ मे भी प्रणयमूलक रहस्यवाद जैसी कोई चीज़ नहो मिलती। बुद्ध को पति मानकर इनमे से किसी ने भी अपनी भावनाओ को अभिव्यक्त नही किया, उनका दशन केवल पिता के रूप मे ही देखा है।

पौराणिक साहित्य

पौराणिक साहित्य मे भी शृगार भाव के प्रति यही उदासीनता लक्षित होती है। प्रेम यद्यपि इन ऐतिहासिक-पौराणिक गाथाओ का मुख्य विषय रहा है, दमयन्ती, सावित्री, शकुन्तला और सीता की कथाएँ प्रेम का आदश ह किन्तु पौराणिक लेखको का लक्ष्य इनके द्वारा धम तथा कत्तव्य का प्रतिपादन करना था, रति भाव का सूक्ष्म अध्ययन, विश्लेषण और विश्लेषण नहो। परवर्ती लेखको ने इनके अनुभूत्यात्मक पक्ष का ग्रहण किया और ये सस्कृत महाकाव्यो और नाटको की मूल स्पन्दना बन गई। दमयन्ती और शकुन्तला, माघ और कालिदास की वाणी मे अमर हो गई। सीता की प्रणय-कथा न तो वाल्मीकि,

---

१ Yam me atthi punnam asmin puthuvimandale, Tam me sabbanga kalyani taya saddhim vipaccatam, Sakya putto va Jhanena ekodi nipako sato Amatam muni Jigimsano tam aham Suriya vaccase Yatha pi muni nandeyya patva sambodhim uttaman Evam nandeyya kalyani missi bhavam gato taya

२ Sakko ka me varam dajja Tavatimsanamissaro Taham bhadde vareyyahe evam kamo dalho mama

—*Digha Nikaya*, Edited by J W Rhys Davids Ph D , L L D and J Estlin Carpenter M A , Vol , II 1903, *p* 267

कालिदास, भवभूति तथा संस्कृत के न जाने कितने असंख्य कवियों की भावसरिता को उर्जस्वित किया था, उनके भावोद्यान का शृंगार किया था, सुन्दर से सुन्दर सुवासित कुसुम उनमें खिलाये थे।

पौराणिक युग का महाकाव्य, वाल्मीकि की 'रामायण', इस युग की रति विषयक उदासीनता के मरु में सहृदय पथिक को विश्राम देनेवाला हरा भरा स्थल है। वाल्मीकि के आदि कवि हृदय ने एक ओर जहाँ सीताहरण के प्रसंग में राम के विरह का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक चित्रण किया है वहाँ रावण के उपवन में विवश, विरह की अवधि व्यतीत करती हुई सीता का भी। रामायण के ६०वें सर्ग में वाल्मीकि राम की मनोदशा का चित्रण इस प्रकार करते हैं—

'सीता के दर्शन की अभिलाषा में राम लक्ष्मण जब अत्यन्त शीघ्रता से आश्रम पर पहुँचे तो वह सूना पड़ा था। उसे ऐसा देख वह बहुत उद्विग्न हो गए।[1]

सीता से वियुक्त वह पर्णशाला राम को हेमन्त की कमलिनी के सदृश शोभा हीन लगी।'[2]

उस समय आश्रम के वृक्ष मानो रो रहे थे, फूल कुम्हलाए हुए थे, पक्षी उदास थे। वनदेवता उस शोभाहीन और शोभाहीन स्थल त्यागकर चले गए थे।'[3]

सीता को यत्नपूर्वक खोजने पर भी न पाकर राम की आँखें लाल हो गई और वे विक्षिप्त से हो गए।

आम, कदम्ब, उन्नत शाल, बड़े कटहर, कुरह अनार, चंपा और केतकी के वृक्षों के पास जाकर उनसे सीता के विषय में प्रश्न करते हुए महायशस्वी राम भ्रान्त से लगते थे।

---

१ रममाणा अगाश्रम आजहार नलाननम।
गुन्यमाश्रम दृष्ट्वा बभूवाद्विग्नमानसम॥
—वाल्मीकि रामायण, सर्ग ६०, श्लोक ३

२ त्यक्ता पर्णशाला च रहिता सीतया तदा।
निशा विरहिता रामा हेम ते पद्मिनीमिव॥
—वही, श्लोक ५

३ रुदन्तमिव वृक्षैश्च म्लानपुष्पमृगद्विजम्।
श्रिया विहीनं विध्वस्तं सन्त्यक्तवनदैवतम्॥ —वही श्लोक ६

४ पर्ण मुक्त नमृगं आश्रमपदं वने प्रियाः।
शोकरक्तेक्षणः शोकादुन्मत्त इव [illegible] ॥ —वही श्लोक १०

५ वृक्षाद् वृक्षं प्रधावन् स गिरेश्चाद्रिं नदीं नदीम्।
[illegible] महायशा॥
[illegible]
[illegible] ॥ —वही, २१, २२

'वृक्षा म हो नही पशुओ से भी राम न सीता का वत्तान्त पूछा, मृगा से वह बोले, "क्या तुम मृगाक्षी सीता का समाचार जानते हो ? वह मृगनयनी मेरी कान्ता अवश्य ही हरिणियो के साथ होगी।"[1]

सीता की अनुपस्थिति म उत्पन्न राम की आशका कभी-कभी उस चरम स्थिति पर पहुँच जाती है जहा सीता की एक भ्रमजन्य मृदुल मूर्ति उनके नत्रा के म मुख उपस्थित होकर अनायास ही आमन्त्रित हो जाती है और तब—

हे चारुहासिनी जिसे मैंने अभी देखा था, वह तुम नही थी। अवश्य ही तुम्हारी जीवन लीला किसी ने समाप्त कर दी है। अन्यथा इस दारुण दुख म मुझे इस भांति सन्ताप देखकर तुम मेरी उपेक्षा न करती।"[2]

किन्तु फिर भी राम का विलाप करुण रस नहीं विप्रलम्भ ही है क्योकि ६०वें सर्ग के एक श्लोक म वाल्मीकि स्पष्ट कह देते है कि—

'सीता से मिलन की पूर्ण आशा सहित राम उस विशाल वन म भ्रमण करते हुए उन्हे खोजने का श्रम उठाने लगे, अर्थात् मिलन की आशा का परित्याग न करके राम बार-बार परिश्रम से उस विशाल वन म सीता को खोज रहे थे।[3]

राम का विरह निराश होकर कहीं एकात म बैठकर रोने वाला विरह नही है। उसम मिलन की आशा ही नही प्रत्युत उस आशा को साकार बनाने का प्रयत्न भी है। अत राम पर्वत, नदी, वृक्ष लतादि तथा पशु-पक्षिया से पूछते पूछते थक गए हैं। इस विवशता म राम का पौरुष जाग उठता है और तब—

'यदि देवता मेरी सीता को चाहे वह हरण की गई हो अथवा मृत ही क्यो न हो, सकुशल मुझे लौटा न देंगे तो म चराचर सहित सारे जगत को ही नही प्रत्युत तीनो लोको को नष्ट कर डालूँगा। यह कहते हुए क्रोध से रक्ताभ नत्र राम ने हाथ म धनुष लिया।'[4]

तब लक्ष्मण न उन्हे समझाया—

'जसे चन्द्रमा म श्री, सूर्य म प्रभा, वायु म गति और पृथ्वी म क्षमा नियमित

---

१ अथवामृगशावाक्षी मृगा जानासि मैथिलीम्।
मृगविप्रेक्षणी कान्ता मृगीभि सहिता भवेत्॥
—वाल्मीकि रामायण, सर्ग ६० श्लोक २३

२ नैव सा नूनमथवा हिंसिता चारुहासिनी।
कृच्छ्रं प्राप्तं न मां नूनं यथोपेक्षितुमर्हति॥ —वही श्लोक २८

३ तथा स गत्वा विपुलं महद्वनं
परीत्य सर्वं त्वथ मैथिलीं प्रति।
अनिष्ठिताश स चकार मार्गणे
पुन प्रियाया परमं परिश्रमम्॥ —वही, श्लोक ४८

४ हृता मृता वा सौमित्रे न दास्यन्ति ममेश्वरा।
तथारूपा हि वैदेहीं न दास्यन्ति यदि प्रियाम्॥
नाशयामि जगत्सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम्।
इत्युक्त्वा रोषताम्राक्षो रामो निष्पीडयद्धनु वरम्॥ —वही, श्लोक ७१, ७२

रूप से रहती है वैसे ही आपमें इन चारों गुणों के सहित उत्तम यश स्थित है। एक के अपराध के लिए सम्पूर्ण जगत् का नाश करना आपके लिए उचित नहीं है।'[1]

राम की इस मनोदशा को वास्तव में पूर्वराग, प्रवास, मान और करुण, विरह के इन चारों प्रभेदों के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता। प्रथम तीन भेदों में से तो यह है ही नहीं, चतुर्थ के बहुत समीप आ जाता है किन्तु फिर भी यह 'करुण विप्रलम्भ' नहीं है। सीता की अनायास आश्रम में अनुपस्थिति से यह शंका होने लगती है कि सम्भवतः उनको किसी वन्य पशु ने खा लिया हो किन्तु साथ ही यह स्मरण रखना होगा कि इस घटना से पहले ही शूर्पणखा विकलांगी बनाई जा चुकी है। दण्डक वन निशाचरों से आक्रान्त है अतः किसी निशाचर द्वारा उनके हरण किए जाने की सम्भावना ही अधिक होती है। राम के इन वाक्यों में 'चाहे वह हरण की गई हो', यह सम्भावना और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है। यह ठीक है कि सीता से मिलन अनिश्चित हो गया है किन्तु किसी दैविक शाप के कारण नहीं। अतः शास्त्रीय 'करुण विप्रलम्भ' की भावना के अन्तर्गत राम का विरह नहीं आता यद्यपि वह उसके बहुत निकट है। कवि शासन के अनुकूल चलने को बाध्य भी नहीं है। उसने एक यथार्थ परिस्थिति का निर्माण किया और उसमें रसत्व को भी पूर्ण अवकाश दिया। काव्यशास्त्री उसके भेद प्रभेद बाद में बनाते रहे। विविध रूपात्मक मानवी जीवन की अगणित परिस्थितियों को किन्हीं रूढ़िगत विभाजनों में बाँध सकना भी सम्भव नहीं है। प्रत्येक परिस्थिति एक नवीन प्रभेद को जन्म देने में समर्थ है।

उद्वेग, प्रलाप और उन्माद दशाओं का चित्रण भी वाल्मीकि ने सफलतापूर्वक किया है। सीता को आश्रम में न पाकर राम उद्विग्न हो गये हैं, मन की बेचैनी ही 'उद्वेग' है। सीता से मिलने की उत्कट इच्छा तथा हरण हो जाने से बाधा उपस्थित होने के कारण राम के मन का सन्तुलन नष्ट हो गया है। मन की इस विवश उदासी में प्रकृति अपनी पूर्ण समवेदना प्रकट कर रही है, वृक्ष मानो रो रहे थे, फूल कुम्हलाये हुए थे, पशु उदास थे।

मन की यह अव्यवस्था जब वाणी से प्रकट होती है, तब 'प्रलाप' तथा व्यवहार में प्रकट होने पर 'उन्माद' कहलाती है। सीता की खोज करने पर भी न पाकर राम की आँखें लाल हो गईं और वे उन्मत्त हो गए। चम्पा के वृक्षों के वनों के पास जाकर उनसे सीता के विषय में प्रश्न करते हुए राम भ्रान्त से लगते थे। मृगों से उनका यह पूछना 'क्या तुम सीता को जानते हो?' भी उनके मानसिक विक्षिप्तताजन्य असन्तुलन का सूचक ही है। मन का रुदन राम के इन शब्दों में फूट पड़ा— हे चारुहासिनी! जिसे मैंने अभी देखा

---

[1] चन्द्रे लक्ष्मीः प्रभा सूर्ये गतिर्वायौ भुवि क्षमा ॥
एतच्च नियतं सर्वं त्वयि चानुत्तमं यशः ।
एकस्य नापराधेन लोकान् हन्तुमर्हसि ॥
—वाल्मीकि रामायण, सर्ग ६५, श्लोक ५-६

या वह तुम नहीं हो, तुम्हारी जीवन लीला अवश्य किसी ने समाप्त कर दी है। अन्यथा इस दारुण दुःख में सीता मरी उपेक्षा न करती।'

प्रताप ने अगली विरह दशा 'उन्माद' राम के अनुकूल नहीं थी। महायशस्वी राम ने तो हाथ में धनुष लेकर देवताओं तक की शक्ति का संहार करने और तीनों लोकों को नष्ट कर डालने का संकल्प किया। लक्ष्मण के शब्दों ने एक बार फिर उनके महान व्यक्तित्व के यथार्थ से उनको, उनके अव्यवस्थित मानस को परिचित कराया और धैर्य, प्रभा, शक्ति और क्षमा से युक्त राम के साहस और सामर्थ्य ने उन बाधाओं को दूर हटाकर सीता को पुनः प्राप्त किया जो राक्षस कुल के समूल विध्वंस का कारण बन गई।

विरह भावना की दूसरी अभिव्यक्ति वाल्मीकि रामायण में सीता के पक्ष में हुई है। वाल्मीकि की सीता के विरह में निराशा का ही आधिपत्य है। इस पूर्ण निराशा में भी राम के प्रति अनन्य आस्था व निस्सीम विश्वास का त्याग सीता ने नहीं किया है। नैराश्य के आधिक्य में सीता को कभी-कभी ऐसा लगता है कि सम्भवतः राम अयोध्या लौट गए हैं और इसीलिए वे उनके बन्धन मुक्त करने नहीं आये।

हे राम! पिता की आज्ञा पूरी करके सम्भवतः तुम अयोध्या लौट गए हो, वहाँ सुन्दर नेत्रों वाली रमणियों के साथ समय व्यतीत करते होगे।[1]

किन्तु राम की ओर से प्रेम के प्रतिदान का अभाव सीता की एकनिष्ठता में बाधा नहीं डाल सकता उनके लिए वह प्राण दे देने को भी तत्पर है।

'मेरी सब कामनाएँ तुम्हें अर्पित हैं। तुम्हारे लिए मैं प्राण देने को भी प्रस्तुत हूँ। परन्तु मेरे सब पुण्य विफल हुए मैं मन्दभागी हूँ (इस दयनीय अवस्था में) शस्त्र से अथवा विष खाकर मैं आत्म हत्या कर लूँगी किन्तु इस राक्षस-नगरी में मेरी इतनी सहायता करने वाला भी तो कोई नहीं है।[2]

निराशा के चरम क्षणों में ही सीता इस प्रकार व्यथित होती है अन्यथा तो—

हे राम तुम कृपालु और सत्यव्रती हो। क्या तुम नहीं जानते कि मैं यहाँ राक्षसों के हाथ मृत्युपाश में आबद्ध हूँ। आह! मेरे पुण्य और तप सब विफल हुए' कहते हुए वह

---

१ पितुर्निदेशं नियमेन कृत्वा वनान्निवृत्तश्चरितव्रतश्च।
स्त्रीभिस्तु मन्ये विपुलेक्षणाभिस्त्वं रंस्यसे वीतभयः कृतार्थः॥
—वाल्मीकि रामायण सर्ग ६५ श्लोक १४

२ अहं तु राम त्वयि जातकामा चिरं विनाशाय निबद्धभावा।
मोघं चरित्वाऽथ तपो व्रतं च त्यक्ष्यामि धिग्जीवितमल्पभाग्या॥
सा जीवितं क्षिप्रमहं त्यजेयं विषेण शस्त्रेण शितेन वापि।
विषस्य दाता न हि मेऽस्ति कश्चिच्छस्त्रस्य वा वेश्मनि राक्षसस्य॥ —वही श्लोक १५, १६

३ हा! राम सत्यव्रत दीर्घबाहो हा पूर्णचन्द्रप्रतिमानवक्त्र।
हा जीवलोकस्य हितः प्रियश्च वध्यां न मां वेत्सि हि राक्षसानाम्॥
अनन्यदेवत्वमियं क्षमा च भूमौ च शय्या नियमश्च धर्मः।
पतिव्रतात्वं विफलं ममेदं कृतं कृतघ्नेष्विव मानुषाणाम्॥ —वही, श्लोक ११, १२

राम का स्मरण करती है।

वाल्मीकि की सीता अपने शुद्ध रूप में मानवी है। आशा निराशा, विश्वास अविश्वास नाना ही प्रकार के भाव और विचार हृदय को आप्लावित करते हैं। वह परवर्ती कविता की त्रिकालदर्शी जगन्माता माता नहीं है जो विरहिणी-सा आचरण करती हुई भी हृदय में भली भाँति जानती है कि राम तो तात पिता हैं, राक्षसों का नाश करके अवश्य ही उन्हें छुड़ाने में समर्थ होंगे।

विरह भावना का एक तीसरा दिग्दर्शन वाल्मीकि ने वालि की मृत्यु पर तारा के विलाप में कराया है। स्थायी भाव संचारी रूप में तारा की व्यथा का और भी अधिक मार्मिक प्रदर्शन कर रहा है—

हे प्रिय मेरे वचनों का तिरस्कार करके तुम कंकड़ों से भरी असम धरती का आलिंगन कर रहे हो। तुम्हें सम्भवतः वसुमती मुझसे अधिक प्रिय है।'[1]

संस्कृत साहित्य में विरह भावना (संक्षिप्त विवेचन)

पौराणिक काल के उपरान्त संस्कृत के महाकाव्यों और नाटकों का युग आता है। इस युग में विप्रलम्भ के विभिन्न अंगों और विरह की विभिन्न स्थितियों की अभिव्यक्ति का पर्याप्त अवसर प्राप्त हुआ। संस्कृत साहित्य में विरह भावना का विवेचन करते हुए कुछ नाटकों को भी उसके अन्तर्गत यहाँ सम्मिलित कर लिया गया है, क्योंकि संस्कृत के नाटक शाकुन्तलम् विक्रमोर्वशीय और कुन्दमाला आदि काव्य की कोटि के ही हैं। प्रबन्ध के अतिरिक्त मुक्तक काव्य भी अमरुक शतक के रूप में प्राप्त है। यहाँ संस्कृत साहित्य में विरह भावना का संक्षिप्त विवेचन विप्रलम्भ के विभिन्न भेदों को आधार रूप में रख कर किया गया है। यथास्थान प्राकृत के मान्य ग्रन्थों का भी यत्र-तत्र उल्लेख है।

पूर्वराग

जिनका पहले कभी संयोग नहीं हुआ, ऐसे युवक-युवती जब दृष्टिपात, गुणश्रवण आदि के कारण एक-दूसरे के स्नेह में प्रवर्तित होते हैं तब पूर्वराग होता है।

कालिदास ने विक्रमोर्वशीयम् तथा अभिज्ञान शाकुन्तलम् नाटकों में पूर्व राग का सुन्दर चित्रण हुआ है।

विक्रमोर्वशीयम् में पुरूरवा और उर्वशी का प्रेम परस्पर दर्शन के उपरान्त आरम्भ होता है। कवि ने इसे उभयपक्षी ही दिखाया है। हेमकूट पर्वत से लौटने के पश्चात राजा

---

1 [illegible]

— वाल्मीकि रामायण सर्ग २३, श्लोक [illegible]

उर्वशी के लिए निरन्तर व्याकुल है, उर्वशी भी उनसे मिलन के लिए उतनी ही उत्कण्ठित। राजा की विकलता उनकी प्रथम विवाहिता रानी से भी छिपी नहीं रहती। ईर्ष्या भाव का अल्प-सा दिग्दर्शन कालिदास यहाँ कराते हैं किन्तु वह चरमोत्कर्ष को नहीं पहुँचता क्योंकि विवश रानी अपनी निष्फल भावनाएँ राजा को समर्पित करके प्रतिज्ञा कर लेती है कि वह उनके नवीन प्रेम में बाधा नहीं डालेगी, अपना आदर भाव उनकी प्रियतमा के प्रति अर्पित करेगी। पुरूरवा की रानी की प्रतिज्ञा सामन्तयुग की नारी की विवशता का द्योतक ही है जिसमें आत्मा के नैसर्गिक विद्रोह की क्षमता भी नहीं रहती। प्रथम रानी का अनुरक्ति के संकेत से कालिदास सम्भवतः इस तथ्य की ओर इंगित करना चाहते हैं कि रानी के होते हुए भी राजा का प्रेम उर्वशी के लिए कितना दृढ़ था। उधर पुरूरवा का निरन्तर ध्यान करते रहने के कारण लक्ष्मी-स्वयंवर के अभिनय के अवसर पर उर्वशी, जो लक्ष्मी का अभिनय कर रही थी, 'पुरुषोत्तम' के स्थान पर पुरूरवा के प्रति प्रणय-भाव व्यक्त करती है। पूर्वराग में इस उन्माद की दशा के अन्तर्गत रखा जाएगा, जहाँ परिस्थिति का ध्यान प्रेमी को नहीं रहता। गात्र-स्खलन के अनुभाव द्वारा उर्वशी के पूर्वराग की यह दशा दूसरों पर प्रकट हो जाती है। उसे अभिशप्त करके पुरूरवा के पास पृथ्वी पर भेज दिया जाता है। यह अभिशाप उर्वशी के लिए तो वरदान ही बन गया इसके कारण ही उसे प्रिय सान्निध्य-सुख प्राप्त हुआ।

'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' में दुष्यन्त शकुन्तला का प्रेम भी दृष्टिपात अथवा दर्शन में प्रारम्भ होता है। कण्व ऋषि के आश्रम के मनोहर उपवन में वे एक-दूसरे को देखते हैं और मन्मथ के शिकार हो जाते हैं। स्त्री-पुरुष का परस्पर आकर्षण दुष्यन्त के लिए नवीन अनुभूति नहीं थी, उनके अनेक विवाह हो चुके थे। प्रेम के क्षेत्र में वह काफी अनुभवी और समझदार था किन्तु फिर भी तपस्वी की कन्या के प्रति होने वाले इस आकर्षण में जो चुम्बक था वह अभूतपूर्व ही था।

शकुन्तला तपोवन में पाली गई थी, प्रेम और उसके क्षेत्र में आने वाले दुख सुख से पूर्ण अनभिज्ञ। दुष्यन्त को देखते ही शकुन्तला ने स्वयं में परिवर्तन का अनुभव किया—

"आज इस व्यक्ति को देखने में मेरे हृदय में तपोवन के लिए अनुपयुक्त भाव क्यों आ रहे हैं।[1]

पूर्वराग की पुष्टि में दुष्यन्त के लिए केवल एक ही बाधा थी कि कहीं शकुन्तला ब्राह्मण-कन्या न हो। इस बाधा का निवारण भी जब प्रियंवदा और अनुसूया के वार्तालाप से हो गया कि शकुन्तला क्षत्रिय कन्या है तब सन्देह का कोई अवकाश ही न रहा। शकुन्तला ने जाते समय पाँव में कुश चुभ जाने व कुरवक की शाखा में आँचल अटक जाने की जो बात की उससे दुष्यन्त के कामी हृदय की अग्नि और धधक उठी।

१ किं नु खलु इमं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता।

—अभिज्ञान शाकुन्तलम्, प्रथमाङ्क

इन उभयपक्षी राग म कालिदास न दोनो की व्याकुलता का वणन किया है। दुष्यन्त ग्रीष्म की दोपहरी म शकुन्तला क दर्शन क लिए व्याकुल घूमता दिखाई पडता है वह अपना पुर को वापस जाना स्थगित कर देता है। कामाग्नि से पीडित शकुन्तला कुज म सखियो क साथ मिलन क लिए चिन्तित दिखाई पडती है, इस प्रसग म मिलन क लिए 'पत्र-लखन' की विधि का निर्देश कालिदास न किया ह। पूवराग म कालिदास न शकुन्तला के कुरबक शाखा म आचल अटक जाने की बात कहकर उसके हृदय की 'अभिलाषा' उधर शकुन्तला क द्वार म दानवारा प्राप्त करन क रूप म दुष्यन्त की अभिलाषा का चित्रण किया है। माधव्य स बातचीत म प्रियतमा की स्मृति' और शकुन्तला द्वारा मिलन की विधि का उपाय करन की चष्टा म चिन्ता आदि काम दशाओ का यथास्थान वणन किया है। दुष्यन्त शकुन्तला क पूवराग का पयवसान सयोग (गन्धव विवाह) म होता है।

मान विप्रलम्भ

भोज न मान का लक्षण दत हुए कहा है कि मान अपराधी प्रिय क प्रति झूठा रोष हो है। प्रणय की न्यूनता अथवा ईर्ष्या के कारण आहत प्रेमी इस झूठे रोष म अपन प्रम को पुन प्रतिष्ठापित करना चाहता है।

संस्कृत क प्रबन्ध काव्यो म मान का स्थान बहुत ही गौण है। सम्भवत प्रबन्ध काव्यो क रचयिताओ न जीवन की विविध परिस्थितियो की विशदता म मान का सयोग को प्रकट करान वाला अग मानकर उसको इतना प्रमुखता न दी हो। किन्तु वास्तव म यह विरह की अत्यन्त मार्मिक स्थिति है जहाँ प्रियजन के उपस्थित होन पर भी भाव प्रकाश का अवसर नहा हो सकता। शाकुन्तलम नाटक म स्वर्गासुर-युद्ध के बाद दुष्यन्त का शकुन्तला स जब पुनर्मिलन होता है तब मान का अवकाश कालिदास रख सकत थ किन्तु उन्होन ऐसा नहीं किया सम्भवत इसलिए कि इतन कष्ट सहन के उपरान्त यौवन का उन्माद समाप्त हो चुका था। शकुन्तला न मौन रहकर पीडा को सहन करना सीख लिया था।

मान क सुन्दर चित्र संस्कृत प्राकृत क स्फुट पद्यो म मिलत ह जहाँ कवि जीवन की किसी एक परिस्थिति एक प्रसग अथवा एक घटना का चित्र उपस्थित करके एक पूण रस की व्यजना करता है। हाल सतसई' और अमरुक शतक इस प्रकार के सुन्दर काव्य ग्रन्थ है।

मनोविश्लषको न हीन भावना को ईर्ष्या का कारण बतलाया है। प्रेमी जब स्वय को अपन प्रतिद्वन्द्वी की अपेक्षा म हीन अनुभव करता है तब ईर्ष्या का जन्म होता है। इस भाव का सुन्दर चित्रण गाथा सप्तशती के एक स्फुट पद्य म हुआ है। ईर्ष्या स पीडित एक मानिनी का आहत अह इन शब्दो म व्यक्त हो उठता है—

यह ठीक है कि वह सुन्दर भी है और योग्य भी मैं असुन्दर भी हू और अयोग्य

थी, किन्तु क्या, जो उसके जैसे नहीं है, उन सबको मर जाना चाहिए ?"[1]

बार-बार अपराध किए जाने पर मान 'मान' न रहकर आहत अहं का दुर्बल विद्रोह बन जाता है तब प्रेमी समझौता नहीं कर पाता। उसकी परम्पराएँ यदि उसे अवकाश देतीं तो सम्भवतः वह प्रेम के नवीन विषय की खोज करता किन्तु इसके अभाव में वह नैराश्य कुंठा (Frustration) का रूप लेता है। अमरुक ने इस कटु अनुभूति की सुन्दर व्यंजना की है—

'केवल भ्रुकुटि रचना ही जहाँ रोष का परिचायक थी, मौन रहना ही भर्त्सना थी, परस्पर मुस्करा देना ही जहाँ सन्धि थी और परस्पर दृष्टिपात प्रसन्नता का लक्षण, उस प्रेम का अवलोप आज देखो—तुम मुझे प्रसन्न करने के लिए मेरे पाँव पर पड़े रहते हो और मैं भी इतनी नृशंस हो गई हूँ कि क्रोध मुझे नहीं छोड़ता।'[2]

इससे और अधिक संयत और मार्मिक नैराश्य इन शब्दों में प्रकट हुआ है—

'हमारे शरीर मिलकर जब एक हो गए थे उसके बाद से तुम ही केवल प्रिय रहे, सम्पूर्णतः हताश मैं तुम्हारी प्रियतमा नहीं। आज तुम नाथ हो और मैं तुम्हारी पत्नी, मेरे वज्र हृदय का उचित फल ही मिला है।'[3]

'मान' का एक आवश्यक अंग मनुहार है, उसके कारण ही 'मान' इतना मधुर है। अमरुक के एक चित्र में झूठी ईर्ष्या से उत्कर्ष प्राप्त करती हुई मनुहार का सुन्दर दृश्य है—

तुम्हारी हथेली ने तुम्हारे कपोल के प्रसाधन को नष्ट कर दिया, आज निःश्वासों ने तुम्हारा अधरामृत पी लिया, सिसकी गले का आलिंगन करती हुई वक्षस्थल को आन्दोलित बना रही है, हे प्रिया आज मान तुम्हारा प्रिय है मैं नहीं।'[4]

---

१ सा तानं ह्नान तुज्झ रूअन्तो हेरा माम णिग्गुण अ अन्नं।
भण ताज्ज णो ता सरिसा किं मो मज्झो णणो मरउ॥
—हाल सतसई, ५ गाथ ६

२ कोपो यत्र भ्रुकुटि रचना निग्रहो यत्र मौन
यत्रान्यो यस्मितमनुनयो दृष्टिपातः प्रसादः।
तस्य प्रेम्णस्तदिदमधुना वैशसं पश्य जातं
त्वं पादान्ते लुठसि न च मे मन्युमोक्षः खलायाः॥
—अमरुक शतक, छन्द ८८

३ तदभिन्नदेहाः प्रथममभवन्नव तनुरियं
दनान् त्वं प्रेयानहमपि हताशा प्रियतमा॥
इदानीं नाथस्त्वं वयमपि कलत्रं किमपरं
मयाप्तं प्राणानां कुलिशकठिनानां फलमिदम्॥ —वही, छन्द ६९

४ कपोले पत्रालो करतलनिरोधेन मृदिता
निपीतो निःश्वासैरयममृतहृद्योऽधररसः।
मुहुः कण्ठे लग्नस्तरलयति बाष्पः स्तनतटं
प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम्॥ —वही, छन्द ८१

मान' का विस्तृत विश्लेषण करते हुए भोज ने कहा था कि 'मा' और 'न' मान के दो निषेध सूचक शब्द मानो प्रेमी की स्वीकृति की सूचना देते हुए कहते हैं कि वह वास्तव में नाराज नहीं है अब भी प्रिय का उतना ही इच्छुक है। नाराज होने का तो वह अभिनय कर रहा है।[1] मानिनी की इस मनःस्थिति का निरूपण अमरुक ने इस पद में सुन्दर ढंग से किया है।

अपराधी प्रिय से व्यवहार करते समय मानिनी के नेत्र अत्यन्त चतुर हो गए। प्रिय दूर थे तो वे उत्सुक थे जब वे सामने लगे तो वे विमुख हो गए आलिंगन की इच्छा प्रकट करने पर विस्फारित हो गए वस्त्र के छूने पर भृकुटी तन गई और अन्त में जब वह क्षमायाचना के लिए पैरों पर गिरे तो वे नेत्र बाष्पाच्छन्न हो गए।'[2]

मानिनी के झूठे रोष की भावचंचलता का नेत्रों के अनुभावों द्वारा सुचारु चित्रण हुआ है।

प्रवास विप्रलम्भ

हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन में प्रवास का लक्षण करते हुए कहा है कि नायक-नायिका के भिन्न देश में रहने को प्रवास कहते हैं। इसका यह भिन्न देशत्व कार्यवश, शापवश अथवा सम्भ्रमवश अर्थात् भय के कारण भी होता है।

दुष्यन्त शकुन्तला को कार्यवश (राजकार्य सम्पादन के लिए) छोड़कर चला गया। पुनर्मिलन के लिए अवधि की नियुक्ति यह हुई कि दुष्यन्त के नाम से अंकित मुद्रा की संख्या के बराबर के दिनों में दुष्यन्त शकुन्तला को हस्तिनापुर बुला लेगा। उस स्थिति में शकुन्तला को हम प्रोषितपतिका नायिका के रूप में देखते हैं। प्रिय की स्मृति में रत तापसी दुर्वासा का आतिथ्य सत्कार करना भूल जाती है और ऋषि अपमानित होकर इसे शाप दे देते हैं। 'स्मृति की तन्मयता का चित्रण करते समय कालिदास बताते हैं कि शापित होने पर भी शकुन्तला को उसका पता न चला वह उससे अनभिज्ञ थी, यद्यपि विदुषी सखियों ने शाप के शमन का उपचार भी दुर्वासा के पैरों पर गिरकर करा लिया कि 'अभिज्ञान (स्मृति चिह्न) के प्रदर्शन पर राजर्षि शकुन्तला को पहचान लेगा।

शाप के कारण उत्पन्न 'प्रवास' का सुन्दर चित्र कालिदास के मेघदूत' में है। अपनी प्रियतमा के प्रणय में डूबकर यक्ष ने कुबेर के कार्य की अवहेलना की थी। कुबेर ने शाप देकर एक वर्ष के लिए उसे अलका से निर्वासित कर दिया।

---

१ हिंदी—विश्वनाथ के काव्य शास्त्रीय विवेचन में मान के विवेचन के अन्तर्गत।

२ दूरादुत्सुकमागते विवलितं संभाषिणि स्फारितं
संश्लिष्यत्यरुणं गृहीतवसने कोपाञ्चितभ्रूलतम्।
मानिन्याश्चरणानतिव्यतिकरे बाष्पाम्बुपूर्णेक्षणं
चक्षुर्जातमहो प्रपञ्चचतुरं जातागसि प्रेयसि॥

—अमरुक शतक, छन्द ४६

आषाढ़ के नवाच्छादित मेघों से आकाश का नीलिम नभ परिपूर्ण था, उनकी ओर एक टक निहारते हुए रामगिरि पर्वत के उस सुन्दर शिखर पर एकाकी बैठे हुए यक्ष के नेत्र भी प्रियतमा की स्मृति में अनायास ही मेघाच्छन्न हो गए। प्रकृति के कोमल वातावरण का प्रभाव व्यक्ति की भावनाओं और मन स्थितियों पर पड़ता है।

'बादल को देखकर तो सुखी व्यक्ति का हृदय भी प्रिय मिलन के लिए उद्विग्न हो उठता है फिर विरही का तो कहना ही क्या, जो सुदूर प्रदेश में प्रिय के आलिंगन के लिए तड़प रहा हो।'[1]

पावस ऋतु शृंगार भावों की चरम उद्दीप्ति का प्रतीक बनकर आती है। श्रावण निकट है अतः संदेश भेजना और भी आवश्यक हो गया। प्राणवान और जड़ में विरही भेद नहीं कर पाता। भावना का आधिक्य जड़ को भी प्राणवान बनाकर उसमें संवेदना प्राप्त करने को मचल उठता है यह 'उन्माद' की दशा है। इसके लिए कालिदास कहते हैं—

"धूम विद्युत, जल और वायु से निर्मित जड़ मेघ तथा सन्देश का क्या सम्बन्ध हो सकता है? सन्देश जो श्रवणेन्द्रिय के बिना ले जाया नहीं जा सकता। उत्कण्ठा में यक्ष यह भूल गया और मेघ से सन्देश कहने लगा। वास्तव में विरही जड़ और चेतन का भेद नहीं कर पाता।"[2]

'अपनी प्रियतमा की जीवन रक्षा के लिए तथा मेघ के द्वारा उसे कुशल समाचार भेजने के हेतु आनन्दातिरेक में उसने सद्य विकसित चमेली के पुष्पों से उसका (मेघ का) स्वागत किया।'[3]

मेघ को अपनी विवशता बताते हुए उसने कहा—

'वायु मण्डल में तुम्हें बहता देखकर पथिकों की स्त्रियाँ प्रिय मिलन की कामना में अभिभूत हो उठेंगी। मुझ-जैसे पराधीन के अतिरिक्त ऐसा कौन हतभाग्य होगा जो तुम्हारे होते हुए प्रिया की उपेक्षा करेगा।'[4]

---

१ मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः ।
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥
—मेघदूत, छन्द ३,

२ धूमज्योतिःसलिलमरुतां संनिपातः क्व मेघः ।
संदेशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः ॥
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन्गुह्यकस्तं ययाचे ।
कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥ —वही, छन्द ५

३ प्रत्यासन्ने नभसि दयिताजीवितालम्बनार्थी ।
जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन्प्रवृत्तिम् ॥
स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै ।
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ॥ —वही, छन्द ४

४ त्वामारूढं पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ताः ।
प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिताः प्रत्ययादाश्वसन्त्यः ॥

मानव जीवन की यह विडम्बना, हृदय की कोमलवृत्ति प्रेम और उसकी विवशताएँ आज भी जीवन में वैसी ही हैं जैसी कालिदास के समय में थीं। यक्ष की भाँति आज भी विरही जड़ प्रकृति में अपनी भावनाओं का आरोप करके उसे चेतन बना लेता है अथवा साधारण रूप में जड़ दिखाई देने वाली प्रकृति की चेतनता का परिचय प्राप्त करके उससे सहानुभूति प्राप्त करने को विकल हो उठता है। धूम, विद्युत, जल और वायु से निर्मित मेघ भी प्राणवान होकर विरही की मर्म कथा सुनता है और उसे यथासम्भव सहानुभूति और संवेदना प्रदान करता है।

प्रवास की विवेचना करते हुए भोज ने शृंगारप्रकाश में यह कहा है कि "इस भिन्न देशत्व में विशिष्ट प्रकार का वासस्थान, आच्छादन अथवा वेश-भूषा होने से भी यह प्रवास कहलाता है।"[1]

'अलका' में निवसित अपनी पत्नी की दशा की कल्पना यक्ष इस प्रकार करता है—

निश्चय मेरे अधर विरह-पीड़ा में तप्त होंगे। सुगंधित तेल के बिना बाल रूखे हो गए होंगे। स्वप्न में भी सुखमय मिलन कैसे सम्भव हो सकता है इसी चिन्तन में वह डूबी रहती होगी क्योंकि स्वप्न भी तो मेरे अभाव में निद्रा न आने से दुर्लभ हो गए होंगे।[2]

कठिन विषम एक वेणी उसने धारण कर रखी होगी। उसके निरलंकृत अंगों को देखकर हे मेघ! तुम्हारे नेत्रों में भी अश्रु आए बिना न रहेंगे।

विरह की अवधि अत्यन्त दीर्घ हो जाती है। यक्ष कहता है—

मानसिक व्याधि में व्याकुल शय्या के एक किनारे पर वह पड़ी होगी। विरह से अत्यधिक क्षीण वह क्षितिज पर उदित चन्द्र की एक कला के समान दिखाई पड़ती होगी। रात्रि जो मेरे संग में एक क्षण के समान बीतती थी वही अत्यन्त दीर्घ हो गई होगी और विरह के उष्ण अश्रुओं के [illegible] बिताई जाती होगी।[3]

कः संनद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां।
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः॥

—मेघदूत छं ८

1. [illegible]
2. निःश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तीं
शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागण्डलम्बम्।
मत्संभोगः कथमुपनयेत्स्वप्नजोऽपीति निद्रा-
माकांक्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम्॥
[illegible]
कठिन विषमैक वेणी। —मेघदूत
3. आधिक्षामां विरहशयने संनिषण्णैकपार्श्वां
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः।
नीता रात्रिः क्षण इव मया सार्धमिच्छारतैर्या
तामेवोष्णैर्विरहमहतीमश्रुभिर्यापयन्तीम्॥ —वही, छं [illegible]

उस में उसकी प्रियतमा का हाल सुनकर सब की आँखों में आँसू न आ जाएँ होगा यह असम्भव है। आज भी कोई सहृदय यक्ष की करुण व्यथा से आर्द्र हुए बिना नहीं रह सकता।

रुद्रट ने काव्यालङ्कार में प्रवास के लक्षणों में कहा है कि नायक विदेश जाएगा जा रहा है, गया—ये सब प्रवास हैं।[1] 'विदेश जाएगा' यह कल्पनामात्र ही अभाव की अनुभूति कराकर विरह की पीड़ा को जन्म दे सकती है। प्रवत्स्यत्पतिका नायिका में विरह का अस्तित्व इसी से है। 'हाल' की विरहिणी कहती है

"प्रिय सखी! केवल आज के लिए मुझे रात से न रोको कल यदि उनके चले जाने पर भी प्राण अवशेष रह तो मैं न रोऊँगी।"[2]

प्रवास में स्वप्न द्वारा मिलन का विधान है किन्तु विरहिणी को निद्रा के अभाव में यह भी दुर्लभ है। एक प्रोषितपतिका नायिका स्वप्न की कामना करती हुई कहती है

'वे भाग्यशालिनी स्त्रियाँ धन्य हैं जिनको स्वप्न में ही सही, प्रिय के दर्शन हो जाते हैं। मुझे तो उनके वियोग में नींद भी नहीं आती।'[3]

करुण विप्रलम्भ

नाट्यशास्त्र के 'रस विकल्प' नामक अध्याय में करुण विप्रलम्भ का लक्षण स्पष्ट करते हुए भरत मुनि ने कहा है कि यद्यपि करुण विप्रलम्भ और करुण रस एक ही सी परिस्थितियों में उत्पन्न होते हैं (इष्टजन के नाश से) किन्तु दोनों की प्रकृति में मौलिक अन्तर है। करुण रस पूर्ण नैराश्य की अवस्था है और करुण विप्रलम्भ में रति स्थायी भाव होने से सापेक्ष भाव रहता है अर्थात् अभिलाषा बराबर बनी रहती है।[4]

भरत की इस परिभाषा में विश्वनाथ ने एक और शर्त जोड़ दी थी—"परन्तु यह तभी होता है जब परलोकगत व्यक्ति के इसी जन्म में इसी देह से, मिलन की आशा हो। विश्वनाथ ने स्पष्ट कहा कि 'यदि फिर मिलन की आशा टूट जाए अथवा जन्म जन्मान्तर में मिलन की आशा हो तो करुण रस होगा।'[5]

विश्वनाथ की उपर्युक्त मान्यता हमें मान्य नहीं है यह प्रथम अध्याय में स्पष्ट किया जा चुका है। जन्म जन्मान्तर में भी मिलन की आशा रति के स्थायित्व की सूचना

१ देखिए विप्रलम्भ का शास्त्रीय अध्ययन, प्रथम अध्याय।

२ अज्ज पि ताव एक्कं मा म वारेह पिअसहि रुअन्तिं।
कल्लि उण तम्मि गए जइ ण मुआ ता ण रोदिस्सम्॥
—हाल सतसई, /२

३ धण्णा ता महिलाओ जा दइअं सिविणए वि पेच्छन्ति।
णिद्द च्चिअ तेण विणा ण एइ का पेच्छए सिविणम्॥ —वही, ४'९७

४ देखें, करुण विप्रलम्भ सम्बन्धी विवेचन, प्रथम अध्याय

५ वही

ही रहा है। अत वह भी करुण विप्रलम्भ ही है।

करुण विप्रलम्भ संस्कृत कवियों में सबसे अधिक लोकप्रिय रहा, सम्भवत इस लिए कि प्रेमी के प्रेम की परख की यह अन्तिम कसौटी थी। मृत्यु भी वहाँ प्रिय मिलन की आशा के मार्ग में बाधा नहीं डाल सकती थी। कालिदास, भवभूति, दिङ्नाग और बाणभट्ट सभी के काव्यों में करुण विप्रलम्भ प्रिय विषय रहा।

'कुमारसम्भव' में कामदहन के पश्चात उसकी स्त्री 'रति' के करुण क्रन्दन को कालिदास ने बड़े सुन्दर स्वरों में मुखर किया है। रति विलाप को हम करुण रस के आश्रित न मानकर करुण विप्रलम्भ के आश्रित ही मानेंगे क्योंकि रति काम से मिलन की आशा बराबर रखती है—

"इसके बाद मुझे अर्पित की गई अग्नि को दक्षिण दिशा की वायु के पंख से प्रदीप्त कर देना। तुम यह अच्छी तरह जानते हो कि काम मेरे बिना क्षण भर भी नहीं रह सकता।"[1]

पति की मृत्यु पर रति का शोकाभिभूत हृदय पति को उलाहना देता हुआ पुकार उठता है—

हे काम! तुम तो कहते थे कि तुम मेरे हृदय में निवास करते हो। मुझे प्रसन्न करने को वह सब तुम्हारे थे, यदि झूठे न होते तो यह कैसे सम्भव था कि तुम्हारे मरने होने पर मुझे कोई हानि नहीं पहुँचती।[2]

कालिदास की रति देवी होकर भी मानवीय भावनाओं से असम्पृक्त नहीं है। स्वर्ग की चतुर देवांगनाएँ उसके पति को उसके स्वर्ग पहुँचने तक लुभा न ले, यह आशंका भी रति के मन में है—

स्वर्ग की चतुर सुर कामिनियाँ तुम्हें लुभा सकने के पहले ही हे प्रिय! मैं अग्नि मार्ग से पतग होकर तुम तक पहुँच जाऊँगी।[3]

स्पष्ट भाव रति भाव का यहाँ प्रकाश प्रदान कर रहा है।

रति विलाप में शोक प्रमुख-सा प्रतीत होते हुए भी रति भाव से न्यून नहीं है। यह ठीक है कि काम से साकार मिलन की आशा रति को नहीं है फिर भी उसका पति के प्रति अनन्य प्रेम प्रिय से मिलन की आशा बनाए रखता है। आकाशवाणी होने पर उस अभिलाषा को दृढ़ आधार भी मिल गया।

---

१ [illegible] वसन्त [illegible] [illegible] जिघ्वान्तर्जने
[illegible] [illegible] तुमहन न मां विना ॥ २६ ॥
—कुमारसं [illegible], रति विलाप

२ [illegible] [illegible] रति [illegible]।
[illegible] [illegible] रति ॥ ८ ॥ —वही

३ [illegible] पुनरह्रापदमणा [illegible] न।
[illegible] [illegible] विना [illegible] दिवि ॥ २० ॥ —वही

"ओ सुन्दर स्त्री ! तुम अपने शरीर की यत्न से रक्षा करो। तुम्हारा अपने प्रिय से उसी प्रकार मिलन होगा जैसे वर्षा ऋतु का आगमन होने पर सूर्य के द्वारा सुखाए गये जल का नदी से होता है।'[1]

रघुवंश में अज का विलाप यद्यपि शोक स्थायी से परिपूर्ण है किन्तु फिर भी यत्र तत्र करुण विरह की झलक उसमें दृष्टिगोचर हो जाती है।

'गोकर्ण तीर्थ' पर शंकर को प्रणाम करने के लिए नारद जा रहे थे। उनकी वीणा पर रखी हुई माला वायु से प्रेरित होकर 'अज' की प्रियतमा 'इन्दु' के वक्षस्थल पर जा गिरी। इन्दुमती के प्राण पखेरू उड़ गए। पत्नी का अकस्मात् मृत्यु हो जाने से अज उन्मत्त होकर विलाप करने लगे। उद्भ्रान्त राजा समीर से दोलित इन्दुमती के बालों को देखकर कहते हैं—

हे करभ के समान जंघाओं वाली प्रियतमा ! वायु से प्रेरित तुम्हारे काले बालों को कांपता हुआ देखकर मेरा मन तेरे लौट आने की आशा कर रहा है।'[2]

विरह तप्त राजा सम्पूर्ण सृष्टि में इन्दुमति का रूप देखते हैं, उसकी वाणी सुनते हैं और उसकी गति का अनुमान लगाते हैं—

"मुझे विरह का दुख सहने में असमर्थ समझकर तुम यद्यपि कोकिल के मधुर नादों में अपनी कंठध्वनि, मरालियों में अपनी धीमी चाल, हरिणियों में चंचल दृष्टि और लताओं के कम्पन में अंग विलास छोड़ गई हो, फिर भी मेरा हृदय तुम्हारा वियोग सहने में असमर्थ है।[3]

अज के विलाप में जहाँ शोक ही प्रमुख भाव है, वहाँ भी रति ही उसकी प्रेरिका बनकर आई है—

'हे मदिराक्षि ! मेरे मुख का मधु पीकर तुम तृप्त होती थी। अब परलोक में मेरे अश्रुओं से दूषित जल की अंजलि पीकर तुम कैसे तृप्त हो सकोगी।'[4]

बाणभट्ट की 'कादम्बरी' मुख्यतः महाश्वेता और पुण्डरीक के विरह मिलन की कहानी है। गन्धर्वराज चित्ररथ की कन्या महाश्वेता मुनि श्वेतकेतु के पुत्र पुण्डरीक पर

---

[1] तदिदं परिरक्ष शोभने भवितव्यप्रियसंगमं वपुः।
रविपीतजला तपात्यये पुनरोघेन हि युज्यते नदी ॥ ४० ॥ —कुमारसम्भव, रति विलाप

[2] कुसुमोत्खचितान् वलीभृतश्चलयन् भृङ्गरुचस्तवालकान्।
करभोरु करोति मारुतस्त्वदुपावर्तनशङ्कि मे मनः ॥
—रघुवंश, अष्टम् सर्ग श्लोक ५३

[3] कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम्।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः ॥
त्रिदिवोत्सुकयाऽप्यवेक्ष्य मां निहिताः सत्यममी गुणास्त्वया।
विरहे तव मे गुरुव्यथं हृदयं न त्ववलम्बितुं क्षमाः ॥ —वही, श्लोक ५९ ६०

[4] मदिराक्षि मदाननार्पितं मधु पीत्वा रसवत्कथं नु मे।
अनुपास्यसि बाष्पदूषितं परलोकोपनतं जलाञ्जलिम् ॥ —वही, श्लोक ६८

...... हुई थी। उधर पुण्डरीक भी काम पीडित हुआ और महाश्वेता की विरह व्यथा में उसने प्राण त्याग दिए। पुण्डरीक के शव के समीप महाश्वेता उपस्थित थी कि एक अलौकिक घटना घटित हुई। चन्द्रबिम्ब से उतरकर एक दिव्य पुरुष पुण्डरीक के शव को उठाकर ले गया और महाश्वेता को आश्वासन देता गया—'पुत्रि महाश्वेते! तुम प्राण का परित्याग न करना, फिर इसके साथ तुम्हारा सम्मिलन होगा।'[1] पुनर्मिलन की आशा में महाश्वेता तपस्विनी का सा जीवन व्यतीत करने लगी। अन्त में कुमार चन्द्रापीड के मित्र वैशम्पायन के रूप में उसका पुण्डरीक से मिलन हुआ।

अलौकिक घटनाओं का समावेश होने पर भी 'कादम्बरी' के पात्रों की मानवीयता अक्षुण्ण है। महाश्वेता गन्धर्व कन्या है किन्तु उस विरहविधुरा की पीड़ा किसी भी विरहिणी की पीड़ा है। तपस्वी-वनवासिनी महाश्वेता की भेंट जब चन्द्रापीड से होती है और वह उसके इस प्रकार के जीवन के लिए प्रश्न पूछता है तो महाश्वेता के नेत्रों से ढुलकने मौन अश्रु पाहन को भी द्रवित करने की क्षमता रखते हैं। 'कादम्बरी' में महाश्वेता का विरह करुण विप्रलम्भ ही है।

अब तक हमने करुण विप्रलम्भ के कुछ ऐसे उदाहरण देखे हैं जहाँ मृत प्रिय पात्र के न रहने पर उपस्थित रहने पर भी प्रेमी मिलन की आशा नहीं छोड़ता। अब ऐसे कुछ उदाहरणों का उल्लेख किया जाता है जिनमें परिस्थितिवश वियोग की अवधि अनिश्चित हो जाती है किन्तु फिर भी प्रेमी आशा का परित्याग नहीं करता। इनमें कभी-कभी ऐसी परिस्थिति रहती है कि एक पात्र यह भी नहीं जानता कि दूसरा जीवित भी है अथवा नहीं और विरह-वेदना में तड़पता है। कालिदास के 'विक्रमोर्वशीयम्' में एक बार ऐसी ही परिस्थिति आती है।

एक समय पुरूरवा और उर्वशी घूमते घूमते कुमारकार्तिकेय के वन में चले गए। कुमार के प्रभाव से उर्वशी अनायास एक लता के रूप में परिवर्तित हो गई। राजा उद्भ्रान्त होकर वन-वन भटकने लगे। उर्वशी से पुनर्मिलन लगभग असम्भव-सा लगने लगा किन्तु राजा ने मिलन की आशा नहीं छोड़ी। राजहंसों की गर्वित गति से चलता देखकर राजा को लगा कि यह चाल उन्होंने उसकी प्रेयसी से सीखी हो।

राजहंस! क्या सरोवर तट पर तुमने वक्रभ्रू वाली मेरी प्रियतमा को देखा है। यदि तुमने उसे नहीं देखा तो फिर उसकी यह चाल तुमने कहाँ से चुराई?"[2]

---

1. [illegible]
पुनर्[illegible] [illegible]

—कादम्बरी, पृष्ठ ३६६, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़

2. [illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible] ॥१६॥

—विक्रमोर्वशीय, ४।१६